तुलसीदास कृत—

विनय-पत्रिका

[मूल, आलोचना व टीका]

सम्पादक

श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

अभिन्न मित्र, सुहृदयवर, परम आत्मीय
पं० ज्वालाप्रसाद शर्मा 'शास्त्री'
को
जिनकी मित्रता मेरे जीवन का
सर्वाधिक प्रेरक अंग रही है
अगाध स्नेह
सहित

—राजनाथ
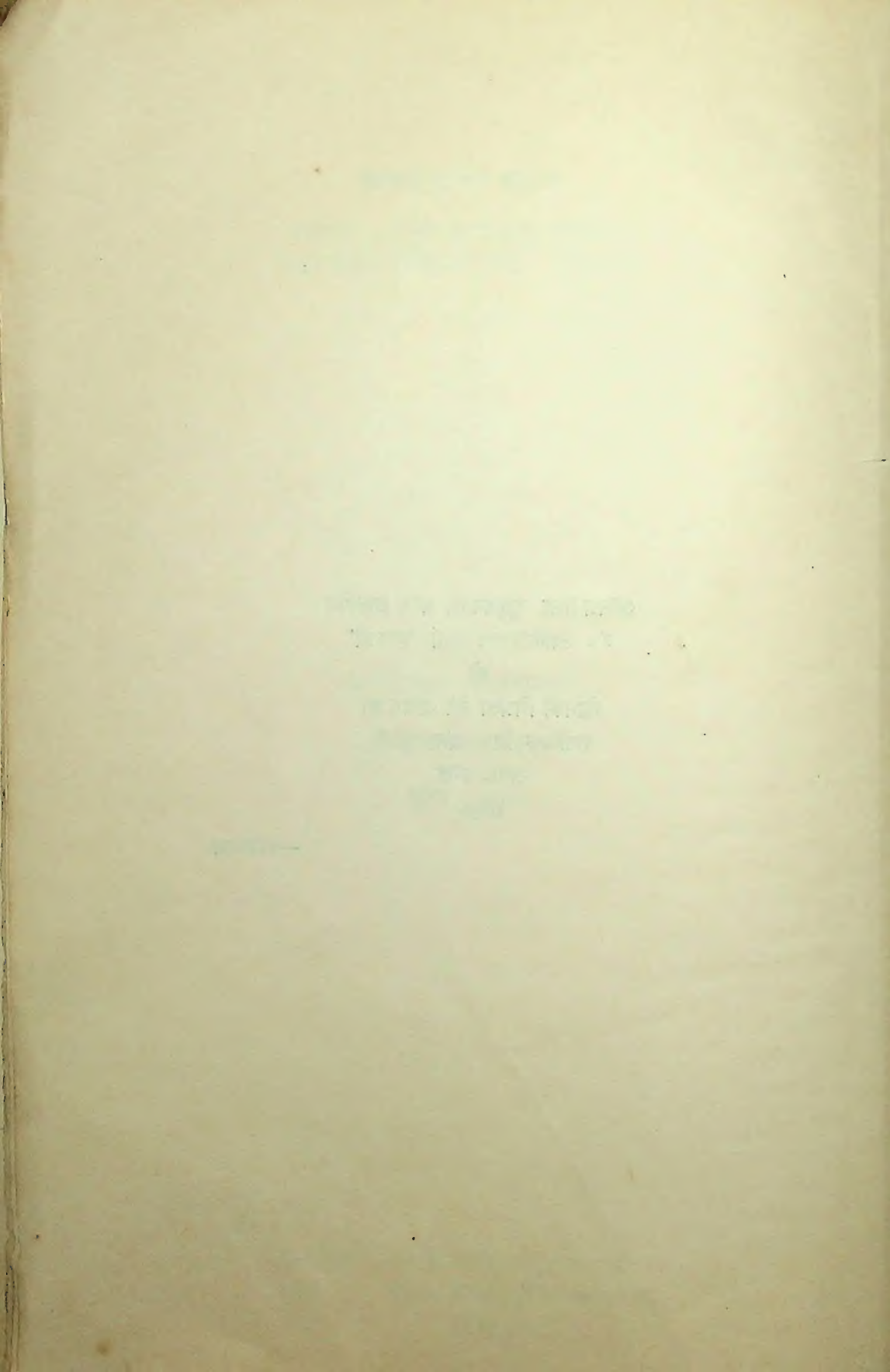
अपनी बात

'रामचरित मानस' के उपरान्त 'विनय-पत्रिका' गोस्वामी तुलसीदास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। परन्तु मेरी अपनी राय यह है कि तुलसी के मानस का पूर्णतः उद्घाटन करने में 'विनय-पत्रिका' का महत्त्व सर्वोपरि है। इसमें विचारक तुलसी को दबा कर मानवता का अनन्य उपासक तुलसी अपने निर्मल, सौम्य व्यक्तित्व के साथ पूरी तरह उभर कर ऊपर आया है। 'परहित सार स्र,ति को' कहकर तुलसी ने युगों से चली आती हुई चिन्तन की अनवरत धारा का सार प्रस्तुत कर दिया है। अनेक महान् मानव विभूतियों से भरे-पूरे भारतीय मध्यकालीन इतिहास में चिन्तन, प्रभाव, विस्तृत, उदार, व्यापक दृष्टिकोण की दृष्टि से तुलसी अनन्य और अप्रतिम हैं। इस रहस्य का ज्ञान 'विनय-पत्रिका' का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त ही प्राप्त हो सका। इसके लिए मैं अपने उन बन्धुओं का कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा ने मुझे इस अमूल्य ग्रन्थ का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया था।

यद्यपि यह पुस्तक मूलतः विद्यार्थियों के हित को ही दृष्टि में रखकर लिखी गयी है, फिर भी इसमें मैं कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, जिनसे सम्भवतः हमारे शिक्षक-बन्धु साधारणतः सहमत न हो सकें। उनसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि वे उन पर विचार करें।

व्याख्या लिखने में दो पुस्तकों से अमूल्य सहायता मिली है। एक पं० रामेश्वर नाथ भट्ट की 'विनय-पत्रिका' तथा दूसरी श्री वियोगी हरि की 'विनय-पत्रिका' की 'श्री हरि तोषिणी टीका', यद्यपि वियोगी हरि द्वारा प्रणीत टीका का आधार भट्ट जी की टीका ही रही है। कुछ स्थलों पर मैं उक्त दोनों महानुभावों से सहमत नहीं हो सका हूँ।

श्रीमदभागवत के मर्मज्ञ विद्वान् श्री ज्वालाप्रसाद शर्मा 'शास्त्री' ने अनेक स्थलों पर अपने सुझाव देकर मेरी कठिनाइयों को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है, इसलिए यह पुस्तक मैं उसी कृतज्ञता के प्रतिदान में उन्हीं को समर्पित कर रहा हूँ।

अग्रज-तुल्य डा० रामविलास शर्मा तुलसी की चर्चा छिड़ने पर भाव-विभोर होकर प्रायः जो बातें कहते रहे हैं उनसे मुझे तुलसी-विषयक अपने निष्कर्षों पर पहुँचने में बहुत मदद मिली है। उनकी इस अप्रत्यक्ष सहायता के लिए उन्हें धन्यवाद देने का मुझ में साहस नहीं, क्योंकि उनसे सदैव कुछ-न-कुछ पाते रहना मेरा स्वभाव और अधिकार-सा बन गया है।

कवि-मित्र घनश्याम अस्थाना एवं आलोचक-मित्र रामगोपालसिंह चौहान मेरे लेखन-कार्य में सदैव से ही प्रेरणा देते आये हैं। मेरे इस कार्य में भी उनके स्नेह भरे उपालम्भों एवं भर्त्सनाओं का काफी बड़ा हाथ रहा है। भाई-मित्र भोलानाथ अग्रवाल का कभी झुँझलाहट भरा और कभी स्नेह से ओतप्रोत आग्रह इस कार्य को शीघ्र पूरा कराने में सर्वाधिक सहायक रहा है।

मेरे 'परिवार' के मित्र-सदस्य कुँवर गम्भीरसिंह, रायसाहबसिंह अजीत, कुन्दनलाल उप्रैतिः, नये सदस्य राजकुमार जुत्शी—'भाई, किताब कब पूरी हो रही है'—कह-कहकर मुझे सदैव कोंचते रहे हैं। इस पुस्तक के छप जाने में मैं इन मित्रों के इस उत्साहवर्द्धक आग्रह को आज साकार हुआ पा रहा हूँ। ये सब मेरे अपने हैं, अतः इन्हें धन्यवाद जैसी तुच्छ निरर्थक वस्तु दे, इन्हें अपमानित नहीं कर सकता।

मैं अपने उन असंख्य, व्यक्तिगत रूप से अपरिचित पाठकों का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी निरन्तर आने वाली माँग इस पुस्तक का रूप धारण करने में समर्थ हो सकी है।

१५ जुलाई, १९६३
लक्ष्मी निवास, गोकुलपुरा,
आगरा

—**राजनाथ**

तुलसी की एकमात्र कामना

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ।।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ।।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो ।।
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो ।।

7
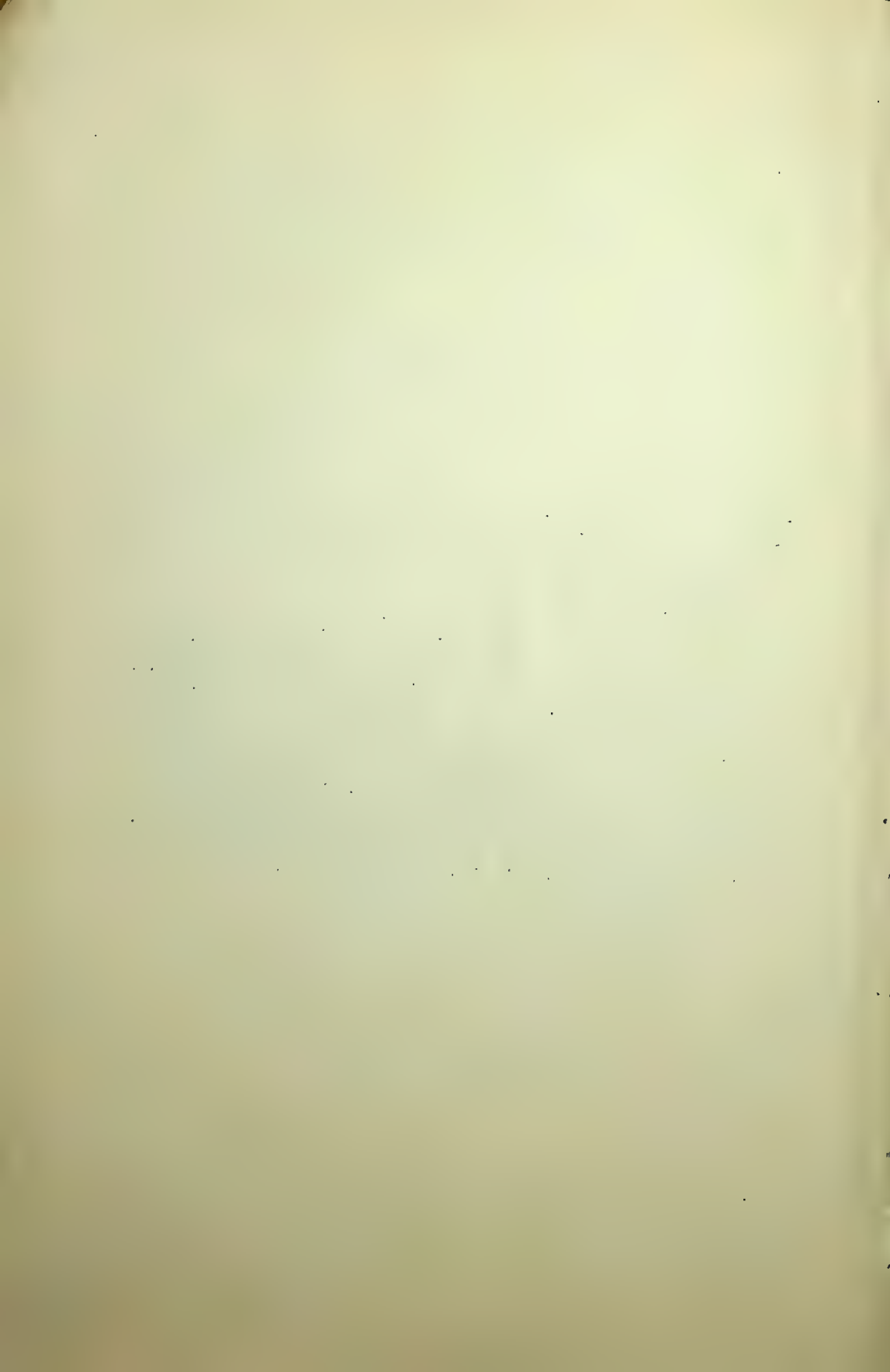
राम-भक्त के लक्षण

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेह, छाँड़ि छल, करिहै ।।
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै ।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै ।।
हरषिहै न अति आदरे, निरे न जरि मरिहै ।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै सम चित, हित अनहित कलि-कुचाल परिहरिहै ।।
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै ।
तुलसीदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनन्द उमगि उर भरिहै ।।

विषय-सूची

तुलसी और विनय-पत्रिका

तुलसी और विनय-पत्रिका

लोकनायक तुलसी

तुलसी हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि माने जाते हैं। उनका 'रामचरितमानस' (रामायण) जितना धर्म-प्राण साधारण हिन्दू जनता में लोकप्रिय है, उतना ही साहित्यिक क्षेत्र में भी। उनकी 'विनय-पत्रिका' भक्ति और दर्शन की दृष्टि से भक्तों, विचारकों और दार्शनिकों में ही अधिक लोकप्रिय है। जनता के सामान्य एवं विशिष्ट वर्गों में तुलसी की इस समान लोकप्रियता के प्रधान आधार उनके यही दो ग्रन्थ रहे हैं। वैसे गायकों एवं सामान्य पाठकों में 'कवितावली' और 'गीतावली' के कतिपय पद भी काफी प्रचलित हैं। समष्टि रूप से तुलसी सामान्य जनता, भक्तों, दार्शनिकों, विचारकों एवं साहित्यिकों में समान रूप से ग्राह्य एवं लोकप्रिय हैं। तुलसी की इस व्यापक लोकप्रियता का एक ऐसा रहस्य है जो हमें हिन्दी के किसी भी प्राचीन एवं नवीन कवि या साहित्यकार में नहीं मिलता और वह रहस्य है—उनकी समन्वय-भावना। इसी समन्वय-भावना के कारण तुलसी को मध्य-युग का लोकनायक माना गया है।

डॉ० ग्रियर्सन ने कहा था कि "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके।" इसका कारण यह है कि भारतीय जनता में कालान्तर से नाना प्रकार की परम्परा एवं परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, विचार-धाराएँ, जातियाँ, आचार निष्ठाएँ प्रचलित रही हैं। भारतीय जनता का सच्चा लोक-नायक बनने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो इन विरोधों, विकृतियों एवं असहिष्णुता के मूल कारणों को भली प्रकार से जानता हो, समाज के मनोविज्ञान का जिसको अच्छा ज्ञान हो, जो प्राचीनता का संस्कार कर उसमें युगानुकूल नवीनता

का समावेश कर उसे नये युग के लिए ग्राह्य एवं शुभ रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो, जो अपने विचारों से समाज के प्रत्येक वर्ग को लाभान्वित करा सके और उसे शान्ति प्रदान कर सके। जो ऐसा करने में समर्थ होता है, वही लोकनायक के पद का सच्चा अधिकारी होता है।

भारत में अनेक शताब्दियों का व्यवधान देकर ऐसे लोकनायक उत्पन्न होते रहे हैं। जब समाज में प्रभुत्व और वैभव का प्रभाव बढ़ जाता है तब उसमें विलास की प्रवृत्ति प्रधान रूप धारण कर लेती है। वैभव, विलास और अत्याचार का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। वैभव से विलास की प्रवृत्ति बढ़ती है और विलास अत्याचार को जन्म देता है। ऐसी दशा में समाज की मान्य परम्पराएँ नष्ट होने लगती हैं, पूर्व-निर्धारित मर्यादाओं का उल्लंघन होने लगता है और एक ऐसी विश्रृङ्खलता छा जाती है जिसे अराजकता की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। युग धीरे-धीरे आगे बढ़ता है, सामान्य जनता अधिकाधिक विश्रृङ्खलित और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होती जाती है। शक्ति और वैभव खुलकर अत्याचार का खेल खेलने लगते हैं। सामान्य बुद्धि वाले लोग इस विषम स्थिति को अनुभव करते रहते हैं और इसे दूर करने के छुट-पुट प्रयास भी जारी रहते हैं। ऐसी ही विषम परिस्थितियों में किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है, जिसे धार्मिकों के शब्दों में 'भगवान का अवतार' और विचारकों के शब्दों में 'लोकनायक' कहा जाता है।

महाभारत काल में कृष्ण ऐसे ही लोकनायक के रूप में अवतरित हुए थे। उन्होंने कर्मक्षेत्र में अत्याचारी शक्तियों का विनाश कर विचार के क्षेत्र में ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता स्थापित की थी। कालान्तर में जब वाह्य कर्मकाण्ड अधिक प्रबल हो उठा था तो गौतम बुद्ध ने उसका विरोध कर सत्य और अहिंसा का प्रचार किया था। बुद्ध के उपरान्त जब बौद्ध-धर्म भी कर्मकाण्ड और आडम्बर के माया-जाल में उलझ गया तो शंकराचार्य ने उसका परिष्कार कर जगत के मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। बाद में जब शंकर के इस मायावाद ने भी विकृत रूप धारण कर लिया तो तुलसी ने अपने सौम्य व्यक्तित्व एवं तत्त्व-ग्राहिणी बुद्धि द्वारा समाज की माँग के अनुरूप विश्रृंखलताओं को समन्वय के सूत्र से आवद्ध कर समाज को मर्यादा का एक आदर्श रूप प्रदान किया था। कृष्ण, बुद्ध, शंकर, और तुलसी इस दृष्टि से अपने-अपने युग के लोकनायक थे। जो समाज का नियमन करने में समर्थ हो, वही सच्चा लोकनायक माना जाता है। हमारे इस युग में गांधी जी ऐसे ही लोकनायक थे।

हम धर्म और शुद्ध साहित्य की दृष्टि से न देखकर, इन लोकनायकों का जब सामाजिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो यह सत्य प्रकट हो जाता है कि इन लोकनायकों ने सदैव वैभव—साम्पत्तिक वैभव का विरोध किया है। इस दृष्टि से इन्हें अत्यन्त उच्च-कोटि का समाज-शास्त्री और मनोवैज्ञानिक माना जा सकता है। हम ऊपर कह आये हैं कि वैभव विलास का जनक है और विलास अत्याचार का, और अत्याचार सामाजिक

विश्रृंखलता और अराजकता का। इसलिए धन को ही सम्पूर्ण सामाजिक विषमताओं का मूल कारण मानना चाहिए। ये लोकनायक इस तथ्य को जानते थे, इसीलिए गौतम बुद्ध से लेकर गांधी जी तक सब ने वैभव का विरोध और सादे, निस्पृह, वैराग्यमय जीवन का समर्थन किया था।

तुलसी का युग—वैभव का युग था। मुगल-साम्राज्य वैभव की दृष्टि से मध्ययुग का सबसे वैभवशाली साम्राज्य माना जाता है। उस समय समाज में दो स्पष्ट वर्ग थे—एक साधन-सम्पन्न, वैभवशाली शासक वर्ग जिसमें मुसलमान और हिन्दू—दोनों ही जातियों के सत्ताधारी लोग शामिल थे। दूसरा वर्ग सामान्य जनता का था जो गरीब और असंगठित होने के कारण सत्ताधारी वर्ग के अत्याचारों का शिकार होता रहता था। मुगल सम्राटों की साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा निरन्तर युद्धों को प्रोत्साहन दिया करती थी जिसकी अग्नि जनता को ही जलाने में समर्थ रहती थी। आदर्शहीन जनता समझ नहीं पाती थी कि क्या करे। उस समय समाज में अनेक मतमतान्तर प्रचलित थे। कोई वैराग्य का उपदेश देता था तो कोई थोथे कर्मकाण्ड का। घर त्याग कर वैरागी वन जाना साधारण सी बात थी। अनपढ़ परन्तु दम्भी व्यक्ति वेद, पुराण, साधु आदि की निन्दा कर सामाजिक मर्यादा को और भी अधिक विश्रृंखलित कर रहे थे। योगमार्गी साधु, अपने चमत्कारों द्वारा ही जनता पर अपना प्रभाव जमाने में प्रयत्नशील थे। 'अलख' को लखने की भावना जोरों पर थी। सन्तों एवं योगमार्गियों के इस दल में अशिक्षा एवं उच्च वर्ग और जाति के प्रति भयंकर उपेक्षा का भाव भरा होने के कारण, उनके आत्मविश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण कर लिया था। सूफी व्यक्तिगत साधन और प्रेम के महत्त्व के प्रचारक थे। कृष्ण-भक्त भगवान् के लोक-रक्षक रूप की—महाभारत के कृष्ण की—स्थापना न कर बाल-रूप की ही उपासना में तन्मय थे। जनता को धर्म एवं उपासना के इन विभिन्न रूपों में अपनी रक्षा करने का कोई भी सशक्त आधार एवं आदर्श नहीं मिल रहा था। वह त्रस्त थी, भयभीत थी। ऐसे ही समय में तुलसी ने इस त्रस्त एवं भयभीत जनता के मनोनुकूल राम के रूप में एक ऐसा सम्बल प्रदान किया जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य—तीनों गुणों का अद्भुत विकास और समन्वय था।

एक प्रकार से तुलसी ने गीता के कृष्ण की पुनरावृत्ति की थी। तुलसी के राम का कार्य यही है कि—

जब-जब होहि धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी॥
तब-तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भवपीरा॥

राम के इस स्वरूप की कल्पना में जनता को अपना रक्षक मिला। वह सन्तुष्ट और आशान्वित हो उठी। 'मानस' के विभिन्न पात्रों में जनता ने अपने आदर्शों का साकार रूप देखा और ललक कर उन्हें अपना लिया। तुलसी की लोकप्रियता का यह एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

तुलसी समाज के एक सजग प्रहरी थे। प्राणीमात्र का कल्याण—उनका मुख्य उद्देश्य था, और यह कल्याण विरोध और विध्वंस द्वारा न होकर परम्परा, लोक और युग की उदीयमान शक्तियों और शुभ तत्त्वों के समन्वय द्वारा ही सम्भव है, तुलसी इस तथ्य से परिचित थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

कीरति भनित, भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

अर्थात् कीर्त्ति, वचन और वैभव वही अच्छे होते हैं जिनसे गंगा के समान सब का कल्याण होता है। इसलिए तुलसी ने अपनी 'भणिति' अर्थात् काव्य को सबके कल्याण का माध्यम बनाना चाहा था, और यह तभी सम्भव होता जब वह परस्पर विरोधी विभिन्न विचारधाराओं का सार एकत्र कर उनमें समन्वय स्थापित करते। तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य—समन्वय की एक विराट चेष्टा है। उन्होंने लोक और शास्त्र का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय गार्हस्थ और वैष्णव का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय आदि विभिन्न प्रकार के स्वस्थ समन्वयों द्वारा विषमता का निराकरण कर एक स्वस्थ, नवीन और स्फूर्तिदायक समानता का आदर्श उपस्थित किया था। राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित व्यक्तित्व के रूप में सभी शुभ तत्त्वों का उपयोग कर उन्होंने राम के लोक-संग्रही रूप का अत्यन्त मार्मिक और कलापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया था।

तुलसी-कालीन हिन्दू धर्म में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में परस्पर घोर वैषम्य था। तुलसी ने शिव और राम की एकता प्रति-पादित कर इस विरोध को दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। परन्तु साथ ही तुलसी बुराई से कभी समझौता नहीं करते थे। शाक्तों में प्रचलित गुह्य साधनाओं को वे समाज के लिए घातक समझते थे, इसीलिए उन्होंने शाक्तों का विरोध किया था—'वैष्णव की छपरी भली, न साकत को बड़ गाँव।' तुलसी ने सीता में आदि शक्ति का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्तों का भी संस्कार करने का प्रयत्न किया था। इसके अतिरिक्त तुलसी जीव, ब्रह्म, जगत, माया आदि से सम्बन्धित विभिन्न दार्शनिक विचारों को एकांगी और समाज के लिए अधिक कल्याणकारी नहीं समझते थे। जनता इनके वाक्जाल से दिग्भ्रमित हो ढोंगी आचार्यों के मायाजाल में फँस जाती थी। इसी कारण तुलसी ने शास्त्र-ज्ञान के अव्यावहारिक रूप का विरोध कर एक ऐसे सरल-सहज उपासना मार्ग का प्रतिपादन किया था जो सबके लिए सहजगम्य था। इसके लिए भी तुलसी ने पूर्व-परिचित सारग्राहिणी बुद्धि से काम लिया था। उनका मत था कि—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, पुष्टिमार्ग आदि पूर्ण सत्य के उद्घाटक न होकर केवल आंशिक सत्य तक ही पहुँच पाये हैं, परन्तु इन विचारधाराओं में भी कुछ जन-कल्याणकारी तत्त्व हैं। जनता इस दार्शनिक मायाजाल को पूरी तरह से समझ नहीं पाती। उसके लिए तो एकमात्र भक्ति ही सुलभ साधन है, जिसके द्वारा

मानव अपने चरित्र का परिष्कार कर पूर्ण मानव बन सकता है। तुलसी का भक्ति-मार्ग—ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वित रूप है। अपने एकाकी रूप में इनमें से प्रत्येक अधूरा है। परन्तु समय की परिस्थितियों के अनुसार तुलसी ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक सहज-सुलभ और कल्याणकारी माना था, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान की उपादेयता क्षीण हो चली थी। जन-साधारण का मानस उसे समझने में असमर्थ था।

तुलसी—लोकद्रष्टा, जागरूक विचारक और सामाजिक मनोविज्ञान के गहरे पारखी थे। लोकहित का उन्हें पूर्ण ध्यान था। वे जानते थे कि जब तक लोक-मर्यादा का पालन नहीं होगा तब तक जन-कल्याण असम्भव है। मर्यादा के अभाव में लोक-व्यवस्था उत्पन्न होना—आकाश-कुसुम की कल्पना के समान निरर्थक है। तुलसी के काव्य में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलेगी, जिसमें मर्यादा का उल्लंघन किया गया हो। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे पूर्ण मानव हैं। मानव के सुख-दुःख, राग-विराग की सम्पूर्ण भावनाएँ उनमें हैं। इसलिए राम के रूप में युग ने जनता का पूर्ण रूप देखा। उनमें अपने आदर्शों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखकर लोक ने उन्हें ललककर अपना लिया। यह तुलसी की ही विराट् कल्पना का परिणाम था।

तुलसी की इस व्यापक लोकप्रियता का एक और कारण है। उन्होंने कबीर की अक्खड़ता और हठधर्मी के स्थान पर सौम्य और सहिष्णुता का सम्बल ग्रहण किया था। उन्होंने समाज की अव्यवस्था पर प्रहार किया अवश्य, किन्तु उस प्रहार में कबीर की सी निर्ममता और विध्वंसक भावना न होकर एक निर्माणकारी कल्याण-मयी भावना निहित थी। तुलसी ने खंडन करते समय कटुता के स्थान पर मिठास से ही अधिक काम लिया था। यहाँ तक कि वे दुष्टों तक की वन्दना करने से नहीं चूके हैं—'बन्दौं सन्त-असज्जन चरना।' दूसरी तरफ तुलसी घोर मर्यादावादी हैं। वेद, पुराण, शास्त्र, तीर्थ, वर्ण-व्यवस्था, लोकमत आदि का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया है। तुलसी विध्वंसक क्रान्ति में विश्वास न कर निर्माणक परिवर्तन में आस्था रखते हैं। उनकी लोकप्रियता का यह भी एक रहस्य है।

तुलसी इतने उदार और महान् थे कि उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्वयात्मक बुद्धि से काम लिया था। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय से काम लिया था। वे लोक-भाषा (ब्रज और अवधी) तथा संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। तुलसी व्यक्ति के ज्ञान को लोकोपयोगी बनाने के समर्थक थे। इसी कारण आश्रयदाता राजाओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करने वाले कवियों के प्रति उनके विचार उग्र थे। वे ज्ञान के इस दुरुपयोग को देख तिलमिला उठते थे। वे ज्ञान को तभी सार्थक मानते थे जब उसका उपयोग प्राकृत जन (राजा आदि) का गुणगान करने के लिए न होकर जन-कल्याण के लिए हो। इसीलिए उन्होंने कहा था—

'कीन्हें प्राकृत-जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'

तुलसी संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे। परन्तु वे यह जानते थे कि अब संस्कृत भाषा जनता की भाषा नहीं रही है इसलिए उसमें काव्य-रचना करना अपने ज्ञान का दुरुपयोग करना है। इसी कारण उन्होंने जन-समाज की साहित्यिक भाषाओं—अवधी और ब्रज—को अपनाया था। साथ ही तुलसी इस बात को भी जानते थे कि जनता तक अपनी बात तभी सफलता और सरलतापूर्वक पहुंचायी जा सकती है, जब कवि जनता की ही भाषा और काव्य के माध्यम से अपनी बात कहेगा। इसलिए उन्होंने इन दोनों जन-भाषाओं को अपनाया था और पूर्व-प्रचलित तथा समकालीन सम्पूर्ण काव्य-पद्धतियों द्वारा अपनी बात कही थी। उन्होंने चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे और पद, सूर और विद्यापति की गीत-पद्धति, जायसी-ईश्वरदास की दोहा-चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, गंग आदि की सवैया-कवित्त पद्धति एवं मंगल काव्यों की मंगल पद्धति से लेकर साधारण जनता में प्रचलित सोहर, नहछू, गीत, चाँचर, बसन्त आदि पद्धतियों में रामकाव्य लिखा था। यह भी तुलसी की समन्वयात्मक दृष्टि का एक प्रमाण है।

इतनी विषमताओं में साम्य स्थापित करने के कारण ही तुलसी को लोकनायक माना गया है। यद्यपि तुलसी ने बुद्ध, कबीर आदि की भाँति कोई मत नहीं चलाया परन्तु हिन्दुत्व के क्षेत्र में और व्यापक मानवता के क्षेत्र में आज तुलसी सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका काव्य आज भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जनता का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। गांधी जी ने अपना 'रामराज्य' का आदर्श तुलसी से ग्रहण किया था। ऐसे तुलसी को ब्राह्मणवादी, प्रतिक्रियावादी, सामन्तशाही का पोषक कहने वाले लोग मूढ़, अज्ञानी और पथभ्रष्ट ही कहे जायेंगे।

विनय-पत्रिका

'विनय-पत्रिका', 'रामचरित मानस' के बाद तुलसी का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे हम तुलसी का 'स्वान्तः सुखाय' लिखा हुआ ग्रन्थ मान सकते हैं। इसमें तुलसी समाज-विश्लेषण की अपेक्षा आत्म-विश्लेषण में ही अधिक डूबे प्रतीत होते हैं। परन्तु उनका यह आत्म-विश्लेषण भी साधारण मानव का आत्म-विश्लेषण है—जो अपने विराट् रूप में सम्पूर्ण मानवता का आत्म-विश्लेषण बन जाता है। सन्त का 'स्वान्तः सुखाय' सदैव और सर्वत्र 'जन हिताय' ही रहता है। सन्त का व्यक्तिगत सुख-दुःख विशाल मानव-समाज का सुख-दुःख बन जाता है, क्योंकि सन्त व्यक्ति में सीमित न रहकर सम्पूर्ण मानवता का प्रतीक होता है। यही सिद्धान्त तुलसी की 'विनय-पत्रिका' पर भी लागू होता है। इसमें तुलसी ने भौतिक ऐश्वर्य में लिप्त मानव की करुण मानसिक दशा का मार्मिक उद्घाटन किया है। स्वार्थ में डूबी हुई मानवता सांसारिक वैभव-विलास में पड़, कितनी भयंकर मानसिक अशान्ति की शिकार हो उठती है—इस तथ्य का विश्लेषण तुलसी ने 'स्व' को माध्यम बनाकर किया है। एक प्रकार से तुलसी सम्पूर्ण पीड़ित मानवता के प्रतिनिधि बन गये हैं। तुलसी द्वारा

चित्रित इस चित्र के दो पक्ष हैं जो अपने विराट् रूप में एक-दूसरे से भिन्न न होकर एक ही हैं।

एक तरफ वैभव-विलास के कारण नाना पाप-कर्मों में लिप्त मानव हैं—जो सत्कर्म और सदाचार को तिलांजलि दे, अपनी वासनाओं की पूर्ति का अहर्निशि प्रयत्न करते रहते हैं और सदैव असन्तोष और अतृप्ति के दाह से दग्ध होते रहते हैं। इन्हें कभी मानसिक शान्ति नहीं मिलती। दूसरी तरफ वह पीड़ित, दलित जनता है—जो अन्न-वस्त्र के अभाव में सदैव त्रस्त और दुखी बनी रहती है। इन दोनों ही वर्गों के अपने-अपने अभाव हैं और दोनों ही पीड़ित हैं—शारीरिक और मानसिक; दोनों ही रूपों से। इस दुःख से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है—राम की भक्ति करना, और राम की यह भक्ति केवल राम-नाम का उच्चारण करने तक ही सीमित नहीं है। इसके मूल में सदाचार की भावना सर्वप्रधान है। राम-भक्ति का वास्तविक अभिप्राय यह है कि व्यक्ति सदाचारी बन, सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं के प्रति निष्काम भाव धारण कर सरल, सादा जीवन व्यतीत करे। यदि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा करने लगे तो संसार के अन्याय, अत्याचार, अभाव आदि का समूल नाश हो जायेगा और फिर सम्पूर्ण मानवता सुखी बन शान्ति, सन्तोष और आनन्द से भरा जीवन व्यतीत करने लगेगी। 'विनय-पत्रिका' का मूल सन्देश यही प्रतीत होता है। भक्ति के इस लोक-कल्याणकारी रूप की स्थापना ही—तुलसी के समस्त जीवन की चरम साधना और उपलब्धि रही है।

विनय-पत्रिका क्यों लिखी गयी ?

हम ऊपर 'विनय-पत्रिका' के मूल उद्देश्य के प्रति संकेत कर आये हैं। यह हमारा दृष्टिकोण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्य-मनीषियों ने भी तुलसी-साहित्य का यही मूल उद्देश्य माना है। परन्तु इसके अतिरिक्त राम-भक्तों की दृष्टि से 'विनय-पत्रिका' का केवल एक ही उद्देश्य है कि राम-नाम लेने से व्यक्ति के सम्पूर्ण पाप धुल जाते हैं और उसे मोक्ष मिल जाता है। परन्तु इस दृष्टि में एक कमजोरी है। यहाँ मूल उद्देश्य—मोक्ष की प्राप्ति है, जबकि स्वयं तुलसी मोक्ष की कामना न कर, राम से केवल उनकी भक्ति प्राप्त करने की ही याचना करते हैं। साधारण दृष्टि से 'विनय-पत्रिका' को भक्ति का ग्रन्थ मानने वाले उसके मूल में निहित सदाचार के सन्देश, सदाचार के महत्त्व, सदाचार की परिभाषा और उसके लोक-कल्याणकारी स्वरूप को नहीं जान पाते। इसी कारण वे इस ग्रन्थ के मूल की थाह न पाकर उसके वाह्य स्वरूप तक ही सीमित होकर रह जाते हैं। केवल विनय-पत्रिका ही नहीं, बल्कि तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य सदाचार पर आधारित स्वस्थ मानव-समाज के निर्माण का सन्देश दे रहा है।

वियोगी हरि ने, 'विनय-पत्रिका' क्यों लिखी गई, इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :—

एक हत्यारा यह पुकारता फिरता था कि 'राम के नाम पर कोई मेरे हाथ का भोजन खाकर मुझे हत्या के पाप से छुड़ा दे।' तुलसी ने यह पुकार सुनकर उसे अपने पास बुलाया और उसके हाथ का भोजन किया। यह सुनकर काशी के पण्डित तुलसी की आलोचना करने लगे और उन्होंने तुलसी से पूछा कि इसका क्या प्रमाण है कि वह हत्यारा हत्या के पाप से मुक्त हो गया है ? तुलसी ने उत्तर दिया कि राम-नाम का प्रभाव ही ऐसा है कि उसका उच्चारण करने वाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। परन्तु अविश्वासी, तार्किक पण्डितों ने तुलसी के सामने यह शर्त रखी कि यदि विश्वनाथ का नन्दी इस हत्यारे के हाथ का भोजन कर ले तो हम मान लेंगे कि यह हत्या के पाप से मुक्त हो गया। फलतः ऐसा ही किया गया और पत्थर के नन्दी ने सब के सामने उस हत्यारे के हाथ का खाना खा लिया। राम-नाम का यह प्रत्यक्ष प्रभाव देख जनता में राम-नाम का प्रचार बढ़ा और सब राम-नाम जपने लगे। यह देख कलियुग चिढ़ गया, क्योंकि अब जनता पर से उसका प्रभाव हटने लगा था। इसलिए उसने तुलसी को बहुत डाँटा-फटकारा और भय दिखाया। तुलसी ने दुखी होकर हनुमान से शिकायत की। इस पर हनुमान ने कहा कि आजकल कलियुग का ही राज्य है, और हम राम की आज्ञा बिना उससे कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिए तुम राम की सेवा में अर्जी लिख दो तो हम उसे राम के सम्मुख प्रस्तुत कर कलियुग को दण्ड दिला देंगे। कहा जाता है कि हनुमान की यह बात सुनकर ही तुलसी ने यह 'विनय-पत्रिका' लिखी थी।

यह घटना किसी चमत्कार-प्रधान मस्तिष्क की उर्वर कल्पना की उपज प्रतीत होती है जिसने इस रूपक द्वारा 'विनय-पत्रिका' के मूल उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उद्देश्य है—कलियुग को दण्ड दिलाना। कलियुग को दण्ड दिलाने का अभिप्राय है संसार से पाप और अत्याचार का विनाश कर सद्धर्म की स्थापना करना। सद्धर्म की स्थापना का परिणाम होता है सम्पूर्ण मानव-समाज में सदाचार की स्थापना जिसकी चरम परिणति होती है—अखिल मानवता का कल्याण; और 'विनय-पत्रिका' का भी यही मूल उद्देश्य है।

रचना-क्रम

'विनय-पत्रिका' के रचना-क्रम के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मत-वैभिन्य है। कुछ लोगों का यह मत है कि इस ग्रन्थ की रचना इस रूप में नहीं की गयी थी, जिस रूप में यह आज उपलब्ध है। इन लोगों के मतानुसार तुलसी ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर फुटकर पदों की रचना की थी और बाद में स्वयं तुलसी ने अथवा उनके किसी परवर्ती प्रशंसक ने इन फुटकर पदों का संग्रह कर, इन्हें प्रस्तुत रूप में सम्पादित कर दिया था। इसके विपरीत, कुछ लोगों का यह कहना है कि तुलसी ने प्रस्तुत रूप में ही इसकी रचना की थी। 'विनय-पत्रिका' के अन्तिम कुछ पदों से भी यही ध्वनि निकलती है। जैसे—

विनय पत्रिका दीन की, बापु, ! आपु ही बाँचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो ॥

यदि ये पंक्तियाँ प्रक्षिप्त नहीं हैं तो इनके आधार पर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि तुलसी ने इस ग्रन्थ को इसी रूप और क्रम में लिखा था ।

इस पत्रिका में तुलसी ने राज-दरबार में अर्जी भेजने की प्रचलित पद्धति का ही एक प्रकार से अनुसरण किया है । किसी भी शुभ कार्य का आरम्भ करने से पहले गणेश की वन्दना की जाती है, सो तुलसी ने भी इस ग्रन्थ का आरम्भ 'गाइए गनपति जगबंदन' कह के किया है । इसके उपरान्त सूर्य से अविद्याजनित अन्धकार दूर कर राम के चरणों में भक्ति माँगी है । फिर राम-नाम के एकमात्र ज्ञाता और आदि प्रतिष्ठापक जगद्गुरु शिव की प्रार्थना कर, भयंकर रौद्र मूर्त्ति भैरव की भी स्तुति की है जिससे कलियुग भयभीत हो उठे । बीच में संक्षेप में पार्वती, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट आदि का गुणगान करने के उपरान्त राम के परम आत्मीय, सतत सजग सेवक हनुमान से अपनी सारी व्यथा-कथा कह उनसे राम की भक्ति माँगी है । इसके पश्चात् संक्षेप में भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की स्तुति कर दो पदों में माता जानकी से बड़े करुण शब्दों में प्रार्थना की है कि कभी कुछ करुण-कथा छेड़कर प्रभु को मेरी याद दिला देना । ये दो पद (४१, ४२) बहुत ही मार्मिक बन पड़े हैं ।

यहाँ तक राम-दरबार के सम्पूर्ण पार्षदों (सभासदों) तथा देवी-देवताओं की स्तुति कर तुलसी अपने प्रभु राम की ओर उन्मुख होते हैं । पहले वह एक पद में संक्षिप्त राम-चरित्र का वर्णन करते हैं जिसमें सम्पूर्ण रामायण की कथा आ जाती है—(पद संख्या ४३) । फिर राम, कृष्ण, दशावतार, बिन्दु माधव की वन्दना की जाती है । यह सब करने के उपरान्त तुलसी स्वामी का प्रभुत्व, शील, उदारता तथा अपना दैन्य, कल्मषता तथा निरीहता का भिन्न-भिन्न पदों में विस्तार के साथ वर्णन करते हैं । २७६ पद तक यही रूप चलता है जिसमें मन, जीव, जगत, माया कलि-प्रभाव आदि का नये-नये ढंग से बार-बार वर्णन किया गया है । यहाँ तक पत्रिका का मूल विषय समाप्त हो जाता है । अब समस्या उठती है कि इस 'विनय-पत्रिका' को स्वामी राम के सम्मुख प्रस्तुत कौन करे ? तुलसी राम के दो प्रमुख पार्षदों—लक्ष्मण और हनुमान—को पहले ही साध चुके थे, सीता भी तुलसी की समर्थिका बन चुकी थीं, सो एक दिन सुअवसर पा, हनुमान और भरत का सहमति-संकेत मिल जाने पर लक्ष्मण 'विनय-पत्रिका' को इस सिफारिश (संस्तुति) के साथ राम के सम्मुख पेश कर देते हैं—

कलिकालहुँ नाथ ! नाम सों प्रतीति एक किंकर की निबही है ।

सारी सभा लक्ष्मण की हाँ-में-हाँ मिलाती है और राम मुस्कराकर स्वीकार करते हैं कि मैं यह बात (सीता से) पहले सुन चुका हूँ, और फिर उस पर अपनी

स्वीकृति प्रदान कर देते हैं। सब की मिली-भगत से दीन तुलसी का काम बन जाता है और तुलसी मगन हो राम के सम्मुख मस्तक झुका देते हैं।

'विनय-पत्रिका' समाप्त हो जाती है।

विनय-पत्रिका का यही क्रम है। मुग्ध भक्त इन सारी बातों पर विश्वास कर लेता है कि तुलसी ने अवश्य राम के दरबार में अपनी यह विनय-पत्रिका पेश की होगी और राम ने उसे मंजूर कर लिया होगा। मुग्ध सत्यासत्य में भेद नहीं कर पाता। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि तुलसी की सम्पूर्ण विनय-पत्रिका एक विशाल रूपक है जो उनकी उर्वर कल्पना की विशुद्ध विभूति है। कवि-कौशल यही कहलाता है जो कल्पना को भी साकार सजीव रूप प्रदान कर दे। इसी जन-कल्याणकारी कल्पना का यह चमत्कारी परिणाम निकला है कि किम्वदन्तियों ने तुलसी और हनुमान को परम आत्मीय बना दिया है। जहाँ कहीं रामायण की कथा होती है, हनुमान वहाँ किसी-न-किसी वेश में अवश्य उपस्थित रहते हैं, तुलसी ने चित्रकूट में राम-लक्ष्मण के दर्शन किये थे, हनुमान ने उनका रहस्य बताया था, कलि-युग ने तुलसी को डाँटा-फटकारा था, तुलसी ने हनुमान से उसकी शिकायत की थी, पत्थर के नन्दी ने खाना खाया था, आदि-आदि।

सरल-भोला मानव-हृदय रूपक की वास्तविकता को न समझ उसे ही यथावत् रूप में सत्य समझ लेता है और चतुर व्यक्ति किम्वदन्तियों की सृष्टि कर उसके भ्रम को और अधिक प्रगाढ़ बना देते हैं। इससे एक बड़ा अहित यह होता है कि भोला मानव वास्तविकता की तह तक न पहुँच उसके बाह्य रूप में ही उलझा रह जाता है और फलस्वरूप मूल सन्देश और सच्चे ज्ञान से वंचित रह जाता है। वह तुलसी की इस बात पर अन्ध-विश्वास कर लेता है कि राम-नाम लेने से सम्पूर्ण पाप धुल जाते हैं। परन्तु यह नहीं समझ पाता कि राम-नाम व्यक्ति को सदाचारी, निस्पृह और महान् बनाता है। वह तुलसी द्वारा बताये गये सन्तों के लक्षणों की ओर ध्यान नहीं देता और न इस बात के प्रति ही सचेत रहता है कि राम जब किसी को अपना लेते हैं, तब उसका क्या रूप होता है। तुलसी (पद संख्या २६८) इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सो नेह छाँड़ि छल करिहै॥

इस पद में तुलसी ने सच्चे राम-भक्त के लक्षण दिये हैं। यदि सारे मनुष्य सच्चे मन से राम का स्मरण करने लगें; अर्थात् राम के आदर्श जीवन को अपनाकर अपना जीवन सदाचारी और निस्पृह बना लें तो सम्पूर्ण मानवता का कल्याण हो जाय। परन्तु होता ऐसा नहीं। सहज आलसी मन केवल इसी बात तक सीमित रह जाता है कि 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ' राम का नाम लेने से मुक्ति और सम्पूर्ण सांसारिक सम्पदा प्राप्त हो जाती है। परन्तु वह तुलसी के पूर्ण निस्पृह और सदाचारी

वनने की वात को नहीं सुनता और सुनकर भी अनसुनी कर जाता है, क्योंकि ऐसा करने से वह वीतराग (वैरागी) बन जायेगा, फिर उसके जीवन में आकर्षण ही क्या रह जायेगा। ऐसे ही लोग किसी भी वात की जड़ तक पहुँच मूर्ख-के-मूर्ख वने रह जाते हैं। तुलसी मानव को मूलतः सदाचारी बनने की प्रेरणा देते हैं, न कि केवल ऊपरी मन से राम-नाम रटने की। इसीलिए तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में वाह्य पूजोपासना आदि की तुलना में मानसिक उपासना को महत्त्व प्रदान किया है। मानसिक उपासना का लौकिक अर्थ यह है कि मन को संयमित कर, उसे अशुभ से दूर कर शुभ के प्रति प्रेरित करना। मन विचार का पर्याय है; अर्थात् विचार-शुद्धि मानव-कल्याण का एकमात्र साधन है। 'विनय-पत्रिका' का यही मूल उद्देश्य है।

वर्ण्य-विषय

हम पीछे 'विनय-पत्रिका' के क्रम का विवेचन करते समय स्थूल रूप से उसके वर्ण्य-विपय का भी उल्लेख कर आये हैं। यहाँ उस पर तनिक विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ कवि की विनय सम्बन्धी उक्तियों का कोश है। अतः इसका प्रधान वर्ण्य-विपय 'विनय' है। तुलसी ने अपनी विनय-भावना को विभिन्न माध्यमों द्वारा व्यक्त किया है। संक्षेप में इस ग्रन्थ के वर्ण्य-विषयों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. सम्पूर्ण देवी-देवताओं एवं तीर्थ स्थानों के प्रति पूर्ण श्रद्धा की अभिव्यक्ति।
२. सांसारिक जीवन के प्रति आसक्ति का विरोध और इस आसक्ति के भयंकर परिणाम।
३. मन को वश में करने के लिए विभिन्न प्रकार से उसे उद्‌बोधन देना।
४. राम-नाम की महत्ता, उसके प्रति पूर्ण समर्पित भक्ति-भावना, निष्कलुष जीवन और मन की निरन्तर बनी रहने वाली चंचलता।
५. राम की शरण की महत्ता और उसका प्रभाव।

इस ग्रन्थ में तुलसी ने विना किसी भेद-भाव के हिन्दू धर्म में मान्य सम्पूर्ण प्रमुख देवी-देवताओं की स्तुति की है और पवित्र तीर्थ-स्थानों का, विशेष रूप से उन तीर्थ-स्थानों का जिनका राम के जीवन-चरित्र से सम्वन्ध रहा है, श्रद्धा के साथ वर्णन किया है। इन स्तुतियों की एक विशेषता यह है कि सम्पूर्ण देवताओं की स्तुति करने के उपरान्त तुलसी ने अन्त में सवसे राम-भक्ति की ही याचना की है। गणेश, शिव आदि सव देवता वड़े हैं, महान् हैं, तुलसी उनकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु अन्त में उनसे प्रार्थना यही करते हैं कि मुझ पर ऐसी कृपा करो जिससे राम के चरणों में मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे। फिर राम का गुण-गान प्रारम्भ होता है। तीनों भाइयों और सीता से भी यही प्रार्थना की जाती है कि किसी प्रकार राम को मेरी याद दिला देना।

इसके उपरान्त अभी तुलसी राम से कुछ भी नहीं कहते। सबसे पहले अपनी जीभ को शिक्षा देते हैं कि राम-नाम रटा कर। अनेक पृष्ठों तक जीभ की खूब लानत-मलामत होती है। फिर तुलसी अपना आत्म-विश्लेषण करने बैठते हैं कि मैं राम-भक्ति की कामना तो कर रहा हूँ, परन्तु पहले अपनी तरफ तो देख लूँ कि मेरे कर्म कैसे रहे हैं। इसी सन्दर्भ में वह जड़-जीव को चैतन्य होने का उद्बोधन देते हैं कि यह सांसारिक विषय-वासनाएँ क्षणिक, अशान्ति का मूल कारण और निस्सार हैं, इसलिए जीव को इनके मोहपाश से मुक्त हो, राम के चरणों में प्रेम करना चाहिए—

जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी।
देह गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥

परन्तु जीव चैतन्य हो तो कैसे हो ? केवल राम की कृपा होने पर ही जीव अज्ञान के पाश से मुक्त हो, ज्ञान-लाभ कर सकता है—

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि-त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे।

परन्तु राम आखिर कृपा क्यों करने लगे ? तुलसी इसका उत्तर देते हैं कि राम का तो यह स्वभाव ही है कि जन को दुखी देखकर उस पर सदैव कृपा करते हैं—

तुलसीदास प्रभु कृपालु निरखि जीव जन बिहालु
भंजो भवजाल परम मंगलाचरे।

इस दृढ़ विश्वास के साथ तुलसी अब राम को अपना संक्षिप्त सा परिचय देते हैं कि मैं राम का गुलाम हूँ, कभी-कभी दो-एक बार राम-नाम ले लेता हूँ। कामना यह है कि राम मुझे अपनी शरण में ले लें। बस, और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो इस योग्य नहीं कि तुम्हारी शरण प्राप्त कर सकूँ। परन्तु वेद-पुराणों की बातें सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया है कि जब तुमने बड़े-बड़े पापियों को अपना लिया तो मुझ जैसे नराधम को भी अपना लोगे।

भक्ति के क्षेत्र में प्रभु की महिमा और अपनी लघुता का अनुभव ही लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन माना गया है। तुलसी भी इसी पद्धति को अपनाते हैं—

राम सो बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो॥

फिर तुलसी राम के साथ अपने विभिन्न सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज हारी॥

× × ×

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात मात सखा गुरु तू, सब विधि हितू मेरो।।

इसके उपरान्त जब तुलसी अपना आत्म-विश्लेपण करने बैठते हैं तो आत्म-ग्लानि से भर उटते हैं कि मैंने राम से स्वामी को पाकर भी कभी सच्चे मन से उनकी सेवा नहीं की। परन्तु राम कृपालु हैं, वे दीनों के अपराधों को क्षमा कर उन पर सदैव कृपा करते हैं—

राम तुमसे सुचि सुद्धि साहिबहि मैं सठ पीठि दई।
× × ×
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यो विषयनि हाथ हियो है।
मोसे बंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है।।

मैंने क्या-क्या नहीं किया ? परन्तु हाथ कुछ भी नहीं लगा—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहे न नायो।
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो।।

परन्तु—

नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो, लालच ललचायो।।

अपने पापों को स्वीकार कर लेने से मन को शान्ति मिलती है। तुलसी भी अपनी आत्म-ग्लानि को अभिव्यक्त कर कुछ हल्के हो जाते हैं। उन्हें आशा होने लगती है कि शायद अब मुझे राम की शरण मिल जायेगी। परन्तु मन तो बड़ा शक्तिशाली और चंचल होता है न ! वह बार-बार सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता है, प्रयत्न करने पर भी काबू में नहीं आता। इसके चक्कर में पड़कर सारा जीवन ऐसे ही बीत गया। यह कभी राम के चरणों की ओर अनुरक्त ही नहीं हुआ—

निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहि जनम सिरान्यो।।

तुलसी मन को बहुत समझाते हैं—

तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहु राम कर चेरो।

परन्तु मन फिर भी नहीं मानता। इसको वश में करने के सारे प्रयत्न निष्फल हो गये हैं। तुलसी सोचते हैं कि आखिर इसका कारण क्या है ? यह माया के वश में क्यों पड़ा रहता है ? माया प्रभु की दासी है, इसलिए उसके चंगुल से मन तभी मुक्त हो सकेगा जब प्रभु अपनी इस दासी माया को ऐसा करने से रोक देंगे—

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।

परन्तु तुलसी के मन में फिर यह शंका उत्पन्न होती है कि आखिर प्रभु मुझ जैसे पापी को न सताने के लिए माया को क्यों आज्ञा देने लगे ? साथ ही जब वह

देखते हैं कि प्रभु ने बड़े-बड़े भयंकर पापियों को भी अपना लिया था तो तुलसी को यह विश्वास होने लगता है कि प्रभु मुझे भी अवश्य अपना लेंगे, क्योंकि उनकी तो सदा से ही यह रीति रही है कि—

निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति ।

भगवान के दरबार में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, कुलीन-अकुलीन में कोई भेद-भाव न कर सबको समान रूप से अपना लिया जाता है । यहाँ तुलसी भक्ति का समाजीकरण कर रहे हैं । तुलसी को विश्वास हो जाता है कि राम मुझ जैसे पापी को भी अवश्य अपना लेंगे । यह विश्वास होते ही वह निर्द्वन्द्व से हो जाते हैं । भगवत्कृपा प्राप्त होने पर सारे दुख, अशान्ति, संशय स्वतः ही दूर हो जायेंगे । राम की कृपा बिना इनका दूर होना असम्भव है—

तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ।

× × ×

तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरे छोरे ।

परन्तु फिर वही प्रश्न आ खड़ा होता है कि भगवत्कृपा प्राप्त कैसे हो ? दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी यह मन विषयों के प्रति अपने अनुराग को नहीं छोड़ता और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रभु कृपा नहीं करेंगे । इसलिए तुलसी फिर अपने मन को समझाने में व्यस्त हो जाते हैं कि राम की शरण में जाने से ही तेरा कल्याण होगा :—

जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम रामहि धरि हिये ।

तुलसी राम के उदार स्वभाव, भक्त-वत्सलता, कृपा आदि का स्मरण करते हैं—

दीनदयालु दुरित दारिद दुख, दुती दुसह तिहुँ ताप-तई है ।
देव, दुवार पुकारत आरत, सब की सब सुख-हानि भई है ॥

यह सोचने पर भी तुलसी को पूरा ढाढस नहीं बँध पाता । मन को वश में करने के उनके सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं । अब तो केवल राम स्वयं ही उनके हृदय में आकर निवास करें तभी यह मन वश में हो सकेगा—

हारि पर्यो करि जतन बहुत विधि, ताते कहत सबेरो ।
तुलसिदास यह त्रास मिटे जब, हृदय करहु तुम डेरो ॥

परन्तु राम आखिर उनके हृदय में निवास क्यों करने लगे ? तुलसी धीरे-धीरे 'विनय-पत्रिका' के मूल सन्देश तक आते जा रहे हैं । राम की भक्ति करना कोई बच्चों का खेल नहीं है—

रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ॥

इसके लिए वैराग्य की भावना उत्पन्न होना अनिवार्य है। इसी बात को तुलसी अपनी अभिलाषा के रूप में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरन्तर मन-क्रम-बचन-नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो॥
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, औगुन न कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता, सुख-दुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यह पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

तुलसी का मूल सन्देश यही है। यदि सम्पूर्ण मानव-समाज इस जीवन को अपना ले तो संसार की सारी विषमताएँ दूर हो जायेंगी और भक्तों की भाषा में भक्तों को राम की कृपा प्राप्त हो जायेगी। राम की कृपा प्राप्त करने से तुलसी का अभिप्राय इसी प्रकार के जीवन से है जो उच्चतम मानव-जीवन का आदर्श है। यही राम की भक्ति प्राप्त करना है और यही मुक्ति है। तुलसी ने इसीलिए सांसारिक विषयों को त्याज्य माना है, क्योंकि वे मानव को सहज मानव नहीं बना रहने देते। राम की भक्ति का अभिप्राय ही यह है कि मानव वीतराग (समरस) बन जाय। फिर उसके लिए कोई भी दुःख शेष नहीं रह जायेगा। सांसारिक आकर्षण दुराशा के समान दुःखदायी हैं, इसलिए उनका त्याग करना पहली शर्त है—

अब नाथहि अनुरागु जागु जड़, त्याग दुरासा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घीते॥

परोपकार करना ही वेदों का सार है—

काज कहा नर-तनु धरि सार्यो।
पर-उपकार सार स्रुति को जो धोखेहु न विचार्यो॥

यदि मानव वेदों के इस सार को समझ लेता तो उसे इतना दुख कभी न भोगना पड़ता। परन्तु तुलसी राम की ही शरण क्यों चाहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि राम उनके आदर्श मानव हैं। तुलसी राम के व्यक्तित्व में आदर्श मानव का रूप देखते हैं और जानते हैं कि यदि सभी मनुष्य उसी आदर्श जीवन को अपना लें तो मानवता सुखी बन जायेगी, सारी विषमताएँ नष्ट हो जाएँगी। इसीलिए तुलसी अहर्निशि राम का सान्निध्य प्राप्त करने की कामना करते रहते हैं। योगियों का मोक्ष तुलसी की दृष्टि में अवहेलनीय है—

खेलिबे को मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥

तुलसी के समान रूपक की भाषा में कहें तो यह प्रश्न उठता है कि इसका पता कैसे लगे कि राम ने अपना लिया है ? तुलसी इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

तुम अपनाओ, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि सुभाउ विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ॥
सुत की प्रीति, प्रतीत मीत की नृप ज्यों डर डरिहै ।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सो चहूँ विधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै ॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि-मरिहै ।
हानि-लाभ, सुख-दुख सब समचित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै ॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरिषिहै नीर नैननि ढरिहै ।
तुलसिदास भयो राम को विश्वास प्रेम लखि आनन्द उमगि उर भरिहै ॥

यही भक्ति की पूर्णता है, मानवता की चरम उपलब्धि है । इसी की प्राप्ति के लिए तुलसी ने अहंभाव को दूर कर मानवता को इस कल्याणकारी मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए पुकारा है । 'विनय-पत्रिका' का सार यही है । यही इस ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य-विषय है । शेष सारी बातें एक विशाल आध्यात्मिक रूपक का साज-सम्हार मात्र है । गांधी जी इस रहस्य को जानते थे; इसी कारण वह तुलसी के इतने बड़े भक्त थे । तुलसी जैसा महान् चिन्तक ही अध्यात्म के आवरण में लपेट इतना महान् क्रान्तिकारी सन्देश देने में समर्थ हो सकता था और अपने इसी महान् सन्देश के लिए तुलसी युग-युग तक मानवता के श्रद्धा-भाजन बने रहेंगे ।

भक्ति-पद्धति

आचार्य शुक्ल ने लिखा था कि—"शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलम्बन स्थिर करके तुलसी ने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया है ।"

तुलसी की भक्ति-पद्धति का सम्पूर्ण रहस्य उपर्युक्त वाक्य में छिपा हुआ है । भक्ति के दो पक्ष होते हैं—आलम्बन अर्थात् जिसकी भक्ति की जाती है, तथा भक्त अर्थात् जो भक्ति करता है । आलम्बन में शील का असामान्य उत्कर्ष होना, भक्त को अपने प्रति आकर्षित करने के लिए पहली शर्त है । यदि आलम्बन में आसाधारण का उत्कर्ष नहीं होगा तो भक्त उसके प्रति कभी आकर्षित नहीं होगा । अपने उपास्य में शील का असामान्य (असाधारण) उत्कर्ष देखकर ही भक्त उसके प्रति आकर्षित होता है, इस आकर्षण से प्रेम उत्पन्न होता है जो पक कर भक्ति का स्वरूप धारण कर लेता है । इस दृष्टि से भक्ति के तीन सोपान निश्चित हुए—आकर्षण, प्रेम और भक्ति । यह तो हुई आलम्बन अर्थात् उपास्य पक्ष की बात । अब दूसरा पक्ष आता है—भक्त का । भक्त की अपनी विशेषताएँ हैं । सामान्य व्यक्ति शील के प्रति अधिक आकर्षित नहीं होते । शील उन्हीं को अपने प्रति अधिक आकर्षित करता है

जिनका हृदय मूलतः प्रेम की कोमल भावना से ओत-प्रोत रहता है। चाहे प्रारम्भ में प्रेम की यह भावना भले ही प्रच्छन्न रूप में रहे परन्तु इसका होना आवश्यक है। प्रेमी ही अनन्य भक्त बन सकता है, दूसरा नहीं, और प्रेम सदाचार का जनक होता है। इसलिए भक्त भी सदाचारी होता है। अतः भक्त की दो विशेषताएँ निर्धारित हुईं—प्रेमी और सदाचारी। प्रेम और सदाचार की चरम परिणति का ही दूसरा नाम भक्ति है। तुलसी की भक्ति-पद्धति को समझने के लिए इस तथ्य को समझ लेना आवश्यक है। यहाँ हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि ये दोनों बातें भक्त में पूर्वजन्म के कर्मफल से उत्पन्न होती हैं या अन्य किसी प्रकार से। परन्तु इन दोनों का होना परमावश्यक है। इनके बिना कोई भी सच्चा भक्त नहीं बन सकता। प्रेम की उत्कट भावना ही भक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है।

अब हम इन दोनों पक्षों को और अधिक विश्लेषण करके देखना चाहेंगे। आलम्बन में शील के असामान्य उत्कर्ष को देख भक्त आलम्बन के प्रति आकर्षित होता है। तुलसी ने इसी कारण राम में शील का असामान्य उत्कर्ष दिखाया है—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाऊ॥
सिसुपन तें पितु मातु बन्धु गुरु, सेवक सचिव सखाऊ।
कहत राम बिधु बदन रिसौहैं, सपनेहु लखा न काऊ॥

राम इसी असामान्य शील के अधिकारी हैं। परन्तु इस शील के दो सोपान और हैं—सौन्दर्य और शक्ति। सौन्दर्य से हृदय आकर्षित और मोहित होता है, शक्ति से आश्चर्य और श्रद्धा उत्पन्न होती है, तथा शील से हृदय तद्‌रूपता प्राप्त करता है। इस प्रकार सौन्दर्य, शक्ति और शील के समन्वय से एक आदर्श मूर्ति का निर्माण होता है जो भक्ति का आलम्बन होती है। परन्तु इन तीनों गुणों में शील ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शील के अभाव में सौन्दर्य उच्छृङ्खल और अनाचारी हो उठता है तथा शक्ति उद्धत, उत्पीड़क और अत्याचारी का स्वरूप धारण कर लेती है। शील ही सौन्दर्य और शक्ति को शुभ, कल्याणकारी और आकर्षक बनाता है। आचार्य शुक्ल ने इसी कारण सौन्दर्य और शक्ति के असामान्य उत्कर्ष की बात न कहकर शील के असामान्य उत्कर्ष को महत्त्व दिया है और तुलसी ने भी इसी कारण 'विनय-पत्रिका' में राम के शील का ही अधिक वर्णन किया है, न कि सौन्दर्य और शक्ति का। इस प्रकार तुलसी राम के ऐसे स्वरूप की स्थापना करते हैं जो सौन्दर्य, शक्ति और शील का समन्वित रूप तो है परन्तु जिसमें हमें शील का असामान्य उत्कर्ष दिखाई पड़ता है और जो भक्तों का उपास्य स्वरूप बन गया है।

तुलसी ने शील-प्रधान राम के इस स्वरूप की स्थापना इसलिए की है कि वह भक्त में भी इस शील का उत्कर्ष आवश्यक मानते हैं। भक्त में इस शील का

उत्कर्ष कैसे हो, इसके लिए तुलसी दो साधन बताते हैं—सत्संग और राम की शरण। सत्संग से सांसारिक विषयों के प्रति विराग उत्पन्न होता है, सहज-सरल जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ता है। इससे मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध होने से विकारी भावनाएँ दूर होती हैं। इस प्रकार सत्संग मन को राम की भक्ति के लिए एक दृढ़ आधार प्रदान कर देता है। इसे हम एक प्रकार से मन की पृष्ठभूमि का निर्माण कहना चाहेंगे। अब इसका दूसरा पक्ष आता है—राम की शरण। राम का चिन्तन करने से मन एकाग्र होता है। राम का स्वरूप शुभ है और शुभ—प्रेम की कोमल भावना से भरे मन को अपने प्रति आर्कषित करता है। इस शुभ रूप के प्रति आर्कषित हो जाने पर मन की चंचलता क्रमशः दूर होने लगती है, क्योंकि शुभ का प्रभाव सदैव मन को स्थिर और एकाग्र बनाता है। हम जिस प्रकार किसी सुन्दर रूप को देख मुग्ध हो, टकटकी बाँधे उसकी ओर देखते रह जाते हैं इसी प्रकार शुभ हमें अपने प्रति आर्कषित कर विस्मय-विमुग्ध बनाये रखता है। ऐसी दशा के मन अपनी चंचलता त्याग अर्थात् सांसारिक विषयों के आकर्षण से मुक्त हो, अपने उपास्य राम के समान बनने का प्रयत्न करता है। इससे भक्त के हृदय का कलुप दूर हो जाता है और वह पूर्ण निर्मल आत्मस्वरूप ब्रह्म बन जाता है। भक्त और भगवान में अभेदत्व की स्थापना का यही रहस्य है। भाव यह है कि भक्त भगवान को आदर्श मान स्वयं को भी उसी के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

जिस प्रकार राम निस्पृह, समरस रहते हैं, भक्त भी वैसा ही बनना चाहता है। तुलसी भक्त की इसी इच्छा को अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोख कहौंगो॥
परिहरि देह जनति चिन्ता, दुख सुख सम बुद्धि लहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

जो व्यक्ति ऐसा बन जाय—वही योगी, परमहंस संत बन जाता है; और भगवान को भी परम योगी माना गया है। तुलसी ने राम का वर्णन करते समय उनके चरित्र में उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणों का चरम उत्कर्ष दिखाया है और इन गुणों से समन्वित व्यक्ति ही सदाचारी माना जाता है; और तुलसी सच्चे भक्त के यही लक्षण मानते हैं, अतः भक्ति और सदाचार अन्योन्याश्रित हैं। सच्चा सदाचारी ही सच्चा भक्त है। राम के समान आदर्श आलम्बन का अनुकरण करने पर ही मानव सच्चा भक्त अर्थात् सदाचारी बन सकता है। तुलसी की यही मूल भक्ति-पद्धति है।

अब इस स्थिति तक कैसे पहुँचा जाय, इसका तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। तुलसी ने सबसे पहले देवताओं की स्तुति की है। गणेश, शिव, सूर्य, हनुमान से उन्होंने राम के चरणों में रति की याचना की है। ये चारों देवता मानव की विभिन्न विशेषताओं के प्रतीक हैं। गणेश विद्या और शुभ के प्रतीक हैं। गणेश का स्मरण कर एक तरफ तो तुलसी ने लोक और काव्य की परम्परा को मान्यता प्रदान की है और दूसरी तरफ अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धि का दान माँगा है। शिव कल्याण और उदार भावना के प्रतीक हैं। सूर्य अज्ञान का विनाश और ज्ञान का समान वितरण करने वाले देवता के प्रतीक हैं। हनुमान अनन्य भावना के एकमात्र प्रतीक हैं। शिव का संहारकारी भैरव रूप अनिष्टों को दूर करने वाला है। इस प्रकार तुलसी इन देवताओं की स्तुति के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से विद्या, ज्ञान, कल्याण और अनन्यता का आह्वान कर रहे हैं, इसलिए कि इनके द्वारा वह सम्पूर्ण शुभ के प्रतीक राम की उपासना कर सकें; अर्थात् राम के आदर्श रूप के अनुरूप स्वयं को ढालने में समर्थ हो सकें। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, सीता आदि की स्तुतियाँ रूपक का निर्वाह करने के लिए ही की गयी प्रतीत होती हैं। गंगा निर्मलता की प्रतीक है। इस प्रकार तुलसी विद्या, ज्ञान, अनन्य-भावना, कल्याण और निर्मलता द्वारा अपने मन को सांसारिक विषयों के आकर्षण से मुक्त कर सम्पूर्ण शुभ के प्रतीक राम के चरणों में लगाना चाहते हैं। यह उनकी भक्ति-भावना का प्रथम सोपान अर्थात् पृष्ठभूमि है। परन्तु यहाँ तक भक्ति का कोई निश्चित स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता। यह भक्ति की भूमिका मात्र है।

सम्पूर्ण शुभ शक्तियों (गुणों) का आह्वान करने के उपरान्त तुलसी मूल विषय पर आते हैं। भक्ति का दूसरा सोपान यह है कि भक्त अपने अहंभाव का त्याग कर दे। अहंभाव मानव स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता और सबसे बड़ी निर्बलता है। मानव के सारे अच्छे-बुरे कार्यों का प्रेरक यही भाव होता है। यही उसे सांसारिक विषयों में उलझाए रख उसे शुभ के पक्ष से दूर ले जाकर दुःखों की सृष्टि करता है। इसीलिए तुलसी सबसे पहले अहंभाव के विनाश पर जोर देते हैं। अहं का विनाश तभी सम्भव है, जब मानव किसी को अपने से महान् और आदर्श स्वीकार कर ले। इसके लिए तुलसी ने राम का सौन्दर्य, शक्ति और शील समन्वित अद्भुत मनमोहक, प्रेरक और शक्तिशाली स्वरूप प्रस्तुत किया है। भक्त राम के इस स्वरूप के सम्मुख अपने को हीन मानने लगे, यही तुलसी का अभिप्राय है। इसी के लिए तुलसी ने अपने दैन्य (हीनता) और राम के महत्त्व (महानता) का इतना बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। अपने दैन्य को स्वीकार कर लेने से अहं नष्ट हो जाता है और मन निर्मल हो शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है। शुभ के प्रति मन को आकर्षित कर लेना ही भक्ति की पहली सीढ़ी पर चढ़ना है।

इसके लिए तुलसी अपनी दीनता और राम की महानता का विविध प्रकार से वर्णन कर अपने मन को यही शिक्षा देते हैं कि तू सब कुछ त्याग समरस भाव

धारण कर ले। ऐसा कर लेने से तू सुख-दुख के घातक प्रभाव से मुक्त हो पूर्ण आत्म-स्वरूप बन जायेगा—

मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निज भक्ति चहै हरि केरी॥
उर आनहि प्रभु कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते॥
दुख-सुख अरु अपमान-बढ़ाई। सब सम लेखहि विपति बिहाई॥
सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही। जन तेहि लागि विदूषहि केही।
तुलसिदास बिनु असि मति आए। मिलहिं न राम कपट लौ लाए॥

यदि मन समरस हो जाय तो फिर सांसारिक विषयों के प्रति उसका आकर्षण स्वतः ही दूर हो जायेगा। अर्थात् भक्त के मन में वैराग्य भावना का संचार होने लगेगा।

हृदय में वैराग्य-भावना उत्पन्न होते ही मानव सब तरह से सन्तोष का आनन्द-लाभ करने लगता है।—"जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।" सन्तोष की भावना उत्पन्न होते ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि सारी दूषित भावनाएँ स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार मन क्रमशः हरि भक्ति की एक-एक सीढ़ी को पार करता हुआ; अर्थात् सांसारिक विषयों के प्रति अपने आकर्षणों पर विजय प्राप्त करता हुआ निर्मल, निष्कलुष, निष्काम जीवन के प्रति अग्रसर होता चला जाता है। परन्तु बीच-बीच में सांसारिक आकर्षण उसे बार-बार अपनी ओर खींचने लगते हैं और मन विचलित हो उठता है। इससे मुक्ति पाने के तुलसी ने दो उपाय बताये हैं—सत्संग करना और अहर्निशि राम के चिन्तन में लीन रहना। तुलसी अपने भक्ति-मार्ग में सत्संग का बहुत अधिक महत्त्व मानते हैं। साधु-सन्तों का सत्संग करने से मानव अपने सच्चे आत्मस्वरूप को पहचानने लगता है. सांसारिक आकर्षण उसके लिए निस्सार हो जाते हैं और राम-चरित का गुणगान सुनने और करने से मन निर्मल हो जाता है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है—उपास्य के प्रति उपासक की अनन्य भावना। भगवान के चरणों में अपने 'स्व' को पूर्ण रूप से समर्पित कर देने से ही राम की भक्ति प्राप्त की जा सकती है। अनन्यता ही तुलसी की भक्ति का प्राण है। उन्हें राम के अतिरिक्त अन्य किसी की भी शरण प्राप्त करने की कामना नहीं है। राम उन्हें प्रिय लगें अथवा राम को वह प्रिय लगें—उनकी एकमात्र अभिलाषा यही है—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो, कीजै तुलसी तोहि॥

राम तुम्हें अच्छे लगें, इसके लिए उनके सौन्दर्य, शक्ति और शील का ध्यान करो और इस प्रकार सौन्दर्य तथा शक्ति समन्वित शील को अपने जीवन में उतारो। राम को तुम अच्छे लगो, इसके लिए तुम्हें स्वयं पवित्र होना पड़ेगा। परन्तु यह सब

तभी सम्भव हो सकता है जब राम के प्रति तुम्हारी पूर्ण निष्ठा अर्थात् अनन्य भावना रहेगी। तुलसी भक्त के लिए राम के अतिरिक्त और कोई भी दृढ़ सम्बल नहीं पाते। भक्त का आश्रय एकमात्र राम के चरण ही हैं। इसीलिए तुलसी बड़े कातर शब्दों में कह उठे हैं—

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की॥
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं॥
× × ×
तुलसी को तेरे ही बनाए, बलि, बनैगी।
प्रभु की बिलंब-अंब दोष-दुख जनैगी॥

राम के प्रति तुलसी का पूर्ण विश्वास है। केवल राम से अनन्य सम्बन्ध, अनन्य प्रेम ही उन्हें प्रिय है। चकोर, पपीहा और मीन जैसे चन्द्रमा, बादल और जल से अनन्य-भाव से प्रेम करते हैं वैसे ही तुलसी राम से प्रेम करते हैं। चातक उनके प्रेम का प्रतीक है—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

लेकिन इस अनन्यता में कोई लेन-देन का भाव नहीं है, यह पूर्ण निष्काम है। स्वर्ग-अपवर्ग की कामना से भक्ति करना व्यर्थ है। तुलसी तो—'जन्म-जन्म सिय राम पद यह वरदान न आन' चाहते हैं। राम के अतिरिक्त उन्हें किसी भी दूसरे का भरोसा नहीं है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु, कलि कल्यान करो॥
करम, उपासन, ज्ञान, वेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि, ज्यों सूझत रंग हरो॥

अनन्य भावना की यह पराकाष्ठा है। इस अनन्यता के साथ भक्ति करने से ही भक्ति की चरम उपलब्धि 'आत्म-स्वरूप का बोध' सम्भव है। तुलसी मोक्ष की कामना नहीं करते—'या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं।' वह अन्य सारे मार्गों अथवा सिद्धान्तों को भी बुरा नहीं कहते—'करम, उपासन, ज्ञान, वेदमत, सो सब भाँति खरो।' इस प्रकार एक तरफ तो वह निष्काम भक्ति की स्थापना करते हैं और दूसरी तरफ परम्परा को भी बुरा नहीं कहते। परन्तु समझते राम-भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ हैं क्योंकि राम के पूर्ण निर्मल चरित्र का चिन्तन और अनुकरण करने से ही मानव सांसारिक दुखों, विकृतियों और विषमताओं से मुक्त हो पूर्ण मानव बन सकता है।

निष्काम भावना रखना ही मानव के जीवन की सार्थकता है। कामनाएँ ही मानव को दुख देती रहती हैं। इसीलिए तुलसी राम के चरणों में निष्काम प्रेम चाहते हैं—

चहौं न सुगति, सुमति संपत्ति, कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग नाथ पद, बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥

तुलसी की भक्ति-पद्धति 'सेव्य-सेवक' भाव की है जिसका मूलाधार प्रेमरूपा-भक्ति है। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि—"सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" तुलसी भक्ति और ज्ञान में अन्तर नहीं मानते—"ज्ञानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥" परन्तु वे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सरल और सहज-सुलभ मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा के समान कठिन और जरा-सा चूक जाने पर घातक हो उठता है। इसके विपरीत, भक्ति का मार्ग राजपथ के समान प्रशस्त, बाधाओं से रहित और सरल है। परन्तु साथ ही ज्ञान के बिना भक्ति असम्भव है। ज्ञान ही भक्त को सत्य का दर्शन कराता है। उसके द्वारा ही भक्त सत्य और असत्य में भेद कर विवेक दृष्टि प्राप्त करता है। ज्ञान के बिना भक्ति करना—अन्धे के समान मार्ग में इधर-उधर भटकते फिरना है। अतः भक्ति के लिए 'ज्ञान' का अर्थात् विवेक-बुद्धि का होना परमावश्यक है। ज्ञान के बिना भगवान के सच्चे स्वरूप को आत्मसात् करना असम्भव है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" ज्ञान भगवान के सच्चे स्वरूप का उद्‌घाटन करता है जिससे भगवान के प्रति भक्त के हृदय में विश्वास उत्पन्न होता है और विश्वास उत्पन्न हो जाने पर भक्त भगवान से प्रेम करने लगता है। इस प्रकार भक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया इस तरह निश्चित की जा सकती है—ज्ञान→विश्वास→प्रेम। अतः यह कहना निराधार है कि तुलसी आदि सगुण भक्तों ने ज्ञान की उपेक्षा कर भक्ति की महत्ता स्थापित की है।

परन्तु भक्ति का मूलाधार यह ज्ञान स्वतः ही प्राप्त नहीं हो जाता। इसे वही प्राप्त करता है जिस पर भगवान की कृपा होती है—"सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥" और भगवान की कृपा सत्संग करने, भगवान के चरित्र और गुणों का श्रवण एवं गायन करने से ही प्राप्त होती है। भाव यह है कि सत्संग आदि से मानव की कुवासनाएँ दूर होती हैं, उसके मन में शुभ भावनाओं का उदय होता है और ऐसा हो जाने पर वह प्रभु की कृपा का अधिकारी बन जाता है। अर्थात् सदाचारी मानव ही भक्ति का अधिकारी होता है।

कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि भगवान पापों का विनाश करने वाले हैं, इसलिए सदाचार की कोई जरूरत ही नहीं है। ऐसे लोग अजामिल, गणिका आदि को तारने के उदाहरण भी देते हैं। परन्तु यह भ्रमात्मक धारणा है। तुलसी ने भगवान के पतित-पावन रूप की इतनी प्रशंसा इसलिए की है कि कोई पापी मनुष्य यह न समझ ले कि उसका सुधार हो ही नहीं सकता। बड़े-से-बड़ा पापी भी अवसर

मिलने पर वाल्मीकि के समान महान् विद्वान् और महर्षि बन सकता है। शर्त केवल यही है कि वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम के नाम का भजन करे अर्थात् उन्हें आदर्श मान अपने जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करे। तुलसी ने 'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो' पद में आदर्श जीवन की एक समुचित रूपरेखा प्रस्तुत कर भक्त को पूर्ण सदाचारी और निष्काम बनने की प्रेरणा दी है। इसलिए सदाचार के अभाव में भक्ति की कल्पना भी करना असम्भव है।

संक्षेप में, तुलसी ने भक्ति की प्राप्ति के लिए श्रद्धा, विश्वास, निश्छलता, लोक-सेवा, विवेक, वैराग्य, नाम-जप और सत्संग आदि साधनों का विधान किया है। इन साधनों द्वारा की गयी भक्ति से जो भगवान का सान्निध्य मिलता है अर्थात् भक्त स्वयं को भगवान की कृपा का अधिकारी समझने लगता है—वह मोक्ष प्राप्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और आनन्दप्रद है। योगी की भाँति माया-मोह से मुक्त हो अविचल हरिभक्ति की प्राप्ति ही तुलसी का ध्येय है। उनकी भक्ति लोक-कल्याण की संजीवनी से युक्त होने के कारण संसारी और वैरागी—दोनों के काम की है। तुलसी परोपकार को वेदों का सार मानते हैं—'पर-उपकार सार स्रुति को जो सो धोखेहु न विचार्‌यो।' तुलसी का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है। परोपकार वेदों का सार है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म है और परोपकार में ही लोक-कल्याण निहित रहता है। जो परोपकारी है वही सर्वश्रेष्ठ लोक-कल्याणकारी है। राम ऐसे ही परोपकारी हैं। इसीलिए तुलसी ने उन्हें अपना आदर्श और उपास्य कहा है। इसी कारण तुलसी ने अपने भक्ति-मार्ग को 'श्रुति सम्मत' कहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि तुलसी की भक्ति-भावना लोक-कल्याण की प्रचारक है, व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से समाज को लोक-कल्याण करने की प्रेरणा देने वाली है। इसके अपनाने से व्यक्ति का भी उत्कर्ष होता है और समाज का भी।

तुलसी ने भक्ति के नौ साधन बताये हैं—भजन (नाम स्मरण), शरणागत भाव, चरित्र श्रवण, मनन-कीर्त्तन-सत्संग, संत स्वभाव प्राप्ति का प्रयत्न, राम के स्वरूप का ध्यान, राम से सम्बन्धित गंगा-चित्रकूट आदि तीर्थों का सेवन, ब्राह्मण-सेवा, शिव और हनुमान की भक्ति। तुलसी की विनय-भावना में भक्त की दीनता, मान-मर्षता, भय दर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य विचारण आदि विनय की सातों भूमिकाएँ भी सम्मिलित हैं।

तुलसी की भक्ति की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। जैसे—भक्ति का समाजीकरण, मानव की महत्ता, मोक्ष की अवहेलना आदि। तुलसी का सबसे क्रान्तिकारी विधान यह था कि उन्होंने भक्ति को कुल, ज्ञान, सम्पत्ति आदि की सीमाओं से मुक्त कर मानव-मात्र के लिए सुलभ बना दिया था। इसीलिए तुलसी ने ऐसे भक्तों का ही बार-बार नाम लिया है जो नीच जाति के और गरीब थे। शबरी, निषाद, गणिका आदि ऐसे ही भक्त थे। अर्थात् तुलसी की दृष्टि में समाज का शूद्र भी भक्ति का उसी प्रकार अधिकारी है जिस प्रकार द्विज। तुलसी भक्ति और

ज्ञान पर किसी वर्ग विशेष की बपौती न स्वीकार कर इन्हें सर्व-सामान्य के लिए मानते हैं। दूसरी बात यह है कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से दीन और दलितों पर ही राम की विशेष कृपा दिखाकर इन्हें ही भक्ति का विशेष अधिकारी माना है। राम गरीव-निवाज, पतित-पावन, दीन-दयालु हैं, न कि समृद्धों और सामर्थ्यवानों के सहायक। राम के ये विशेषण राम को जनता का शुभेक्षु सिद्ध करते हैं। सम्पत्ति सदैव अहंकार और अत्याचार की सृष्टि करती है इसलिए तुलसी के राम इसके विरोधी और नाश करने वाले हैं। इस प्रकार तुलसी भक्ति का समाजीकरण करने में सफल हुए हैं।

तुलसी ने मानव को चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ माना है। यह मानव-शरीर इतना महत्त्वशील है कि देवता तक इसे प्राप्त करने के लिए तरसते रहते हैं। विधाता को इस सम्पूर्ण सृष्टि में मानव सर्वश्रेष्ठ है। मानव-शरीर भगवान की अमूल्य धरोहर है और इसकी चरम सार्थकता भगवद्भक्ति करना; अर्थात् जीव मात्र का उपकार करना है। जब तुलसी मानव को इतना महान् मानते हैं तो यह कहना हास्यास्पद है कि वे संसार को मिथ्या मानते हैं। मानव सत्य है, इसलिए जिस संसार का यह सर्वाधिक देव-दुर्लभ अंश है तो वह संसार मिथ्या कैसे हो सकता है? मानव-शरीर की इस महानता की स्थापना कर तुलसी अप्रत्यक्ष रूप से हठयोग आदि शरीर को कष्ट देने वाली साधनाओं का विरोध करते हैं। उन्होंने 'अलख' जगाने वाले हठयोगियों की इसीलिए भर्त्सना की है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति की एक विशेषता यह है कि उन्होंने मोक्ष को त्याज्य माना है। योगियों की योग-साधना का चरम लक्ष्य मोक्ष तथा यज्ञ करने वालों का सांसारिक विभूति प्राप्त करना है। तुलसी इन दोनों ही लक्ष्यों की अवहेलना करते हैं। तुलसी की एकमात्र कामना है—राम की भक्ति, अर्थात् राम का सान्निध्य प्राप्त करना। इसके बिना यदि उन्हें मोक्ष भी मिले तो भी वे दुखी ही रहेंगे—

खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥

अर्थात् तुलसी चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की कामना न कर इन्हें त्याज्य समझते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इनसे मानवता का कल्याण नहीं हो सकता, केवल व्यक्तिगत लाभ ही होता है और तुलसी व्यक्तिगत लाभ या प्राप्ति के विरोधी हैं। राम जन-कल्याण करने वाले हैं, अतः उनके भक्त को भी जन का कल्याण करने वाला होना चाहिए।

इस प्रकार तुलसी भक्ति को व्यक्तिगत साधना की संकीर्ण-सीमित परिधि से बाहर निकाल कर उसे जन-कल्याणकारी व्यापक भावना का पावन रूप प्रदान कर देते हैं। उनकी भक्ति-पद्धति का यही वह रहस्य है जिसने उन्हें लोकनायक अर्थात् लोक का पद-प्रदर्शन करने वाला बनाया था।

दार्शनिक सिद्धान्त

तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कोई उन्हें अद्वैतवादी मानता है तथा कोई विशिष्टाद्वैतवादी। गिरिधर शर्मा, डॉक्टर बल्देव प्रसाद मिश्र, पंडित श्रीधर पन्त आदि विद्वान् तुलसी को अद्वैतवादी मानते हैं। इसके विपरीत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, रामकुमार वर्मा, डॉक्टर गुलाबराय आदि उन्हें एक प्रकार से विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं। लेकिन तुलसी ने स्वयं इनमें से किसी भी एक वाद का प्रतिपादन नहीं किया है। उन्होंने सभी प्रचलित वादों (सिद्धान्तों) को पूर्ण न मानकर आंशिक रूप से ही सत्य माना है। वे स्पष्ट कहते हैं—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचाने॥

अर्थात् तुलसी इन मत-मतान्तरों से पृथक रहकर आत्म-साक्षात्कार करने के पक्ष में हैं।

इस विषय का विवेचन करने से पूर्व हमें अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद को संक्षेप में समझ लेना चाहिए। इन वादों में ब्रह्म, जीव, जगत और माया तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' सिद्धान्त-वाक्य अद्वैतवाद का मूल है। अद्वैतवाद में ब्रह्म निर्गुण है; उसमें सजातीय, विजातीय, स्वगत आदि किसी प्रकार का भेद नहीं है। जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या (माया) के कारण भासित होता है। अद्वैतवाद को इसी कारण 'मायावाद' भी कहा जाता है। इसके प्रवर्त्तक शंकराचार्य माने जाते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीव, ब्रह्म और जगत—तीनों की एकता मानी जाती है। यह अद्वैतवाद तो है, पर इसमें विशिष्टता यह है कि चित (जीव) और अचित (जड़-जगत) दोनों विशेषण रूप से ब्रह्म के साथ जुड़े हुए हैं। एकाकार होने पर भी वे सूक्ष्म रूप से उसके साथ रहते हैं। स्थूल रूप में जीव और जगत--दोनों ही सत्य हैं। इनका ब्रह्म सजातीय और विजातीय भेदों से तो रहित है पर उसमें स्वगत भेद है। इसलिए जीव और जगत को ब्रह्म का अंश कहना रामानुज का विशिष्टाद्वैत है।

उपर्युक्त दोनों वादों में ब्रह्म, जीव, जगत और माया—इन चारों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की गयी है। इसलिए हमें तुलसी के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करने के लिए पहले इन चारों के सम्बन्ध में तुलसी के अपने क्या विचार हैं, इसे समझ लेना चाहिए। इन विचारों में हमें कहीं शंकर के अद्वैत का प्रभाव दिखाई पड़ता है, कहीं रामानुज के विशिष्टाद्वैत का और कहीं इनके सम्बन्ध में तुलसी के अपने स्वतन्त्र, मौलिक विचार मिलते हैं।

जगत

ऊपर से देखने पर तुलसी के जगत सम्बन्धी ऐसे विचार मिलते हैं जो उन्हें अद्वैतवादी बना देते हैं, जैसे संसार को मृगजल, रज्जुसर्प, रजत सीप आदि कहना—

यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा।
यत्सत्वाद मृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः॥

× × ×

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

× × ×

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, यह प्रपंच जग जोइ॥

× × ×

सोवत सपनेहु सहै, संसृति संताप रे।
बूड़्यौ मृगवारि, खायो जेवरी को साँप रे॥

× × ×

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुँआ के से धौरहर देखि मति भूलि रे॥

उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर अद्वैतवादी तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध कर देते हैं क्योंकि इनमें जगत को मिथ्या माना गया है। परन्तु तुलसी दूसरी तरफ जगत को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं। जब ब्रह्म सत्य है तो फिर उसका अंश जगत असत्य कैसे हो सकता है? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है—

सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

यहाँ यह शंका उठती है कि जब तुलसी जगत को 'सियाराम मय' मानते हैं तो फिर उसे कभी-कभी असत्य क्यों घोषित करने लगते हैं? वियोगी हरि के अनुसार इसका कारण यह है कि तुलसी 'हरिशून्य' जगत को ही असत्य मानते हैं, 'हरिमय' जगत को नहीं। वास्तव में तुलसी ने कभी-कभी जगत को इसलिए असत्य कहा है कि वह जगत के बाह्य रूप के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करना चाहते हैं। 'जगत के बाह्य रूप' से तात्पर्य सांसारिक आकर्षणों से है; अर्थात् तुलसी यह कहना चाहते हैं कि सांसारिक विषय-वासनाओं का आकर्षण ही जगत का सच्चा रूप नहीं है क्योंकि ये आकर्षण क्षणिक, अशान्ति और अतृप्ति उत्पन्न करने वाले हैं तथा जीव को सत्पथ से भ्रष्ट कर लोभ और स्वार्थ की कीचड़ में डुबा देते हैं। इसलिए जीव को संसार के इन आकर्षणों से मुक्ति प्राप्त कर, वैराग्य भाव से अर्थात् समरस बन भगवान् की भक्ति करनी चाहिए अर्थात् अपनी पूर्ण शक्ति और एकाग्रता के साथ सादा-सरल जीवन व्यतीत करते हुए लोकोपकार में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इस प्रकार तुलसी जगत के बाह्य रूप पर मुग्ध, कामी और स्वार्थी जनों के सम्मुख जगत

को मिथ्या घोषित करते हैं और निष्काम, अनासक्त कर्मयोगियों के लिए संसार को पूर्ण सत्य मानते हैं। उन्होंने इन्हीं के लिए 'जगत सचाई सार' कहा है। संक्षेप में, तुलसी ने माया ग्रसित जीव को चेतावनी देने के लिए जगत की असारता की बात कही है और विषयों से विरत जोव के लिए उन्होंने जगत को सत्य माना है।

यहाँ एक तथ्य और द्रष्टव्य है। यदि तुलसी अद्वैतवादियों के समान जगत को मिथ्या मानते तो उन्हीं के समान मोक्ष की कामना भी करते, परन्तु तुलसी मोक्ष की पूर्ण अवहेलना कर उसी जगत में रहने की कामना करते हैं जो भगवान राम की क्रीड़ास्थली रहा है—

खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पैहों, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥

जो व्यक्ति खग, मृग, तरु बनने की अभिलाषा प्रकट करता है वह कभी जगत को असत्य या माया रूप नहीं मान सकता। 'केशव कहि न जाय का कहिए' जैसे पद ऊपर से देखने पर शंकर के मायावाद का पोषण करते प्रतीत होते हैं परन्तु दरअसल ऐसे पदों का वास्तविक अभिप्राय जगत के वाह्य रूप के प्रति विरक्ति उत्पन्न करना ही है, न कि जगत को पूर्णतः मिथ्या मानना। अतः तुलसी को अद्वैतवादी या मायावादी नहीं माना जा सकता।

माया

अद्वैतवाद के अनुसार माया ही वह कारण है—जो जीव और ब्रह्म में भेद उत्पन्न करती है, और उसी के कारण मिथ्या जगत सत्य प्रतीत होने लगता है। तुलसी ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥

इस माया के जाल में पड़कर जीव अपने स्वरूप को भूल भ्रम के कारण अनेक दुख सहता है—

माया बस स्वरूप बिसरायो, तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।

यह माया ब्रह्म की चेरी है। वही सम्पूर्ण जीवों को अपने वश में कर उनके जीवन को रस-हीन बना देती है—

तेहि ईस की हौं सरन, जाकी विषम माया गुनमई।
जेहि किये जीव-निकाय बस, रस हीन दिन-दिन अति नई॥

तथा—

हौं जड़ जीव ईस रघुराया, तुम मायापति हौं बस माया।

इस माया के जाल से मुक्त होने का केवल एक ही उपाय है—राम की कृपा। राम की कृपा होने पर ही माया जीव को मुक्त कर देती है। माया राम की आज्ञा

इसलिए मानती है कि राम मायापति हैं। इसलिए अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है—

अस अछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास-हित, मोह न छूटै माया॥

मानव चाहे कितने ही यत्न क्यों न करे, परन्तु मायापाश से छूट नहीं पाता—

हौं हार्‌यो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

यदि तुलसी अद्वैतवादी होते तो स्वयं प्राप्त ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा इस मायापाश से मुक्त होने की बात कहते और ज्ञान और पुरुषार्थ की प्रशंसा करते। परन्तु वे सर्वत्र प्रभु की कृपा द्वारा ही मोह से मुक्ति की बात कहते और मानते हैं—

तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरे छोरे।

माया से तुलसी का वास्तविक अभिप्राय—सांसारिक आकर्षणों से है। ये आकर्षण जीव को अपने जाल में ऐसे उलझाए रहते हैं कि वह अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है। अर्थात् मानव-जीवन के वास्तविक उद्देश्य लोक-कल्याण का विस्मरण कर अपने ही स्वार्थों की पूर्ति में लगा रहता है। यही माया का जाल है। प्रभु की कृपा होने से ही इससे मुक्ति सम्भव है। प्रभु की कृपा का अर्थ–सरल-सात्विक भावनाओं का उदय है। निष्काम, परोपकारी मानव ही सांसारिक आकर्षणों से मुक्त हो इस जीवन को प्राप्त करता है।

जीव

'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'सोऽहमस्मि' जैसे सिद्धान्त वाक्यों का प्रतिपादक अद्वैत-वाद जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु भक्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक भक्त और भगवान का पूर्ण पृथक् अस्तित्व न हो। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव और जगत् ब्रह्म न होकर उसका अंश मात्र है। तुलसी भी इसी बात को मानते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

परन्तु माया के वश में पड़कर यह अपने अंशी को भूल जाता है—

सो मायाबस भयेउ गुसांईं। बँधेउ कीट मरकट की नाईं॥

जब जीव अपने अंशी ब्रह्म से दूर हो जाता है तो माया उसे अपने जाल में फँसा लेती है और वह अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है—

जिब जबतें हरि तें बिलगान्यो, तब तें देह गेह निज जान्यो।
माया बस स्वरूप बिसरायो, तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

जीव इस दुःख से तभी त्राण पा सकता हैं जब वह विकारों का त्याग कर दे—

जौं निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख, संसय सोक अपारा ॥

यहाँ तुलसी पुनः जीव की मुक्ति विचारों को त्यागने में ही मानते हैं। इस प्रकार तुलसी जीव को अंश और ब्रह्म को अंशी मानते हैं। जीव ब्रह्म से विलग होने पर; अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का विस्मरण कर देने पर माया के जाल में फँस नाना प्रकार के कष्ट सहता है और उसकी मुक्ति तभी सम्भव है जब उस पर राम कृपा करें। भाव यह है कि जीव सरल-सात्विक जीवन को भूल सांसारिक विषय-वासनाओं में फँस जाता है। वह जब 'शुभ' के प्रतीक राम का स्मरण करता है, तभी उसे राम की कृपा प्राप्त होती है।

इस प्रकार तुलसी जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म

तुलसी के राम ब्रह्म हैं। वेद, स्मृति और पुराणों में ब्रह्म के जितने भी विशेषण मिलते हैं, तुलसी के राम के भी वे सारे विशेषण हैं। राम अनादि, अनन्त अजन्मा, निर्विकार, निर्गुण, निरंजन, अनघ, अद्वैत, अनवद्य आदि न जाने क्या-क्या हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज
अमित, अविकार, आनन्द सिन्धो।

× × ×

सर्वमेवात्र-तद्रूप भूपाल-मनि व्यक्तमव्यक्त गत-भेद विष्णो।

× × ×

विश्व पोषन भरन विश्व कारन करन, तुलसीदास त्रासहंता।

× × ×

विश्वभूत विश्वहित अजित गोतीत शिव विश्व पालन हरण विश्वकर्त्ता।

ब्रह्म यद्यपि निर्गुण है, परन्तु जगत को व्याकुल देख सगुण रूप धारण करता है—

जयति सच्चिद्व्यापकानन्द यद्, ब्रह्म विग्रह-व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस, विमल गुन-गेह नर-देहधारी ॥

इस प्रकार तुलसी ब्रह्म को निराकार और साकार—दोनों ही मानते हैं। ब्रह्म ही जगत और जीव है इसलिए अद्वैत है, परन्तु अवतार लेने पर द्वैत अर्थात् सगुण बन जाता है। तुलसी ने राम के सगुण रूप को ही अधिक महत्त्व दिया है। तुलसी के राम में मानवीय गुणों—शरणागत वत्सलता, पतित-पावनता, आदि—की ही प्रधानता है। संक्षेप में, राम पूर्ण मानवता के सर्वोच्च प्रतीक हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुलसी

का दार्शनिक सिद्धान्त किसी भी वाद-विशेष की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। वे न तो अद्वैतवादी हैं, न द्वैतवादी तथा न विशिष्टाद्वैतवादी ही, यद्यपि उनमें इन सारे वादों के तत्त्व मिल जाते हैं। तुलसी इन वादों के जटिल तर्क-प्रधान जंजाल से मुक्त रह 'आत्मबोध' अर्थात् व्यक्ति के चरित्र के परिष्कार को ही भक्ति का मूलाधार मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

उपर्युक्त सारे सिद्धान्त अर्थात् अद्वैतवाद आदि भ्रम की सृष्टि करने वाले हैं। वे मानव का सही मार्ग-दर्शन न कर, उसे सत्य का आंशिक रूप दिखाकर ही उसे पूर्ण सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यही इन सिद्धान्तों की अपूर्णता अर्थात् कमजोरी है। पूर्ण सत्य केवल राम हैं। उन्हें निर्मल, निष्काम भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, और इस भक्ति का मूलाधार है—सत्संग, सदाचार, परोपकार, अनन्यता तथा लोक-कल्याण। इस प्रकार तुलसी मानव को विभिन्न परस्पर विरोधी तर्कों पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्तों के मायाजाल से मुक्त कर—उसे भक्ति के विस्तृत, सुगम, निर्विघ्न राजपथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। सदाचार पर आधारित भक्ति ही मानव जीवन की चरम उपलब्धि है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि तुलसी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के विरोधी थे तो उनके काव्य में हमें कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों की झलक क्यों मिल जाती है? इसके उत्तर के लिए ही पहले यह समझ लेना चाहिए कि तुलसी इन सिद्धान्तों को पूर्णतः भ्रामक न मानकर इन्हें आंशिक रूप से ही सत्य मानते थे। प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ-न-कुछ तत्त्व अवश्य रहता है। तुलसी संग्रहकारी और समन्वयात्मक बुद्धि के अधिकारी विद्वान् थे। इसलिए उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों की अच्छी बातों को स्वीकार कर भ्रम उत्पन्न करने वाले अंशों का विरोध किया है। उन्होंने अद्वैतवाद के कुछ सिद्धान्तों द्वारा संसार की असारता सिद्ध की, परन्तु मूल रूप से अद्वैतवाद की सम्पूर्ण स्थापनाओं को स्वीकार नहीं किया। हमें तुलसी के पदों में ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो विभिन्न दार्शनिक मतों के मूल सिद्धान्तों का खंडन करने वाली हैं। डॉक्टर रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने ऐसे कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैसे—

अद्वैतवाद का विरोध

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने।

यहाँ स्पष्ट रूप से 'अहंब्रह्मास्मि' का खंडन है।

द्वैतवाद का विरोध

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-विरोधी॥

सांख्यवाद का विरोध

प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को, विश्वास प्रेम लखि आनन्द उमंग उर भरिहै॥

अन्त में हमें आचार्य शुक्ल के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि—

"........इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है, कि तुलसीदासजी भक्ति-मार्गी थे, अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को ढूँढ़ना नहीं।" संक्षेप में, तुलसी ऐसे भक्त हैं जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य—राम की निष्काम भक्ति प्राप्त करना है। इस भक्ति के सम्मुख ज्ञानियों का प्रधान लक्ष्य—मोक्ष—भी त्याज्य है।

निष्कर्ष

तुलसी की भक्ति-पद्धति अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों का निचोड़ 'विनय-पत्रिका' में यत्र-तत्र विखरी हुई इन पंक्तियों द्वारा समझा जा सकता है—

१. राम-नाम नवनेह-मेह को मन हठि होहि पपीहा।
२. राम-चरन-अनुराग-नीर-बिनु अतिमल नास न पावै।
३. मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद कमल वसैहों।
४. रघुपति भक्ति सन्तसंगति बिनु को भव त्रास नसावै।
५. पर उपकार सार स्रुति को....।
६. तुलसिदास रघुवीर-बाँह बल सदा निडर काहू न डरै।
७. ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद विमुख अभागी।
८. राम प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर सरिता बिनु बारि।
९. गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
१०. राम, कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
११. तुलसिदास प्रभु मोह सृङ्खला छूटिहि तुम्हरे छोरे।—आदि

तुलसी का सम्प्रदाय

कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न भी उठाया है कि तुलसी किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे? कुछ लोग इन्हें 'स्मार्त वैष्णव' मानते हैं। ये लोग इसका आधार यह बताते हैं कि जिस दिन तुलसी ने 'रामचरितमानस' लिखना प्रारम्भ किया था, उस दिन स्मार्तों की रामनवमी थी, न कि वैष्णवों की। वियोगी हरि तुलसी को श्री रामानन्दी-सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव मानते हैं, न कि स्मार्त वैष्णव। रामानन्दी सम्प्रदाय के राम-नाम और राम-भक्ति को स्वीकार करने के कारण कोई भले ही इन्हें रामानन्दी सम्प्रदाय का श्रीवैष्णव मान ले, परन्तु वास्तविकता यह है कि तुलसी जैसे महामानव किसी भी व्यक्ति, पंथ, मत, सम्प्रदाय विशेष के अन्धानुयायी न होकर स्वतन्त्र विचारक, शुभ का संग्रह करने वाले और शुभ के एक नितान्त सर्वग्राह्य स्वरूप की मौलिक उद्भावना करने वाले होते हैं। जिस प्रकार सूर में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों

का पिष्ट-पेषण नहीं मिलता, उसी प्रकार तुलसी में भी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से बँधकर रहने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती ।

तुलसी का विवेचन करते समय वियोगी हरि ने एक बड़े पते की बात कही है कि—"गोसाईं जी का मायावाद हमें नैतिक जान पड़ता है, दार्शनिक नहीं ।" तुलसी ने नैतिकता (सदाचार) पर जितना बल दिया है, उतना अन्य किसी भी बात पर नहीं । उन्होंने भक्ति और सदाचार को अन्योन्याश्रित बना दिया है । यह तुलसी की सर्वथा मौलिक देन है । इसलिए हम तुलसी को किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध न मान एक स्वतन्त्र विचारक, युगद्रष्टा और महामानव के रूप में ही स्वीकार करने को बाध्य हैं ।

तुलसी के राम

तुलसी द्वारा चित्रित राम के स्वरूप को समझ लेना इसलिए आवश्यक है क्योंकि राम के इस चरित्र पर ही तुलसी की भक्ति-भावना का भव्य भवन आधारित है । तुलसी के राम के दो रूप हैं—मानव और ब्रह्म । इन्ही दो रूपों के अनुसार राम के कुछ चरित्र प्रकट हैं तथा कुछ गुप्त हैं—

सूझहिं रामचरित मनि मानिक । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥

अपने प्रकट चरित्र से राम मानव हैं, गुप्त से ब्रह्म । जहाँ राम के मानवीय चरित्र में कहीं परम्परा का उल्लंघन, दोष आदि दिखाई पड़ते हैं वहाँ तुलसी राम की अलौकिकता—ब्रह्मत्व—की आड़ लेकर, लीला बताकर दोषों का परिहार करने का प्रयत्न करते हैं । उस समय राम मानव न रहकर पूर्ण ब्रह्म बन जाते हैं और ब्रह्म दोष रहित है । इसलिए उसके सारे कार्य मानव की रक्षा और कल्याण के लिए ही होते हैं, फिर चाहे इनके द्वारा सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन ही क्यों न हुआ हो । तुलसी ने राम-चरित्र की इसी विचित्रता की ओर संकेत करते हुए कहा है—

अति विचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान ।
जे मतिमन्द बिमोहबस, हृदय धरहिं कछु आन ॥
उमा रामगुन गूढ़, पंडित भ्रमि पावहिं विरति ।
पावहि मोह विमूढ़, जे हरि बिमुख न धरमरति ॥

अपने अलौकिक रूप में राम विष्णु के अवतार न होकर साक्षात् ब्रह्म हैं जो 'विधि हरि सम्भु नचावनहारे' हैं । तुलसी 'मानस' के प्रारम्भ में राम के इसी स्वरूप की स्थापना करते हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा ।
यत्सत्वाद मृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेभ्रमः ॥

तुलसी के राम यद्यपि मानव हैं परन्तु तुलसी रह-रहकर बार-बार इस बात

का ध्यान दिलाते चलते हैं कि वास्तव में राम साक्षात् ब्रह्म हैं और नर रूप धारण कर लीला करते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द परधामा ।
व्यापक विश्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।।

मानव-रूप में आने पर राम के चरित्र में लौकिक-अलौकिक गुणों का समन्वय हो जाता है । परन्तु उनके लौकिक गुण भी अलौकिक तत्त्वों से समन्वित रहते हैं । उनमें अलौकिक भक्त-वत्सलता और शरणागत-वत्सलता है । साथ ही उनका सौन्दर्य, शील और शक्ति भी अलौकिक हैं । यहाँ 'अलौकिकता' से अभिप्राय गुणों के चरम असामान्य उत्कर्ष से है, किसी चमत्कार से नहीं । राम के ब्रह्मरूप को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) निर्गुण ब्रह्म (राम) जो साधारणतः अज, अगम, अगोचर, सर्वव्यापी हैं, स्वयं अकर्त्ता हैं पर उनकी प्रकृति काम करती है, वे भक्त के वश में होकर सगुण राम का स्वरूप धारण करते हैं ।

(२) सगुण राम दाशरथि राम की भाँति हैं । वह अनादि, अनन्त, सर्वोपरि, देशकाल से परे हैं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश उनकी उपासना करते हैं । साकेत उनका धाम है । सीता उनकी प्रकृति या माया हैं ।

(३) यह सगुण ब्रह्म दाशरथि राम के रूप में वार-वार अवतार लेकर लीला करता है । वास्तव में सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है—'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा ।'

(४) सीता राम से उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे वाणी और अर्थ तथा जल और लहर अभिन्न हैं—'गिरा अर्थ जलबीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।' कहा भी है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी ।
जो सृजति जग, पालित, हरति रुखपाय कृपा-निधान की ।।

मानव राम के भी दो रूप हैं—असामान्य और सामान्य । तुलसी असामान्य चरित्र का सम्बन्ध राम के अवतारी रूप से जोड़ देते हैं—

जे चेतन कर जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य ।
उस समरथ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य ।।

अपने सामान्य रूप में राम पूर्ण मानव हैं । वे सरल स्वभाव के हैं, सबके प्रिय हैं । पुत्र, राजा, स्वामी, सखा आदि सभी रूपों में आदर्श हैं । इस प्रकार तुलसी ने राम के चरित्र में लौकिक-अलौकिक का समन्वय कर पूर्ण मानव का आदर्श चरित्र प्रस्तुत किया है जो अपने समष्टि रूप में शुभ (कल्याण) का प्रतीक बन गया है । भक्ति का आधार राम का यही रूप है, न कि शुद्ध पूर्ण ब्रह्म का ।

तुलसी-मत : एक विश्लेषण

हम तुलसी के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए बता आये हैं कि तुलसी मत-मतान्तरों के चक्कर से दूर रह सार-ग्राहिणी बुद्धि एवं प्रतिभा द्वारा शुभ का संचय करने वाले महामानव थे। उन्होंने ऐसे लोगों की खूब भर्त्सना की है जो पन्थों या सम्प्रदायों का निर्माण किया करते हैं—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

इस दोहे में तुलसी ने एक तरफ तो पंथों अथवा मतों की कल्पना करने वालों को मोहग्रस्त अर्थात् मूढ़ कहा है और दूसरी ओर अपने सिद्धान्त की ओर भी संकेत कर दिया है। उस सिद्धान्त की स्थापना और प्रचार ही तुलसी के जीवन का लक्ष्य था। वह सिद्धान्त है—विवेक और वैराग्य से संयुक्त श्रुतिसम्मत हरि भक्ति पथ। यही तुलसी का मत है। इस पन्थ को अन्य पन्थों की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि इसके लिए किसी साम्प्रदायिक विधि-विधान की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए अपने परम्परागत धर्म अथवा सम्प्रदाय को छोड़ना भी जरूरी नहीं है। यह मत इतना व्यापक है कि इसमें सभी धर्मों, मतों, आदि का सार सन्निविष्ट हो जाता है और फिर भी यह अपनी विशेषताओं को भी बनाये रखता है।

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धि और हृदय—दोनों का समन्वय हुआ है। बुद्धिवादियों के लिए ज्ञान की गम्भीर समस्या और विवेचन तथा रहस्यात्मकता का समावेश है और हृदयवादियों के लिए भक्ति की निर्मल गंगा प्रवाहित हो रही है। बुद्धिवादी प्रायः किसी मत की बाह्याचार सम्बन्धी क्रियाओं से ही घृणा करते हैं। परन्तु तुलसी ने राम-नाम का जाप करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य विधान की बात नहीं कही है। सर्वत्र उनका यही प्रयत्न रहा है कि कहीं भी पाखण्ड को प्रश्रय देने वाली बात न आ जाय।

मूल रूप से शंकर के अद्वैतवाद में सभी धर्मों का सार आ जाता है। तुलसी-मत और शंकर-मत में प्रधान अन्तर यह है कि शंकर का साध्य मुक्ति और साधन ज्ञानाश्रित भक्ति है किन्तु तुलसी के लिए भक्ति ही साध्य और साधन—दोनों है। कुछ बुद्धिवादियों का कहना है कि तुलसी ने राम की पाप-नाशकता पर जोर देकर पापियों को पाप करने की खुली छुट्टी दे दी है। पर बात ऐसी है नहीं। तुलसी ने स्पष्ट लिखा है—

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ और असुभ करम फल दाता॥

तुलसी 'मोह' को सारे पापों का मूल कारण मानते हैं—'मोह सकल पापन कर मूला।' तुलसी ने अपनी पूर्ण मेधा-शक्ति द्वारा पापों से छूटने का उपाय बताने का प्रयत्न किया है।

हम ऊपर कह आये हैं कि तुलसी-मत में बुद्धि और हृदय का समन्वय है। हृदय के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. अभीष्ट विषय की ओर एकाग्रता,
२. विघ्न-बाधाओं में भी अडिग भाव से उस एकाग्रता को बनाये रखना,
३. विरोधी विषयों के परित्याग के लिए पर्याप्त मनोबल अर्थात् आत्म-निग्रह का होना।

इन सबके लिए तुलसी ने चातक के प्रेम को आदर्श माना है। प्रेम में चातक की सी अनन्यता, कष्ट सहिष्णुता और सहजता होनी चाहिए। साथ ही इसमें लोक-कल्याण की भावना का होना अनिवार्य है। बिना लोक-कल्याण की भावना के प्रेम सीमित, संकीर्ण और आदर्शहीन हो जायेगा। लोक-कल्याण के लिए विवेक और वैराग्य का होना अनिवार्य है, क्योंकि अविवेक और आसक्ति से जब जीव का ही कल्याण नहीं हो सकता तो लोक का क्या कल्याण होगा। इसलिए तुलसी की राम-भक्ति में विवेक और वैराग्य के तत्त्वों का समन्वय हो जाने से लोक-कल्याण का साधन स्वतः आ जाता है।

तुलसी-मत की एक विशेषता यह भी है कि वह सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध रूप है। सनातन धर्म बड़ा व्यापक है क्योंकि उसमें भारतीय संस्कृति और मानव-धर्म दोनों आपस में घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। मानवता ही उसका आधार है। तुलसी-मत मानव के सीमित क्षेत्र से भी अधिक व्यापक बन जीव-मात्र को अपनी परिधि में समेट लेता है। यहीं तक नहीं, वह जीव के साथ जड़ में भी राम के स्वरूप के दर्शन करता है—

जड़ चेतन जग जीव गत, सकल राममय जानि।
बन्दउ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

तुलसी ने वर्णाश्रम-धर्म और ब्राह्मण-पूजा की ओर भी संकेत किया है। परन्तु इसके कारण तुलसी को ब्राह्मणवादी या रूढ़िवादी सिद्ध नहीं किया जा सकता। तुलसी ने इस बात की स्पष्ट चर्चा की है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपने कर्त्तव्यों को त्याग अनाचारी हो उठे हैं, इसीलिए वर्णाश्रम-धर्म की पुनः स्थापना आवश्यक है। तुलसी जातिगत वैषम्य से ऊपर उठ राम-भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण—

स्वपच, सवर, खस, जमन, जड़, पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥
कोटि विप्र बध लगाइ जाहू। आए सरन तजउँ नहिं काहू।
कह रघुपति सुनि भामिन बाता। मानहुँ एक भगति करि नाता॥

इन वाक्यों को पढ़कर भी यदि कोई तुलसी को ब्राह्मणवादी या रूढ़िवादी कहे तो उसकी बुद्धि पर तरस आता है।

तुलसी-मत इसकी आज्ञा नहीं देता कि लोग अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में लोक कर्त्तव्यों को भुला दें। वह सदाचार पर आश्रित ऐसा मत है, जहाँ साधुमत और लोकमत का समन्वय हो जाता है। उसका प्रचार ही लोक की दृष्टि से किया गया है। लोक की सेवा ही प्रभु की सेवा है और यह भावना बिना शील के नहीं आ सकती। इसलिए तुलसी ने शील पर ही अधिक जोर दिया है। शुक्लजी ने शील की परिभाषा देते हुए कहा है—"शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप ही आप करती है।" ऐसे शील की प्रतिष्ठा होने से ही हृदय में स्वतः ही ऐसी प्रेरणा उत्पन्न होती है जो समस्त वैर-निरोध और ईर्ष्या-द्वेष से बचकर आत्म-कल्याण के साथ लोक-कल्याण की ओर प्रेरित करती है।

सारांश यह है कि तुलसी-मत में हरि-भक्ति प्रधान है, और हरि-भक्ति ऐसी है जो श्रुतिसम्मत तथा वैराग्य और विवेक से संयुक्त हो मानव ही नहीं, जीवमात्र के कल्याण की साधिका बन जाती है। उसमें व्यक्ति और मानव-धर्म के मूल सिद्धान्तों का कल्याणकारी समन्वय हो जाता है।

विनय-पत्रिका में गीत तत्त्व

'विनय-पत्रिका' एक क्रम से लिखा हुआ ग्रन्थ होते हुए भी मूलरूप से मुक्तक-काव्य है और गीत-तत्त्व मुक्तक-काव्य का प्राण माना जाता है। गीतिकाव्य की उत्पत्ति तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्यो-चित भाषा में प्रकट किया जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसकी आन्तरिक अनुभूतियों और भावों को सजीव भाषा में साक्षात् कराने की क्षमता ही गीतिकाव्य की विशेषता है। व्यक्तिगत भाव और अनुभूति की तीव्रता उसमें रागात्मकता का समावेश कर देती है। अतः गीतिकाव्य की तीन प्रधान विशेषताएँ मानी जा सकती हैं—रागात्मकता, निजीपन और अनुभूति की प्रधानता। दूसरे शब्दों में, हम उन्हें गेयत्व, स्वानुभूति का भाव और कोमल भाव की सघनता भी कह सकते हैं। कोमल भाव की कोमलता की रक्षा के लिए उसमें संगीत का समावेश आवश्यक होता है। सुकुमारता की रक्षा के लिए संगीत का प्राधान्य तथा कोमल रसों का समावेश जरूरी है। इसीलिए शान्त, शृंगार और वात्सल्य—गीतिकाव्य के प्रिय रस रहे हैं। संक्षेप में, हम गीतिकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का चित्रण, प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता और व्यंजकता, शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से सामंजस्य, साक्षात् प्रभाव और संक्षिप्तता।

'विनय-पत्रिका' गीतिकाव्य की एक सफल रचना है। तुलसी में भावुकता है तो अवश्य परन्तु उनके 'मानस' जैसे ग्रन्थों में सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। फलस्वरूप, उनकी रचनाओं में वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों

में हमें सूर और मीरा की ही तन्मयता और उल्लास के दर्शन होते हैं। परन्तु जहाँ तुलसी दार्शनिक विवेचन, सामाजिक चित्रण आदि के जाल में उलझ जाते हैं वहाँ गीतिकाव्य अपना सहज-सौन्दर्य खो विकृत हो उठता है। कहने का अभिप्राय यह कि यद्यपि 'विनय-पत्रिका' की रचना गीति-पद्धति पर हुई है परन्तु इसके सम्पूर्ण पदों को 'गीति' की कोटि में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसमें कुछ ही पद ऐसे हैं जिनमें आत्म-समर्पण की सहज अभिव्यंजना हुई है, जैसे—

जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे॥

तुलसी ने विनय-पत्रिका की रचना पद-शैली में की है। मध्य-युगीन हिन्दी साहित्य के कवियों की यह अत्यन्त प्रिय शैली रही है। प्रमुख रूप से पद-शैली ही गीतिकाव्य की प्रधान शैली मानी जा सकती है। इसलिए इस दृष्टि से विनय-पत्रिका को गीतिकाव्य स्वीकार किया जा सकता है।

गीतिकाव्य की एक प्रधान विशेषता है—उसका गेय होना, अर्थात् जिसे गाया जा सके। 'पद' गेय छन्द है, इसलिए विनय-पत्रिका में संगीत का समावेश स्वतः ही हो गया है। जिस प्रकार सूर के 'भ्रमर गीत' सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण पद विभिन्न राग-रागनियों में रचे गये हैं, उसी प्रकार विनय-पत्रिका के भी अधिकांश पद राग-रागिनियों में आबद्ध हैं। ये पद—कल्याण, गौरी, असावरी, भैरवी, केदारी, घनाश्री, मल्हार, रामकली, टोड़ी, मारू, विलावल आदि अनेक प्रकार के राग-रागिनियों के आधार पर रचे गये हैं। इस कारण इन्हें आसानी के साथ गाया जा सकता है। तुलसी ने विभिन्न भावों को उन्हीं के अनुकूल रागों में वाँधने का प्रयत्न किया है। जैसे—करुण भाव को मल्हार, असावरी, केदारा, सोरठ, जयतिश्री आदि रागों में; उपदेश-भावना को भैरवी-घनाश्री, भैरव आदि रागों में; दैन्य-भावना तथा शरण-कामना को ललित, सारंग आदि रागों में; विभिन्न प्रकार के वर्णनों को दंडक, टोड़ी, रामकली आदि रागों में; तथा वीर-भाव को मारू आदि रागों में व्यंजित किया है।

तुलसी ने भाव के अनुरूप भाषा का प्रयोग कर उसमें संगीत का समावेश कर विनय-पत्रिका के कतिपय छन्दों को पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की है। परन्तु गीतिकाव्य की सफलता की दृष्टि से विनय-पत्रिका के कुछ ही पद ऐसे माने जा सकते हैं जो पूर्ण सफल हैं। दैन्य-भावना और शरण-कामना की व्यंजना करने वाले पदों को ही श्रेष्ठ एवं सफल गीतों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिन पदों में दार्शनिक विवेचन अथवा वर्णन की प्रधानता रही है उन पदों को सफल गीति-काव्य नहीं माना जा सकता। 'जाऊँ कहाँ तज चरन तिहारे' पद को गीतिकाव्य का उत्कृष्ट रूप स्वीकार किया जा सकता है, न कि 'केसव, कहि न जाय का कहिए' पद को।

समष्टि रूप से विनय-पत्रिका को गीतिकाव्य की एक सफल कृति माना जा

सकता है परन्तु फिर भी हमें उसमें वह तन्मयता यत्र-तत्र ही मिलती है जो 'गीता-वली' की अपनी विशेपता है।

उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-गौरव

साहित्य में उक्ति-वैचित्र्य से अभिप्राय कथन के अनूठे ढंग से माना जाता है। उक्ति-वैचित्र्य द्वारा किसी बात को साधारण-सरल ढंग से न कहकर ऐसे अनूठे ढंग से कहा जाता है जो वर्णित विपय की मार्मिकता में वृद्धि कर उसके प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देता है। अर्थात् किसी बात को सीधे-सादे ढंग से न कहकर, घुमा-फिराकर विचित्र ढंग से कहना और उसके अर्थ और मार्मिकता को बढ़ा देना ही उक्ति-वैचित्र्य कहलाता है। ऐसी उक्तियों में लक्षण-व्यंजना शक्तियों का या वक्रोक्ति अलंकार का सहारा लिया जाता है। अर्थ-गम्भीरता इनमें स्वतः ही छिपी रहती है। विनय-पत्रिका में हमें तुलसी की इस कला के अनेक स्थानों पर दर्शन होते हैं। नीचे हम कतिपय उदाहरण देते हुए तुलसी की काव्य-कला की इस अद्भुत विशेपता का उद्घाटन करने का प्रयत्न करेंगे।

तुलसी राम को 'अनाथ-पति' की पदवी प्रदान करते हुए जैसे राम पर बड़ा भारी अहसान सा कर रहे हैं—

हौं सनाथ ह्वै हों सही, तुमहू अनाथ पति,
जौ लघुतहि न भितैहो।

राम को 'अनाथपति' की पदवी मिल तो सकती है परन्तु एक ही शर्त पर— यदि वह तुलसी की लघुता से भयभीत न हो उठें। यहाँ 'लघुता से भयभीत होना' विलक्षण उक्ति है। विशालता से भयभीत होना तो सुना जाता है परन्तु लघुता से भयभीत होना अद्भुत बात है। इस उक्ति में वाक्-चातुर्य, वैचित्र्य और हास्य का बड़ा मार्मिक सम्मिश्रण हुआ है जो अर्थ-गौरव की वृद्धि कर रहा है। राम ब्रह्म हैं और लघुता से उनके भयभीत हो जाने की सम्भावना की कल्पना की जा रही है। दूसरी तरफ अपनी लघुता की पराकाष्ठा भी अभिव्यंजित हो रही है। तुलसी इतने लघु अर्थात् पापी हैं कि कहीं राम उनके इस रूप से भयभीत न हो उठें। इतनी विचित्र-ताओं का सम्मिश्रण इस एक पंक्ति में कर देना उक्ति-वैचित्र्य का उत्कृष्टतम उदाहरण माना जा सकता है।

तुलसी रात-दिन राम से अपने उद्धार की प्रार्थना कर रहे हैं, परन्तु राम हैं कि सुनते ही नहीं। अपनी यह उपेक्षा देख तुलसी फिर राम को आड़े हाथ लेते हैं—

जद्यपि नाथ! उचित न होत अस प्रभुसों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसि दिन, देखत तुम्हार निठुराई॥

ऊपर से देखने पर इन पंक्तियों का कोई विशेप अर्थ नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु गहराई से देखने पर इनमें उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-गौरव की गम्भीर छटा

दिखाई पड़ती है। राम स्वामी हैं और तुलसी सेवक। सेवक को स्वामी के साथ धृष्टता के साथ पेश नहीं आना चाहिए। परन्तु परिस्थिति ऐसी विषम हो उठी है कि सेवक को ढीठ बनना ही पड़ रहा है। आखिर वह करे क्या ? क्योंकि स्वामी का यश कलंकित हो जाने का भय है। स्वामी तो इसकी तरफ से निश्चिन्त बैठे हैं परन्तु कर्त्तव्य-परायण सेवक स्वामी के अपयश को कैसे सहन कर सकता है। सेवक को यह आशंका है कि मुझ जैसे व्यक्ति का उद्धार न करने के कारण कहीं संसार स्वामी को 'निष्ठुर' की उपाधि न प्रदान कर दे। ऐसा हो जाने पर स्वामी के 'करुणा-यतन' आदि सारे विशेषण निस्सार हो उठेंगे। तुलसी दरअसल कहना तो यह चाहते हैं कि हे राम ! तुम मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ? क्यों देर कर रहे हो ? इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो ? परन्तु तुलसी ऐसा न कहकर राम की बदनामी हो जाने का भय दिखा रहे हैं कि मेरा उद्धार न करने पर संसार तुम्हें निष्ठुर कहने लगेगा, इसी बात की चिन्ता मुझे रात-दिन सताती रहती है।

अब तक तो तुलसी लोक द्वारा राम की बदनामी होने का भय दिखाते रहे परन्तु फिर भी राम ने उनकी तरफ ध्यान नहीं दिया तो स्वयं उनकी बदनामी करने की धमकी देने लगे—

तुलसी कही हैं साँची, रेख बार बार खाँची।
ढील किये नाम महिमा की नाव बोरिहौं॥

यहाँ भी अप्रत्यक्ष भाव यही है कि मेरा उद्धार न करने से तुम्हारी ही बद-नामी होगी। ऊपर से देखने पर यह उक्ति अक्खड़, अशिष्ट और सेवक के सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होती है परन्तु इसके अन्तराल में प्रवाहित हो रही राम के प्रति तुलसी की अनन्य भक्ति-भावना साकार हो उठी है। तुलसी राम पर अपना पूरा अधिकार समझने लगे हैं।

परन्तु फिर भी राम द्वारा उपेक्षा दिखाए जाने पर तुलसी अपना संयम सा खो बैठते दिखाई देते हैं और मजा यह कि उन्हें यहाँ भी राम की बदनामी होने की ही चिन्ता सता रही है। तुलसी की चिन्ता का एकमात्र विषय यह है कि कहीं मेरे उद्धार में देर होते देख राम की बदनामी न हो जाय—

हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते॥

मैं अब तक तुम्हारी सारी करतूतों को देख रहा था परन्तु तुम फिर भी नहीं चेते। अर्थात् तुमने मेरी सुनवाई नहीं की। अब मेरे पास एक ही उपाय शेष रहा है कि तुम्हारा पुतला बनाकर सारे संसार में तुम्हारी कंजूसी का ढिंढोरा पीटता फिरूँ। यह बात नहीं कि तुम्हारे ध्यान न देने से मेरा कोई विशेष अहित हो रहा है। परन्तु मुझे दुखी देखकर सारा संसार मेरी हँसी उड़ाता है कि यह कैसा राम का भक्त है

कि इतना दुख भोग रहा है फिर भी राम इसकी तरफ ध्यान तक नहीं देते। अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से इसमें तुम्हारी ही बदनामी है।

तुलसी ने विनय-पत्रिका में स्थान-स्थान पर ऐसे ही उक्ति-वैचित्र्य का परिचय दिया है जो अर्थ-गौरव से सम्पुष्ट है। तुलसी की इन उक्तियों में रीतिकालीन शाब्दिक उक्ति-वैचित्र्य नहीं मिलता बल्कि इनमें अद्‌भुत अर्थ-गाम्भीर्य का समावेश इन्हें उत्कृष्ट कोटि की काव्योक्तियाँ बना देता है। उक्ति और अर्थ का ऐसा संतुलित समावेश असाधारण प्रतिभाशाली कवियों की ही निधि रही है, शाब्दिक खिलवाड़ करने वालों की नहीं। तुलसी इस क्षेत्र में अद्‌भुत हैं और उनकी विनय-पत्रिका ऐसी चमत्कार-पूर्ण उक्तियों से भरी पड़ी है।

प्रसिद्ध अन्तर्कथाएँ

१. अजामिल

अजामिल जन्म से ब्राह्मण परन्तु कर्म से महान् पापी था। एक बार उसकी अनुपस्थिति में कुछ साधु उसके घर आये। उसकी गर्भवती पत्नी ने उनका खूब अतिथि-सत्कार किया जिससे प्रसन्न हो उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया कि तेरे पुत्र होगा और तू उसका नाम 'नारायण' रखना। पुत्र उत्पन्न होने पर अजामिल उससे बहुत प्यार करने लगा। मृत्यु के समय जब यम के दूत अजामिल को लेने आये और उसे यन्त्रणा देने लगे तो उसने अपने पुत्र का नाम लेकर पुकारा। 'नारायण' की पुकार सुनते ही भगवान् के दूत वहाँ आ पहुँचे और यमदूतों से उसका उद्धार कर उसे भगवान् के पास ले आये। भगवान् ने उसे मोक्ष प्रदान किया।

२. अम्बरीष

राजा अम्बरीष विष्णु-भक्त था। वह प्रत्येक एकादशी को व्रत रख द्वादशी को ब्राह्मण-भोजन कराकर अपना व्रत तोड़ता था। एक बार दुर्वासा ऋषि द्वादशी को उसके यहाँ आ पहुँचे। अम्बरीष ने उनसे भोजन करने का आग्रह किया। दुर्वासा स्नान करने चले गये और बहुत देर तक नहीं लौटे। इधर पारण का समय निकला जा रहा था। अम्बरीष ने उपस्थित अन्य ब्राह्मणों की आज्ञा से ब्राह्मणों का चरणोंदक ग्रहण कर व्रत तोड़ दिया। लौटने पर जब दुर्वासा को इस बात का पता चला तो उन्होंने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया और अपनी जटा खोलकर एक बाल पृथ्वी पर पटक दिया। उससे कृत्या नामक राक्षसी उत्पन्न हो राजा को खाने दौड़ी। अम्बरीष ने विष्णु का स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शन चक्र आ पहुँचा और उसने कृत्या को मार दुर्वासा का पीछा करना प्रारम्भ कर दिया। दुर्वासा भयभीत हो चारों

ओर भागते फिरे। तब विष्णु ने उन्हें अम्बरीप के पास जाने की सलाह दी। दुर्वासा के आने पर राजा ने सुदर्शन चक्र का निवारण कर दुर्वासा का खूब सत्कार किया।

३. अरुण

दक्ष प्रजापति की दो सुन्दर पुत्रियों—कद्रू और विनता का ब्रह्मा के पुत्र महर्षि कश्यप के साथ विवाह हुआ था। एक बार महर्षि ने प्रसन्न हो दोनों पत्नियों से वर-दान माँगने के लिए कहा। कद्रू ने एक हजार नाग पुत्र माँगे और विनता ने कद्रू के पुत्रों से तेजस्वी केवल दो पुत्र माँगे। समय पर कद्रू और विनता ने क्रमशः एक हजार तथा दो अंडे दिये। कद्रू के अंडों में से शीघ्र ही पुत्र निकल आये। परन्तु विनता के अंडों में से पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर भी बच्चे नहीं निकले। इससे अधीर हो एक दिन विनता ने एक अंडे को फोड़ दिया। उसमें से 'अरुण' निकला जिसके शरीर का कमर तक ऊपरी भाग तो पूर्ण था और नीचे का सारा हिस्सा गायब था। इस-लिए यह पंगु हुआ। अरुण ने विनता से कहा कि तुमने मेरे साथ जो किया सो किया परन्तु अब दूसरे अंडे को पाँच-सौ वर्ष तक मत फोड़ना। पाँच-सौ वर्ष बीतने पर उसमें से गरुड़ उत्पन्न हुआ।

अरुण उत्पन्न होते ही आकाश में उड़ गया। तभी से प्रातःकाल प्राची दिशा में सदैव अरुण (लालिमा) के दर्शन होते हैं।

समुद्र मंथन के उपरान्त जब विष्णु देवताओं में अमृत बाँट रहे थे तब चन्द्र और सूर्य ने देवताओं के बीच छद्म वेश में बैठे राहु का भेद खोल दिया था। राहु तभी से सूर्य और चन्द्रमा को सताया करता था। सूर्य ने सोचा कि मैंने इन देवताओं की भलाई के लिए राहु से बैर मोल लिया था और जब राहु मुझे सताता है तो कोई भी मेरी सहायता नहीं करता। इससे क्रुद्ध हो उन्होंने निश्चय किया कि मैं अस्ताचल में जाकर ठहर जाऊँगा और वहाँ से सारे विश्व को दग्ध करूँगा। सूर्य ने ऐसा ही किया। उनके दाह से त्रस्त हो देवतागण ब्रह्मा के पास गये और इस संकट से उबारने की प्रार्थना करने लगे। यह सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि महर्षि कश्यप के महान् तेजस्वी पुत्र अरुण सूर्य के आगे रथ पर बैठेंगे, उनके सारथि बनेंगे और उनके तेज का भी अपहरण करेंगे। ब्रह्मा की आज्ञा से अरुण सूर्य के सारथि बन गये और तभी से सूर्य सदैव अरुण से आवृत्त होकर उदित होते हैं।

४. अनुसूया

महर्षि अत्रि और उनकी पत्नी अनुसूया ने चित्रकूट में पुत्र कामना से घोर तपस्या की जिससे प्रसन्न हो ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों देवताओं ने उन्हें दर्शन दिये और वर माँगने के लिए कहा। अनुसूया ने वर माँगा कि मेरे गर्भ से तुम तीनों के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हों। उसी वरदान को पूरा करने के लिए तीनों देवताओं को अपने-अपने काम छोड़ अनुसूया के गर्भ से जन्म लेना पड़ा। ब्रह्मा के अंश से

चन्द्रमा, विष्णु के अंश से दत्तात्रेय और शिव के अंश से दुर्वासा ने अनुसूया के गर्भ में जन्म धारण किया।

५. अगस्त्य

विन्ध्याचल का रोकना—विन्याचल वहुत ऊँचा पर्वत था। जब सूर्य के प्रचंड ताप से उसके वृक्ष जलने लगे तब उसे बड़ा क्रोध आया और वह सूर्य को ढक देने के लिए ऊपर की ओर बढ़ने लगा। उसके इस कार्य के भावी भयंकर परिणाम की आशंका से देवता घबड़ाकर अगस्त्य ऋषि के पास गये और विन्ध्याचल को रोकने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने राम-नाम लेकर विन्ध्याचल के सिर पर हाथ धर उसे नीचे झुका दिया और आज्ञा दी कि जब तक मैं दक्षिण से न लौटूँ, तब तक इसी तरह पड़े रहना। अगस्त्य फिर कभी उत्तर को लौटकर नहीं आये और विन्ध्याचल उनकी प्रतीक्षा में अभी तक वैसा ही सिर झुकाए पड़ा हुआ है।

समुद्र का सोखना—एक बार पूर्णिमा की रात को अगस्त्य समुद्र के किनारे बैठे पूजा कर रहे थे। समुद्र में ज्वार उठ रहा था। समुद्र की लहरें आगे बढ़कर महर्षि की पूजन-सामग्री को बहा ले गयीं। अगस्त्य ने क्रुद्ध हो 'राम' का नाम लेकर तीन चुल्लुओं में सारे समुद्र का पान कर लिया और फिर देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर उसे मूत्र के रूप में पुनः बाहर निकाल दिया। कहा जाता है, समुद्र तभी से खारा हो गया।

६. अहिल्या

अहिल्या—गौतम ऋषि की पत्नी और अनिंद्य सुन्दरी थी। एक बार इन्द्र ने उसके रूप पर मोहित हो, ऋषि की अनुपस्थिति में, ऋषि का रूप धारण कर उसके साथ सम्भोग किया। गौतम ने योगदृष्टि से सारा रहस्य जान अहिल्या को शाप दिया कि तू पत्थर हो जा और इन्द्र को शाप दिया कि तेरे सहस्र भग हो जायँ। बाद में दोनों द्वारा गिड़गिड़ाने पर ऋषि ने कहा कि राम के चरणों के स्पर्श से अहिल्या पुनः अपने रूप को प्राप्त कर लेगी तथा राम द्वारा शिव-धनुष भंग करने पर इन्द्र के सहस्र भग सहस्र नेत्रों में बदल जायेंगे। अन्त में राम के चरण-स्पर्श से अहिल्या का उद्धार हुआ।

७. उल्लू और बगुला

तुलसीदास ने 'बक' (बगुला) लिखा है परन्तु वाल्मीकि रामायण में 'उल्लू' का नाम आया है। भाव दोनों से एक ही कथा से है। कथा इस प्रकार है—

एक वन में एक उल्लू और एक गिद्ध एक ही वृक्ष पर रहते थे। एक दिन गिद्ध के मन में बेईमानी आयी और वह उल्लू से कहने लगा कि यह घर मेरा है, तुम इसे खाली कर दो। दोनों में विवाद होने लगा और अन्त में दोनों न्याय के लिए राम के दरबार में पहुँचे। राम ने सारी कथा सुनकर गिद्ध से पूछा कि तुम उस वृक्ष

पर कब से रहते हो ? गिद्ध ने कहा कि जब से मनुष्य की सृष्टि हुई है तब से । उल्लू से जब यही प्रश्न पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि जब से वनस्पति (पेड़-पौधों) की सृष्टि हुई है तब से । राम ने निर्णय दिया कि मनुष्यों से पहले वृक्षों की सृष्टि हुई थी, इसलिए उल्लू का घर पर पुराना अधिकार है, अतः घर उल्लू को मिलना चाहिए ।

८. कुत्ता और ब्राह्मण

एक बार एक कुत्ते ने राम के दरबार में आकर फरियाद की कि महाराज ! मैं रास्ते में पड़ा हुआ था कि तीर्थसिद्धि नामक ब्राह्मण ने मुझे बेकसूर मारा । राम ने ब्राह्मण को बुलवाया और कारण पूछा । ब्राह्मण ने कहा कि यह रास्ते में लेटा हुआ था । मैंने इससे हट जाने के लिए बहुत कहा और इसके न हटने पर मार दिया । ब्राह्मण अपराधी सिद्ध हुआ । परन्तु ब्राह्मण अदंडनीय होता है, इसलिए उसे कैसे दंड दें—राम इसी दुविधा में पड़ गये । कुत्ते ने उनकी दुविधा जान सुझाव दिया कि महाराज ! इसे कालिंजर मठ का महन्त बना दो । इस विचित्र दंड को सुनकर सारी सभा चकित हो उठी । कारण पूछने पर कुत्ते ने बताया कि वह स्वयं पूर्व जन्म में कालिंजर मठ का महन्त था और उसी कारण उसे इस जन्म में कुत्ता होना पड़ा । राम ने ब्राह्मण को महन्त बना, हाथी पर बैठा कालिंजर मठ को भेज दिया ।

९. कालनेमि

यह बड़ा मायावी राक्षस था । राम-रावण युद्ध में जब लक्ष्मण शक्ति लगने से मूर्च्छित हो गये और हनुमान संजीवनी बूटी लेने गये तब यह रावण की आज्ञा से, हनुमान को रोकने के लिए साधु का वेश धारण कर उनके मार्ग में जा बैठा । परन्तु भेद खुल जाने पर हनुमान ने इसे अपनी पूँछ में लपेटकर मार डाला ।

१०. कृष्ण की मृत्यु

यादव वंश का विनाश हो जाने के उपरान्त एक बार कृष्ण एक सघन वन में एक वृक्ष के नीचे पैर पर पैर रखे अधलेटे बैठे हुए थे । दूर से एक बहेलिया ने उनके चरण में बने पद्म के चिन्ह हो मृग की आँख समझ उसमें बाण मार दिया । कृष्ण ने बहेलिये को सशरीर स्वर्ग भेज दिया और स्वयं भी अपने लोक वैकुण्ठ को चले गये । यह बहेलिया पूर्व जन्म में बालि (सुग्रीव का बड़ा भाई) था । राम ने बालि को छिपकर मारा था । इस जन्म में उसने बहेलिये के रूप में कृष्ण को मार अपना पुराना बदला भी ले लिया और सशरीर स्वर्ग भी चला गया गया ।

११. कुंजरो वा

महाभारत में जब गुरु द्रोणाचार्य के बाणों से पांडव-सेना में हाहाकार मच गया तो कृष्ण ने अर्जुन से द्रोणाचार्य का वध करने के लिए कहा । परन्तु एक

तो द्रोणाचार्य के हाथों में शस्त्र रहते सम्मुख युद्ध में उन्हें मारना असम्भव था और दूसरे गुरु-हत्या और ब्रह्म-हत्या लगने का भय था। इसलिए अर्जुन ने इन्कार कर दिया। यह देख कृष्ण ने अश्वत्थामा नामक एक हाथी का वध करा दिया और सत्य-वादी युधिष्ठिर से घोषणा करने के लिए कहा कि तुम कह दो 'अश्वत्थामा मारा गया'। परन्तु युधिष्ठिर द्वारा झूठ बोलने से हिचकिचाने पर कृष्ण ने यह सुझाव दिया कि वह कह यह दें—'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा।' अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया—हाथी या मनुष्य। युधिष्ठिर ने ऐसी ही घोषणा कर दी। परन्तु जब वह केवल इतना ही कह पाये थे कि—'अश्वत्थामा हतो नरो'—तभी कृष्ण ने बड़े जोर से शंख बजा दिया। फलस्वरूप, द्रोणाचार्य ने पूरे वाक्य का पहला इतना हिस्सा तो सुन लिया और शेष भाग 'वा कुंजरो वा' नहीं सुन सके। द्रोण के पुत्र का नाम अश्वत्थामा था। उन्होंने समझा कि मेरा पुत्र मारा गया। अतः शोक से व्याकुल हो उन्होंने हथियार रथ में डाल दिये और हताश हो बैठ गये। इसी समय राजा द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट लिया।

१२. कुब्जा

कुब्जा मथुरा के राजा कंस की दासी और भगवान की भक्त थी। यह बहुत कुरूप और कुबड़ी थी। जब कृष्ण मथुरा गये तो कुब्जा ने मार्ग में उनका स्वागत कर उनके चन्दन लगाया। कृष्ण ने उसकी पीठ को दबाकर उसका कुबड़ापन दूर कर दिया। कृष्ण के स्पर्श से वह अपूर्व सुन्दरी बन गयी। बाद में कृष्ण उसके घर गये। इसी बात को लेकर गोकुल की गोपियों ने सौतिया-डाह में भर कुब्जा को खूब खरी-खोटी सुनायी थी।

१३. केवट

'केवट', 'गुह' और 'निषाद' एक ही व्यक्ति हैं। यह राम का बड़ा भक्त था। वनवास के समय इसने राम को बिना उनके चरण धोए अपनी नाव पर बैठा गंगा पार उतारने से इन्कार कर दिया था। बाद में उसने राम के चरण धो, चरणामृत ले, उनका खूब सत्कार किया और फिर नाव में बैठा गंगा पार उतार दिया। उसके इस स्नेह से प्रभावित हो राम उसे भाई के समान मानने लगे थे।

१४. गजेन्द्र या गजराज

हाथियों का एक अत्यन्त बलवान राजा था। उसे अपने बल का बड़ा घमण्ड था। एक बार जब वह नदी में पानी पीने गया तो एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया और जल में भीतर खींचने लगा। दोनों में बहुत देर तक भयंकर युद्ध हुआ। परन्तु अन्त में मगर उसे इतना भीतर खींच ले गया कि केवल उसकी सूंड़ ही पानी से बाहर रह गयी। तब गजराज ने त्रस्त हो एक फूल उठाकर भगवान पर चढ़ाया और उन्हें पुकारा। उसकी पुकार सुनते ही भगवान गरुड़ को छोड़ पैदल ही भागे आये और सुदर्शन चक्र से मगर को मार गजराज का उद्धार किया।

१५. जटायु

यह एक बूढ़ा गिद्ध था। जब रावण सीता को हर कर ले जाने लगा तो मार्ग में सीता के रुदन को सुन जटायु ने उसका रास्ता रोका परन्तु रावण उसे घायल कर आगे बढ़ गया। राम जब सीता को खोजते हुए आये तो घायल जटायु ने उन्हें सारी घटना सुनायी और प्राण त्याग दिये। राम ने पिता के समान उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की और उसे पिंडदान दिया।

१६. जामवन्त

यह रीछ सेना का राजा, अनुभवी योद्धा और चतुर था। इसी ने हनुमान को उनके बल की याद दिलाकर उन्हें समुद्र-पार कर लंका जाने के लिए कहा था। बाद में यह राम-रावण-युद्ध में बड़ी वीरता के साथ लड़ा था और अनेक अवसरों पर इसने राम को कई बहुमूल्य मन्त्रणाएँ दी थीं।

१७. गुणनिधि ब्राह्मण

गुणनिधि नामक यह ब्राह्मण बहुत बड़ा चोर था। एक बार वह शिवलिंग के ऊपर चढ़कर घण्टा चुरा रहा था। इस पर प्रसन्न हो शिव ने उसे अपने लोक कैलाश भेज दिया, क्योंकि और लोग तो शिव पर पत्र-पुष्प ही चढ़ाते थे परन्तु इसने स्वयं को ही शिव पर चढ़ा दिया था। दूसरी कथा यह है कि पुजारियों ने इसे घण्टा चुराते पकड़ जान से मार डाला था। परन्तु शिव ने प्रसन्न हो उसे कैलाश भेज दिया था।

१८. जलन्धर

इसको 'सिंधुसुत', 'सागर-पुत्र' भी कहते हैं। यह बड़ा प्रतापी दैत्यराज था। इसने अपने पराक्रम से सारे देवताओं को जीत लिया था। देवताओं ने जाकर शिव से इसे मारने की प्रार्थना की। शिव और जलन्धर का भयंकर युद्ध हुआ परन्तु जलन्धर को शिव जीत न सके। इसका कारण यह था कि जलन्धर की पत्नी वृन्दा बड़ी पति-व्रता थी। उसी के प्रताप से जलन्धर अजेय बना हुआ था। यह देखकर विष्णु उसका पतिव्रत भंग करने के लिए साधु का वेश धारण कर जलन्धर के घर जा बैठे। उधर शिव और जलन्धर में युद्ध चलता रहा। वृन्दा साधु रूपी विष्णु से युद्ध के समाचार पूछने लगी। इसी बीच विष्णु की माया से जलन्धर के कटे हुए सारे अंग वहाँ उन दोनों के सामने आ गिरे। यह देखकर वृन्दा विलाप करने लगी। साधु ने उससे कहा कि तू तो सती है, इसके सारे अंग जोड़ दे; यह जीवित हो जायेगा। वृन्दा के ऐसा करते ही जलन्धर जीवित हो उठा। यह देख वृन्दा कृतज्ञ हो साधु के पैर दबाने लगी। पर-पुरुष का स्पर्श करते ही उसका सतीत्व नष्ट हो गया। उधर सतीत्व नष्ट होते ही शिव ने जलन्धर को मार गिराया। उसके मरते ही साधु और मायावी जलन्धर गायब हो गये। असली रहस्य को जान वृन्दा ने विष्णु को शाप दिया कि

मेरा पति दूसरे जन्म में तुम्हारी पत्नी को चुरायेगा और तुम उसके विरह में बड़ा कष्ट पाओगे। आगे चलकर जलन्धर ही रावण के रूप में उत्पन्न हुआ था।

१९. ध्रुव

राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—बड़ी सुनीति और छोटी सुरुचि। सुनीति से ध्रुव और सुरुचि से उत्तम नामक पुत्र उत्पन्न हुए। राजा सुरुचि को अधिक प्यार करता था, इसलिए उत्तम भी उसे अधिक प्रिय था। एक दिन राजा उत्तम को गोद में खिला रहे थे कि ध्रुव भी वहाँ पहुँच गया और राजा की गोद में चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। यह देख सुरुचि ने व्यंग कसा कि तप करने पर ही राजा की गोद में बैठने का सौभाग्य प्राप्त होता है। अभी तप करो, तब इसके अधिकारी बन सकोगे। ध्रुव रोता हुआ अपनी माता सुनीति के पास पहुंचा और उससे रो-रोकर अपने अपमान का सारा हाल कहा। माता ने भी उसे तप करने की सलाह दी और ध्रुव ने कठोर तपस्या कर अचल पद प्राप्त किया। कहा जाता है ध्रुवतारा कभी अपना स्थान नहीं बदलता।

२०. नृग

राजा नृग महान् दानी था। वह नित्य एक करोड़ गाय ब्राह्मणों को दान दिया करता था। एक बार एक दान की हुई गाय छूटकर पुनः उसकी गायों में आ मिली और दूसरे दिन उसने अन्य गायों के साथ उसे भी एक दूसरे ब्राह्मण को दान कर दिया। पहले ब्राह्मण ने अपनी गाय पहचान ली और दोनों ब्राह्मण आपस में झगड़ते हुए राजा नृग के पास पहुंचे। राजा ने अपनी भूल के लिए उनसे बहुत क्षमा माँगी, बहुत समझाया-बुझाया परन्तु उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि तूने हमें धोखा दिया है, इसलिए गिरगिट बन जा। राजा तुरन्त गिरगिट बन द्वारिकापुरी के पास एक कुएँ में एक हजार वर्ष तक पड़ा रहा। कृष्ण ने कुएँ से निकाल उसका उद्धार कर उसे स्वर्ग भेज दिया।

२१. नमुचि

यह दैत्य और ब्राह्मण का भक्त था। इसने ब्रह्मा से यह वर माँग लिया था कि मेरी मृत्यु न किसी अस्त्र-शस्त्र से हो, न तरल पदार्थ से हो और न ठोस पदार्थ से हो। ब्रह्मा ने उसे उसका मनचाहा वरदान दे दिया। इस वरदान के कारण वह महान् बलवान और अजेय बन गया। देवासुर-संग्राम में जब उसने बड़ा उपद्रव मचाया और किसी से भी न मर सका तो आकाशवाणी हुई कि इसकी मृत्यु केवल समुद्र के फेन (झाग) से ही हो सकती है। तब इसका वध फेन द्वारा हुआ। समुद्र का फेन न ठोस होता है और न तरल।

२२. तुलसीदास और अकबर

तुलसीदास की प्रसिद्धि सुनकर एक बार अकबर ने उन्हें अपने दरबार में

बुवाया और उनसे कोई चमत्कार दिखाने के लिए कहा। तुलसीदास ने कहा कि मैं तो राम का एक तुच्छ सेवक हूँ; मैं क्या चमत्कार दिखा सकता हूँ ? बादशाह ने यह सुनकर उन्हें जेल में डाल दिया। वहाँ तुलसीदास ने हनुमान का स्मरण किया और तुरन्त ही वानर-सेना ने अकबर के महल को घेर उपद्रव मचाना प्रारम्भ कर दिया। तब बीरबल के समझाने पर उसने तुलसीदास को मुक्त कर दिया। उनके मुक्त होते ही सारे बन्दर गायब हो गये।

२३. तुलसीदास और चित्रकूट

इस सम्बन्ध में दो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं :—

(१) एक बार तुलसीदास चित्रकूट में बैठे राम-नाम का चिन्तन कर रहे थे, उसी समय उन्होंने दो अत्यन्त सुन्दर राजकुमारों को घोड़ों पर सवार एक मृग का पीछा करते हुए देखा। तुलसीदास ने ध्यान में विघ्न पड़ता देख आँख नीचे कर लीं। थोड़ी देर बाद हनुमान आकर उनसे पूछा कि तुमने राम-लक्ष्मण के दर्शन किये ? तुलसीदास के इन्कार करने पर उन्होंने बताया कि वे दोनों राजकुमार ही राम-लक्ष्मण थे। यह सुनकर गोस्वामीजी बहुत पछताए।

(२) एक बार तुलसीदास चित्रकूट में बैठे तपस्या कर रहे थे। यह देख कलियुग आकर उन्हें बहुत डराने-धमकाने लगा। तुलसीदास ने हनुमान का स्मरण किया। उन्हें देखकर कलियुग उस समय तो भयभीत हो भाग खड़ा हुआ परन्तु मौका लगने पर तुलसी को सताता रहा। तुलसी उससे बहुत त्रस्त रहते थे।

२४. प्रह्लाद

प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र और विष्णु-भक्त था। पिता विष्णु का कट्टर शत्रु था। वह प्रह्लाद को भगवान का नाम लेने से रोकता था और पुत्र के न मानने पर उसे खूब सताता था। हिरण्यकशिपु को यह वरदान मिला था कि वह न किसी हथियार से, न दिन में और न रात में, न पृथ्वी पर न आकाश में ही, न मनुष्य द्वारा और न पशु द्वारा मारा जा सकेगा। इस वरदान को पाकर वह अजेय बन गया था। एक बार उसने प्रह्लाद को एक खम्भे से बाँध दिया और कहा कि यदि तेरा भगवान सर्वव्यापी है तो इस खम्भे में से तुझे बचाने क्यों नहीं प्रकट होता। पुत्र द्वारा स्मरण करने पर भगवान नृसिंह रूप धारण कर खम्भे में से प्रकट हुए। उनका मुँह सिंह का और धड़ मानव का था, अतः वह न पशु हुए और न मनुष्य। उस समय सन्ध्याकाल था, अतः न दिन का समय था और न रात का। उन्होंने हिरण्यकशिपु को अपनी गोद में रख नाखूनों से फाड़कर मार डाला। अतः न वह किसी हथियार से मारा गया, न पृथ्वी पर और न आकाश में ही। इस तरह वरदान की शर्तें भी पूरी हो गयीं, भक्त की रक्षा हुई और अत्याचारी का वध हुआ।

२५. पूतना

पूतना किसी जन्म में अप्सरा थी। भगवान वामन के बाल-रूप पर मोहित

हो उसने कामना की कि मुझे इस बालक को पुत्र के समान अपने स्तनों का दूध पिलाने का सौभाग्य प्राप्त हो। कालान्तर में वह अप्सरा किसी भयंकर पाप के परिणामस्वरूप पूतना राक्षसी के रूप में उत्पन्न हुई। कंस ने उसे बालक कृष्ण को मारने के लिए भेजा। वह अपने स्तनों पर विष लगाकर गोकुल गयी और कृष्ण को फुसलाकर अपना दूध पिलाने लगी। कृष्ण ने दूध पीते-पीते उसके प्राण खींच लिये। इस प्रकार पूतना की पूर्व-जन्म की आकांक्षा की भी पूर्ति हो गयी और उसे राक्षस योनि से मुक्ति प्राप्त हो स्वर्ग-लाभ भी हो गया।

२६. परीक्षित और कलियुग

एक बार राजा परीक्षित ने वन में शिकार खेलते हुए देखा कि एक काला पुरुष एक गाय और एक लंगड़े बैल को मारता हुआ ले जा रहा है। जब उन्होंने पूछा तो ज्ञात हुआ कि वह काला पुरुष कलियुग, गाय पृथ्वी और लंगड़ा बैल धर्म है। यह देखकर राजा ने कलियुग को मारना चाहा, परन्तु उसके गिड़गिड़ाने पर उसे इस शर्त पर छोड़ दिया कि वह उनके राज्य में नहीं रहेगा। कलियुग ने राजा से रहने के लिए चौदह स्थान माँग लिये, जिनमें से एक स्वर्ण भी था। राजा स्वर्ण-मुकुट पहने हुए थे। कलियुग चुपचाप उसी में जा बैठा। उसके प्रभाव से राजा ने एक मुनि के गले में मरा सर्प डाल एक सप्ताह में सर्प द्वारा काटे जाकर मरने का शाप प्राप्त किया और उसी के फलस्वरूप उनकी मृत्यु हुई।

२७. परीक्षित और ब्रह्मास्त्र

द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने धोखे से द्रोपदी के पाँचों पुत्रों का सोते समय वध कर डाला और फिर पांडवों का पूरी तरह से वंश नाश करने के लिए उसने अभिमन्यु की विधवा उत्तरा के गर्भ में स्थित परीक्षित का वध करने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा परन्तु कृष्ण ने कौशल से परीक्षित को बचा लिया।

२८. पांडवों का जन्म

राजा पांडु रोगी होने के कारण सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ थे। उनके पाँचों पुत्र—पंच पांडव—विभिन्न देवताओं की सन्तान माने जाते हैं। युधिष्ठिर धर्मराज के, भीमसेन वायु के, अर्जुन इन्द्र के तथा नकुल-सहदेव अश्विनीकुमार के पुत्र थे।

२९. पिंगला वेश्या

यह एक वेश्या थी। एक बार वह आधी रात तक शृंगार किये बैठी अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करती रही परन्तु वह नहीं आया। यह देख उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई कि यदि मैं इतनी देर तक भगवान का भजन करती तो मेरा जन्म सुधर जाता और इस पाप-कर्म से मुक्ति मिल जाती। यह सोच उसने उसी क्षण से वेश्यावृत्ति

छोड़ दी और भगवान का भजन करने लगी। अन्त में भगवान ने उसे स्वर्ग भेज दिया।

३०. राजा बलि

राजा बलि बड़ा दानी और महान् शक्तिशाली था। जब उसने तीनों लोकों को जीत लिया तो इन्द्र राज्य छिन जाने से घबराकर विष्णु के पास गये और उनसे सहायता करने की प्रार्थना करने लगे। विष्णु ने उनकी सहायता करने के लिए छल से काम लिया। वह वामन रूप धारण कर बलि के पास पहुंचे और उनसे तीन पग पृथ्वी का दान माँगा। जब बलि ने इस दान का संकल्प कर दिया तो विष्णु ने अपने आकार को इतना बढ़ाया कि दो पगों में ब्रह्मलोक और पृथ्वी को नाप लिया, तीसरे पग के लिए बलि ने अपनी पीठ नापने का आग्रह किया। इस प्रकार विष्णु ने स्वर्ग का राज्य पुनः इन्द्र को लौटा दिया और बलि को पाताल का राजा बनाकर पाताल-लोक में भेज दिया।

३१. वाल्मीकि

यह अपने जीवन के प्रारम्भ में डाकू थे। एक बार कुछ ऋषि वन में होकर जा रहे थे कि इन्होंने उन्हें पकड़ लिया और लूटना चाहा। इस पर ऋषियों ने इनसे कहा कि तुम अपने जिन परिवार वालों का पालन करने के लिए यह पाप-कर्म करते हो, क्या वह तुम्हारी पाप की कमाई में ही साझीदार बनने वाले हैं या इन पाप-कर्मों के फल को भोगने में भी तुमसे हिस्सा बटायेंगे ? पहले जाकर उनसे यह बात पूछ आओ। वाल्मीकि ऋषियों को वृक्ष से बाँध अपने घर गये और घरवालों से यह प्रश्न पूछा। उन्होंने कहा कि हम तुम्हारे पाप-कर्मों के फल में हिस्सा नहीं बँटायेंगे। यह सुनकर वाल्मीकि की आँखें खुल गयीं। उन्होंने लौटकर ऋषियों से क्षमा माँगी और अपना पेशा त्याग राम का नाम जपने लगे। वे इतने पापी थे कि उनसे राम का सीधा नाम ही नहीं जपा जाता था, इसलिए उल्टा नाम 'मरा-मरा' जपते रहे। आगे चलकर इन्होंने इतनी लम्बी समाधि लगायी कि इनके शरीर पर दीमकों ने अपना घर बना लिया। संस्कृत में दीमक के घर को 'वाल्मीकि' कहते हैं। तभी से उनका नाम वाल्मीकि पड़ गया। आगे चलकर वह महर्षि, वाल्मीकि-रामायण के रचयिता और संस्कृत के आदि कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

३२. विदुर

यह दासी-पुत्र और कौरवों के आश्रित थे परन्तु परम नीतिज्ञ, हृदय से पांडवों के समर्थक और कृष्ण के भक्त थे। इनका रचा 'विदुर-नीति' प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। एक बार दुर्योधन ने कृष्ण को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया। परन्तु कृष्ण दुर्योधन के यहाँ न जाकर विदुर की कुटिया में जा पहुँचे और विदुर की पत्नी से भोजन माँगने लगे। विदुर की पत्नी ने घर में जो कुछ साग-पात था वही

बड़े प्रेम के साथ खिलाया। वह बैठकर उन्हें केले छील-छीलकर देने लगी परन्तु भक्ति के आवेश में अचेतन-सी हो छिलका कृष्ण को पकड़ाती जाती थी और गूदा फेंक देती थी। कृष्ण बड़े प्रेम से वैठे छिलके खाते जा रहे थे। इसी समय विदुर आ पहुंचे और इस अद्‌भुत दृश्य को देख पत्नी पर बहुत नाराज हुए तथा स्वयं छीलकर कृष्ण को गूदा देने लगे। परन्तु कृष्ण ने कहा कि इसमें छिलकों का सा मीठा स्वाद नहीं है, इसलिए अब हम नहीं खायेंगे।

३३. यमलार्जुन वृक्ष

एक बार कुबेर के पुत्र नलकूवर और मणिग्रीव ने नारद की खूब दिल्लगी उड़ायी। नारद ने इस पर क्रुद्ध हो उन्हें शाप दिया कि तुम दोनों बड़े जड़ हो, अतः वृक्ष बन जाओ। दोनों गोकुल में यमल और अर्जुन नामक वृक्ष बन गये। एक दिन माता यशोदा ने कृष्ण को ऊधम मचाने पर इन दोनों वृक्षों के बाँध दिया और घर के काम में व्यस्त हो गयीं। कृष्ण ने अपने दोनों पैर अड़ाकर दोनों वृक्षों को गिरा दिया। वृक्षों के गिरते ही उनके स्थान पर दो दिव्य सौन्दर्य वाले यक्ष हाथ जोड़े कृष्ण के सामने खड़े हो गये। कृष्ण ने उन्हें यक्ष-लोक भेज दिया।

३४. सम्पाति

सम्पाति और जटायु दोनों भाई थे। एक वार अपने बल के अहँकार में भर दोनों भाई सूर्य तक पहुँचने के लिए आकाश में उड़े। जटायु तो सूर्य के ताप को न सहकर बीच में से ही लौट आया परन्तु सम्पाति और आगे बढ़ता चला गया। अन्त में ताप से उसके पंख जल गये और वह समुद्र के किनारे एक पहाड़ पर आ गिरा। हनुमान जब सीता की खोज में समुद्र-तट पर पहुंचे तो सम्पाति ने उन्हें सीता का पता और लंका जाने का मार्ग बताया था। हनुमान की कृपा से उसे नये पंख प्राप्त हो गये थे।

३५. सत्यभामा और पारिजात

एक बार नारद कल्पवृक्ष का एक फल लेकर आये और कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी को दे गये। यह देख कृष्ण की दूसरी पत्नी सत्यभामा ने रूठकर कृष्ण से उसके लिए भी एक फल ला देने का आग्रह किया। कृष्ण ने स्वर्ग में जाकर इन्द्र से फल माँगा और इन्द्र द्वारा देने से इन्कार करने पर कृष्ण और इन्द्र में भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में कृष्ण इन्द्र को पराजित कर कल्पवृक्ष को ही उखाड़ लाये और सत्यभामा के आँगन में लगा दिया। इन्द्र कृष्ण से इसी कारण वैर मानने लगा था।

३६. शबरी

यह जाति की भीलनी थी। यह मतंग ऋषि की सेवा किया करती थी। उन्हीं के उपदेश से यह राम की भक्त बन गयी थी। सीता-हरण के उपरान्त जब राम

सीता का पता लगाते हुए इसके घर पहुँचे तो इसने वड़े प्रेम से उनका सत्कार किया और राम को पहले स्वयं चख-चखकर वेर खिलाने लगी। राम वड़े प्रेम से उसके जूठे वेर खाते रहे। अन्त में राम ने इसे नवधा-भक्ति का उपदेश दे मुक्त कर दिया।

३७. सिंहिका राक्षसी

यह समुद्र में रहती थी और आकाश-मार्ग से जाते हुए प्राणियों की परछाईं पकड़ उन्हें नीचे खींच खा जाया करती थी। जव हनुमान छलाँग लगाकर समुद्र को पार कर रहे थे उस समय इसने हनुमान को भी उनकी परछाईं कपड़ नीचे खींच लिया परन्तु हनुमान ने उसका वध कर दिया।

३८. शतकोटि रामायण

कहा जाता है कि वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी और उसे शिव को सुनाने कैलास पहुँचे। इस समाचार को सुन सारे देवता भी रामायण सुनने कैलास पर जा पहुँचे। रामायण की कथा एक वर्ष में समाप्त हुई। देवताओं ने शिव से कहा कि इस रामायण में से हम लोगों को भी भाग मिले तो हम तीनों लोकों में इसका प्रचार करें। शिव ने एक-तिहाई अर्थात् ३३ करोड़, ३३ लाख, ३३ हज़ार, ३३३ श्लोक और १० अक्षर ब्रह्मा आदि देवताओं को दिये जिसे वे स्वर्ग ले गये। इतने ही शेषनाग को दिये जिन्हें वे पाताल लोक को ले गये। इतना ही भाग ऋषि-मुनियों को दिया जो सात द्वीप और नौ खण्डों में बँट गया। अव शिव के पास केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' रह गये। इनके तीन भाग नहीं हो सकते थे, इसलिए शिव ने इन्हें अपने हृदय में रख लिया।

३९. शिव द्वारा विष-पान

एक बार देव और दानवों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया जिसमें से अन्य अनेक रत्नों के साथ विष और अमृत भी निकले। विष इतना भयंकर था कि उसकी ज्वाला से तीनों लोक जलने लगे। तव शिव ने सव की रक्षा करने के लिए उसका पान कर लिया और उसे अपने कण्ठ में धारण कर लिया। विष के प्रभाव से शिव का कण्ठ नीला पड़ गया। तभी से शिव नीलकण्ठ कहलाने लगे।

४०. शिशुपाल-वध

शिशुपाल कृष्ण की बुआ का पुत्र और चेदि देश (वर्तमान चँदेरी) का राजा था। रुक्मिणी स्वयंवर में कृष्ण ने इसका मान-मर्दन कर रुक्मिणी का हरण किया था। इससे क्रुद्ध हो वह सदैव कृष्ण को गालियाँ दिया करता था। शिशुपाल की माँ ने कृष्ण से यह वचन ले लिया था कि वह अपने छोटे भाई शिशुपाल की सौ गालियाँ तक सहन कर लेंगे। पांडवों के राजसूय यज्ञ के अवसर पर इसने कृष्ण को सौ से भी अधिक गालियाँ दे डालीं। कृष्ण ने भरी सभा में तुरन्त सुदर्शन चक्र

द्वारा इसका वध कर दिया। देखते-देखते शिशुपाल की आत्म-ज्योति कृष्ण के मुख में समा गयी।

४१. हनुमान द्वारा विभिन्न लोगों का मान भंग करना

सूर्य, इन्द्र और राहु का मान भंग—एक अमावस्या को उदय होते सूर्य को लाल फल जान बालक हनुमान उसे खाने उसके पास जा पहुंचे। उसी समय सूर्य-ग्रहण होने के कारण राहु भी सूर्य को ग्रसने वहाँ पहुँचा। परन्तु हनुमान के तेज से भयभीत हो उसने इन्द्र से जाकर प्रार्थना की कि मेरे भोजन (सूर्य) को कोई दूसरा खाने आ पहुँचा है। इन्द्र तुरन्त एरावत पर सवार हो, राहु को साथ ले सूर्य के पास गये। हनुमान राहु को देख उसे खाने दौड़े। राहु के भाग जाने पर यह इन्द्र पर लपके। इन्द्र ने इनकी ठोढ़ी में वज्र मारा जिससे वह चपटी हो गयी और हनुमान मूर्च्छित हो गिर पड़े। (हनुमान का नाम हनुमान तभी से पड़ा क्योंकि संस्कृत में 'हनु' ठोढ़ी को कहते हैं।) अपने पुत्र को मूर्च्छित देख पवन क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने अपनी गति रोक ली, जिससे सारे जीवों की साँस घुटने लगी। तब सारे देवताओं ने पवन-देव से प्रार्थना की और अमृत डाल हनुमान की मूर्च्छना दूर की।

इस प्रकार इस घटना द्वारा हनुमान ने सूर्य, इन्द्र और राहु—तीनों का मान भंग कर दिया। सूर्य को गर्व था कि कोई भी मेरा तेज नहीं सह सकता, सो उसे सहकर सूर्य का मान भंग किया। राहु को यह गर्व था कि मैं इतना बलशाली हूँ कि सूर्य का भी भक्षण कर जाता हूँ, सो उसे भयभीत कर वहाँ से भगा उसका मान भंग किया। इन्द्र को गर्व था कि मेरे वज्र से कोई नहीं बच सकता, सो वज्र का प्रहार भी व्यर्थ हुआ, हनुमान बच गये और वज्र की धार भी कुंठित हो गयी। इस प्रकार इन्द्र का गर्व दूर किया।

भीमसेन का मान भंग—भीमसेन में १० हजार हाथियों का बल था, इसलिए उन्हें अपने बल का बड़ा गर्व था। वनवास के समय एक दिन भीमसेन ने देखा कि एक विशालकाय बूढ़ा बन्दर अपनी पूँछ से मार्ग रोके निश्चल मार्ग में पड़ा है। यह देख भीम ने गर्जना कर बन्दर को जगा दिया और कहा कि मार्ग में से हटकर हमें रास्ता दो। बन्दर ने कहा कि मैं बूढ़ा हूँ, उठा नहीं जाता, अतः तुम मेरी पूँछ हटा-कर एक तरफ कर दो और निकल जाओ। भीम ने अपना पूरा बल लगा दिया, परन्तु पूँछ टस से मस तक नहीं हुई। यह देख भीम को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उस बन्दर से इसका कारण पूछा। तब भीम को पता चला कि वह बन्दर हनुमान थे।

अर्जुन का मान भंग—महाभारत में कर्ण और अर्जुन का भयंकर युद्ध हो रहा था। जब अर्जुन कर्ण के रथ में बाण मारते तो कर्ण का रथ बहुत दूर पीछे खिसक जाता, और जब कर्ण अर्जुन के रथ में बाण मारते तो अर्जुन का रथ जरा-सा ही खिसक कर रह जाता। यह देख अर्जुन को अपने बल का बड़ा घमण्ड

हुआ। कृष्ण उनके इस गर्व को समझ गये। उन्होंने अर्जुन की ध्वजा पर बैठे हनुमान को थोड़ी देर के लिए नीचे उतर जाने के लिए कहा। हनुमान चुपचाप नीचे उतर गये। इसके उपरान्त जब कर्ण ने वाण मारा तो अर्जुन का रथ कोसों पीछे जा पड़ा। यह देख अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कृष्ण से इसका कारण पूछा। कृष्ण ने उत्तर दिया कि तुम्हारी पताका पर हनुमान बैठे हुए थे, इस कारण अब तक उनके भार की वजह से तुम्हारा रथ पीछे अधिक नहीं खिसक पाता था। अब वे नीचे उतर गये हैं। वह तो मैं त्रिलोक का स्वामी तुम्हारे रथ पर बैठा हुआ हूँ, तब तुम्हारा रथ इतना पीछे खिसका है। यदि मैं न बैठा होता तो न जाने कर्ण का वाण तुम्हें कहाँ पहुँचा देता। इस प्रकार हनुमान ने अर्जुन के गर्व को भंग किया था।

गरुड़ का मान भंग—गरुड़ को अपनी शक्ति और तीव्र गति का बड़ा गर्व था। एक बार भगवान ने गरुड़ को हनुमान को बुला लाने भेजा। गरुड़ हनुमान के पास गये और भगवान का सन्देश उनसे कहा। हनुमान बोले—तुम चलो मैं पीछे-पीछे आता हूँ। गरुड़ व्यंग्य भरी मुस्कराहट के साथ वहाँ से चल दिये—यह सोचते हुए कि ये मेरी गति का क्या मुकाबला करेंगे, इसलिए वह अपनी पुरी शक्ति से उड़कर जब भगवान के पास पहुँचे तो क्या देखते हैं कि हनुमान वहाँ पहले से ही विराजमान हैं। यह देख गरुड़ का अपनी तीव्र गति का घमण्ड चूर-चूर हो गया और वे बड़े लज्जित हुए।

विनय-पत्रिका

[पूर्वार्द्ध]

विनय-पत्रिका

श्री गणेश-स्तुति

राग-बिलावल

[१]

गाइए गनपति जगबन्दन। संकर-सुवन, भवानी-नन्दन॥ १॥
सिद्धि-सदन, गजबदन, विनायक। कृपा-सिंधु, सुन्दर सब लायक॥ २॥
मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता॥ ३॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे॥४॥

शब्दार्थ—गनपति=गणपति, गणों के स्वामी, गणेशजी। जगबन्दन= संसार जिनकी वन्दना करता है। संकर-सुवन=शंकर के पुत्र। भवानी=पार्वती। नन्दन=आनन्द देने वाले, पुत्र। सिद्धि-सदन=सिद्धियों के भण्डार। गजबदन= हाथी के से मुख वाले। विनायक=स्वामी, नायक। मोदक-प्रिय=लड्डू खाने के प्रेमी। मुद=आनन्द। वारिधि=सागर। विधाता=बनाने वाले, स्वामी। मानस= मन, हृदय।

भावार्थ—गोस्वामी तुलसीदास गणेशजी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

संसार जिनकी वन्दना करता है, ऐसे गणेशजी की स्तुति गाइए। गणेशजी भगवान शंकर और पार्वती के पुत्र और उनको आनन्द देने वाले हैं। वह सम्पूर्ण सिद्धियों के भण्डार हैं अर्थात् आठों सिद्धियों को प्रदान करने वाले हैं। भाव यह है कि गणेशजी की वन्दना करने से आठों सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। उनका

मुख हाथी के मुख के समान है। वह विघ्नों के स्वामी हैं अर्थात् सम्पूर्ण विघ्नों को अपने भक्तों से सदैव दूर रखते हैं। वह कृपा के सागर अर्थात् सब पर बिना किसी भेदभाव के कृपा करने वाले हैं। उनका प्रत्येक अंग सुन्दर है और वह सब कुछ करने की शक्ति रखते हैं। उन्हें लड्डू बहुत प्रिय हैं। वह सब को आनन्द देने वाले और सब का कल्याण करने वाले हैं। वह विद्या के सागर अर्थात् प्रकांड विद्वान् और सब की बुद्धि को बनाने वाले हैं। अर्थात् उनकी कृपा प्राप्त कर कोई महामूर्ख भी विद्वान् बन जाता है। ऐसे गणेशजी से मैं (तुलसीदास) हाथ जोड़कर यह वरदान माँगता हूँ कि सीताराम सदैव मेरे हृदय में निवास करते रहें। अर्थात् मैं सदैव उन्हीं के ध्यान में निरत बना रहूँ।

टिप्पणी—(१) हमारी यह साहित्यिक परम्परा रही है कि हमारे पूर्वज किसी भी ग्रन्थ का प्रणयन करते समय प्रारम्भ में गणेशजी की स्तुति करते आये हैं, क्योंकि गणेशजी बुद्धि के देवता माने गये हैं। धर्मप्राण हिन्दू आज भी किसी शुभ कार्य को प्रारम्भ करते समय गणेशजी की वन्दना करते हैं। गोस्वामीजी ने इसी परम्परा का पालन किया है। 'विनय-पत्रिका' एक निश्चित क्रम के अनुसार पुस्तक रूप में लिखी गयी थी। इस वन्दना से यह भी सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी के अन्य कतिपय ग्रन्थों में यदि हमें प्रारम्भ में गणेश-स्तुति नहीं मिलती तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि वे संग्रह-ग्रन्थ हैं, फुटकर पदों का बाद में संग्रह किया हुआ रूप है। इस 'गणेश-स्तुति' के आधार पर गोस्वामीजी की अपने इष्टदेव राम के प्रति अनन्यता का प्रश्न उठाना व्यर्थ है।

(२) प्रथम चरण के द्वितियांश में 'सुवन' और 'नन्दन' शब्द आये हैं। दोनों का ही अर्थ 'पुत्र' माना जा सकता है। परन्तु ऐसा मानने से 'पुनरुक्ति' दोष आ जाता है। 'सुवन' शब्द 'शंकर' और 'भवानी' के बीच में आया है, इसलिए 'देहली-दीपक' अलंकार के अनुसार इसका अर्थ 'शंकर और पार्वती के पुत्र' माना है और 'नन्दन' का अर्थ माता-पिता को आनन्द देने वाला। देहली-दीपक-न्याय उसे कहते हैं, जिसके अनुसार दो शब्दों के बीच में आया हुआ शब्द दोनों शब्दों से सम्बद्ध हो जाता है। जैसे—देहली पर रखा हुआ दीपक बाहर-भीतर दोनों तरफ प्रकाश करता रहता है।

(३) सिद्धियाँ आठ मानी गयी हैं—१—**अणिमा** (सूक्ष्म रूप धारण करना), २—**महिमा** (बड़ा विशाल रूप धारण करना), ३—**गरिमा** (बहुत भारी बन जाना), ४—**लघिमा** (बहुत हल्का हो जाना), ५—**प्राप्ति** (मनचाहे स्थान पर पहुँच जाना), ६—**प्राकाम्य** (इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेना), ७—**ईशित्व** (प्रभुता प्राप्त कर लेना), ८—**वशित्व** (जिसको चाहे अपने वश में कर लेना)।

(४) वियोगि हरि इस पद में 'मंगलाचरण' का पूर्ण रूप मानते हैं। उनके अनुसार इसमें गणपति से ऐश्वर्य; शंकर से कल्याण; विनायक से पराक्रम; मोदक, मुद और मंगल से आनन्द; विद्या और बुद्धि से ज्ञान; तथा कृपा-सिन्धु से मनःकामना पूर्ति की सूचना मिलती है।

सूर्य-स्तुति

[२]

दीन दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ॥१॥
हिम-तम-करि-केहरि करमाली। दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली ॥२॥
कोक कोकनद लोक-प्रकासी। तेज - प्रताप - रूप-रस-रासी ॥३॥
सारथि पंगु, दिव्य - रथ - गामी। हरि-संकर-विधि-मूरति स्वामी ॥४॥
वेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम - भक्ति वर माँगै। ५॥

शब्दार्थ—दिवाकर=सूर्य। कर=करते हैं। सुरासुर=सुर और असुर, देवता और राक्षस। हिम=बर्फ, पाला। तम=अन्धकार। करि=हाथी। केहरि= सिंह। करमाली=किरणों की माला धारण करने वाले। कोक=चकवा-चकवी। कोकनद=कमल। लोक=संसार। रासी=समूह, राशि। सारथि=सारथी, रथ को चलाने वाला। पंगु=लँगड़ा-लूला। दिव्य=अलौकिक। गामी=चलने वाले। दहन=भस्म करने वाले। दुरित=पाप। रुजाली=रुज+अली=रोगों की पंक्ति। जस=यश। जागै=प्रकट है।

भावार्थ—हे दीन-दुखियों पर दया करने वाले देवता सूर्य! मुनि, मानव, देवता और राक्षस—सभी तुम्हारी सेवा करते हैं (क्योंकि तुम्हारे प्रकाश के अभाव में इनमें से कोई भी सुखी नहीं रह सकता)। हे किरणों की माला धारण करने वाले! तुम बर्फ (पाला) अर्थात् सर्दी और अन्धकार रूपी हाथी के लिए सिंह के समान हो। जिस प्रकार सिंह हाथियों का विनाश कर देता है, उसी प्रकार तुम अपनी प्रखर किरणों द्वारा सर्दी और अन्धकार का विनाश कर डालते हो। तुम सभी के दोषों, दु:खों, पापों और रोगों के समूह को जलाकर नष्ट कर देते हो। अर्थात् व्यक्ति अपराध, पाप आदि रात्रि के अन्धकार में ही करते हैं और प्रकाश के अभाव में उन्हें रोग घेर लेते हैं। इसलिए तुम अपने प्रकाश द्वारा इन सबका नाश कर देते हो। तुम्हें देखकर चकवा-चकवी, कमल और सारा संसार खिल उठता है। अर्थात् तुम्हारे दर्शन करते ही चकवा-चकवी का रात्रि को सहन किया हुआ विरह का दु:ख दूर हो जाता है, वे दोनों आपस में मिल जाते हैं, कमल खिलने लगते हैं और सारा संसार चैतन्य हो उठता है। तुम तेज, प्रताप, रूप और रस की राशि हो। (यहाँ 'रस' से अभिप्राय आनन्द से है। 'रस' का अर्थ 'जल' मानना अनुचित है और इसके आधार पर गोस्वामीजी का वैज्ञानिक ज्ञान घोषित करना तो और भी अधिक अनुचित है।) तुम्हारा सारथी (अरुण) लूला-लँगड़ा है। तुम अलौकिक रथ पर बैठकर यात्रा करते हो। तुम ब्रह्मा, शिव और विष्णु के साक्षात् रूप हो। अर्थात् तुम्हारे विभिन्न रूपों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश—त्रिदेव का सम्मिलित रूप भासित होता है। वेदों और पुराणों में तुम्हारा यश प्रख्यात है। अर्थात् वेदों और पुराणों में से तुम्हारे यश का

अमित वर्णन किया गया है। ऐसे हे सूर्यदेव ! तुलसीदास तुमसे राम की भक्ति का वरदान माँगता है।

टिप्पणी—(१) भविष्य पुराण में सूर्य के तीन रूप माने गये हैं—

उदये ब्रह्मरूपस्तु मध्यान्हे तु महेश्वरः।
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिस्तु दिवाकरः॥

अर्थात्—सूर्योदय के समय ब्रह्मा अर्थात् सृष्टि करने वाला, मध्याह्न में शिव अर्थात् कल्याण करने वाला और साथ ही विध्वंस करने वाला तथा सायंकाल विष्णु अर्थात् पालन करने वाला है। इसी कारण गोस्वामीजी ने सूर्य को 'हरि-शंकर-विधि-मूरति' कहा है।

(२) **अलंकार**—विभावना।

(३) सूर्य के रथ को 'दिव्य' इसलिए कहा गया है, क्योंकि उसको चलाने वाला सारथी पंगु है और रथ में केवल एक पहिया है। ऐसा होने पर भी वह तीव्र गति से अर्थात् पल भर में कई योजन की यात्रा करता हुआ सम्पूर्ण आकाश को पार कर लेता है।

(४) सूर्य के रथ के सारथी को पंगु कहा गया है। अरुण सूर्य का सारथी माना जाता है। इस सम्बन्ध में महाभारत में निम्न कथा आयी है—

दक्ष प्रजापति की दो सुन्दर पुत्री—कद्रू और विनता, का विवाह ब्रह्मा के पुत्र महर्षि कश्यप के साथ हुआ था। महर्षि की कृपा से विनता ने दो अंडे दिये और कद्रू ने एक हजार। कुछ समय बीतने पर कद्रू के अंडों से एक हजार नाग-पुत्र पैदा हुए परन्तु विनता के दोनों अंडे नहीं फूटे। इस पर अधीर हो विनता ने एक अंडे को पकने के पहले ही फोड़ दिया। उसमें से अरुण निकला जिसके शरीर का कमर तक ऊपरी भाग तो पूर्ण था परन्तु नीचे का सारा हिस्सा गायब था। इसलिए अरुण चलने-फिरने में असमर्थ रहा। एक बार राहु से व्याकुल हो सूर्य ने सारे संसार से बदला लेने की ठानी और अस्ताचल में जाकर ठहर गये। वहीं से उन्होंने अपने दाह से विश्व को दग्ध करना प्रारम्भ कर दिया। इससे व्याकुल हो देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने कहा कि महर्षि कश्यप के महान् तेजस्वी पुत्र अरुण सूर्य के सारथी बनेंगे और उनके आगे रथ पर बैठ रथ का संचालन करेंगे तथा साथ ही सूर्य के तेज का भी अप-हरण करेंगे। तभी से अरुण सूर्य के सारथी बन गये और सूर्य सदैव अरुण (लालिमा) से आवृत्त होकर उदित होते हैं।

शिव-स्तुति

[३]

को जाँचिए संभु तजि आन।
दीनदयालु भक्त - आरति - हर, सब प्रकार समरथ भगवान॥ १॥
कालकूट-ज्वर-जरत सुरासुर निज पन लागि कीन्ह बिष-पान।
दारुन दनुज जगत-दुखदायक, मारेउ त्रिपुर एकही बान॥ २॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत स्रुति सकल पुरान।
सो गति मरन-काल अपने पुर, देत सदा सिव सबहिं समान॥ ३॥
सेवत सुलभ उदार कल्पतरु, पारवती-पति परम सुजान।
देहु काम-रिपु राम-चरन-रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान॥ ४॥

शब्दार्थ—जाँचिए=माँगिए। आन=अन्य से, दूसरे से। को=किससे, भक्त-आरति-हर=भक्तों का दुख दूर करने वाले। समरथ=समर्थ, शक्तिवान। कालकूट-ज्वर=महा भयानक विष की गर्मी, ज्वाला से। जरत=जलते हुए। निज पन लागि=अपने प्रण का पालन करने के लिए। दारुन=दारुण, भयानक। दनुज=राक्षस, दैत्य अर्थात् दनु नामक दैत्य का पुत्र त्रिपुरासुर। अगम=अगम्य, कठिन। स्रुति=वेद। अपने पुर=अपने नगर काशी में। सुलभ=आसानी से प्राप्त हो जाने वाले। उदार=दानी। कामरिपु=कामदेव के शत्रु। रति=प्रीति, भक्ति। कहँ=को।

भावार्थ—गोस्वामीजी शिवजी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि शिवजी को छोड़कर और किससे भीख माँगनी चाहिए? क्योंकि शिवजी दीनों पर दया करने वाले, भक्तों के दुखों को दूर करने वाले और सब प्रकार से समर्थ साक्षात् भगवान हैं। जब समुद्र-मंथन से उत्पन्न भयानक कालकूट विष की भयंकर ज्वाला में सारे देवता और दैत्य दग्ध हो रहे थे—उस समय उन सब को व्याकुल देख अपनी दीन-दयालुता के प्रण की रक्षा करने के लिए शिवजी ने उस भयंकर विष को पी लिया था। भाव यह है कि भगवान शंकर दीनों का दुख दूर करने के लिए स्वयं उनकी सम्पूर्ण आपदाओं को अपने ऊपर ले लेते हैं। जब दनु नामक दैत्य का पुत्र त्रिपुरासुर अपने भयानक अत्याचारों द्वारा संसार को दुख देने लगा तो शिवजी ने एक ही बाण द्वारा उसका वध कर डाला। जिस कठिन गति अर्थात् मुक्ति को संत, वेद और सारे पुराण महामुनियों के लिए भी दुर्लभ बताते हैं अर्थात् महामुनि भी जिस मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते—उसी मुक्ति को शिवजी अपने पुर अर्थात् काशी में किसी भी जीव की मृत्यु होने पर उसे अनायास ही बिना किसी भेद-भाव के प्रदान कर देते हैं। अर्थात् शिव की नगरी काशी में मृत्यु होने पर प्रत्येक जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती

है। काशी में मृत्यु होने पर धर्मी-अधर्मी सभी समान रूप से मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं।

शिवजी की सेवा करने से वह सहज ही प्रसन्न हो उठते हैं और कल्पवृक्ष के समान उदार भाव से मनचाहा दान देते हैं। अर्थात् जिस प्रकार कल्पवृक्ष से मनचाही चीज प्राप्त की जा सकती है उसी प्रकार शिवजी से भी मनमाना वरदान प्राप्त किया जा सकता है। (रावण, रक्तबीज आदि राक्षस शिवजी की इस उदार दानशीलता के प्रमाण हैं। कभी-कभी तो शिवजी को अपनी इस दानशीलता के कारण लेने के देने पड़ जाते थे। भस्मासुर की कथा इसका प्रमाण है।) ऐसे पार्वती के पति शिवजी परम ज्ञानी हैं। ('सुजान' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' अर्थात् सत्पुरुष भी माना जा सकता है।) हे कृपानिधान ! हे कामदेव के शत्रु शिवजी ! तुम मुझ तुलसीदास को यह वरदान दो कि मेरी राम के चरणों में निरन्तर भक्ति बनी रहे। अर्थात् मैं सदैव अनन्य भाव से राम के चरणों का ध्यान करता रहूँ।

टिप्पणी—(१) समुद्र-मंथन की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। जब विष्णु भगवान ने कच्छपावतार लेकर देवता और दैत्यों की सहायता से शेषनाग की रज्जु बनाकर समुद्र का मंथन किया था तब उसमें से चौदह रत्न निकले थे। उन्हें उन लोगों ने आपस में बाँट लिया। इसके उपरान्त जब कालकूट विष निकला तो दोनों में से कोई भी उसकी भयंकर ज्वाला को सहन नहीं कर सका और सब लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। उस समय शिवजी ने ही उस विप का पान कर सबके प्राण बचाये थे। उस विष के प्रभाव से शिवजी का कण्ठ नीला पड़ गया, जिससे वह 'नीलकण्ठ' कहलाने लगे।

(२) त्रिपुर नामक दैत्य का वध करने के कारण शिवजी त्रिपुरारि कहलाये।

(३) यह लोक-प्रसिद्ध है कि काशी में मृत्यु होने से मुक्ति मिल जाती है। इसलिए पहले लोग अन्त समय काशीवास किया करते थे और काशी-करवट लेना जैसी अन्धविश्वासपूर्ण प्रथाओं का जन्म हुआ था। काशीखंड में कहा गया है— 'काश्यां मरणान्मुक्तिः।' कहा जाता है कि काशी में मृत्यु के समय शिव जीव को रामतारक मंत्र का उपदेश देते हैं, जिससे उसका अज्ञानान्धकार दूर हो उसकी मुक्ति हो जाती है।

(४) शिवजी को कामदेव का शत्रु माना गया है। लोक-विश्वास है कि कामदेव पहले सशरीर था। जब उसने एक बार शिवजी की तपस्या को भंग करने का प्रयत्न किया तो उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर दिया। इस पर जब काम की स्त्री रति ने शिवजी से अपने पति को पुनर्जीवित कर देने की प्रार्थना की तो शिवजी ने वरदान दिया कि भविष्य में कामदेव अशरीरी (शरीर रहित) रूप में अमर रहेगा। इसीलिए कामदेव का निवास मन में माना जाता है। वह सूक्ष्म रूप में मन में स्थित रहता है। इस कथा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी सम्भव है।

राग धनाश्री

[४]

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं।
दीनदयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं ॥१॥
मारि कै मार थप्यौ जग में, जाकी प्रथम रेख भट माहीं।
ता ठाकुर को रीझि निवाजिबौ, कह्यौ क्यों परत मो पाहीं ॥२॥
जोग कोटि करि जो गति हरि सों, मुनि माँगत सकुचाहीं।
वेद-विदित तेहि पद पुरारि पुर, कीट पतंग समाहीं ॥३॥
ईस उदार उमापति परिहरि, अनत जे जाचन जाहीं।
तुलसिदास ते मूढ़ माँगने, कबहुँ न पेट अघाहीं ॥४॥

शब्दार्थ—सम=समान। दिबोई=देना ही। जाचक=याचक, माँगने वाले। सोहाहीं=सुहाते हैं, अच्छे लगते हैं। मार=कामदेव। थप्यौ—स्थापित किया, जीवनदान दिया। प्रथम रेख=पहला स्थान, अग्रगण्य। भट=योद्धा। ठाकुर=स्वामी, मालिक। निवाजिबौ=दया करना। मो पाहीं=मुझसे। जोग=योग। कोटि=करोड़ों। गति=मुक्ति। वेद विदित=वेदों में प्रसिद्ध है। पुरारि=त्रिपुरारि, शिवजी। पुर=नगरी। ईस=ऐसे। परिहरि=छोड़कर। अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। माँगने=भिखारी। अघाहीं=भरता।

भावार्थ—गोस्वामीजी शिवजी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इस संसार में शिवजी के समान उदार दानी अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता। वह दीनों पर दया करने वाले हैं; उन्हें सदैव दान देना ही अच्छा लगता है और दान माँगने वाले याचकों को देखकर उन्हें सदैव परम सन्तोष और प्रसन्नता होती है। उन्होंने कामदेव जैसे योद्धा को, जो योद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था, मार कर उसे पुनः संसार में स्थापित कर दिया। (शिवजी ने अपनी समाधि भंग करने का प्रयत्न करने पर कामदेव को भस्म कर दिया था और फिर उसकी स्त्री रति के विलाप करने पर उसे संसार में अनंग (अशरीर) रूप से पुनः जीवित कर स्थापित कर दिया था।) ऐसे स्वामी शिवजी का किसी पर प्रसन्न होकर कृपा करना कैसा होता है, इसका पूरा-पूरा वर्णन करने में क्या मैं समर्थ हो सकता हूँ ? अर्थात् शिवजी की उदारता, दया और कृपा का वर्णन करना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए असम्भव है। बड़े-बड़े मुनीश्वर करोड़ों प्रकार की योग-साधनाएँ करने के उपरान्त भी भगवान विष्णु से जिस मुक्ति को माँगते हुए संकुचित हो उठते हैं; अर्थात् योग-साधना करने पर भी मुनीश्वर अपने को जिस मुक्ति का पूर्ण अधिकारी नहीं समझते, यह बात वेदों में प्रसिद्ध है कि उसी मुक्ति को त्रिपुरारि शिवजी की नगरी में वास करने वाले कीड़े और मकोड़े तक भी अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् काशी में निवास करने मात्र से मुक्ति-लाभ

हो जाता है। ऐसे पार्वती के पति महान् उदार शिवजी को छोड़कर जो लोग अन्यत्र अर्थात् दूसरे देवी-देवताओं के यहाँ माँगने जाते हैं अर्थात् उनकी आराधना करते हैं, उन मूर्ख भिखारियों का पेट कभी भी पूरी तरह से नहीं भर पाता। अर्थात् वे सदैव भूखे ही बने रहते हैं। भाव यह है कि उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

टिप्पणी—(१) शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि काशी में मरने से मुक्ति हो जाती है। यथा—काश्यांतु मरणान्मुक्तिः।

(२) इस पद से यह ध्वनि निकलती है कि विष्णु की भक्ति करने की अपेक्षा शिव की भक्ति करने से सहज ही मुक्ति-लाभ हो जाता है। परन्तु भक्त तो मुक्ति की कामना न कर केवल भगवान् की भक्ति ही प्राप्त करना चाहता रहता है। इसी कारण गोस्वामीजी ने गणेश, शिव, सूर्य आदि सभी देवताओं से केवल राम की भक्ति का ही वरदान माँगा है, न कि मुक्ति का। सच्चे भक्त का यही लक्षण होता है।

(३) इस पद में प्रच्छन्न रूप से योग-मार्ग से भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। मुनीश्वर करोड़ों योग-साधनाएँ करने पर भी जिस मुक्ति के अधिकारी नहीं बन पाते, वह केवल काशीपुरी में निवास करने से ही मिल जाती है। यह इतनी सहज है। परन्तु भक्त तो मुक्ति की भी कामना नहीं करता। भक्ति ही उसका सर्वस्व है।

[५]

बावरो रावरो नाह भवानी।

दानि बड़ो दिन, देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥ १॥
निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत, श्री—सारदा सिहानी॥ २॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥ ३॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥ ४॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-व्यंगजुत, मुनि बिधि की बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन, जगत-मातु मुसुकानी॥ ५॥

शब्दार्थ—बावरो=बावला, पागल। रावरो=तुम्हारा, आपका। नाह=नाथ, पति, स्वामी। दिन=सदा, प्रतिदिन। दए=दिये। बड़ाई=मर्यादा। भानी=कही, वर्णन की। बरबात=सुन्दर बात। श्री=लक्ष्मी। सारदा=सरस्वती। सिहानी=प्रसन्न हुई, ईर्ष्या की। भाल=ललाट, भाग्य। रंकन=निर्धन। नाक=स्वर्ग। नकबानी=

नाक में दम आ गया है। जाचकता=भीख, भिक्षा। जुत=युक्त। बरबानी=श्रेष्ठ, सुन्दर वाणी। विधि=ब्रह्मा। जगत-मातु=जगत की माता पार्वती। मुदित=प्रसन्न।

भावार्थ—शिवजी अवढर दानी हैं। हर किसी पर प्रसन्न होकर उसे मनचाही धन-सम्पत्ति, सुख, ऐश्वर्य आदि प्रदान कर देते हैं। यह देखकर ब्रह्मा, जो जीवों के भाग्य लिखने वाले माने जाते हैं, बड़े उद्विग्न हो उठे कि शिवजी तो अपनी असीम दानशीलता के कारण मेरे सारे किये धरे पर पानी फेर देते हैं। मैं जिनके भाग्य में दुख लिखता हूँ उन्हें ये सब तरह से सुखी बना देते हैं। फिर मेरे इस कार्य का—भाग्य-लिपि लिखने के कार्य का महत्त्व ही क्या रहा? यह विचार कर ब्रह्मा एक दिन शिवजी के घर पार्वती के पास पहुँचे। वहाँ शिवजी भी बैठे थे। ब्रह्मा पार्वती से कहने लगे—

हे भवानी! तुम्हारे पति तो बावले हैं। वह इतने बड़े दानी हैं कि नित्यप्रति हर किसी को दान देते रहते हैं और दान देते समय इस बात का भी ध्यान नहीं रखते कि वेद-मर्यादा के अनुसार दान उसी को देना चाहिए जिसने स्वयं भी कभी किसी वस्तु का दान दिया हो। अर्थात् यह उन लोगों को भी खुले हाथ से दान देते रहते है, जिन्होंने कभी किसी को कुछ भी दान नहीं दिया है। परन्तु फिर भी वेदों ने इनकी महिमा का वर्णन किया है। तनिक तुम अपने घर की इस सुन्दर दशा को तो देखो (कि इन्होंने अपने भक्तों—रावण, बाणासुर आदि को तो हर तरह से मालामाल कर रखा है और स्वयं तुम्हारे घर में धतूरे, श्मशान की राख, साँप, जानवरों की खाल आदि वस्तुओं के अतिरिक्त भूँजी भाँग भी नहीं है। अर्थात् दूसरों को अगाध सम्पत्ति देकर ये स्वयं भिखारी से ही बने रहते हैं।) तुम तो परम चतुर हो। जरा अपनी इस स्थिति पर तो कभी विचार करो। शिवजी की दी हुई सम्पदा को देखकर लक्ष्मी और सरस्वती भी ईर्ष्या से जल उठती हैं। अर्थात् इन्होंने अपने भक्तों को इतना ज्ञान और सम्पदा दे रखी है कि उसे देखकर धन की देवी लक्ष्मी और ज्ञान की देवी सरस्वती भी ईर्ष्या से जल उठती हैं। (व्याज-स्तुति से इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है कि पार्वती को इस गृहस्थी की दीन दशा को देखकर लक्ष्मी और सरस्वती अपने-अपने वैभव और सम्पन्नता को पार्वती की तुलना में इतना अधिक देख प्रसन्न होने लगती हैं और मन ही मन पार्वती की हँसी उड़ाती हैं। भाव यह है कि शिवजी सबको तो सब कुछ दे देते हैं और पार्वती को कुछ भी नहीं देते)।

हे पार्वती! अपने पति की दूसरी हरकत यह देखो कि जिसके भाग्य में मैंने सुख का नाम-निशान तक नहीं लिखा है। अर्थात् मेरे द्वारा जिनके भाग्य में रंचमात्र भी सुख नहीं लिखा गया है, ऐसे निर्धनों को ये स्वर्ग दे देते हैं। नित्य-प्रति इतने

लोग स्वर्ग में आ रहे हैं कि उनके लिए मुझे स्वर्ग की नये प्रकार से व्यवस्था करनी पड़ती है, उनके लिए स्थान का प्रबन्ध करना पड़ता है। अर्थात् शिवजी मेरे द्वारा लिखी भाग्य-लिपि को मेटकर उन्हें सब तरह से सुखी बना देते हैं। उनकी इन हरकतों को देख-देखकर मेरी तो नाक में दम आ गया है। अर्थात् मैं बहुत परेशान हो उठा हूँ। शिवजी की इन हरकतों को देख-देखकर स्वयं दीनता और दुखियों को प्राप्त होने वाले दुख भी दुखी हो उठे हैं। इनके दुखी होने का कारण यह है कि अब इनको (दीनता और दुखों को) कहीं भी रहने को स्थान नहीं मिलता, क्योंकि सभी लोग धनी और सुखी हो रहे हैं और भीख भी व्याकुल हो उठी है, क्योंकि जब कोई माँगने वाला भिखारी ही नहीं रहा तो बेचारी भीख कहाँ जाकर रहे।

इसलिए हे भवानी ! तुम मेरे इस विधातापन के अधिकार को किसी दूसरे को सौंप दो। अर्थात् मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर इस ब्रह्मत्व के पद पर किसी और की नियुक्ति कर दो, क्योंकि तुम्हारे पति की इन हरकतों के कारण मेरे लिए काम करना असम्भव हो गया है। इस कार्य को करने से तो अच्छा यही है कि मैं भीख माँगकर अपना पेट पाल लूँ।

व्याज-स्तुति द्वारा ब्रह्माजी सुन्दर वाणी से निःसृत अपने प्रति अमिट प्रेम और विनय से भरी इस भावना को लक्ष्य कर शिवजी मन ही मन प्रसन्न हो उठे और जग-जननी पार्वती मुस्करा कर रह गयीं। अर्थात् दोनों ब्रह्माजी की वास्तविक भावना को समझ कर प्रसन्न हो उठे। क्योंकि ब्रह्माजी ऊपर से तो शिवजी की निन्दा कर रहे थे परन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय यह था कि शिवजी महान् उदार दानी और भक्त-वत्सल हैं।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—व्याज-स्तुति। क्योंकि यहाँ निन्दा के बहाने शिवजी की स्तुति की गई है।

(२) गोस्वामी तुलसीदास के सम्पूर्ण साहित्य में हास्य-रस के बहुत ही सीमित उदाहरण मिलते हैं। जहाँ कहीं उन्होंने हास्य-रस का चित्रण किया है वहाँ उसमें पूर्ण शालीनता, गाम्भीर्य और हास्यजनक व्यंग्य रहता है। प्रस्तुत पद तुलसीदास के शिष्ट हास्य का अपूर्व उदाहरण माना जा सकता है। हिन्दी-साहित्य में ऐसे शिष्ट हास्य के नमूने बहुत कम मिलते हैं।

(३) इस पद में तुलसीदास ने व्याज-स्तुति अलङ्कार के माध्यम से शिवजी की अद्‌भुत दानशीलता और भक्त-वत्सलता का प्रभावशाली वर्णन किया है।

(४) 'वेद बड़ाई भानी'—'भानी' का अर्थ 'तोड़ना' न होकर कहा या वर्णन किया है। शिव वेद-मर्यादा के रक्षक माने गये हैं, न कि उसे भंग करने वाले। उनके लिए स्पष्ट कहा गया है—'वेदानुवर्त्तिनं रुद्रम् देवम् नारायणम् तथा'।

(५) विधि की बरबानी—यहाँ 'वर' शब्द विधाता की विलक्षण चातुरी, शिष्ट हास्य, गम्भीर अभिप्राय, शिव के प्रति उनके अनन्य प्रेम और वाक्-चातुरी का परिचय दे रहा है।

राग रामकली

[६]

जाचिये गिरिजापति, कासी जासु भवन अनिमादिक दासी॥ १॥
औढ़र-दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥ २॥
सुख संपति मति सुगति सुहाई। सकल सुलभ संकर सेवकाई॥ ३॥
गये सरन आरत के लीन्हें। निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हें॥ ४॥
तुलसिदास जाचक जस गावै। बिमल भगति रघुपति की पावै॥ ५॥

शब्दार्थ—जाचिये=याचना कीजिए, माँगिए। गिरिजापति=पार्वती के स्वामी महादेव। अनिमादिक=अणिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ। औढ़र-दानि=अवढर दानी, बिना पात्र-अपात्र अपात्र का विचार किये दान देने वाला दानी। द्रवत=द्रवित हो जाते हैं, पिघल जाते हैं। मति=सुबुद्धि, ज्ञान। सुगति=मोक्ष, मुक्ति। सुहाई=सुन्दरता। सेवकाई=सेवा करने से। आरति के लीन्हें=दुखग्रस्त होकर, दुखी होकर। निमिष=पल भर में।

भावार्थ—तुलसीदास कहते हैं कि शिवजी की नगरी काशी में जाकर, जहाँ शिवजी का निवास है, पार्वती के स्वामी शिवजी से ही याचना करनी चाहिए। वहाँ उनके भवन में अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ दासी बनकर रहती हैं। अर्थात् शिवजी से याचना करने पर आठों सिद्धियाँ तुरन्त ही याचक की सेवा करने को सहर्ष प्रस्तुत हो जाती हैं। शिवजी अवढर दानी हैं; अर्थात् पात्र-अपात्र का विचार किये बिना सब को समान रूप से दान देते हैं और दूसरी विशेषता यह है कि वह थोड़ी-सी ही सेवा करने से पिघल उठते हैं; अर्थात् अपने भक्त पर प्रसन्न हो उसकी मनोकामना पूर्ण कर देते हैं। उनसे यह नहीं देखा जाता कि दीन-दुखी लोग उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े रहें। अर्थात् वे तुरन्त उनका दुख दूर कर देते हैं। शिवजी की सेवा करने से सुख, सम्पत्ति, सुबुद्धि, मुक्ति, सौन्दर्य आदि सभी कुछ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति दुख से व्याकुल हो शिवजी की शरण में जाता है तो वह उसकी दशा को देखकर पल भर में ही उसे निहाल कर देते हैं अर्थात् उसके सारे दुख दूर कर उसे उसकी मुँहमाँगी वस्तु प्रदान कर देते हैं।

भिखारी तुलसीदास भी ऐसे शिवजी का इस आशा से यश गाता है कि उनकी कृपा से उसे श्री रघुनाथजी की निर्मल भक्ति प्राप्त हो।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने शिवजी की कृपा से राम की भक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना की है। और इस प्रकार शैवों व वैष्णवों की पारस्परिक द्वेष भावना को दूर कर दोनों में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

[७]

कस न दीन द्रवहु उमावर। दारुन विपति हरन, करुनाकर ॥ १ ॥
वेद-पुरान कहत उदार हर। हमरि बार कस भयहु कृपिनतर ॥ २ ॥
कवनि भगति कीन्ही गुनिनिधि द्विज। ह्वै प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज ॥३॥
जो गति अगम महामुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ॥४॥
देहु काम-रिपु, राम-चरन-रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेद-मति ॥५॥

शब्दार्थ—कस=क्यों। द्रवहु=कृपा करते। उमावर=उमा के स्वामी शिवजी। दारुन=कठिन। हरन=हरण करने वाले। करुनाकर=करुणा करने वाले। कृपिनतर=इतने बड़े कंजूस। कवनि=कौन-सी। गुनिनिधि द्विज=गुणनिधि नामक ब्राह्मण। सिव पद=कैलास, कैवल्य पद, मुक्ति। तव पुर=तुम्हारी नगरी काशी। भेद-मति=अज्ञानजनित भेद-ज्ञान; मैं और हूँ, तू और है—ऐसी भेद-भाव वाली बुद्धि।

भावार्थ—तुलसीदास शिवजी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

हे उमापति शंकर ! तुम मुझ दीन पर दया क्यों नहीं करते, क्योंकि तुम तो कठिन से कठिन विपत्तियों को दूर करने वाले और (जीव मात्र पर) दया करने वाले हो। (फिर मुझ दुःखी पर दया क्यों नहीं करते ?) वेद और पुराण तो यह कहते हैं कि शिवजी बड़े उदार है, फिर मेरी बार को ही तुम इतने महान् कंजूस क्यों बन गये हो ? मेरी बारी आने पर तुम्हारी वह प्रसिद्ध उदारता कहाँ चली गयी है ? गुणनिधि नामक ब्राह्मण ने तुम्हरी कौन-सी भक्ति की थी जिससे प्रसन्न होकर तुमने उसे अपने शिवलोक में स्थान दे दिया ? अर्थात् उसे कैवल्य पद प्रदान कर दिया। महामुनिगण तक जिस मुक्ति को प्राप्त करना असम्भव मानते हैं, उस मुक्ति को तुम्हारी नगरी काशी में रहने वाले कीड़े-पतंगे तक प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए हे कामदेव का विनाश करने वाले ! तुम मुझ तुलसीदास को यह वरदान दो कि उसकी राम के चरणों में सदैव प्रीति बनी रहे और उसकी 'तेरे-मेरे' को भेद-बुद्धि को दूर कर उसे ज्ञान प्रदान करो। अर्थात् मैं जीव-वैषम्य के भेद को मानना छोड़ समरसता वाले सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करूँ।

टिप्पणी—(१) गुणनिधि नामक एक ब्राह्मण, जो चोर था, एक बार शिवालय में घण्टा चुराने के लिए गया। घण्टा काफी ऊँचाई पर टँगा था। इसलिए वह महादेव की मूर्त्ति के ऊपर चढ़कर घण्टा उतारने का प्रयत्न करने लगा। शिवजी ने समझा

कि और लोग तो मुझ पर पत्र-पुष्पादि चढ़ाते हैं, पर इसने तो सशरीर स्वयं को हमारे ऊपर अर्पण कर दिया है। बस, फिर क्या था ! अवढर दानी शिव तुरन्त प्रकट हो गये और उन्होंने उस चोर ब्राह्मण को मुक्ति देकर अपने शिवलोक भेज दिया। यहाँ तुलसी-दास इसी कथा की ओर संकेत कर रहे हैं।

(२) अन्तिम पंक्ति में 'कामरिपु' शब्द का सार्थक और साभिप्राय प्रयोग किया गया है। तुलसी रामभक्ति के मार्ग में काम-भावना को सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। उन्होंने अन्यत्र कहा है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
एक संग निबसत नहीं, तुलसी छाया घाम॥

(३) पंडित रामेश्वर भट्ट 'भेद-मति' से जीव और ब्रह्म में भेद मानना मानते हैं। परन्तु वियोगी हरि जीव-वैषम्य से तात्पर्य मानते हैं।

[८]

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे।
किये दूर दुख सबनि के, जिन-जिन कर जोरे॥१॥
सेवा सुमिरन पूजिबो, पात अखात थोरे।
दियो जगत जहँलगि सबै, सुख, गज, रथ घोरे॥२॥
गाँव बसत बामदेव, में कबहूँ न निहोरे।
अधि-भौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे॥३॥
बेगि बोलि बलि बरजिये, करतूति कठोरे।
तुलसी दल रूँध्यौ चहैं, सठ साखि सिहोरे॥४॥

शब्दार्थ—भोरे=भोले। पात=पत्ते, बेलपत्र। आखत=अक्षत, चावल। घोरे=घोड़े। बामदेव=शिव। गाँव=काशी। निहोरे=माँगा, प्रार्थना की। अधि-भौतिक=आधिभौतिक, शारीरिक। ते=उन। किंकर=दास, गण। तोरे=तुम्हारे। बोलि=बुलाकर। बरजिये=रोक दीजिए। करतूति कठोरे=निर्दयी, कठोर कर्म करने वाले। तुलसी दल=तुलसी के पत्तों को। रूँध्यौ=रौंदना, कुचलना। सठ=शठ, दुष्ट। साखि=शाखी, वृक्ष। सिहोरे=थूहर, सेंहुड़, एक काँटेदार वृक्ष।

भावार्थ—हे शिव ! तुम बड़े देवता (महादेव), बड़े दानी और बड़े भोले-भाले अर्थात् सीधे हो। जिन-जिन लोगों ने तुम्हारे पास आकर तुम्हारे हाथ जोड़े, तुमसे प्रार्थना की, उन सबके दुःखों को तुमने दूर कर दिया। जिसने भी तुम्हारी सेवा की, तुम्हारा स्मरण किया, तुम्हारी पूजा की और थोड़े से बेलपत्र और चावल

तुम्हारे ऊपर चढ़ा दिये, उन सबको तुमने संसार में जितनी भी सम्पत्ति हो सकती है, वह सब, सारे सुख, हाथी, रथ और घोड़े दे दिये। अर्थात् उन्हें सब प्रकार से सुखी बना दिया।

हे वामदेव (शिव) ! मैंने तुम्हारी नगरी काशी में रहते हुए कभी तुमसे किसी बात के लिए प्रार्थना नहीं की परन्तु अब शारीरिक बाधाओं ने मुझे घेर लिया है और मुझे घेरने वाले सब आपके ही दास काम, मद, मोह आदि हैं। इन्होंने मुझे बहुत सता रखा है। तुम कृपा करके अपने इन कठोर निर्दयी दासों को शीघ्र ही बुलाकर मुझे सताने से रोक दो। मैं तुम्हारी बलिहारी जाता हूँ। ये मूर्ख, दुष्टगण तुलसी के पत्तों को रौंदकर उसके स्थान पर थूहड़ का काँटेदार वृक्ष लगाना चाहते हैं अर्थात् मेरे हृदय से भक्ति-भावना को नष्ट कर उसके स्थान पर दुखदायी कामवासनाओं को उत्पन्न करना चाहते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी का पौधा 'भक्ति' का, तथा थूहड़ का वृक्ष वासनाओं का प्रतीक है।

(२) इसमें आत्म-तत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

(३) अन्तिम पंक्ति में 'तुलसी' से तुलसीदास और तुलसी का पौधा—दोनों का अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है।

[६]

सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय, उदार कीरति, बलि जाउँ, हरहु निज माया ॥१॥
जलज-नयन, गुन-अयन, मयन-रिपु, महिमा जान न कोई।
बिनु तव कृपा रामपद-पंकज, सपनेहुँ भगति न होई ॥२॥
ऋषय, सिद्ध, मुनि, मनुज, दनुज, सुर अपर जीव जगमाहीं।
तुव-पद-विमुख न पार पाव कोउ, कलप कोटि चलि जाहीं ॥३॥
अहिभूषन, दूषन-रिपु-सेवक, देव-देव त्रिपुरारी।
मोह-निहार-दिवाकर संकर, सरन सोक-भयहारी ॥४॥
गिरिजा-मन-मानस-मराल कासीस, मसान-निवासी।
तुलसिदास हरि-चरनकमल-वर, देहु भगति अविनासी ॥५॥

शब्दार्थ—दाया=दया, कृपा। उदार कीरति=महान् यश। जलज-नयन=कमल नयन। गुन-अयन=गुणों के आगार। मयन-रिपु=कामदेव के शत्रु। ऋषय=ऋषि गण। दनुज=दैत्य, राक्षस। अपर=अन्य। कलप=कल्प। अहिभूषन=सर्पों का आभूषण धारण करने वाले। दूषन-रिपु-सेवक=दूषण नामक राक्षस के शत्रु राम

के सेवक । देव देव=देवताओं के भी देवता । निहार=कुहरा, पाला । मराल=हंस । कासीम=काशी के अधिपति ।

भावार्थ—हे कल्याण के साक्षात् स्वरूप शिवजी ! मुझ पर प्रसन्न हो दया करो । तुम करुणामय हो, तुम्हारी कीर्ति विश्व में व्याप्त है । मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, तुम अपनी इस माया को समेट लो । अर्थात् अपने गणों—काम, मद, मोह आदि को रोककर मेरे आधिभौतिक दुःखों का निवारण करो । (पिछले पद में तुलसी शिवजी से अपने गणों को बरजने की प्रार्थना कर चुके हैं । यहाँ 'माया' से तुलसी का अभिप्राय उसी दुःख से प्रतीत होता है ।) तुम्हारे नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं, तुम गुणों के भण्डार अर्थात् सर्वगुणसम्पन्न हो । तुम कामदेव के संहार करने वाले शत्रु के रूप में प्रसिद्ध हो । तुम्हारी महिमा को कोई नहीं जान सकता । तुम्हारी कृपा के बिना रामचन्द्रजी के चरण-कमलों में भक्ति स्वप्न में भी किसी के हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकती । अर्थात् तुम्हारी कृपा प्राप्त हो जाने पर ही कोई राम-भक्त बन सकता है ।

ऋषिगण, सिद्ध, मुनि, मनुष्य, राक्षस, देवता तथा संसार के जितने भी अन्य प्राणी हैं, तुम्हारे चरणों की बिना सेवा किये अर्थात् बिना तुम्हारी भक्ति किये इस संसार का पार नहीं पा सकते अर्थात् मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते, भले ही वे करोड़ों कल्पों तक प्रयत्न करते रहें । तुम सर्पों के आभूषण धारण किये रहते हो (शिवजी के कण्ठ, बाहु आदि में सर्प लिपटे रहते हैं), दूषण नामक राक्षस के शत्रु रामचन्द्रजी तुम्हारे सेवक हैं अथवा दूषण के शत्रु रामचन्द्रजी के तुम सेवक हो अथवा सारे दोषों (दुर्गुणों) के शत्रु रामचन्द्रजी तुम्हारे सेवक हैं । तुम देवताओं के भी देवता अर्थात् महादेव हो और त्रिपुर नामक राक्षस का वध करने वाले हो । हे शंकर ! तुम मोह अर्थात् अज्ञान रूपी कोहरे को नष्ट करने वाले सूर्य के समान हो अर्थात् तुम्हारी कृपा होने पर प्राणियों का मोहान्धकार दूर हो जाता है । हे शिव ! जो तुम्हारी शरण में आता है उसे तुम सब तरह के भय और शोकों से मुक्त कर देते हो अर्थात् वह निर्भय और प्रसन्न हो जाता है ।

हे काशी के स्वामी ! श्मशान में बास करने वाले ! तुम पार्वती के मन रूपी मानसरोवर में सदैव उसी प्रकार स्थित रहते हो जिस प्रकार मानसरोवर में सदैव हंस निवास करते रहते हैं । अर्थात् पार्वती का मन मानसरोवर है और तुम उसमें निवास करने वाले हंस हो । भाव यह है कि पार्वती सदैव तुम्हारे ही ध्यान में लीन रहती हैं । तुलसीदास कहते हैं कि हे शिव ! तुम मुझे यह वरदान दो कि रामचन्द्र जी के चरण-कमलों में मेरी अटल भक्ति बनी रहे । अर्थात् मैं एकनिष्ठ भाव से सदैव राम की भक्ति में लीन बना रहूँ ।

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में 'सिव-सिव' की पुनरुक्ति तुलसीदास के आर्त-करुण भाव की तीव्रता की द्योतक है, इसे वीप्सा कहते हैं ।

(२) यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि तुलसीदास बिना शंकर की कृपा के राम-भक्ति का प्राप्त करना असम्भव मानते हैं। कवि की यह भावना शैवों और वैष्णवों के परम्परागत विद्वेष भाव को दूर करने में अत्यन्त सहायक हुई है। रामचरितमानस में तुलसी ने स्वयं राम के मुख से इस तथ्य का उद्घाटन करवाते हुए कहलाया है—

औरो एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावै मोर॥

राम का यह कथन अप्रत्यक्ष रूप से इस तथ्य को भी प्रकट करता है कि शंकर की भक्ति साध्य न होकर—राम-भक्ति को प्राप्त करने का साधन है। और साध्य साधन से श्रेष्ठ और महान् होता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण 'शिव-स्तुत' में तुलसीदास ने कहीं भी शिव की भक्ति प्राप्त करने की याचना न कर सदैव शिव से रामभक्ति का वरदान देने की ही प्रार्थना की है। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी राम को शिव की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते थे। भागवत में शिव को परम वैष्णव माना गया है—'वैष्णवानामहं शम्भुः' वैसे राम और शिव परस्पर एक-दूसरे के भक्त माने गये हैं। 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः।' तुलसीदास ने राम द्वारा शिव की पूजा करायी है और शिव द्वारा राम को भगवान घोषित कराया है।

(३) तुलसी ने भक्ति को अविनाशी कहा है अर्थात् वह मुक्ति की याचना न कर शाश्वत भक्ति की ही याचना करते हैं। भक्त और योगी में यही अन्तर होता है। योगी मुक्ति के लिए योग-साधन करता है और भक्त मुक्ति को कोई महत्त्व न दे, केवल शाश्वत भक्ति की ही कामना करता रहता है।

राग धनाश्री

[१०]

मोह-तम तरनि, हर रुद्र संकर सरन, हरन मम सोक, लोकाभिरामं।
बाल-ससि भाल, सुबिसाल लोचन-कमल, काम-सतकोटि-लावण्यधामं॥१॥
कम्बु-कुन्देन्दु-कर्पूर-विग्रह रुचिर, तरुन-रवि-कोटि तनु-तेज भ्राजै।
भस्म सर्वांग, अर्धांग सैलात्मजा, व्याल-नृकपाल-माला विराजै॥२॥
मौलि संकुल जटा-मुकुट, विद्युतछटा, तटिनि-वर-बारि हरि-चरन-पूतं।
स्रवन कुंडल, गरल कंठ, करुनाकन्द, सच्चिदानन्द, वन्देऽवधूतं॥३॥
सूल-सायक-पिनाखासि-कर सत्रु-बन-दहन इव धूमध्वज, वृषभ-जानं।
व्याघ्र-गज-चर्म-परिधान, विज्ञान-घन, सिद्ध-सुर-मुनि-मनुज-सेव्यमानं॥४॥
तांडवित-नृत्यपर, डमरु डिंडिम प्रवर, असुभ इव भाति कल्यानरासी।
महाकल्पान्त ब्रह्माण्ड-मण्डल-दवन, भवन कैलास आसीन कासी॥५॥

तज्ञ सरवज्ञ, जज्ञेस, अच्युत, विभो विस्व भवदंस-संभव पुरारी।
ब्रह्मेन्द्र, चन्द्राक वरुनाग्नि, वसु, मरुत, जल अरचि भवदंघ्रिसर्वाधिकारी।।६।।
अकल, निरुपाधि, निरगुन, निरंजन ब्रह्म, कर्म-पथमेकमज निर्विकारं।
अखिल विग्रह, उग्ररूप सिव भूपसुर, सर्वगत सव, सर्वोपकारं।।७।।
ज्ञान, वैराग्य, धन-धर्म-कैवल्य-सुख सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ भ्रमत भव विमुख तुव पाद-मूलं।।८।।
नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट-रत, खेद-गत, दासतुलसी संभु सरन आया।
देहि कामारि! श्रीरामपद-पंकजे भक्ति अनवरत गत भेद माया।।९।।

शब्दार्थ—मोहतम=मोह रूपी अन्धकार। तरनि=सूर्य। मम=मेरा। लोकाभिरामं=लोक+अभिरामं=संसार को प्रसन्नता प्रदान करने वाले। बाल-शशि =द्वितीया का चन्द्रमा। सतकोटि=सौ करोड़। लावण्य धामं=सौन्दर्य के आगार। कम्बु=शंख। कुन्देन्दु=कुन्द+इन्दु=कुन्द पुष्प तथा चंद्रमा। कर्पूर=कपूर। विग्रह=शरीर। तरुन-रवि=मध्यान्ह का सूर्य। तनु-तेज=शरीर का तेज। भ्राजं= शोभित। अर्धाङ्ग=आधे अंग में। सैलात्मजा=हिमालय की पुत्री पार्वती। व्याल= सर्प। नृकपाल=मनुष्यों के मुण्डों की माला। मौलि=मस्तक, सिर। संकुल=भरा हुआ। तटिनि=नदी। वर=श्रेष्ठ। बारि=जल। पूतं=पवित्र की हुई। स्रवन= कान। करुनाकन्द=करुणा के मूल। वन्देऽवधूतं=वन्दे+अवधूतं। वन्दे=वंदना करता हूँ। अवधूत=शिव। सूल=त्रिशूल। सायक=वाण। पिनाकासि=पिनाक+असि= पिनाक नामक शिव का धनुष और तलवार। इव=समान। धूमध्वज=धुआँ जिसकी ध्वजा है अर्थात् अग्नि। वृषभ-जानं=बैल जिसकी सवारी है। परिधान=वस्त्र। विज्ञान-घन=ज्ञान-विज्ञान के मेघ अर्थात् समूह। सेव्यमानं=सेवा करने योग्य। तांडवित=तांडव नृत्य करते हुए। डमरु=डमरू बाजा। डिंडिम=डिमडिम शब्द। प्रवर=अत्यन्त सुन्दर। भाँति=भासित। महाकल्पान्त=महाप्रलय। दवन=भस्म करने वाले। आसीन=निवास करते हैं। तज्ञ=तत्त्व के ज्ञाता। अच्युत=अनिवाशी। विभो=वैभव। भवदंस-सम्भव=तुम्हारे अंश से पैदा हुआ। पुरारी=त्रिपुरारी। ब्रह्मेन्द्र=ब्रह्मा और इन्द्र। चन्द्रार्क=चन्द्र और सूर्य। वरुनाग्नि=वरुण और अग्नि। मरुत=वायु। जम=यम। अरचि=पूजन करके। भवदंघ्रि=तुम्हारे चरण। सर्वाधिकारी=अपना-अपना अधिकार। अकल=कलारहित। निरुपाधि=उपाधि रहित। कर्म पथमेकमज=पथम्+एकम्+अज=कर्म-मार्ग में एक ही है, अजन्मा। निर्विकारं=विकार रहित, माया-मोह से शून्य। अखिल विग्रह=सारा ब्रह्माण्ड। भूपसुर=देवताओं के राजा। सर्वगत=सब में रमने वाले। कैवल्य=मोक्ष। सानुकूलं=अनुकूल होने पर। आरूढ़=सवार। पादमूलं चरणों का आश्रय। कष्ट-रत=अत्यन्त दुखी। खेदगत=निर्लज्ज। कामारि=कामदेव के शत्रु। अनवरत= सदा, शाश्वत। गत भेद माया=भेद माया से रहित।

भावार्थ—तुलसी शिव की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

हे महादेव ! हे रुद्र ! हे शंकर ! तुम मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य के समान हो। अर्थात् तुम्हारा दर्शन होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। संसार को प्रसन्नता प्रदान करने वाले हे लोककल्याणकारी शिव ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरे दुख को दूर करो। तुम्हारे मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभित है। तुम्हारे विशाल नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं, तुम सौ करोड़ कामदेवों के सम्मिलित सौन्दर्य के धाम हो। अर्थात् तुम सौ करोड़ कामदेवों के समान सुन्दर हो। (कामदेव मानव-सौन्दर्य का आदर्श माना गया है।) तुम्हारा शरीर शंख, कुन्द, चन्द्रमा और कपूर के समान सुन्दर है। अर्थात् तुम्हारा शरीर शंख के समान पवित्र, चिकना; कुन्द के पुष्प के समान नेत्रों को आनन्द देने वाला; चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाला और कपूर के समान गोरे सफेद रंग का है। तुम्हारे शरीर का तेज मध्यान्ह काल के करोड़ों प्रज्ज्वलित सूर्यों के तेज के समान सुशोभित हैं। अर्थात् तुम्हारे शरीर से करोड़ों सूर्यों का सा तेज प्रकाशित होता रहता है। तुम्हारे सारे शरीर में भस्म लगी रहती है। तुम्हारे आधे अंग में हिमालय की पुत्री पार्वती शोभा दे रही हैं और गले में सर्पों और नरमुण्डों की माला विराज रही है।

तुम्हारे सिर पर सघन जटाओं का मुकुट शोभायमान है और उस मुकुट के ऊपर बिजली के समान चमकती हुई, चंचल और पतली, नदियों में सर्वश्रेष्ठ गंगा नदी का, भगवान विष्णु के चरणों से निकलने के कारण, पवित्र जल प्रवाहित हो रहा है। तुम्हारे कानों में कुण्डल तथा कण्ठ में विष है। तुम करुणा के मूल, सत्+चित्+आनन्द स्वरूप और योगी का वेश धारण किये हुए हो। ऐसे हे शिव ! मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ। तुम्हारे हाथों में त्रिशूल, वाण, पिनाक नामक धनुष और खड्ग शोभित हैं। तुम शत्रुओं के वन को भस्म करने वाली अग्नि के समान हो। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि वन को भस्म कर देती है उसी प्रकार तुम शत्रुओं के समूह को नष्ट कर देते हो। तुम बैल (नादिया) पर सवारी करते हो। तुम बाघ और हाथी की खालों के वस्त्र धारण करते हो। तुम सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों के आगार हो। अर्थात् जिस प्रकार मेघों से जल की वर्षा होती है, उसी प्रकार तुम संसार में ज्ञान-विज्ञानों का वितरण करते हो। सारे सिद्ध, देवता, मुनि और मनुष्य तुम्हारी सेवा करते हैं।

तुम तांडव नृत्य करते हुए अपने अत्यन्त सुन्दर डमरू को 'डिमडिम' ध्वनि के साथ बजाते रहते हो। ऊपर से देखने पर तुम्हारा रूप बड़ा अशुभ प्रतीत होता है परन्तु तुम वास्तव में कल्याण के भण्डार हो। महाकल्प के अन्त होने पर अर्थात् महा-प्रलय होने पर तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और सौरमण्डल को भस्म कर देते हो। तुम्हारा भवन कैलास में है, परन्तु रहते तुम काशी में हो। हे विभो ! तुम सम्पूर्ण तत्त्वों (ज्ञानों) के ज्ञाता, सर्वत्र, यज्ञों के अधिष्ठाता अर्थात् यज्ञों में सर्वोपरि महत्त्व रखने वाले, अविनाशी हो। हे त्रिपुरारि ! यह विश्व तुम्हारे ही अंश से

उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, करुण, अग्नि, वसु, पवन और यम आदि सम्पूर्ण देवता तुम्हारे चरणों की सेवा करने के कारण ही अपने-अपने पद के प्रमुख अधिकारी बने हैं। अर्थात् तुमने ही इन सबको इनके अधिकार प्रदान किये हैं। तुम कलारहित (अर्थात् चन्द्रमा के समान कभी घटते-बढ़ते नहीं), उपाधि रहित (शुद्ध स्वरूप), निर्गुण (सत, रज, तम—तीनों गुणों से रहित), निरंजन (माया रहित), पर-ब्रह्म और कर्म मार्ग में एक हो, अर्थात् अद्वितीय हो। तुम अजन्मा (तुम्हारा कभी जन्म नहीं होता) और निर्विकार (निर्मल रूप) हो। यह सारा ब्रह्मांड तुम्हारा ही रूप है। तुम भयानक रूप वाले होते हुए भी शिव रूप अर्थात् सब का कल्याण करने वाले हो। तुम देवताओं के राजा अर्थात् देवाधिदेव महादेव हो। तुम सब में रमने वाले, सर्वान्तर्यामी (सब के मन का रहस्य जानने वाले) और सब का उपकार करने वाले हो।

हे शिव ! तुम्हारे अनुकुल होने पर अर्थात् तुम्हारी कृपा प्राप्त कर लेने पर ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म, मोक्ष का सुख-सौभाग्य और सौन्दर्य—सब कुछ अनायास ही प्रत्येक प्राणी को प्राप्त हो जाता है। यह सब जानते हुए भी मूर्ख मनुष्य तुम्हारे चरण-कमलों का आश्रय त्याग संसार के मार्ग पर भटकता फिरता है। अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण कर नाना प्रकार के मोहों में ग्रस्त हो दुख उठाता रहता है। हे शम्भु ! मैं बुद्धिहीन, अत्यन्त दुष्ट; सदैव कष्टों में डूबा रहने वाला, निर्लज्ज तुलीदास तुम्हारी शरण में आया हूँ। हे कामदेव के शत्रु ! मुझे यह वरदान दो कि मेरे हृदय में भेद-माया अर्थात् भेद-बुद्धि से मुक्त हो—सदैव श्री राम के चरण-कमलों में अटल भक्ति-भावना बनी रहे।

टिप्पणी—(१) 'हरिचरण पूतं'—कथा प्रसिद्ध है कि विष्णु ने बावन अंगुल का शरीर धारण कर राजा बलि से तीन पैर पृथ्वी का दान माँगा था और नापते समय अपने शरीर को ब्रह्माण्डव्यापी बना लिया था। उस समय ब्रह्मा ने विष्णु के उस रूप के चरण धोकर उस जल को अपने कमंडल में भर लिया था। फिर जब राजा भगीरथ ने ब्रह्मा की उपासना कर गंगा को पृथ्वी पर भेजने की प्रार्थना की थी तो ब्रह्मा ने अपने कमंडल में से विष्णु के चरणों के उसी धोवन को नीचे गिरा दिया था। वही जलधारा गंगा बन गयी थी। इसी कारण गंगा को विष्णु के चरणों के स्पर्श से पवित्र हुए जल की धारा माना जाता है।

(२) 'गरज कंठ'—शिव ने जब समुद्र मंथन से निकले विष का पान किया था तो उन्होंने उस विप को कंठ से नीचे नहीं उतरने दिया था। उस विष की ज्वाला से शिव का कंठ नीला पड़ गया था, इसीलिए शिव 'नीलकंठ' कहलाते हैं। भक्तों की व्याख्या यह है कि शिव के हृदय में राम का वास है इसलिए शिव ने उस महाभयंकर विष को अपने हृदय तक नहीं पहुँचने दिया था जिससे हृदय-स्थित राम को कष्ट न पहुँचे। इसकी आधुनिक लौकिक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि शिव महान्

योगी थे। उन्होंने योग-क्रिया द्वारा विष को कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दिया था। इसी कारण वह मृत्यु से बच गये। वह विष यदि कंठ से नीचे उतर कर रक्त में मिल जाता तो शिव का प्राणान्त हो जाता। हम धर्म-प्राण पाठकों से इस व्याख्या की सार्थकता पर गौर करने की प्रार्थना करते हैं।

(३) 'डमरु डिमडिम'—कहा जाता है कि महाप्रलय के समय शिव तांडव नृत्य करते हैं और अपना डमरू वजाते हैं। डमरू की यह ध्वनि ही नवीन सृष्टि का कारण बनती है। प्राचीन वैयाकरणों का कथन है कि जब शिव ने डमरू बजाया था उस समय उसमें से व्याकरण के 'अइउण' आदि प्रथम सूत्रों का उद्गम हुआ था और इन्हीं के आधार पर भाषा की सृष्टि और विकास हुआ था। इसी करण इन सूत्रों को 'माहेश्वर सूत्र' कहते हैं। सम्भवतः तुलसी ने इसी विश्वास के आधार पर डमरू को 'प्रवर' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर कहा है।

(४) १७वीं पंक्ति में आये 'खेदगत' शब्द का अर्थ 'निर्लज्ज' है। अर्थात् जिसे अपनी करनी पर कोई खेद अथवा ग्लानि न हो।

(५) इस पद की शैली वाण की कादम्बरी की समास-प्रधान शैली की याद दिला देती है। यदि इसमें से १७वीं पंक्ति के अन्तिम शब्द 'आया' को हटा दिया जाय तो यह पद हिन्दी का न रहकर, संस्कृत का पद बन जायेगा। शैली समास-गुम्फित, मनोरम, प्रांजल और सुष्ठु है।

(६) 'आया' शब्द खड़ीबोली का रूप है। यह प्रकट करता है कि उस समय भी कविगण कभी-कभी खड़ीबोली के क्रियापदों का व्यवहार करने के अभ्यस्त थे। खड़ीबोली की प्राचीनता का यह एक अकाट्य प्रमाण है।

(७) 'अवधूत'—परमहंस योगी को कहते हैं। शिव महायोगी माने जाते हैं, इसलिए उन्हें अवधूत कहा गया है।

(८) पार्वती शिव के अर्द्धाङ्ग में स्थित रहती हैं। इस सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि एक दिन जब शिव भोजन करने बैठे तो उन्होंने पार्वती से भी आकर भोजन करने का आग्रह किया। पार्वती ने उत्तर दिया कि मैंने अभी 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ नहीं किया है। इस पर शिव ने कहा—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥

अर्थात्—हे सुन्दरी! राम का नाम एक बार लेना विष्णु के हजार नाम के बराबर है। पार्वती शिव की आज्ञा मान राम-नाम लेकर भोजन करने आ बैठीं। शिव ने उन्हें अपने वचन पर आरूढ़ देख बड़ी प्रीति से उन्हें अपने अर्द्धाङ्ग में स्थान दिया।

भैरव रूप शिव-स्तुति

[११]

भीषनाकार भैरव भयंकर भूत-प्रेत-प्रमथाधिपति विपति-हरता।
मोह-मूषक-मार्जार, संसार-भय-हरन, तारन-तरन अभय करता ॥१॥
अतुल बल, बिपुल विस्तार, विग्रह गौर,अमल अति धवल धरनीधराभं।
सिरसि संकुलित-कल-जूट-पिंगलजटा, पटलसत कोटि विद्युच्छटाभं ॥२॥
भ्राज बिबुधापगा आप पावन परम मौलि-मालेव सोभा विचित्रं।
ललित लल्लाट पर राज रजनीसु-नल, कलाधर नौमि हर धनद-मित्रं ॥३॥
इन्दु-पावक-भानु-नयन, मर्दन-मयन, ज्ञान गुन अयन विज्ञान रूप।
रवन गिरजा भवन भूधराधिप सदा, स्रवन कुण्डल बदन छबि अनुपं ॥४॥
चर्म-असि-सूल-धर, डमरु-सर-चाप-कर, जान वृषभेस करुपा-निधानं।
जरत सुर-असुर नरलोक सोकाकुलं, मृदुलचित अजित कृत गरलपानं ॥५॥
भस्म तनु भूषनं, व्याघ्र चर्माम्बरं, उरग-नर-मौलि उर मालधारी।
डाकिनी साकिनी खेचरं भूचरं जंत्र-मंत्र-भंजन प्रबल कल्मषारी ॥६॥
काल अतिकाल कलिकाल-व्यालाद खग त्रिपुर-मर्दन-भीम कर्म भारी।
सकल लोकान्त-कल्पान्त-सूलाग्र कृत, दिग्गजाव्यक्त-गुन नृत्यकारी ॥७॥
पाप-संताप-घनघोर-संसृति दीन, भ्रमत जग-जोनि नहिं कोपि त्राता।
पाहि भैरव-रूप राम-रूपी रुद्र, बन्धु गुरु, जनक जननी विधाता ॥८॥
यस्य गुन-गन गनपति विमल मति सारदा, निगम नारद-प्रमुख ब्रह्मचारी।
केस सर्बेस आसीन आनन्दबन, दासतुलसी प्रनत त्रासहारी ॥९॥

शब्दार्थ—भीषनाकार=भीषण आकार वाले। प्रमथाधिपति=प्रमथ अर्थात् शिव के गणों के अधिपति। मूषक=चूहा। मार्जार=बिल्ली। तारन-तरन=दूसरों को तारने वालों को भी तारने वाले। करता=प्रदान करने वाले। विग्रह=शरीर। धवल=सफेद, गोरा। धरनीधराभं=धरनीधर+आभं=पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग की आभा अर्थात् कान्ति वाले, धरनीधर हिमालय की श्वेत कान्ति वाले। सिरसि=सिर पर। संकुलित=सघन। कल=सुन्दर। पिंगल जटा=पीले रंग की जटा। जूट=मुकुट या बन्धन। पलट=पंक्ति। विद्युच्छटाभं=बिजली की छटा की कान्ति। भ्राज=शोभित। बिबुधापगा=बिबुध+आपगा=देवताओं की नदी गंगा। आप=जल। मौलि=सिर। मालेव=माल+इव=माला के समान। राज=शोभित, राजति। रजनीस=चन्द्रमा। कलाधर=कला को धारण किये। नौमि=नमस्कार करता हूँ। धनद=कुबेर। रवन=रमण करने वाले। भूधराधिप=भूधर+अधिप

=पर्वतों का राजा हिमालय । चर्म=ढाल । सर=बाण । चाप=धनुष । जान=यान, सवारी । वृषभेष=नादिया । सोकाकुलं=शोक से व्याकुल । मृदुल चित=कोमल हृदय । अजित=अजेय । चर्माम्बरं=चमड़े के वस्त्र । उरग=सर्प । नत-मौलि=नरमुंड । मालधारी=माला धारण करने वाले । खेचरं=आकाशगामी, पक्षी । भूचरं=पृथ्वी पर विचरण करने वाले । जंत्र-मंत्र-भंजन=यन्त्र-मन्त्र के प्रभाव को दूर करने वाले । कलमपारी=कलमप+अरि=पाप के शत्रु । अतिकाल=काल के भी परे अर्थात् काल के भी काल । व्यालाद=सर्प को भक्षण करने वाले । खग=पक्षी, गरुड़ । भीम कर्म=भयंकर, असाध्य कर्म । लोकान्त=संसार का अन्त करने वाले । कल्पान्त=कल्प का अन्त । सूलाग्र=त्रिसूल की नोंक । दिग्गजाव्यक्त=दिग्गज+अव्यक्त=दिग्गज+दिशाओं के हाथी, अव्यक्त=अप्रकट । नृत्यकारी=नृत्य करते हो । संसृति=सृष्टि, विश्व । जग-जोनि=जगत की अनेक योनियों में । कोपि=को+अपि=कोई भी । त्राता=रक्षा करने वाला । पाहि=रक्षा करो । यस्य=जिनके । प्रमुख=आदि । सर्वेस=सर्वेश्वर, सबके स्वामी । आसीन=विराजमान । आनन्दवन=काशी । प्रनत=प्रणाम करता हूँ । त्रासहारी=भय दूर करने वाले ।

पाठान्तर—द्वितीय पंक्ति में शुक्लजी ने 'अभय' के स्थान पर 'करण' पाठ माना है ।

'व्यालाद' का एक पाठान्तर 'व्यालादि' मिलता है परन्तु 'व्यालाद' पाठ ही अधिक संगत प्रतीत होता है । 'व्यालाद' का संधि-विग्रह है—व्याल+आद अर्थात सर्पों को भक्षण करने वाला ।

भावार्थ—इस पद में तुलसी भैरव रूप शिव की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

हे भीषण आकार वाले भैरव ! तुम्हें देखकर सहज भी भय लगता है । तुम भूत-प्रेत और शिव के गुणों के स्वामी और विपत्तियों को दूर करने वाले हो । तुम मोह (अज्ञान) रूपी चूहे के लिए बिल्ली के समान भयानक शत्रु हो । अर्थात् तुम्हारे दर्शनमात्र से मोहजनित अज्ञान दूर हो जाता है । तुम संसार के भय को दूर करने वाले हो अर्थात् आवागमन के भय से मुक्त करने वाले हो । तुम दूसरों को तारने वालों को भी तारने वाले अर्थात् मुक्त रूप हो तथा सब को अभय प्रदान करने वाले हो । तुम अतुल बलशाली, विस्तृत साम्राज्य के स्वामी अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी और गौरवर्णी शरीर वाले हो । तुम्हारे शरीर की अत्यन्त निर्मल और श्वेत कान्ति बर्फ के ढके हिमालय की कान्ति के समान सुन्दर है । (वियोगी हरि ने 'धरनीधराभं' का अर्थ 'शेषनाग की कान्ति' माना है । परन्तु शेषनाग काले रंग के और श्वेत रंग के—दोनों वर्ण वाले माने गये हैं । इस दुविधा के कारण यहाँ धरनीधर का अर्थ हिमालय ही मानना अधिक संगत प्रतीत होता है । शिव का शरीर हिमाच्छादित हिमालय के ही समान विशालकाय, निर्मल और धवल कान्ति वाला है ।) तुम्हारे सिर पर सघन पीली जटाओं का सुन्दर मुकुट शोभायमान है । तुम्हारी ये पीली जटाएँ पंक्ति-

वद्ध ऐसी सुन्दर प्रतीत होती हैं—मानो करोड़ों बिजलियाँ एक ही स्थान पर चमकती हुई शोभा पा रही हों। (यहाँ पीले रंग की जटाओं की तुलना चमकती हुई बिजलियों से की गयी है।)

तुम्हारे मस्तक पर विलक्षण छटा वाली देवताओं की नदी—परम पवित्र जल वाली गंगा माला के समान शोभित है। तुम अपने सुन्दर ललाट पर सुन्दर चन्द्रमा की कला को धारण किये हुए हो। अर्थात् तुम्हारे ललाट पर एक कला से युक्त द्वितीया का चन्द्रमा शोभित रहता है। तुम कुबेर के मित्र हो। ऐसे हे शिव! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। (शिव सम्भवतः कुबेर के मित्र इसलिए माने गये हैं, क्योंकि वे अपने भक्तों को दान देते समय कुबेर के भण्डार से ही उसकी पूर्ति करते हैं।) चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य—तुम्हारे तीन नेत्र हैं। (शिव त्रिनेत्र अर्थात् तीन नेत्रों वाले माने गये हैं।) तुम कामदेव का दमन करने वाले हो तथा ज्ञान तथा गुणों के आगार अर्थात् सर्वगुण-सम्पन्न तथा विज्ञान (आत्मज्ञान) के साक्षात् स्वरूप हो। तुम पर्वत पुत्री पार्वती के साथ रमण करते हो और सदैव पर्वतों के स्वामी हिमालय (यहाँ कैलास से अभिप्राय है) पर निवास करते हो। तुम्हारे कानों में कुण्डल शोभित रहते हैं और तुम्हारे मुख की छबि अनुपम है।

तुम अपने हाथों में ढाल, तलवार, त्रिशूल, डमरू, वाण और धनुष धारण किये तथा नादिया (बैल) पर सवार हो। अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित तथा भयंकर वेश वाले होते हुए भी तुम करुणा के आगार हो। अर्थात् सब पर करुणा करते रहते हो। क्योंकि जब समुद्र-मंथन से उत्पन्न कालकूट विष की ज्वाला से सारे देवता और राक्षस जले जा रहे थे और सम्पूर्ण मनुष्य लोक अर्थात् यह पृथ्वी शोक से व्याकुल हो रही थी उस समय तुमने ही हे अजेय! कोमल चित्त हो उस विष का पान कर सब की रक्षा की थी। हे शिव! भस्म ही तुम्हारे शरीर का आभूषण है, तुम बाघ की खाल के वस्त्र धारण करते हो और हृदय पर सर्पों तथा नरमुण्डों की माला धारण करते हो। तुम डाकिनी, शाकिनी, आकाश में विचरण करने वाले तथा पृथ्वी पर घूमने वाले भयानक भूत-प्रेतों तथा यन्त्र-मन्त्रों के घातक प्रभाव को नष्ट कर देते हो। तुम बड़े प्रबल, शक्तिशाली पापों का विनाश करने वाले हो। अर्थात् तुम बड़े-बड़े पातकों को भी भस्म कर देते हो। तुम काल के लिए भी काल के समान भयानक अर्थात् महाकाल (शिव को 'महाकाल' भी कहा जाता है) तथा कलियुग रूपी सर्प को भक्षण करने वाले गरुड़ के समान हो। अर्थात् तुम्हारी कृपा से कलियुग का घातक प्रभाव नष्ट हो जाता है। त्रिपुरासुर का दमन और बड़े-बड़े भयानक, असम्भव कार्यों को भी सम्पन्न करने वाले हो। (तुम्हारे ये महाभयंकर कार्य यह हैं कि) तुम समस्त लोक का विनाश करने वाली, कल्प के अन्त में होने वाली महाप्रलय के समय दिग्गजों (दिशाओं के हाथियों) को अपने त्रिशूल की नोंक से छेदकर अव्यक्त रूप से ताण्डव नृत्य करते हो।

तुलसीदास अपने दुख और सन्ताप का उल्लेख करते हुए आगे प्रार्थना करते हैं कि मैं पाप और सन्तापों से भयानक रूप से भरे हुए इस संसार में अत्यन्त दुख उठा रहा हूँ और अनेक योनियों से भ्रमता फिरता हूँ। कोई भी इस दुख से मेरी रक्षा करने वाला नहीं है। हे भैरव रूप शिव ! हे रामरूपी रुद्र ! मेरी रक्षा करो, क्योंकि तुम ही मेरे बन्धु, गुरु, पिता, माता और विधाता हो। जिनके अगणित गुणों का निर्मल बुद्धि वाली सरस्वती, वेद और नारद आदि ब्रह्मचारी तथा शेषनाग वर्णन करते रहते हैं—ऐसे सर्वेश्वर (सबके स्वामी) आनन्दवन (काशी) में विराजमान, शरणागत के दुखों एवं भय को दूर करने वाले हे शिव ! मैं तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणी—(१) भैरव शिव के गणों के नायक तथा शिव के ही रूप माने जाते हैं। उन्हें काशी का क्षेत्रपाल अथवा कोतवाल कहा जाता है।

(२) 'भैरव रूप' और 'राम रूपी रुद्र' कहकर तुलसी ने राम और शिव की एकता का प्रतिपादन करते हुए शैवों और वैष्णवों में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। तुलसी द्वारा की गयी सम्पूर्ण शिव-स्तुति में यह तथ्य दृष्टव्य है कि तुलसी जागरूक भाव से अवसर मिलते ही राम और शिव में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं। ऐसा करके वह शैवों और वैष्णवों की पारस्परिक कटुता को बहुत कुछ दूर करने में समर्थ हुए हैं। इसी जागरूक दृष्टि के कारण ही विद्वानों ने तुलसी को एक सजग लोकदृष्टा और लोकनायक की उपाधियों से विभूषित किया है।

(३) इस पद की शैली भी संस्कृत-प्रधान समास शैली है। 'विनय-पत्रिका' में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति करते समय तुलसी ने प्रायः सर्वत्र ही इसी समास-प्रधान शैली का प्रयोग किया है। आगे चलकर हमें हनुमान और राम की स्तुति में भी इसी शैली के दर्शन मिलते हैं। यह संस्कृत-साहित्य की स्तोत्र शैली का अनुकरण-सा प्रतीत होता है।

(४) पं० रामेश्वर भट्ट द्वारा सम्पादित 'विनय-पत्रिका' में इस पद की पहली पंक्ति के प्रारम्भ में 'देव' ! शब्द आता है। जैसे—'देव ! भीषनाकर भैरव भयंकर' ....आदि। परन्तु रामचन्द्र शुक्ल तथा वियोगी हरि द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में यह शब्द नहीं मिलता। वैसे 'देव' शब्द यहाँ पूर्ण सार्थक प्रतीत होता है।

[१२]

संकरं संप्रदं सज्जनानंददं, सैल-कन्या-वरं परम रम्यं।
काम-मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं ।।१।।
कम्बु-कुन्देन्दु-कर्पूर-गौरं सिवं, सुन्दरं सच्चिदानन्द कन्दं।
सिद्ध-सनकादि-योगीन्द्र-वृन्दारका, विष्णु-विधि-बंद्य चरनारबिंदं ।।२।।

ब्रह्म-कुल-बल्लभं, सुलभमतिदुर्लभं, बिकट वेषं, विभुं वेदपारं।
नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं, निर्मलं निर्गुन, निर्विकारं ॥३॥
लोकनाथं, सोकमूल निर्मूलिनं, सूलिनं, मोह-तम-भूरि भानुं।
कालकालं, कलातीतमजरं हरं, कठिन कलिकाल कानन कृसानुं ॥४॥
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घटसंभवं, सर्वगं, सर्वसौभाग्यमूलं।
प्रचुर भव-भंजनं, प्रनत जन रंजनं, दासतुलसी सरन सानुकूलं ॥५॥

शब्दार्थ—संप्रदं=कल्याण प्रदान करने वाले (सं=कल्याण, प्रदं=प्रदान करने वाले)। सज्जनानंददं=सज्जन+आनन्ददं=सज्जनों को आनन्द देने वाले। रम्यं=सुन्दर। तामरस=कमल। वामदेवं=शंकर। भावगम्यं=भक्तिभाव से मिलने वाले। कम्बु=शंख। कुन्देन्दु=कुन्द+इन्दु=कुन्द पुष्प और चन्द्रमा। कन्दं=मूल, जड़, आधार। सनकादि=सनकसनन्दन। वृन्दारका=देवता। बन्द्य=वन्दित। ब्रह्म-कुल-वल्लभं=ब्राह्मण-कुल के प्रिय (वल्लभ=प्रिय)। सुलभमतिदुर्लभं=सुलभम्+अति+दुर्लभम्=अत्यन्त सुलभ और अत्यन्त दुर्लभ। विभुं=समर्थ, वैभव-सम्पन्न। वेदपारं=वेद भी जिनका पार नहीं पाते। नौमि=नमस्कार करता हूँ। गंगाधरं=गंगा को धारण करने वाले। सोकमूल=शोक और विघ्न। निर्मूलिन=निर्मूल अर्थात् जड़ से नष्ट कर देने वाले। सूलिनं=त्रिशूलधारी। भूरि=सघन। कलातीतमजरं=कलातीतं+अजरं=काल से परे और कभी वृद्ध न होने वाले, अमर। कानन=वन। कृसानुं=अग्नि। तज्ञमज्ञान=तज्ञम्+अज्ञान=तत्ववेत्ता, अज्ञान। पाथोधि=समुद्र। घटसंभवं=अपने पेट में पी जाने वाले अगस्त्य मुनि। सर्वगं=सर्वान्तर्यामी। भव-भजनं=संसार के दुखों का विनाश करने वाले। प्रनत=प्रणाम करता है। सानुकूलं=अनुकूल, परम कृपालु।

भावार्थ—सब का कल्याण करने वाले, सज्जनों को आनन्द प्रदान करने वाले, हिमालय की पुत्री पार्वती के पति, अत्यन्त सुन्दर, कामदेव के गर्व का नाश करने वाले, कमल जैसे सुन्दर नेत्रों वाले, जिन्हें केवल भक्ति-भाव से ही प्राप्त किया जा सकता है, ऐसे शिव का मैं भजन करता हूँ। उनका शरीर शंख के समान पवित्र और चिकना, कुन्द पुष्प के समान कोमल, चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाला और कपूर के समान गौर वर्ण है। (शंख, कुन्द, चन्द्र तथा कपूर—चारों ही सफेद रंग के होते हैं। अतः यहाँ इनसे शिव के गौर वर्ण होने का भी अभिप्राय लिया जा सकता है।) ऐसे शिव कल्याण करने वाले, सुन्दर, सत्-चित्त-आनन्द के आधार अर्थात् मूल हैं। अर्थात् शिव के रूप में सच्चिदानन्द का समष्टि रूप मिल जाता है। सिद्ध, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि ऋषि, योगियों में सर्वश्रेष्ठ (याज्ञवल्क्य आदि योगी), सारे देवता, विष्णु और ब्रह्मा उनके चरण-कमलों की वन्दना करते हैं। ऐसे

शिव ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म के ज्ञाता ब्राह्मणों (ज्ञानियों) के कुछ को प्रिय हैं, अथवा ज्ञानियों के कुल शिव को प्रिय हैं। सज्जन उन्हें सहज भी प्राप्त कर लेते हैं तथा दुर्जनों के लिए उन्हें प्राप्त करना दुर्लभ है। उनका वेश अत्यन्त भयानक है (मुण्डमाल-सर्प, गजचर्म आदि धारण किये रहते हैं) परन्तु फिर भी वे सम्पूर्ण वैभव के स्वामी हैं। उनका रहस्य इतना अगम्य है कि वेद भी उस रहस्य का पार नहीं पा सके हैं। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे करुणामय, हलाहल विष और अमृतमयी गंगा को एक साथ धारण करने वाले, निर्मल, गुणतीत (निर्गुण), निर्विकार (विकार रहित) शिव को मैं नमस्कार करता हूँ।

वे लोक की रक्षा करने वाले, शोक और विघ्न-बाधाओं को जड़ से नष्ट कर देने वाले, त्रिशूलधारी, तथा मोहरूपी भयंकर अन्धकार को दूर करने वाले, सूर्य के समान हैं। वे काल के भी काल (अर्थात् सब का विनाश करने वाले, काल का भी विनाश करने वाले), काल से परे (सदा एकरस रहने वाले) कभी वृद्ध न होने वाले अर्थात् अजर संहारकर्त्ता, भयानक कलियुग रूपी वन को भस्म कर देने वाली भयानक दावाग्नि के समान हैं। तत्त्वज्ञानी (ईश्वर को जानने वाले), अज्ञान रूपी समुद्र को अगस्त्य मुनि के समान उदरस्थ कर लेने वाले अर्थात् सम्पूर्ण अज्ञान को नष्ट कर देने वाले, सर्वान्तिर्यामी, सारे सौभाग्य के मूलाधार, इस विशाल संसार के जन्म-मरण रूपी दुखों का विनाश करने वाले, भक्तजनों को प्रसन्न करने वाले, परम कृपालु शिव की शरण में यह दास तुलसीदास आया है।

टिप्पणी—(१) 'पाथोधि-घट-सम्भव'—द्वारा तुलसी ने उस पौराणिक कथा की ओर संकेत किया है, जो इस प्रकार है :—

समुद्र तट पर एक टिटहरी रहती थी और वहीं अण्डे दिया करती थी। परन्तु समुद्र उसके अण्डों को बहा ले जाया करता था। अत्यन्त दुखी होकर टिटहरी ने अगस्त्य मुनि से समुद्र की शिकायत की। अगस्त्य समुद्र का यह अन्याय देखकर क्रुद्ध हो उठे और सारे समुद्र को पी गये। समुद्र के सूख जाने से देवता बड़े व्याकुल हुए और उन्होंने अगस्त्य से समुद्र को मुक्त कर देने की प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना से द्रवित हो अगस्त्य ने मूत्र रूप में समुद्र को बाहर निकाल दिया। लोक-विश्वास है कि समुद्र का जल तभी से खारी हो गया है।

(२) इस पद में, भैरव रूप शिव का वर्णन करते समय कवि ने पद संख्या १० में शिव की स्तुति करते समय जिन अनेक लक्षणों का वर्णन किया है, वह यथावत् रख दिया है। 'कम्बु, कुन्देन्दु, कर्पूर', 'शैलात्मजा', 'गरल', आदि अनेक शब्द यथावत् प्रस्तुत पद में भी आ गये हैं। इस प्रकार 'शिव स्तुति' और 'भैरव रूप शिव स्तुति' में हमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। समष्टि रूप से 'शिव' तथा 'भैरव रूप शिव' में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

राग वसन्त

[१३]

सेवहु सिव - चरन - सरोज - रेनु। कल्याण-अखिल पद कामधेनु ॥१॥
कर्पूर गौर, करुना - उदार। संसार - सार, भुजगेन्द्र हार ॥२॥
सुख-जन्म-भूमि, महिमा अपार। निर्गुन, गुननायक, निराकार ॥३॥
त्रय नयन, मयन-मर्दन महेस। अहंकार-निहार उदित दिनेस ॥४॥
वर बाल-निसाकर मौलि भ्राज। त्रैलोक-सोकहर, प्रमथराज ॥५॥
जिन्ह कहँ बिधि सुगति न लिखी भाल। तिन्हकी गति कासीपति कृपाल ॥६॥
उपकारी कोऽपर हर समान। सुर असुर-जरत कृत गरल-पान ॥७॥
बहु कल्प उपायन करि अनेक। बिनु संभु-कृपा नहिं भव-विवेक ॥८॥
विज्ञान - भवन गिरिसुता - रवन। कह तुलसिदास मम-त्रास-समन ॥९॥

शब्दार्थ—रेनु=धूल। अखिल=सब। प्रद=देने वाली। भुजगेन्द्र=सर्पराज वासुकि। सुख जन्म-भूमि=सुख की जन्मभूमि अर्थात् आदि स्थान। त्रय=तीन। मयन=कामदेव। निहार=कोहरा। उदित=उदय हुए। दिनेस=सूर्य। मौलि=सिर। प्रमथराज=गणों के स्वामी। जिन्ह कहँ=जिनके लिए। सुगति=मुक्ति। कोऽपर=को+अपर=दूसरा कौन है। उपायन=उपाय। भव-विवेक=संसार का ज्ञान। गिरिसुता-रवन=हिमालय-पुत्री पार्वती के साथ रमण करने वाले। समन=शमन, विनाश।

भावार्थ—तुलसीदास कहते हैं कि शिव के चरणों की धूल का सेवन करो, क्योंकि यह धूल कामधेनु के समान सम्पूर्ण कल्याण करने वाली है। शिव कपूर के समान गौरवर्ण हैं, अत्यन्त उदार भाव से सब ओर समान रूप से करुणा करने वाले हैं। वे संसार के सार अर्थात् संसार में सर्वश्रेष्ठ और सर्पराज वासुकि को अपने गले में माला के रूप में धारण करते हैं। वे सुख के आदि स्थान अर्थात् सम्पूर्ण सुखों के भण्डार हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है। वे निर्गुण (सत्, रज, तम गुणों से रहित), गुणों के नायक अर्थात् स्वामी और निराकार (पंच भौतिक माया से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप) हैं। ऐसे तीन नेत्रों वाले, कामदेव का दमन करने वाले महेश अहंकार रूपी कोहरे का विनाश करने वाले उदय हुए सूर्य के समान हैं। अर्थात् शिव के दर्शन कर सारा अहंकार नष्ट हो जाता है। उनके मस्तक पर सुन्दर बाल चन्द्रमा (द्वितीया का चन्द्रमा) शोभित है। वे तीनों लोकों के शोक को दूर करने वाले और गणों के स्वामी हैं।

जिनके भाग्य में ब्रह्मा ने मुक्ति नहीं लिखी है, उन्हें काशीपति, कृपालु शिव मुक्ति प्रदान करते हैं। अर्थात् शिव में भाग्य-लिपि को भी मिटा देने की सामर्थ्य है।

इस विश्व में शिव के समान दूसरों का उपकार करने वाला और दूसरा कौन है। अर्थात् कोई भी नहीं है। जब देवता और राक्षस समुद्र-मंथन से निकले हलाहल काल-कूट विष की भयंकर ज्वाला में जल रहे थे, उस समय शिव ने ही उस विष का पान कर सबकी रक्षा की थी। कोई व्यक्ति अनेक कल्पों तक भले ही अनेक प्रकार के प्रयत्न करे, परन्तु बिना शिव की कृपा के इस संसार के स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अर्थात् बिना शिव की कृपा के इस मायात्मक संसार का सत्-असत् अर्थात् यह झूठा है अथवा सच्चा, यह ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

तुलसीदास कहते हैं कि सारे ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के आगार, हिमालय-कन्या पार्वती के साथ रमण करने वाले शिव मेरे भय को दूर करने वाले हैं।

[१४]

देखो देखो, बन बन्यो आज उमाकंत। मानों देखन तुमहिं आई रितु बसंत ॥१॥
जनु तनुदुति चंपक कुसुम-माल। बर बसन नील नूतन तमाल ॥२॥
कल कदलि-जंघ, पद कमल लाल। सूचत कटि-केसरी, गति-मराल ॥३॥
भूषन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव विहंग ॥४॥
कर नवल बकुल, पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लता-जाल ॥५॥
आनन सरोज, कच मधुप गुञ्ज। लोचन बिसाल नव नील कंज ॥६॥
पिक वचन चरित वर बरहि कीर। सित सुमन हास, लीला समीर। ७॥
कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रच पंचबान ॥८॥
करि कृपा हरिय भ्रम फंद काय। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम ॥९॥

शब्दार्थ—उमाकांत=शिव। तनुदुति=शरीर की कान्ति। चंपक=चम्पा का पुष्प। बर=सुन्दर। बसन=वस्त्र। नूतन तमाल=तमाल वृक्ष के नये पत्ते। कदलि=केला। सूचत=सुचना देते हैं। बकुल=मौलसिरी। श्रीफल=बेल के फल। कंचुकि=चोली। सरोज=कमल। कच=बाल, केश। गुञ्ज=गुंजार करते हुए। कंज=कमल। पिक=कोयल। चरित वर=सुन्दर चरित्र। बरहि=मोर। कीर=तोता। सित=सफेद। लीला=क्रीड़ा। पंचबान=कामदेव। भ्रमफंद=भ्रम का फन्दा।

भावार्थ—तुलसीदास शिव-पार्वती के संयुक्त रूप की वन्दना करते हुए कह रहे हैं—

हे शिव! देखो! देखो! आज तुम स्वयं बन बन गये हो। अर्थात् आज तुमने स्वयं बन का रूप धारण कर लिया है। तुम्हारे अर्द्धाङ्ग में जो पार्वती विराजमान हैं वे ऐसी प्रतीत हो रही है मानो वसन्त ऋतु पार्वती का रूप धारण कर स्वयं तुम्हें देखने आयी है। मानो पार्वती के शरीर की कान्ति चम्पा के फूलों की माला है

और उनके सुन्दर नीले वस्त्र मानो तमाल के नये, कोमल पत्ते हैं। (तमाल के पत्ते गहरे नीले, कुछ कालापन लिये हुए रंग के होते हैं।) उनकी जंघाएँ मानो केले के वृक्ष और चरण लाल कमल हैं। उनकी कटि सिंह की तथा मन्द गति हंस की सूचना देती है। अर्थात् उनकी कटि ही वन में भ्रमण करने वाले सिंह और उनकी गति ही मान मन्द गति से चलने वाले हंस हैं। उन्होंने जो आभूषण धारण कर रखे हैं वे ही मानो वन में खिले हुए विभिन्न रंगों वाले असंख्य फूल हैं। उनकी किंकणी और नूपुरों की ध्वनि ही मानो पक्षियों का मधुर कलरव गान है। उनके हाथ मानो मौलसिरी के नवीन वृक्ष और हथेलियाँ आम के पत्तों के समान हैं। उनके कुच ही मानो बेल के फल हैं और चोली चारों ओर छाया हुआ लताओं का जाल है।

उनका मुख कमल और बाल गुंजार करते हुए भौरों का समूह है। उनके विशाल नीले नेत्र ही मानो नये खिले हुए नीले कमल हैं। उनकी मधुर वाणी ही मानो कोयल है और सुन्दर चरित्र मोर और तोते हैं। उनका हास्य मानो सफेद रंग के खिले पुष्प हैं तथा उनकी क्रीड़ाएँ शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन है। तुलसीदास कहते हैं कि हे परम चतुर शिव ! सुनो ! कामदेव मेरे हृदय में बस कर बड़ा ऊधम मचाता है। भाव यह है कि वसन्त ऋतु में काम बहुत सताता है। इसलिए तुम कृपा करके मुझे कामदेव के इस भ्रम के फन्दे से बचाओ जिससे सुख की राशि राम मेरे हृदय में वास करें। अर्थात् मेरे हृदय से काम-भावना को दूर कर दो जिससे मैं निष्कंटक होकर पूर्ण मनोयोगपूर्वक राम का ध्यान करता रहूँ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उत्प्रेक्षा और सांगरूपक। 'मानो' से उत्प्रेक्षा है तथा पार्वती के शरीर पर वसन्त का रूपक घटाया गया है, इसलिए सांगरूपक है।

(२) इस पद में वन के माध्यम से शिव के अर्द्ध-नारीश्वर रूप की वन्दना की गयी है।

(३) इसमें कवि ने पार्वती का नख-शिख-वर्णन किया है जिसमें मर्यादा का पूर्ण पालन हुआ है। कालीदास ने 'कुमार सम्भव' में पार्वती का नख-शिख-वर्णन किया था परन्तु कहा जाता है कि उसमें अश्लीलता का समावेश हो जाने के कारण कालिदास को कुष्ठ रोग हो गया था।

(४) तुलसी ने इस पद में पार्वती के विभिन्न अंगों, वस्त्राभूषणों, बोली, हास्य आदि द्वारा वसन्त में खिले हुए वन का सांगोपांग रूप प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में है यह पार्वती का नख-शिख वर्णन ही।

(५) 'पिक बचन' में अमूर्त्त की मूर्त्त से उपमा दी गयी है।

(६) इस पद में तुलसी ने नख-शिख-वर्णन की एक नवीन और अनूठी पद्धति अपनायी है। सम्भवतः वह माता पार्वती का प्रत्यक्ष नख-शिख वर्णन करने में मर्यादा की अवहेलना समझते थे, इसलिए उन्होंने इस अनूठे रूपक द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उनके नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन किया है। साधारणतः प्रकृति के विभिन्न उपकरणों

द्वारा नख-शिख-वर्णन किया जाता रहा है परन्तु यहाँ स्त्री के विभिन्न अंगों द्वारा प्रकृति के विभिन्न उपकरणो को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ वसन्त ऋतु पार्वती की प्रतीक न होकर पार्वती ही वसन्त ऋतु की प्रतीक है। यह अन्तर ध्यान रखने योग्य है।

(७) साहित्य में 'हास्य' रस का रंग श्वेत माना गया है। इसी कारण तुलसी ने हास्य की उपमा श्वेत पुष्पों से दी है।

देवी-स्तुति

राग मारू

[१५]

दुसह दोष-दुख दलनि, करु देवि दाया।

बिस्व-मूलाऽसि जनसानुकूलासि, कर सूलधारिनि महामूलमाया ।।१।।
तड़ित गर्भाङ्ग सर्वाङ्ग सुन्दर लसत, दिव्य पट भव्य भूषन बिराजैं।
बालमृग मंजु खंजन बिलोचनि, चन्द्रबदनि, लखि कोटि रति मार लाजैं ।।२।।
रूप-सुख-सील-सीमाऽसि, भीमाऽसि रामाऽसि वामाऽसि वर बुद्धिबानी।
छमुख-हेरम्ब-अंबासि, जगदम्बिके, संभु-जायासि जै जै भवानी ।।३।।
चंड-भुजदंड-खंडनि, बिहंडनि महिष, मुंड-मद-भंग-कर अंग तोरे।
सुंभ निःसुंभ कुम्भीस रन केसरिनि, क्रोध-बारिधि अरि वृन्द बोरे ।।४।।
निगम आगम-अगम गुर्वितव गुन कथन, उर्विधर करत जेहि सहस जीहा।
देहि मा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम घनस्याम तुलसी पपीहा ।।५।।

शब्दार्थ—दलनि=दमन करने वाली। दाया=दया। मूलाऽसि=मूला+असि=मूल हो, जड़ हो। जनसानुकूलासि=जन+सानुकुल+असि=भक्तों के अनुकूल हो। सूलधारिनि=त्रिशूल धारण करने वाली। महामूलमाला=माया को उत्पन्न करने वाली। तड़ित=बिजली। गर्भाङ्ग=प्रत्येक अङ्ग में। लसत=शोभित। बाल मृग=मृग शावक, हिरण का बच्चा। रति=कामदेव की स्त्री, स्त्री-सौन्दर्य की प्रतीक। मार=कामदेव। लाज=लज्जित होती है। सीमाऽसि=सीमा+असि=सीमा हो। भीमाऽसि=भीम+असि=भयंकर रूप हो। रामाऽसि=रामा+असि=लक्ष्मी हो। वामाऽसि=वामा+असि=पार्वती हो। छमुख=षडानन, छः मुख वाले स्वामी कार्त्तिकेय। हेरम्ब=गणेश। अंबासि=माता हो। जायासि=पत्नी हो। चंड=एक राक्षस का नाम। बिहंडनि=नाश करने वाली। महिष=महिषासुर। मुंड=एक राक्षस। सुभ निःसुंभ=दो राक्षसों के नाम। कुम्भीस=हाथी। केसरिनि=सिंहिनी। क्रोध-बारिधि=क्रोध के समुद्र में। अरि-वृन्द=शत्रुओं के

समूह । वोरे=डुवाये । निगम=वेद । आगम=शास्त्र । गुर्वि=बड़ा भारी । उर्विधर=पृथ्वी को धारण करने वाले शेपनाग । जीहा=जीभ । पन=प्रण ।

पाठान्तर—द्वितीय पंक्ति में 'कर' के स्थान पर आचार्य शुक्ल ने 'शर' पाठ माना है ।

भावार्थ—तुलसीदास देवी की स्तुति कर रहे हैं :—

हे देवी ! तुम असह्य (भयंकर) दोषों (पापों) और दुःखों का विनाश करने वाली हो । मेरे ऊपर दया करो । तुम इस विश्व की मूल अर्थात् उत्पन्न करने वाली, अपने भक्तों के सदैव अनुकूल वनी रहने वाली, हाथ में त्रिशूल धारण करने वाली और माया का प्रधान कारण अर्थात् माया को उत्पन्न करने वाली हो । अर्थात् 'पराप्रकृति' हो । तुम्हारे अंग-अंग में बिजली सी भरी हुई है । तुम्हारे सारे अंग सुन्दर दिखाई देते हैं । तुम्हारा वस्त्र दिव्य है अर्थात् वह कभी मलिन और जीर्ण नहीं होता । तुम परम सुन्दर आभूपण धारण किये हुए हो । तुम्हारे नेत्र मृगशावक और खंजन के नेत्रों के समान सुन्दर, विशाल और चंचल हैं । तुम चन्द्रमुखी हो । तुम्हारे रूप को देखकर करोड़ों कामदेव और रतियाँ भी लज्जा से भर उठती हैं । अर्थात् तुम्हारा रूप करोड़ों कामदेव और रतियों (कामदेव की स्त्री) के रूप से भी श्रेष्ठ है । तुम रूप, सुख और शील की सीमा अर्थात् मर्यादा हो । अर्थात् ये गुण तुमसे अधिक अन्य किसी में भी नहीं हैं । तुम (दुष्टों के लिए) भयंकर रूप वाली हो । तुम्हीं लक्ष्मी और पार्वती और सुन्दर बुद्धिवाली सरस्वती हो । तुम षडानन स्वामी कात्तिकेय और गणेश की जननी हो । हे जगज्जननी ! हे शिव की अर्द्धाङ्गिनी ! हे भवानी ! तुम्हारी जय हो ! जय हो ! तुम चण्ड राक्षस के भुजदण्डों को खण्डन करने वाली, महिपासुर का नाश करने वाली हो । तुमने ही मुण्ड दैत्य के गर्व को भंग कर उसके सम्पूर्ण अङ्गों को तोड़ डाला था ।

तुमने शुम्भ और निःशुम्भ नामक राक्षसों का उसी प्रकार मर्दन किया था जिस प्रकार सिंहनी गजराज का विनाश कर डालती है । तुमने अपने क्रोध रूपी समुद्र में शत्रुओं के झुण्ड के झुण्ड डुबों दिये । अर्थात् तुमने क्रुद्ध होकर शत्रुओं के समूहों का विनाश कर डाला । देव और शास्त्रों को भी तुम्हारे गुणों का वर्णन करना अगम्य और भारी पड़ जाता है । सहस्र जीभ वाले शेपनाग भी अपनी सहस्र जीभों द्वारा तुम्हारे गुणों का वर्णन नहीं कर पाते । अर्थात् तुम्हारे गुण इतने अगम्य, विशाल और वहुसंख्यक है कि वेद, शास्त्र और शेषनाग भी उनका वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं । ऐसी हे माता ! मुझ तुलसीदास को यह वर दो कि मेरा प्रण, प्रेम और नेम घनश्याम के समान सुन्दर श्री रामचन्द्र में सदैव उसी प्रकार अनुरक्त रहे जिस प्रकार चातक का घनश्याम के प्रति दहता है । अर्थात् प्राण भले ही चले जायँ पर मेरे राम के प्रति प्रेम के नेम का प्रण न छूटे ।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने देवी के विशाल, सुन्दर, जगज्जननी

के रूप का वर्णन करते हुए देवी के भयंकर अर्थात् दुष्टों का दमन करने वाले रूप को ही प्रमुखता दी है। इसलिए इसमें वीर रस का सजीव चित्र-सा अंकित हो गया है। इसका राग 'मारू' है जो युद्ध का राग होता है।

(१) देवी ने—यहाँ देवी के दुर्गा रूप की झलक मिलती है—शुम्भ, निःशुम्भ, मुंड, चण्ड, महिषासुर आदि दुर्दमनीय, लोक को सताने वाले राक्षसों एवं दैत्यों का विनाश किया था। 'देवी भागवत पुराण' में इन सबका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

(३) यहाँ यह बात पुनः द्रष्टव्य है कि तुलसी देवी से भी राम-नाम के प्रति अनन्य एकनिष्ठ भक्ति का वरदान देने की प्रार्थना कर रहे हैं।

(४) शैली संस्कृत-गर्भित और समास-प्रधान है।

राग रामकली

[१६]

जय-जय जगजननि देबि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
भक्ति-मुक्ति-दायिनी, भय-हरनि, कालिका।
मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि पर्वसर्वरीस बदनि,
ताप-तिमिर तरुन-तरनि-किरनमालिका ॥१॥

वर्म-चर्म कर कृपान, सूलसेल धनुषबान,
धरनि, दलनि दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना पिसाच प्रेत डाकिनि साकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका ॥२॥

जय महेस-भामिनी, अनेक रूप नामिनी,
समस्त लोक स्वामिनी, हिमसैल-बालिका।
रघुपति-पद-परम प्रेम, तुलसी यह अचल नेम,
देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत-पालिका ॥३॥

शब्दार्थ—सेवि=सेवित। कालिका=काली। मुद=प्रसन्नता, मोद। सदनि =आगार, घर, भण्डार। पर्वसर्वरीस=पर्व+सर्वरी+ईस=पूर्णिमा की रात्रि का स्वामी चन्द्रमा। बदनि=मुखवाली। तरनि=सूर्य। वर्म=कवच। चर्म=ढाल। सूल सेल=त्रिसूल और भाला। रन-करालिका=युद्ध-क्षेत्र में भयानक रूप धारण करने वाली। मृगालि=मृग+अलि=मृगों की पंक्ति। जालिका=जाल। भामिनी= पत्नी। नामिनी=नाम वाली। पाहि=रक्षा करो। प्रनत-पालिका=भक्तों का पालन करने वाली।

भावार्थ—तुलसीदास देवी के काली रूप की वन्दना करते हुए कह रहे हैं :

हे जगज्जननी ! हे देवी ! तुम्हारी जय हो, जय हो। सारे देवता, मनुष्य, मुनि और राक्षस तुम्हारी सेवा करते हैं। हे काली ! तुम भक्ति और मुक्ति देने वाली तथा सब का भय दूर करने वाली हो। तुम कल्याण, आनन्द और सिद्धियों का भण्डार अर्थात् देने वाली हो। तुम्हारा मुख पूर्णिमा की रात्रि के पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर है। तुम ताप (कायिक, वाचक, मानसिक) रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए मध्यान्ह के सूर्य की प्रखर किरणों के समूह के समान हो। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की किरणें अन्धकार का नाश कर देती हैं उसी प्रकार तुम भक्तों के सारे दुखों को दूर कर देती हो। तुम अपने शरीर पर कवच तथा हाथों में ढाल, तलवार, त्रिशूल, भाला और धनुष-वाण धारण किये हुए हो। तुम राक्षसों के समूहों का दलन करने वाली और रण-क्षेत्र में भयानक, संहारक रूप धारण कर लेने लाली हो। पूतना, पिशाच, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि सहित भूत, कुग्रह और वैताल रूपी पक्षियों और मृगों की पंक्तियों को पकड़ने के लिए जाल के समान हो। अर्थात् ये सब तुम्हारे वश में रहते हैं।

हे शिव-पत्नी ! अनेक रूप और नामों वाली, समस्त लोकों की स्वामिनी, हिमालय की कन्या पार्वती तुम्हारी जय हो। हे भक्तों का पालन करने वाली देवी ! मैं, तुलसीदास, तुमसे यह वर माँगता हूँ कि राम के चरणों में मेरा अटल प्रेम बना रहे। प्रसन्न हो मुझे यह वरदान देकर मेरी रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) 'पर्वसर्वरीस वदनि'—यहाँ कवि ने विरोधी उपमा देकर साहित्यिक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। देवी यद्यपि चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख-वाली है परन्तु त्रिताप (कायिक, वाचिक, मानसिक) रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए मध्यान्ह के प्रखर सूर्य का रूप धारण कर लेती है।

गंगा-स्तुति

राग रामकली

[१७]

जै-जै भगीरथ-नन्दिनि, मुनि-चय-छकोर-चन्दिनि,
नर-नाग-विबुध-बन्दिनी, जय जन्हु-बालिका।
विष्णु-पद-सरोजासि, ईस-सीस पर बिभासि,
त्रिपथगासि, पुन्यरासि, पाप-छालिका ॥१॥

विमल बिपुल बहसि बारि, सीतल त्रयताप-हारि,
भवँर वर बिभंगतर तरंग-मालिका।
पुरजन पूजोपहार, सोभित ससि धवलधार,
भंजन भव-भार, भक्ति-कल्पथालिका ॥२॥

निज तटवासी बिहंग, जल-थल-चर पसु पतंग,
कीट, जटिल तापस सब सरिस पालिका।
तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुबंस बीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका ॥३॥

शब्दार्थ—चय=समूह। चन्दिनि=चाँदनी। विबुध=देवता। जन्हु=एक ऋषि का नाम। सरोजजासि=सरोज+जा+असि=चरण कमलों से उत्पन्न हो। ईस=महादेव। विभासि=शोभायमान। त्रिपथगासि=त्रिपथगा+असि=तीन मार्गों से जाने वाली हो। छालिका=धोने वाली, प्रक्षालन करने वाली। बहसि=वहन करने वाली, धारण करने वाली अथवा बहने वाली। त्रयताप हारि=तीन तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक—को दूर करने वाली। वर=सुन्दर। बिभगतर=अत्यन्त चंचल। पुरजन—नगरवासी। पूजोपहार=पूजा के उपहार। धवलधार=सफेद धारा। भंजन=दूर करने वाली। कल्पथालिका=कल्पवृक्ष का थाल्हा, थाँवला, वृक्ष की जड़ के चारों ओर चढ़ी मिट्टी का चबूतरा। जटिल=जटाधारी। तापस=तपस्वी। सरिस=समान भाव से। रघुवंस बीर=राम। मोह महिष कालिका=मोह रूपी महिषासुर के लिए कालिका के समान।

भावार्थ—तुलसीदास गंगा की स्तुति कर रहे हैं—

हे भगीरथ की दुलारी पुत्री! तुम्हारी जय हो! जय हो! तुम मुनियों के समूह के लिए उसी प्रकार आनन्द देने वाली हो जिस प्रकार चाँदनी चकोरों को आनन्द देती है। अर्थात् मुनिगण तुम्हारे दर्शन कर आनन्द से खिल उठते हैं। मनुष्य, नाग, देवता—सभी तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे जनु ऋषि की पुत्री! तुम्हारी जय हो! तुम विष्णु के चरण-कमलों से उत्पन्न हुई हो, शिव के शीश पर शोभायमान हो, तीन मार्गों—स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल—से प्रवाहित होती हो। तुम पुण्य की राशि और पापों को धोकर दूर कर देती हो। तुम निर्मल, अगाध जल को धारण करती हो अर्थात् तुम्हारी धारा में निर्मल, अगाध जल प्रवाहित होता रहता है। यह जल शीतल और तीनों प्रकार के तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक—को हरने वाला अर्थात् दूर करने वाला है। तुम सुन्दर भँवर और अत्यन्त चंचल लहरों की माला धारण किये रहती हो। तुम्हारे तट पर बसे नगरों के निवासियों द्वारा तुम्हारी पूजा की सामग्री—चन्दन, फूल, दूध आदि—से तुम्हारी चन्द्रमा के समान श्वेत धारा शोभायमान रहती है। अर्थात् पूजा में चढ़ाये गये फूल तुम्हारी धारा में बहते हुए उसे अनुपम सौन्दर्य प्रदान करते हैं। तुम संसार के भार (आवागमन आदि) को नाश करने वाली हो। अर्थात् तुम्हारे जल का स्पर्श कर जीव जन्म-मरण के बन्धन से छूट

मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। तुम भक्ति रूपी कल्पवृक्ष के थाँवले के समान हो। अर्थात् तुम्हारे स्पर्श से भक्तों के मन में रामभक्ति अटल रहती है।

तुम अपने तट पर निवास करने वाले पक्षियों, जलचरों, थलचरों, पशु-पतिंगों, कीड़ों, जटाधारी तपस्वियों आदि सभी का समान भाव से पालन करती हो। अर्थात् सब को मुक्ति प्रदान कर देती हो। हे मोह रूपी महिषासुर के लिए कालिका के समान गंगा! तुम मुझ तुलसीदास को ऐसी सद्बुद्धि दो कि मैं तुम्हारे तट पर रघुवंश में वीर-शिरोमणि श्रीराम का स्मरण करता हुआ विचरण करता रहूँ।

टिप्पणी—(१) गंगा को 'भगीरथ नन्दिनी' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में पौराणिक कथा है कि सूर्यवंशी राजा सगर के साठ हजार पुत्र थे। उन्होंने अश्वमेघ-यज्ञ किया। मायावी इन्द्र अश्वमेघ-यज्ञ के घोड़े को चुरा कर कपिल ऋषि के आश्रम में बाँध आया। सगर के पुत्र घोड़े को खोजते हुए वहाँ जा पहुँच और घोड़े को वहाँ देख तथा कपिल ऋषि को आँख मूँदे समाधि लीन देख उन्होंने समझा कि यही घोड़े को चुरा लाये हैं और अब समाधिलीन होने का ढोंग रच रहे हैं। इस पर उन्होंने ऋषि को गालियाँ दीं। ऋषि ने उन सबको योगबल से जलाकर भस्म कर डाला। उन लोगों के उद्धार के लिए उनके पौत्र महाराज भगीरथ उग्र तपस्या कर, शिव से वरदान माँग गंगा को पृथ्वी पर लाये। अतः गंगा भगीरथ की पुत्री कहलायीं और उनका नाम 'भागीरथी' पड़ा।

(२) 'जन्हु बालिका'—गंगा को 'जान्हवी' अर्थात् जन्हु की पुत्री भी कहा जाता है। इसकी कथा इस प्रकार है कि जब भगीरथ गंगा को पृथ्वी पर ला रहे थे तो मार्ग में जन्हु ऋषि का आश्रम पड़ा। जब गंगा का जल आश्रम में भर गया तो ऋषि क्रुद्ध होकर गंगा को पी गये। परन्तु जब भगीरथ ने बहुत अनुनय-विनय की तो ऋषि ने गंगा को अपनी जाँघ से पुनः प्रकट कर दिया। इसी कारण गंगा का एक नाम 'जान्हवी' पड़ गया।

(३) 'विष्णु पद सरोजजासि'—इस सम्बन्ध में पद-संख्या १० की टिप्पणी संख्या (१) द्रष्टव्य है।

[१८]

जयति जय सुरसरी जगदखिल-पावनी।
विष्णु-पदकंज मकरंद इव अम्बुबर बहसि, दुख दहसि अघबृन्द-बिन्द्राविनी॥१॥
मिलित जलपात्र-अज जुक्त-हरिचरनरज, विरजबरबारित्रिपुरारिसिरधामिनी।
जन्हु-कन्या धन्य, पुन्यकृत सगर-सुत, भूधरद्रोनि-विद्दरनि बहुनामिनी॥२॥
जच्छ गंधर्व किन्नरोरग दनुज, मनुज मज्जहिं सुकृतपुञ्ज जुत-कामिनी।
स्वर्ग-सोपान, विज्ञान-ज्ञानप्रदे, मोह-मद-मदन-पाथोज-हिम जामिनी॥३॥

हरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर, मध्य धारा बिसद, बिस्व-अभिरामिनी।
नील परजंक कृत सयन सर्पेस जनु, सहस सीसावली स्रोत सुर स्वामिनी ।।४।।
अमित महिमा, अमित रूप, भूपावली-मुकुटमनि-बन्द्य त्रैलोक-पथगामिनी।
देहि रघुबीर-पद-प्रीति निरभर मातु, दासतुलसी त्रासहरनि भवभामिनी।।५।।

शब्दार्थ—सुरसरी=देवताओं की नदी। जगदखिल=जगत्+अखिल= समस्त जगत्। पावनी=पवित्र करने वाली। पदकंज=चरण कमल। मकरन्द= पराग, धूल। इव=समान। अम्बुवर=श्रेष्ठ जल। वहसि=धारण करने वाली। अघवृन्द=पापों का समूह। बिद्राविनी=भगाने वाली। मिलित=मिली हुई। जल-पात्र=कमण्डल। अज=ब्रह्मा। जुक्त=युक्त, सहित। विरज=निर्मल। वरबारि= सुन्दर जल। धामिनी=रहने वाली। पुन्यकृत=पुण्यात्मा बना दिया। द्रोनि=घाटी। विद्दरनि=विदीर्ण या भंग करने वाली। बहुनामिनी=अनेक नामों वाली। जच्छ= यक्ष। किन्नरोरग=किन्नर+उरग=किन्नर और नाग। मज्जहिं=स्नान करते हैं। जुत=युक्त, सहित। कामिनी=स्त्री। सोपान=नसैनी, सीढ़ी। प्रदे=प्रदान करने वाली। पाथोज=कमल। हिम जामिनी=शिशिर ऋतु की रात्रि। गम्भीर=सघन। वानीर=वेंत। अभिरामिनी=प्रसन्न करने वाली। परजंक=पर्यक, पलंग। सयन= सो रहे हैं। सर्पेस=शेषनाग। सीसावली=शीशों की पंक्ति (शेषनाग के)। स्रोत= सोते, झरने। सुर स्वामिनी=देवताओं की स्वामिनी। भूपावली=राजाओं का समूह। बन्द्य (पाठान्तर 'वन्दिते')=वन्दनीय। निरभर=पूर्ण। भव=शिव।

भावार्थ—हे देव नदी! हे अखिल संसार को पवित्र करने वाली गंगे! तुम्हारी जय हो! तुम विष्णु के चरण कमलों के पराग के समान सुन्दर, पवित्र जल को धारण करने वाली, दुखों को भस्म करने वाली और पापों के समूहों को दूर भगाने वाली हो। ब्रह्मा के कमण्डल में से भगवान विष्णु के चरणों की रज के साथ मिश्रित पवित्र जल तुम्हारी धारा में बहता रहता है। (ब्रह्मा ने विष्णु के चरणों को धोकर वह जल अपने कमण्डल में भर लिया था और फिर उसी जल से गंगा की उत्पत्ति हुई थी।) तुम्हारा वही निर्मल, पवित्र जल त्रिपुरारि शिव के मस्तक पर प्रवाहित होता रहता है। हे जाह्नवी! तुम धन्य हो। तुमने राजा सगर के पुत्रों का उद्धार कर उन्हें पुण्यलोक अर्थात् स्वर्ग प्रदान किया था। तुमने पर्वतों की घाटियों को तोड़कर अपना मार्ग बनाया है। तुम्हारे अनेक नाम हैं। अनेक यक्ष, गंधर्व, मुनि, किन्नर, नाग, दैत्य और मनुष्य अपनी पत्नियों सहित तुम्हारे पवित्र जल में स्नान कर अनन्त पुण्यों के अधिकारी और भोक्ता बन जाते हैं। तुम स्वर्ग की नसैनी अर्थात् स्वर्ग पहुँचाने वाली और ज्ञान और विज्ञान (आत्मज्ञान) को देने वाली हो। तुम सांसारिक जनों के हृदय रूपी सरोवर में खिले मोह, अहंकार और काम-भावना रूपी कमलों को उसी प्रकार नष्ट कर देती हो जिस प्रकार शिशिर-ऋतु की रात्रि पाला

डाल कर कमलों को जला देती है। अर्थात् तुम मोह, मद, काम आदि को नष्ट कर, सारे विकारों को दूर कर मानव के अन्तःकरण को शुद्ध कर देती हो।

तुम्हारे दोनों सुन्दर तटों पर हरे सघन बेंतों के समूह लगे हुए हैं और उनके मध्य संसार को प्रसन्नता और सुख प्रदान करने वाली तुम्हारी विस्तृत धारा प्रवाहित हो रही है। इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सर्पराज शेषनाग नीले रंग के पलंग पर सो रहे हों। (यहाँ गंगा के सघन बेंतों के झुरमुटों से भरे दोनों तट पलंग के समान गंगा की सफेद रंग की चौड़ी धारा सफेद रंग वाले शेषनाग के समान है।) हे देवताओं की स्वामिनी गंगा! तुम्हारी धारा में इधर-उधर से आकर मिलने वाले झरने मानो शेषनाग के हजार फन के समान हैं। तुम्हारी महिमा अपार है, तुम्हारा रूप अनुपम है। मणि-जटित राजमुकुट धारण करने वाले राजाओं के समूह तुम्हारी वन्दना करते हैं। अथवा राजाओं में मुकुट-मणि के समान सर्वश्रेष्ठ सम्राट गण तुम्हारी वन्दना करते हैं। तुम तीनों लोकों—स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल—में प्रवाहित होने वाली हो। हे संसार के भय (आवागमन आदि) को दूर करने वाली! हे शिव की प्रिया! तुम मुझ तुलसीदास को यह वर दो कि मेरी श्रीराम के चरणों में पूर्ण, प्रगाढ़ प्रीति बनी रहे।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'नील परंजक........' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) इस पद में आयी अन्तर्कथाओं का उल्लेख पद-संख्या १० और १७ में किया जा चुका है।

(३) गंगा को भव-भामिनी अर्थात् शिव की प्रिया इसलिए कहा गया है कि शिव के तेज से गंगा के गर्भ से कार्त्तिकेय की उत्पत्ति हुई थी। गंगा हिमालय की बड़ी पुत्री थी और पार्वती छोटी।

[१९]

हरनि पाप त्रिबिधि ताप सुमिरत सुरसरित।
बिलसति महि कल्प-बेलि मुद मनोरथ फरित ॥१॥
सोहत ससि धौल धार सुधा सलिल भरित।
बिमलतर तरंग लसत रघुबर के से चरित ॥२॥
तो बिनु जगदम्ब गंग, कलिजुग का करित?
घोर भव-अपारसिन्धु तुलसी किमि तरित ॥३॥

शब्दार्थ—बिलसति=शोभित। कल्पबेलि=कल्प लता। फरित=फलों से भरी हुई। धौल=धवल, श्वेत। जगदम्ब=जगत की माता। करित=कर डालता। तरित=पार कर पाता।

भावार्थ—हे देवनदी गंगा! तुम्हारा स्मरण करने से ही सारे पाप और तीनों प्रकार के दुःख—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अथवा कायिक, वाचिक

और मानसिक—दूर हो जाते हैं। तुम इस पृथ्वी पर कल्पलता (सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने वाली लता) के समान शोभायमान हो और तुम में आनन्द और मनोरथ के फल लगते हैं। अर्थात् तुम कल्पलता के समान भक्तों को आनन्द देती हो और उनके मनोरथ पूर्ण करती हो। अमृत के समान जीवन प्रदायक, निर्मल और मीठे जल से भरी हुई तुम्हारी श्वेत धारा चन्द्रमा के समान सुन्दर, सुहावनी दिखाई देती है। तुम्हारी अत्यन्त निर्मल लहरें राम के निर्मल चरित्रों के समान शोभायमान हैं। हे जगत माता गंगे ! तुम्हारे न रहने पर यह कलियुग न मालूम कैसे-कैसे उत्पात करता और तुलसीदास इस अपार संसार रूपी समुद्र को कैसे पार कर पाता।

टिप्पणी—(१) गंगा पाप-विनाशिनी मानी गयी है। कवि पद्माकर ने 'गंगा-लहरी' में एक पद कहा है, जिसकी अन्तिम पंक्ति यही ध्वनि दे रही है—

'एरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहि गंगा की कछार में पछारि छारि करिहौं।'

अर्थात् हे मेरे दगाबाज अनन्त पापो ! मैं तुम्हें गंगा की कछार में पछाड़ कर क्षार-क्षार कर डालूँगा।

(२) इस पद में आये 'करित' और 'तरित' अवधी प्रयोग हैं।

[२१]

ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ-पताल-धरनि।
सुर-नर-नाग-मुनि-सिद्ध-सुजन-मंगल करनि ॥१॥
देखत दुख-दोष-दुरित-दाह-दारिद-दरनि।
सगर-सुवन-साँसति-समनि, जल निधि-जल-भरनि ॥२॥
महिमा की अबधि करसि बहु बिधि-हरि-हरनि।
तुलसी करु बानि बिमल, बिमल बारि बरनि ॥३॥

शब्दार्थ—ईस=शिव। लससि=शोभायमान। दुरित=भाग जाते हैं, छिप जाते हैं। दारिद=दरिद्रता। दरनि=दलन करने वाली। सगर-सुवन=राजा सगर के पुत्र। साँसति=कष्टों। जलनिधि=समुद्र। अवधि=सीमा। बिधि-हरि-हरनि= ब्रह्मा, विष्णु, महेश की। बानि=वाणी। बरनि=वर्ण, रंग वाली।

भावार्थ—हे गंगा ! तुम शिव के मस्तक पर निवास करती हो और तीन मार्गों—आकाश, पृथ्वी और पाताल—से बहती हुई शोभायमान होती हो। तुम देवता, मनुष्य, नाग, मुनि, सिद्ध, आदि सभी का मंगल (कल्याण) करने वाली हो। तुम्हारे दर्शन मात्र से ही सारे दुख और पाप दूर भाग जाते हैं। तुम दरिद्रता के दाह (कष्ट) को दूर करने वाली हो। तुम्हीं ने महाराज सगर के (साठ हजार) पुत्रों को यम-यातना से मुक्त कर दिया था अर्थात् उन्हें नरक से निकाल स्वर्ग भेज

दिया था । तुम जलनिधि समुद्र को भी अपने निर्मल जल से आपूरित करती रहती हो । अर्थात् विशाल असीम जल का भण्डार समुद्र भी तुम्हारे जल का याचक बना रहता है । तुम्हीं ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की महिमा को अनन्त बनाया है । अर्थात् ब्रह्मा के कमण्डल में तुम्हारे रहने से ब्रह्मा की, विष्णु के चरणों से निकलने के कारण विष्णु की तथा शिव के मस्तक पर रहने से शिव की महिमा बढ़ी है । इसलिए हे गंगा ! मुझ तुलसीदास की वाणी को भी अपने ही जल के समान निर्मल, पवित्र और श्वेतवर्णी अर्थात् शुभ बना दो । (श्वेत रंग शुभ या सत का प्रतीक माना गया हैं । इसलिए तुलसी ने यहाँ 'बरनि' शब्द का प्रयोग किया है ।)

टिप्पणी—(१) कवि पद्माकर ने गंगा के कारण शिव की महिमा होने का बड़ा मनोरंजक और हास्यरस पूर्ण वर्णन किया है । पद की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है—

'पीवैं नित भंगै, रहै प्रेतन कैं संगै, ऐसे पूछतो को नंगै जो न गंगै सीस धरतो ।'

अर्थात् जो नित्य भाँग पीते हैं, प्रेतों के संग रहते हैं, ऐसे नंगे शिव को कौन पूछता—यदि वह गंगा को अपने सिर पर धारण न करते । अर्थात् गंगा के कारण ही शिव की इतनी महिमा है ।

(२) यहाँ 'लससि' शब्द अवधी भाषा का है ।

(३) विधि-हरि-हरनि—गंगा ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश–तीनों देवताओं का महत्त्व बढ़ाया है । गंगा ब्रह्मा के कमण्डल में रहने के कारण ब्रह्मा-कमण्डली, विष्णु के चरणों से निकलने के कारण विष्णुपदी, तथा शिव की जटा में रहने के कारण शिवजटा-विहारिणी कहलाती है ।

यमुना-स्तुति

राग बिलावल

[२१]

जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न ।
त्यों-त्यों सुकृत-सुभट कलि-भूपहिं, निदर लगे बहि काढ़न ॥१॥
ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों-त्यों जमगन-मुख मलीन है आसुन ।
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघमेघ लागे डाढ़न ॥२॥

शब्दार्थ—सुकृत-सुभट=पुण्यरूपी योद्धा । कलि-भूपहिं=कलियुग रूपी राजा । निदरि=निरादर कर । बहि=बाहर । जमगन=यमराज के गण । आढ़न=आढ़+न=सहारा न रहा । जगदघ=जगत्+अघ=जगत के पाप । जवास=जवासा जो वर्षा ऋतु में सूख जाता है । अनघ=पुण्य । डाढ़न=जलाने लगे ।

भावार्थ—ग्रीष्म ऋतु में जब यमुना में थोड़ा-सा जल रह गया तो कलियुग

बड़ा प्रसन्न हुआ कि अब मेरा राज्य निष्कंटक हो जायेगा क्योंकि अब यमुना-स्नान कर कोई भी स्वर्ग नहीं जा सकेगा और मैं चारों ओर पाप का साम्राज्य स्थापित कर दूँगा । परन्तु तुलसीदास कहते हैं—

(वर्षा ऋतु में) जैसे-जैसे यमुना बढ़ने लगीं अर्थात् उनका जल बढ़ने लगा वैसे-वैसे (सत्य, दया, अहिंसा आदि) पुण्य रूपी बड़े-बड़े योद्धा कलियुग रूपी राजा का अपमान कर उसे बाहर निकालने लगे । अर्थात् मनुष्यों के मन से कलियुग के प्रभाव को दूर कर अपना स्थान जमाने लगे । जैसे-जैसे वर्षा होने से आयी बाढ़ के कारण यमुना का जल गँदला होता गया वैसे-वैसे यमराज के गणों के मुख भी मैले होते चले गये और उन्हें अपनी रक्षा के लिए कोई भी सहारा नहीं दिखाई दिया । भाव यह है कि ग्रीष्म ऋतु में यमुना के थोड़े से जल को देख यम के गण प्रसन्न थे कि अब कोई यमुना-स्नान कर स्वर्ग नहीं जा पायेगा और हम सब को बाँध कर नरक में ले जायेंगे। परन्तु जल बढ़ते ही उनकी इस आशा पर पानी फिर गया, क्योंकि अब सब यमुना-स्नान कर स्वर्ग चले जायेंगे । इसी निराशा के कारण उनके मुख काले पड़ गये । तुलसीदास कहते हैं कि ऐसा हो जाने पर अर्थात् यमुना में जल बढ़ जाने पर जगत में छाये पाप रूपी जवासों को पुण्य रूपी मेघ जला कर भस्म करने लगे । अर्थात् अधर्म का नाश होने लगा ।

भाव यह है जिस प्रकार ग्रीष्म में जवासा हरा हो जाता है और वर्षा होते ही जल जाता है उसी प्रकार कलियुग रूपी ग्रीष्म के कारण जो पाप रूपी जवासों की वृद्धि हुई थी । उन्हें यमुना के बढ़ते ही पुण्य रूपी मेघों ने जला कर भस्म कर डाला अर्थात् अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि हुई ।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—प्रथम भाग में काव्यलिंग अलंकार है ।

'ज्यों-ज्यों·······आढ़न' में सहोक्ति अलंकार है ।

(२) 'गंगा-स्तुति' वाले पदों की तुलना में 'यमुना-स्तुति' वाला यह पद इतना छोटा है कि अधूरा सा लगता है ।

काशी-स्तुति

राग भैरव

[२२]

सेइय सहित सनेह देहभरि, कामधेनु कलि कासी ।
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल-रासी ॥१॥
मरजादा चहुँ ओर चरन बर, सेवत सुरपुर-बासी ।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अबिनासी ॥२॥

अन्तर अयन अयन भल, थन फल, बच्छ बेद-विस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु, लूम लसति सरितासी ॥३॥
दंडपानि भैरव बिषान, मलरुचि उलगन भयदा सी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी ॥४॥
मनिकर्निका बदन-ससि-सुन्दर, सुरसरि सुख सुखमा सी।
स्वारथ-परमारथ-परिपूरन, पंचकोसि महिमा सी ॥५॥
विस्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा सी।
सिद्धि, सची, सारद पूजहिं, मन जुगवत रहित रमा सी ॥६॥
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी।
ब्रह्म जीव सम रामनाम जुग, आखर बिस्व-बिकासी ॥७॥
चारितु चरित करम कुकरम करि,मरत, जीवगन घासी।
लहत परमपद पय पावन, जेहि चहत प्रपंच उदासी ॥८॥
कहत पुरान रची केशव निज कर-करतूति कला सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ॥९॥

शब्दार्थ—सेइय=सेवन करो। देहभरि=जन्म भर। कलि=कलियुग में। रुज=रोग। मरजादा=मर्यादा, सीमा। वर=श्रेष्ठ। सुरपुर-वासी=देवता। अमित=असंख्य। अन्तरअयन=अन्तर्गृही, मध्य स्थान। अयन=ऐन, दूध देने वाले पशुओं का वह अंग जिसमें दूध भरा रहता है। बच्छ=बछड़े। वेद-विस्वासी=वेद में विश्वास करने वाले श्रद्धालु जन। गलकंबल=गाय के गले में खाल की लटकने वाली लम्बी थैली। बरुना=एक नदी। बिभाति=सुशोभित। लूम=पूँछ। सरितासी=असी नामक नदी। दंडपानि=दंडपाणि, यमराज। विषान=सींग। मलरुचि=पाप करने में जिनकी रुचि है, दुष्ट। भयदा=डराने वाली। लोलदिनेस=लोलार्क कुण्ड। त्रिलोचन=एक तीर्थ का नाम। करनघट=कर्णघण्टा नामक तीर्थ स्थान। सुखमा=सुषुमा, शोभा। पंचकोसि=पाँच कोस की परिक्रमा। लालति=दुलार करती है। गिरिजा=पार्वती। सची=शची, इन्द्राणि। सारद=शारदा, सरस्वती। जुगवत=रुख देखती। रमा=लक्ष्मी। पंचाच्छरी=पंचाक्षरी—नमः शिवाय। मुद माधव=बिन्दु माधव। गव्य=पंच गव्य—गोबर, गोमूत्र, दूध, दही और घी का मिश्रण। सुपंचनदा=सुन्दर पाँच नदी, एक तीर्थ। जुग=दो। बिस्व-बिकासी=संसार को विकसित या प्रकाशित करने वाले। चारितु=चारा, घास। करम=सुकर्म। घासी=घास। पय=दूध। प्रपंच=संसार। उदासी=विरक्त। कर-करतूति=हाथ की कारीगरी। हरपुरी=शिव की नगरी काशी। सुपासी=सुखी।

भावार्थ—तुलसीदास काशी की गौ-रूप में स्तुति कर रहे हैं——

इस कलियुग में प्रेम के साथ जीवन भर कामधेनु के समान (सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली) काशी की सेवा करो। यह कामधेनु रूपी काशी सम्पूर्ण शोक, सन्ताप, पाप और रोगों का नाश करने वाली और सारे मंगलों (कल्याणों) की राशि अर्थात् भण्डार है। इस नगरी के चारों ओर जो सीमा खिंची हुई है, वही इस कामधेनु रूपी काशी के चार चरण हैं। इसकी सेवा देवता भी करते हैं। अथवा जिस प्रकार देवता कामधेनु की सेवा करते हैं, उसी प्रकार इस नगरी के रहने वाले (पुरवासी) इस नगरी की सेवा करते रहते हैं। इस नगरी में स्थित सारे तीर्थ ही मानो गाय के विभिन्न अंग हैं और असंख्य, नष्ट न होने वाले शिवलिंग ही इसके रोम हैं। अन्तर्गृही अर्थात् काशी का मध्य भाग ही इस कामधेनु का सुन्दर ऐन; धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इसके चार थन तथा वेद में विश्वास रखने वाले श्रद्धालु जन ही इसके बछड़े हैं। सुन्दर वरुणा नदी ही इस कामधेनु के गलकंबल के समान सुशोभित है तथा असी नामक नदी ही इसकी पूँछ के समान शोभा दे रही है। दंडपाणि यमराज और भैरव इसके दो सींग हैं। कुत्सित रुचि वाले कुकर्मी दुष्टों को यह सदैव डराती रहती है। अर्थात् इसके यम और भैरवरूपी सींग दुष्टों को सदैव भयभीत करते रहते हैं। लोलार्क कुण्ड और त्रिलोचन नामक स्थान ही इसके दो नेत्र हैं और कर्णघण्टा नामक स्थान ही इसके गले में बँधा हुआ घण्टा है।

मणिकर्णिका नामक स्थान चन्द्रमा के समान इसका सुन्दर मुख है और गंगा के प्रवाहित होने से उत्पन्न सुख ही मानो इसकी शोभा है। स्वार्थ (स्त्री, पुत्र कलत्रादि आदि का सुख) और परमार्थ (मोक्ष) अर्थात् सांसारिक और पारलौकिक सुखों से परिपूर्ण इसकी जो पाँच कोस की परिक्रमा है, वही मानो इसकी महिमा अर्थात् यश है। कृपालु हृदय वाले विश्वनाथ (शिव) इसका पालन करने वाले हैं और पार्वती नित्य इसे दुलार करती हैं। अष्ट सिद्धियाँ, इन्द्राणी और सरस्वती इसका पूजन करती हैं और लक्ष्मी जैसी नारियाँ सदैव इसका रुख देखा करती हैं कि यह कोई आज्ञा दे और वह तुरन्त उसका पालन करें। पाँच अक्षरों वाला मन्त्र 'नमः शिवाय' इसके पंच प्राण हैं (पंच प्राण——अपान, उदान, प्राण, व्यान और समान होते हैं।) और उनके अन्तःकरण में आनन्द है। पंचनद नामक तीर्थ ही पंचगव्य (गोबर, गोमूत्र, दूध, दही और घी का मिश्रण) के समान मन को पवित्र करने वाला है। ब्रह्मजीवी के समान संसार को प्रकाशित या विकसित करने वाले राम-नाम के 'रकार' और 'मकार' दोनों अक्षर हैं। ('रकार' ब्रह्म और 'मकार' जीव।) यहाँ जितने प्राणी मरते हैं उनके सम्पूर्ण सुकर्मों और कुकर्मोंरूपी घास यह चरती है। अर्थात् सब के अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्मों को अपने भीतर लेकर यह उन जीवों को मुक्ति दे देती है। इसका मोक्षरूपी परम पवित्र दूध पीकर प्रत्येक जीव उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है, जिसकी संसार से विरक्त रहने वाले विरक्त उपासक सदैव कामना किया करते हैं। भाव यह है कि काशी में निवास करने मात्र

से ही सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो, जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

पुराणों का कथन है कि भगवान केशव ने इस काशी को अपने हाथ की कारीगरी के नमूने के रूप में साक्षात् कला का सा रूप प्रदान कर रचा है। अर्थात् यह साक्षात् कला के समान सुन्दर है। तुलसीदास कहते हैं कि हे तुलसी ! यदि तू पूर्णरूप से सुखी होना चाहता है तो ऐसी इस काशी नगरी में निवास करता हुआ रामनाम का जाप किया कर।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सांगरूपक। सम्पूर्ण पद में काशी का कामधेनु के रूपक के रूप में वर्णन किया गया है। अर्थात् काशी को कलियुग में कामधेनु के समान सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाली माना गया है।

(२) इस पद में तुलसी की कला नहीं, वरन् कारीगरी के दर्शन होते हैं। विभिन्न स्थानों एवं वस्तुओं द्वारा रूपक का निर्वाह करने में पर्याप्त मानसिक व्यायाम करना पड़ा है। कल्पना काफी क्लिष्ट है।

(३) 'करनघंट घंटा सी' में शब्द-साम्य ही दृष्टव्य है, वैसे यह तुलना निकृष्ट कोटि की है।

(४) 'करनघंटा'—शिव का अनन्य भक्त एक ब्राह्मण था, जो शिव के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवी-देवता का नाम तक नहीं सुनना चाहता था। अन्य नाम सुनने से बचने के लिए उसने अपने कानों में घण्टे बाँध रखे थे, जिन्हें वह बराबर हिलाया करता था और उनकी आवाज के कारण अन्य किसी भी नाम को नहीं सुन पाता था। वह काशी में जिस स्थान पर रहता था, वह आज भी 'कर्णघंटा' कहलाता है।

चित्रकूट-स्तुति

राग-वसंत

[२३]

सब-सोच-बिमोचन चित्रकूट। कलिहरन, करन कल्यान बूट ॥१॥
सुचि अवनि सुहावनि आलबाल। कानन बिचित्र, बारी बिसाल ॥२॥
मन्दाकिनि-मालिनि सदा सींच। बर बारि विषम नर-नारि नीच ॥३॥
साखा सुसृंग, भूरुह सुपात। निरझर मधुवर, मृदुमलय बात ॥४॥
सुक, पिक, मधुकर, मुनिवर बिहारु। साधन प्रसून, फल चारि चारु ॥५॥
भव-घोरघाम-हर सुखद छाहँ। थप्यो थिर प्रभाव जानकी-नाह ॥६॥
साधक-सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ ॥७॥

रस एक, रहित-गुन-करम-काल। सिय राम लखन पालक कृपाल ॥८॥
तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ॥९॥

शब्दार्थ—सोच-विमोचन=चिन्ताओं को दूर करने वाला। कलिहरन=कलियुग के प्रभाव को हरने वाला। बूट=हरा वृक्ष। आलवाल=थाँवला, वृक्ष के चारों ओर वना मिट्टी का चबूतरा। वारी=वाटिका। वर वारि=सुन्दर बाड़ी, वाढ़ या चहारदीवारी। विषम=काँटों की ऊँची-नीची बाड़ी। सुसृंग=सुन्दर चोटियाँ। भूरुह=वृक्ष। सुपात=सुन्दर पत्ते। मधुवर=मीठा शहद। वात=वायु। विहारु=विहार करने वाले। थप्यो=स्थापित किया। थिर=स्थिर। जानकी-नाह=सीतापति राम। सुपथिक=यात्री। अभिमत=इच्छानुसार। अघाइ=पेट भरकर। रस=छाया। निरुपाधि=निर्भीक, विघ्नरहित।

भावार्थ—तुलसीदास चित्रकूट की महिमा का वर्णन करते हुए उसे कल्पवृक्ष का रूप प्रदान करते हैं—

यह चित्रकूट सारी चिन्ताओं को दूर करने वाला, कलियुग के घातक प्रभाव से मुक्ति दिलाने वाला और कल्याण करने वाला हरा वृक्ष है। चित्रकूट पर्वत के चारों ओर स्थित पवित्र भूमि ही चित्रकूट रूपी इस हरे वृक्ष का सुन्दर थाँवला है और चारों ओर छाया विचित्र बन ही उस विशाल वाटिका के समान है, जिसके बीच यह स्थित है। मन्दाकिनी (नदी) रूपी मालिन इसे सदैव सींचती रहती है। इसके आस-पास रहने वाले नीच स्त्री-पुरुष ही इसकी ऊँची-नीची सुन्दर बाड़ी (चहारदीवारी) के समान हैं। अर्थात् बाड़ी (चहारदीवारी) जिस प्रकार वाटिका की रक्षा करती है, उसी प्रकार चित्रकूट के चारों ओर बसने वाली वन्य जातियाँ सदा इसकी रक्षा करती रहती हैं। (यहाँ 'नीच' से अर्थ असभ्य वन्य जातियों का ही द्योतक प्रतीत होता है न कि दुष्टों का।) चित्रकूट पर्वत की विभिन्न सुन्दर चोटियाँ ही मानो चित्रकूट रूपी इस वृक्ष की अनेक शाखाएँ और उन चोटियों पर उगे वृक्ष ही इसके सुन्दर पत्ते हैं। यहाँ झरने वाले निर्झर ही मानो इस वृक्ष का मकरन्द (पराग) है। यहाँ जो चन्दन की गन्ध से युक्त पवन चलता है, वही मानो इसकी कोमलता है।

यहाँ निवास या विहार करने वाले मुनिगण ही मानो इस वृक्ष पर निवास करने वाले तोते, कोयल और भौंरे हैं। उन मुनियों द्वारा किये गये अनेक प्रकार के योग, तपस्या, उपासना आदि साधन ही इसके फूल हैं, और इस पर चार सुन्दर फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) लग रहे हैं। भाव यह है कि चित्रकूट का सेवन करने से इन चारों फलों की प्राप्ति होती है। इसकी सुख देने वाली शीतल छाया संसार के भयानक संतापों रूपी घाम से रक्षा करती है। अर्थात् प्राणी सांसारिक जन्म-मरण आदि के संतापों से मुक्त हो जाता है। जानकी वल्लभ श्री राम ने (यहाँ निवास कर) इसके प्रभाव को और भी अधिक स्थिर कर दिया है अर्थात् बढ़ा दिया है। यहाँ साधना करने वाले साधकरूपी सुन्दर पथिक बड़े भाग्यशाली होने के कारण इसे पाते हैं और

यहाँ विश्राम कर अनेक प्रकार की उनकी आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भाव यह है कि यहाँ आने से उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। (वृक्ष की छाया सदा एक-सी नहीं रहती परन्तु चित्रकूटरूपी इस वृक्ष की यह विशेषता है कि) इसकी छाया सदा एक-सी रहती है; अर्थात् इसके प्रभाव में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। यह सदा अविद्याजन्य सत्व, रज, तम––तीनों गुणों, शुभ-अशुभ कर्मों तथा काल के प्रभाव से मुक्त रहता है। (इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो इसकी सेवा करते हैं वे गुण, काल और कर्म प्रभाव से रहित हो जाते हैं।) कृपालु सीता, राम और लक्ष्मण इसका (चित्रकूट का) पालन करने वाले हैं।

तुलसीदास स्वयं से कहते हैं कि हे तुलसी ! यदि तू राम के चरणों में प्रेम चाहता है तो निर्विघ्न होकर नियमपूर्वक इस पर्वत का सेवन कर। अर्थात् बिना किसी प्रकार के संशय के पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस पर्वत की सेवा कर या यहाँ निवास कर।

टिप्पणी—(१) अलङ्कार—सांगरूपक। चित्रकूट पर्वत का वृक्ष से रूपक प्रस्तुत किया गया है। चित्रकूट को कल्पवृक्ष के समान माना गया है।

(२) इस पद से यह दृष्टव्य है कि यहाँ से 'विनय-पत्रिका' में वाह्याचार कम होता जाता है और भावपक्ष उभरता चला जाता है।

(३) तृतीय पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—'मन्दाकिनी नदी रूपी मालिन अपने सुन्दर जल से वहाँ निवास करने वाले सभी अच्छे-बुरे नर-नारियों का सदैव समान भाव से पालन करती रहती है।' परन्तु यह अर्थ अधिक संगत नहीं प्रतीत होता।

राग कान्हरा

[२४]

अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल-मगु, विलसत बढ़त मोह-माया-मलु ॥१॥
भूमि विलोकु राम-पद अंकित, बन बिलोकु रघुवर-बिहारथलु।
सैल-स्रंग भवभंग-हेतु लखु, दलन कपट-पाखंड-दंभ दलु ॥२॥
जहँ जनमे जग-जनक जगतपति, विधि-हरि-हर परिहरि प्रपंच छलु।
सकृत प्रवेस करत जेहि आस्रम, बिगत-विषाद भये पारथ नलु ॥३॥
न करु विलम्ब, बिचारु चारुमति, बरष पाछिले सम अगिले पलु।
मंत्र सो जाइ जपहि, जो जपि भे, अजर अमर हर अचै हलाहलु ॥४॥
रामनाम जप जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु।
करिहैं राम भावतो मन को, सुख, साधन, अनयास महाफलु ॥५॥

कामद-मनि कामता-कलपतरु सो जुग-जुग जागत जगती तलु।
तुलसी तोहि विसेषि बूझिये, एक प्रतीति प्रीति एकै बलु ।।६।।

शब्दार्थ—चेति=चैतन्य हो। लोपित=लुप्त कर दिया है। मंगल-मगु=मंगल के मार्ग। विलसत=प्रसन्न होता है। मलु=पाप। थलु=स्थल। भवभंग हेतु=सांसारिक दुखों का नाश करने वा। दलु=दल, समूह। जग-जनक=जगत के पिता। परिहरि=त्याग कर। सकृत=एक बार। बिगत-बिषाद=दुख से मुक्त। पारथ=अर्जुन आदि पांडव। नलु=राजा नल। चारुमति—सुन्दर बुद्धि। पाछिले=पिछले, विगत, बीते हुए। जपि भे=जपकर हुए। अचै=आचमन कर, पान कर। हलाहलु=कालकूट नामक विष। जाग=यज्ञ। मज्जत=स्नान कर। पय=पयस्विनी नदी। भावतो=अच्छा लगने वाला। अनयास=अनायास, बिना प्रयत्न के। कामद मनि=सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी करने वाली मणि—चिन्तामणि। कामता=कामतानाथ नामक पर्वत। जागत=जगमगाता या जाग्रत रहता है।

भावार्थ—तुलसीदास अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

हे मेरे मन ! अब तू चैतन्य हो जा और चित्रकूट को चल। कलियुग ने कुपित होकर कल्याण के सारे मार्गों को बन्द कर दिया है अर्थात् जप, तप, दया, ज्ञान, भक्ति आदि जितने भी मानव-कल्याण के मार्ग हैं, वे सब कलि के प्रभाव के कारण बन्द हो गये हैं। और मोह (अज्ञान), माया (अविद्या) और पापों की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अपनी इस सफलता को देख-देखकर कलि बड़ा प्रसन्न होता रहता है। अथवा इस संसार में मोह, माया, पाप आदि प्रसन्न होकर बढ़ते चले जा रहे हैं। तू श्रीराम के चरणों से अंकित यहाँ की भूमि को देख तथा राम की विहार स्थली यहाँ के वन के दर्शन कर। उन पर्वत-शिखरों का दर्शन कर जो सांसारिक जन्म-मरणादि के भय को दूर करने के प्रमुख कारण हैं और कपट, पाखंड, दम्भ आदि के समूहों का विनाश करने वाले हैं। भाव यह है कि इनके दर्शन से जीव कपट आदि से रहित हो मुक्त हो जाता है। यह वही स्थान हैं जहाँ जगत के पिता और जगत के स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने अपने सम्पूर्ण प्रपंच और छल को त्यागकर जन्म लिया था। यहाँ के जिस आश्रम में एक बार प्रवेश करते ही अर्जुन आदि पांडव तथा राजा नल सारे दुखों से मुख हो गये थे।

हे मेरे मन ! अब तू देर मत कर और अपनी सुन्दर मति से जीवन के वीते हुए पिछले वर्षों को एक पल के समान और आगे आने वाले एक-एक पल को एक-एक वर्ष के समान समझ। भाव यह है कि तेरा जितना जीवन बीत गया वह तो एक पल के समान क्षणिक अर्थात् अर्थहीन रहा और अब जीवन का आगे आने वाला एक-एक पल एक-एक वर्ष के समान मूल्यवान है। अतः तू सावधानी के साथ उनका उपयोग कर। अर्थात् विगत को त्रुटियों की चिन्ता न कर, भविष्य के प्रति सावधान हो जा। क्योंकि अब मृत्यु आने में अधिक देर नहीं है, इसलिए तेरे जीवन का एक-

एक पल तेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान है। तू चित्रकूट में जाकर उसी मन्त्र (रामतारक मन्त्र) का जाप कर जिसका जाप करने से शिव हलाहल विष का पान करने पर भी अजर-अमर बन गये थे। जब तू वहाँ जाकर नित्य राम-नाम का जापरूपी यज्ञ और पयस्विनी के पवित्र जल में स्नान करता रहेगा और उसके जल का पान करता रहेगा तो श्रीराम तेरे मन की सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी कर देंगे और तुझे सब प्रकार के सुख, साधन और महाफल (अर्थात् राम-पद-प्रेम) अनायास ही प्रदान कर देंगे। (यहाँ 'महाफलु' से मुक्ति का अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है।)

चित्रकूट पर जो कामतानाथ पर्वत है, वह सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी करने वाली चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान पृथ्वी पर युग-युग से जगमगाता चला आ रहा है। (वैसे तो चित्रकूट सभी की मनोकामनाएँ पूरी करता है परन्तु) हे तुलसीदास! तुझे तो विशेषकर केवल उसी के विश्वास, प्रेम और बल पर निर्भर रहना चाहिए। ऐसा होने पर ही श्रीराम तुझ पर प्रसन्न होंगे।

विशेष—(१) 'राम-पद-अंकित' से भाव अहिल्या-उद्धार की कथा से है। जिस प्रकार राम के चरण स्पर्श मात्र से अहिल्या का उद्धार हुआ था उसी प्रकार राम के चरणों से अंकित चित्रकूट की भूमि के स्पर्श से तुलसी का भी उद्धार हो जायेगा।

(२) 'जहाँ जनमे·······प्रपंच छलु'—महर्षि अत्रि और उनकी पतिव्रता पत्नी अनुसूया चित्रकूट में पुत्र-प्राप्ति के लिए घोर तपस्या कर रहे थे। अनुसूया पतिव्रता थी। एक बार ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसके पातिव्रत की परीक्षा लेने के लिए छद्मरूप धारण कर उसके यहाँ पहुँचे। परन्तु अनुसूया अपने तपोबल से उनके प्रपंच को जान गयी और उसने उनसे यह वर माँगा कि मेरे गर्भ से तुम्हारे समान पुत्र जन्म लें। शिव ने कहा कि तुम्हारे गर्भ से ब्रह्मा के अंश से चन्द्रमा, विष्णु के अंश से दत्तात्रेय और मेरे अंश से दुर्वासा नामक पुत्र जन्म लेंगे। फलतः अपने वचन को पूरा करने के लिए इन तीनों देवताओं को जगत के अपने सारे कर्म एवं कर्त्तव्य छोड़कर अनुसूया के गर्भ से जन्म लेना पड़ा।

(३) पारथ—यहाँ पार्थ अर्थात् अर्जुन से अभिप्राय है। जब दुर्योधन ने जुए में शकुनि की सहायता से छल करके पाण्डवों का सारा राज्य-पाट छीन लिया तब पाण्डवों ने जाकर चित्रकूट पर तपस्या की और उसके प्रभाव से अपना राज्य पुनः प्राप्त किया। यहाँ 'पार्थ' से अभिप्राय अर्जुन आदि पंच-पाण्डवों से है।

(४) इसी प्रकार राजा नल ने भी चित्रकूट का सेवन करने से ही जुए में हारा हुआ अपना राज्य पुनः प्राप्त किया था। पाण्डवों और नल के चित्रकूट आने का उल्लेख 'वृहद्रामायण' में मिलता है।

(५) 'प्रपंच छलु'—से अभिप्राय उन पौराणिक कथाओं से है, जिनके अनुसार ब्रह्मा और शिव ने अनेक दैत्यों को उनका मुँह-माँगा वरदान दे दिया था और जब

वे दैत्य इन वरदानों के कारण उद्धत हो संसार को सताने लगे तो विष्णु ने कच्छ, मच्छ आदि अनेक अवतार धारण कर छलपूर्वक इन दैत्यों का वध किया था।

हनुमत-स्तुति

राग धनाश्री

[२५]

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत विधु, बिबुध-कुल-कैरवानन्दकारी।
केसरी - चारु-लोचन - चकोरक - सुखद, लोकगन-शोक-संतापहारी ।।१।।
जयति जय बालकपि केलि कौतुक उदित-चंडकर-मंडल-ग्रासकर्त्ता।
राहु-रवि-सक्र-पवि-गर्व-खर्वीकरन, सरन, भयहरन जय भुवन-भर्त्ता ।।२।।
जयति रनधीर रघुबीर-हित देवमनि, रुद्र-अवतार संसार-पाता।
बिप्र-सुर-सिद्ध-मुनि-आशिषाकार-बपु,बिमल गुन-बुद्धि-बारिधि बिधाता।।३।।
जयति सुग्रीव-सिच्छादि-रच्छन-निपुन, बालि-बलसालि-बध-मुख्य हेतू।
जलधि-लंघन, सिंह-सिंहिका-मद-मथन, रजनिचर-नगर उत्पात केतू ।।४।।
जयति भूनन्दिनी-सोच-मोचन बिपिन-दलन घननादबस बिगतशंका।
लूमलीला-अनल-ज्वालमाला-कुलित होलिकाकरन लंकेस-लंका ।।५।।
जयति सौमित्रि-रघुनंदनानंदकर, रिच्छ-कपि-कटक-संघट-बिधायी।
बद्ध बारिधि-सेतु अमर-मंगल हेतु, भानुकुल-केतु-रणविजयदायी ।।६।।
जयति जय बज्रतनु दसन नख मुख बिकट, चंड-भुजदंड तरु सैल पानी।
समर-तैलिक-जंत्र तिल-तमीचर-निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी ।।७।।
जयति-दसकंठ-घटकरन-बारिदनाद-कदन - कारन, कालिनेमि-हंता।
अघटघटना-सुघट सुघट-बिघटन-बिकट, भूमि-पाताल-जल-गगन-गंता ।।८।।
जयति बिस्व-बिख्यात बानैत-बिरुदावली,बिदुष बरनत बेद बिमल बानी।
दासतुलसी-त्रास-समन सीतारमन, सोभित राम राजधानी ।।९।।

शब्दार्थ—अंभोधि=सागर। संभूत=उत्पन्न। विधु=चन्द्रमा। बिबुध-कुल=देवताओं के कुल। कैरवानन्वकारी=कुमुदिनियों को आनन्द देने वाले। केसरी=केशरी, हनुमान के पिता। चकोरक=चकोरों को। लोकगन=तीनों लोकों। चंडकर मंडल=सूर्यमंडल। सक्र=इन्द्र। पवि=वज्र। गर्व खर्वीकरन=गर्व को विनष्ट करने वाले। देवमनि=देवताओं की मणि, चिन्तामणि। संसार-पाता=संसार की रक्षा करने वाले। आशिषाकार-बपु=आशीर्वाद की साक्षात् मूर्ति। सिच्छादि=शिक्षा देने वाले। रच्छन निपुन=रक्षा करने में निपुण। सिंहिका=एक राक्षसी का नाम।

केतू=केतु, पुच्छल तारा। भूनन्दिनी=पृथ्वी की पुत्री सीता। विपिन दलन=अशोक वाटिका का दलन करने वाले। बिगतशंका=निर्भीक, शंकारहित। लूम=पूँछ। कुलित=आकुलित, व्याकुल। सौमित्रि=सुमित्रानन्दन लक्ष्मण। कटक=सेना। संघट-विधायी=संगठित, एकत्रित करने वाले। बद्ध=बाँधने वाले। बारिधि-सेतु=समुद्र का पुल। अमर=देवता। केतु=पताका। दसन=दाँत। सैल पानी=शैलपाणि, पर्वत हाथ पर हाथ उठाने वाले। पानी=पाणि, हाथ। तैलिक=कोल्हू। तमीचर=राक्षस। निकर=समूह। घालि=डालकर। घटकरण=कुम्भकर्ण। बारिदनाद=मेघनाद, रावण का पुत्र। कदन=मरण, विनाश। कालिनेमि=एक राक्षस। अघट=असम्भव। सुघट=सम्भव। बिघटन=बिगाड़ने वाले। गंता=गमन करने वाले, जाने वाले। बानैत=बाना, वेश। विदुप=विद्वान्, पंडित।

भावार्थ—गोस्वामीजी हनुमानजी की स्तुति कर रहे हैं—

हे हनुमान तुम्हारी जय हो! तुम माता अंजनी के गर्भरूपी समुद्र से चन्द्रमा के समान उत्पन्न हो देवताओं के कुलोंरूपी कुमुदिनियों को आनन्द देने वाले हो। अर्थात् जैसे चन्द्रमा समुद्र के गर्भ से उत्पन्न हो (चन्द्रमा समुद्र का पुत्र माना गया है) कुमुदिनियों के समूह को आनन्द से भर देता है, खिला देता है (कुमुदिनी चन्द्रमा की चाँदनी में खिलती है) उसी प्रकार तुम अंजनी के गर्भ से उत्पन्न होकर देवताओं को आनन्द देते हो। तुम अपने पिता केशरी के सुन्दर नेत्रों को उसी प्रकार सुख पहुँचाते हो अर्थात् उनके नेत्र तुम्हें देखकर उसी प्रकार आनन्द से भर उठते हैं, जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा को देखकर आनन्दित हो उठते हैं। तुम तीनों लोकों के शोक और सन्ताप को दूर करने वाले हो। हे बालकपि! तुम्हारी जय हो! जय हो! तुमने बालकपन में खेल-ही-खेल में ऐसा कौतुक (अद्भुत कार्य) कर डाला था कि उदय होते हुए (लाल) सूर्य को देखकर सूर्यमण्डल को निगल जाने के लिए सूर्य के पास पहुँच गये थे। और उस समय तुमने राहु, इन्द्र और वज्र आदि सभी का घमण्ड चूर-चूर कर दिया था। शरणागत के भय को दूर करने वाले! हे संसार के स्वामी! तुम्हारी जय हो।

हे रण में धैर्य धारण करने वाले, राम के हित के लिए देवमणि चिन्तामणि के समान, रुद्र (शिव) के अवतार, संसार की रक्षा करने वाले तुम्हारी जय हो! तुम्हारा शरीर ब्राह्मण, देवता, मुनि आदि के लिए आशीर्वाद की साक्षात् मूर्ति के समान है। अर्थात् इन सब के आशीर्वाद की मानो तुम साकार प्रतिमा हो। (जब इन्द्र ने सूर्य को निगलने का प्रयत्न करते समय हनुमान के वज्र मारा था तो हनुमान के पिता पवन ने क्रुद्ध होकर अपनी गति बन्द कर सब का श्वास रुद्ध कर दिया था। तब घबराकर इन सबने तुम्हें आशीर्वाद दिया था।) तुम निर्मल, सात्विक बुद्धि के समुद्र तथा विधाता हो। अर्थात् तुम स्वयं सात्विक बुद्धि के भण्डार तथा दूसरों को भी सात्विक बुद्धि प्रदान करने वाले हो। हे सुग्रीव को उसके हित की शिक्षा देने वाले!

(जब सुग्रीव राज्य पाकर सीता का उद्धार करने में सहायता करने का अपना दायित्व भूल गया था तब तुमने ही उसे शिक्षा दी थी।) तुमने उसकी रक्षा बड़ी चतुरता-पूर्वक की थी। (उसे लक्ष्मण के क्रोध का शिकार होने से बचा लिया था।) अत्यन्त बलवान वालि के वध में तुम्हीं मुख्य कारण रहे थे। तुम्हीं समुद्र को लाँघने वाले, सिंहिका नामक राक्षसी के घमण्ड को दूर करने वाले सिंह के समान और राक्षसराज रावण की नगरी लंका में उपद्रव मचाने वाले धूमकेतु (पुच्छल तारा—यह अनिष्ट का भावी सूचक होता है) के समान थे। ऐसे हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो।

पृथ्वी-तनया सीता की चिन्ता को दूर करने वाले, रावण की अशोक वाटिका नष्ट-भ्रष्ट करने वाले, रावण के पुत्र मेघनाद द्वारा ब्रह्मास्त्र में बाँध लेने पर भी निःशंक रहने वाले, अपनी पूँछ की लीला से फैली हुई अग्निज्वालाओं की माला से व्याकुल रावण की लंका को होली के समान जलाने वाले तुम्हारी जय हो। सुमित्रा-नन्दन लक्ष्मण और श्रीराम को (अपनी सेवा द्वारा) आनन्दित करने वाले, रीछ और बन्दरों की सेना को एकत्र कर संगठित करने वाले, समुद्र पर पुल बाँधने वाले, देवताओं के मंगल के कारण (अर्थात् उनका मंगल करने वाले) और सूर्यवंश की पताका राम को रण में विजय दिलाने वाले तुम्हारी जय हो ! हे वज्र के समान शरीर, भयंकर दाँत, नाखून और मुख तथा भुजदण्ड वाले और वृक्षों और पर्वतों को अपने हाथों पर ऊपर उठा लेने वाले, युद्ध-भूमि में राक्षसों के दलों को तिलों के समान कोल्हू में धानी के समान डाल उन्हें पीस डालने वाले तुम्हारी जय हो। जय हो !

रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के नाश के कारण, कालनेमि का वध करने वाले, असम्भव कार्य को भी सम्भव कर दिखाने वाले, और सुघट (बनी-बनायी बात) को बिगाड़ देने वाले (समुद्र का लाँघना जैसे असम्भव कार्य को सम्भव और रावण आदि की बनी-बनायी बात धूल में मिला देना), भूमि, पाताल, जल और आकाश में समान भाव से गमन करने वाले तुम्हारी जय हो ! तुम्हारा वीर-वेश विश्व-विख्यात है, पंडित और वेद तुम्हारी विरुदावली का निर्मल, विशुद्ध वाणी द्वारा गान किया करते हैं। तुम अपने दास तुलसीदास के भय को दूर करने वाले, सीता के साथ रमण करने वाले श्रीराम के साथ उनकी राजधानी अयोध्या में सदैव सुशोभित रहने वाले हो। ऐसे हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! जय हो !

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में रूपक अलंकार है।

(२) 'बालकपि'—एक बार जब हनुमान छोटे से थे, एक दिन अमावस्या को प्रातः समय उदय हुए लाल रंग के सूर्य को लाल फल समझ उसे खाने के लिए आकाश में पहुँच उस पर झपटे। उस दिन सूर्य ग्रहण भी था। उसी समय राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए आया और हनुमान के तेज से भयभीत हो उसने इन्द्र से जाकर शिकायत की कि मेरे भोजन सूर्य को तो आज कोई दूसरा खाने आ पहुँचा है। यह

सुनकर इन्द्र वज्र ले, ऐरावत पर सवार हो घटनास्थल पर पहुँचा। हनुमान उन दोनों पर भी झपटे। यह देख इन्द्र ने इनकी ठोड़ी पर वज्र से आघात किया जिससे इनकी ठोढ़ी चपटी हो गयी, ये मूर्च्छित होकर गिर पड़े और वज्र की धार कुंठित हो गयी। तभी से इनका नाम 'हनुमान' पड़ा। अपने पुत्र को मूर्च्छित देख पिता पवन क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने अपनी गति रुद्धकर सारे संसार की दम घोंट दी। इस पर सारे देवताओं, मुनियों आदि ने आकर मूर्च्छित हनुमान को अपने आशीर्वाद से पुनः चैतन्य कर दिया। इस घटना द्वारा हनुमान ने सूर्य का तेज सहकर सूर्य का, सूर्य को भी भक्षण करने वाले राहु को आतंकित कर भगाकर राहु का, इन्द्र के वज्र का आघात सहकर इन्द्र का और वज्र की धार कुण्ठित कर वज्र का मान भंग कर दिया था।

(३) 'सिंहिका मद-मथन'—सिंहिका नामक राक्षसी समुद्र में रहती थी और जीव-जन्तुओं की परछायीं पकड़कर उन्हें खा जाती थी। हनुमान ने जब समुद्र को लांघा था तो इसने इनके साथ भी यही हरकत की थी परन्तु हनुमान ने बड़े कौशल के साथ इसे मार डाला था।

(४) 'कालनेमि'—यह एक मायावी राक्षस था, जिसका संजीवनी बूटी लाने के लिए जाते समय हनुमान ने वध किया था।

(५) 'रुद्र अवतार'—एक बार शिव ने राम से उनकी सेवा करने का वरदान माँगा और उसी के अनुसार कालान्तर में हनुमान के रूप में अवतार धारण कर राम की सेवा की। इसी कारण हनुमान को 'एकादश रुद्र' माना गया है।

[२६]

जयति मर्कटाधीश मृगराज-विक्रम, महादेव मुद-मंगलालय कपाली।
मोहमद-कोह-कामादि-खल-संकुला, घोर संसार-निसि किरनमाली।।१।।
जयति लसदञ्जनादितिज कपि-केसरी-कस्यप-प्रभव जगदार्तिहर्त्ता।
लोक-लोकप-कोक कोकनद-सोकहर, हंस हनुमान कल्यानकर्त्ता।।२।।
जयति सुबिसाल बिकराल-विग्रह, वज्रसार सर्वाङ्ग भुजदण्ड भारी।
कुलिस नखं, दसनवर लसत, बालधिबृहद, बैरि सस्त्रास्त्रधर कुधरधारी।।३।।
जयतिजानकी-सोच-सन्ताप-मोचन, रामलछमनानंद-बारिज-बिकासी।
कीस कौतुक-केलि, लूम-लंका-दहन, दलन कानन, तरुन तेजरासि।।४।।
जयति पाथोधि-पाषान-जलजानकर, जातुधान-प्रचुर-हर्ष-हाता।
दुष्ट-रावन-कुंभकरन-पाकारिजित-मर्मभित्, कर्म-परिपाक-दाता।।५।।
जयति भुवनैकभूषन, विभीषनबरद, बिहित कृत राम संग्राम साका।
पुष्पकारूढ़ सौमित्र-सीता-सहित, भानुकुल-भानु-कीरति-पताका।।६।।

जयति पर-जंत्रमंत्राभिचार-ग्रसन, कारमनि-कूट-कृत्यादि-हंता ।
साकिनी - डाकिनी - पूतना - प्रेत - बैताल - भूत-प्रमथ - जूथ - जंता ।।७।।
जयति वेदान्तबिद बिबिध-बिद्या-बिसद, बेद-बेदांगबिद ब्रह्मबादी ।
ग्यान-बिग्यान-बैराग्य-भाजन बिभो, बिमल गुन गनति सुक नारदादी ।।८।।
जयति काल-गुन-कर्म-मायामथन, निस्चल ग्यान ब्रत-सत्यरत धर्मचारी ।
सिद्ध-सुरबृन्द-जोगीन्द्र-सेबित सदा, दासतुलसी प्रनत-भय-तमारी ।।९।।

शब्दार्थ—मर्कटाधीश=वन्दरों के राजा । मृगराज=सिंह । विक्रम=वल । मंगलालय=मंगल+आलय=मंगल के स्थान । कपाली=कपालधारी शिव के अवतार । कोह=क्रोध । संकुला=भरी हुई, संकुलित । किरनमाली=सूर्य । लसदजनादितिज=लसत्+अंजना+अदिति+ज=अंजना रूपी अदिति से उत्पन्न शोभायमान हो । कस्यप=कश्यप ऋषि । केसरी=हनुमान के पिता का नाम । प्रभव=उत्पन्न हुए हो । जगदार्तिहर्त्ता=जगत+आर्ति+हर्त्ता=संसार के दुख को हरने वाले । लोकप=लोकपाल । कोक=चकवा । कोकनद=कमल । हंस=सूर्य । बिग्रह=शरीर । वज्रसार=वज्र का सार, तत्त्व । सर्वाङ्ग=सारे अंग । कुलिस=वज्र । दसनवर=सुन्दर दाँत । वालधि=पूँछ । कुधर=पर्वत । बारिज=कमल । कीस=बन्दर । पाथोधि=समुद्र । जलजान=जलयान, जहाज । जातुधान=राक्षस । हाता=हनन करने वाले । पाकारिजित=इन्द्रजीत, मेघनाद । मर्मभित=मर्म स्थान को भेदने वाले । कर्म-परिपाकदाता=कर्मों का पूर्ण फल देने वाले । भुवनैक-भूषन=भुवन+एक+भूषन=सारे संसार के एक ही आभूषण, संसार शिरोमणि । बरद=वरदान देने वाले । साका=यश । पुष्पकारूढ़=पुष्पक विमान पर आरूढ़ । पर=दूसरों के, शत्रुओं के । कारमनि=जंत्र-मंत्र द्वारा मार डालना । कूट=गुप्त । जूथ=यूथ, समूह । जंता=यंता, सारथी, नियंत्रण रखने वाले । वेदान्त-बिद=वेदान्त के ज्ञाता । विसद=विशारद । भाजन=पात्र । गनति=गिनते हैं । सुक=शुकदेव । मथन=मर्दन करने वाले । तमारी=सूर्य । प्रमथ=शिव के गण ।

भावार्थ—हे बन्दरों के राजा, सिंह के समान पराक्रमी, देवताओं में श्रेष्ठ, आनन्द और कल्याण के भण्डार, कपालों की माला धारण करने वाले शिव के अवतार, मोह, मद, क्रोध, काम आदि रूपी दुखों से भरे हुए संसार रूपी भयंकर रात्रि का विनाश करने वाले सूर्य तुल्य हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! हे अंजना रूपी अदिति और वानर राज केसरी रूपी कश्यप से उत्पन्न हुए, संसार के दूख को दूर करने वाले, लोक और लोकपाल रूपी चकवों और कमलों का शोक करने वाले, सब का कल्याण करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! (अदिति—देवताओं की माता और कश्यप—प्रजापति—से सूर्य उत्पन्न हुए थे । हनुमान ने उसी सूर्य के

समान अंजना और केसरी से उत्पन्न हो दुष्टों का संहार कर सबको उसी प्रकार सुखी किया था, जैसे सूर्य चकवा और कमलों को सुखी करता है ।)

हे विशाल, विकराल शरीर और वज्र के समान कठोर सम्पूर्ण अंगों तथा भारी भुजदण्डों, वज्र के समान नखों और सुन्दर दाँतों, विशाल लम्बी पूँछ और अस्त्र-शस्त्र सज्जित शत्रुओं के लिए पर्वत का हथियार हाथ में धारण करने वाले हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! (भाव यह है कि नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण किये शत्रुओं के विरुद्ध तुम नाखून, दाँत, पूँछ और पहाड़ आदि को शस्त्र बनाकर युद्ध करते हो ।) जानकी के शोक और दुख को दूर करने वाले, राम-लक्ष्मण के आनन्द-रूपी कमलों को सूर्य के समान खिला देने वाले अर्थात् उन्हें आनन्दित करने वाले, वन्दरों के चंचल स्वभाव के अनुसार खेल-ही-खेल में अपनी पूँछ से लंका-दहन करने वाले, अशोक वाटिका का विध्वंस करने वाले, मध्याह्न के सूर्य के समान भयंकर—हे तेजस्वी हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! समुद्र पर पत्थरों को जहाज के समान तैरा देने वाले, राक्षसों के अत्यधिक हर्ष को नष्ट कर देने वाले, रावण, कुम्भकर्ण तथा पाक नामक दैत्य को मारने वाले, इन्द्र पर विजय प्राप्त करने वाले, मेघनाद इन्द्रजीत (मेघनाद) आदि दुष्टों के मर्मस्थानों को विद्ध कर उन्हें उनके पाप-कर्मों का फल देने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

संसार के एक ही आभूपण अर्थात् संसार-शिरोमणि, विभीपण को वर देने वाले, राम के विशेष हित के लिए युद्ध में बड़े-बड़े यशपूर्ण कार्य करने वाले, पुष्पक-विमान पर लक्ष्मण और सीतासहित विराजमान सूर्यकुल के सूर्य राम की कीर्त्ति-पताका के समान सुशोभित होने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! शत्रुओं द्वारा किये गये यन्त्र-मन्त्र और अभिचार आदि (नीति-विरुद्ध) क्रियाओं का विनाश करने वाले, अर्थात् मोहन, उच्चाटन आदि घातक क्रियाओं के विनाशक, गुप्त मारण एवं प्राणघातिनी कृत्या आदि भयानक नाश की शक्तियों का निवारण करने वाले, शाकिनी, डाकिनी, पूतना, प्रेत, बैताल, भूत और प्रमथ आदि शिवगणों के समूहों का नियंत्रण करने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता (विद्वान्), विविध विद्याओं के विशारद, वेद-वेदांगों के विद्वान् (वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), ब्रह्मवादी (परमात्मा के स्वरूप को जानने वाले), ज्ञान, वैराग्य और आत्मज्ञान के सत्पात्र, हे वैभवशाली हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! शुकदेव और नारद आदि ऋषि तुम्हारे निर्मल गुणों का सदैव गान किया करते हैं । तुम (दिन, घड़ी, पल आदि) काल; (सत, रज, तम आदि) गुण; (शुभ-अशुभ अथवा संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण आदि) कर्म और (आत्मरूप को भुलाकर जीव को इन्द्रिय सुखों में अनुरक्त कर देने वाली) माया का नाश करने वाले हो । सिद्ध, देवता योगिराज आदि सभी तुम्हारी सदैव सेवा किया करते हैं । ऐसे हे हनुमान ! तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता है, क्योंकि

तुम उसके भव-भयरूपी अन्धकार को मिटाने के लिए सूर्य के समान हो। अर्थात् तुम्हारे कारण तुलसीदास सम्पूर्ण सांसारिक भयों से मुक्त हो राम का भजन निर्भय होकर करता है।

टिप्पणी—(१) 'काल-गुन-कर्म माया'—वियोगी हरि ने इन शब्दों की विस्तृत-व्याख्या इस प्रकार की है—**काल**—पल, विपल, घड़ी, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर, युग आदि-काल अव्यक्त माना गया है। महाप्रलय इसका ही रूप है। **गुण**—सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। न्यूनाधिक परिमाण में यह गुण प्रत्येक जीव में रहा करता है। सत्प्रवृत्ति सत्य से, भोग-विलासेच्छा रज से और अज्ञान, निद्रा, क्रोध आदि तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। **कर्म**—कर्म चार प्रकार के हैं—सकाम, निष्काम, प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा शुभ और अशुभ। विकर्म, कर्म और अकर्म—ये भी इसके भेद हैं। फिर भी कर्मरहस्य महान् गहन है। **माया**—आत्म में अनात्म तथा अनात्म में आत्म का रोपण करने वाली अविद्या। जहाँ तक मन-वाणी की गति है, वहाँ तक इसका साम्राज्य है। जैसे—

गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो नेइ माया जानेहु भाई॥

—(रामचरितमानस)

(२) 'विभीपनवरद'—लंका दहन के समय विभीपण द्वारा अपनी दुख-गाथा सुनाने पर हनुमान ने उसे वरदान दिया था कि राम तुम्हारा दुख अवश्य दूर करेंगे।

[२७]

जरति मंगलागार संसारभारापहर बानराकार बिग्रह पुरारी।
राम-रोषानल-ज्वालमाला-मिष ध्वांतचर-सलभ-संहारकारी॥१॥
जयति मरुदञ्जनामोद-मन्दिर, नतग्रीव-सुग्रीव-दुःखैक-बन्धो।
जातुधानोद्धत-क्रुद्ध-कालाग्निहर, सिद्ध सुर-सज्जनानंद-सिन्धो॥२॥
जयति रुद्राग्रनी, बिस्वविद्याग्रनी, बिस्वविख्यात भट चक्रवर्ती।
सामगानाग्रनी, कामजेताग्रनी, रामहित रामभक्तानुवर्ती॥३॥
जयति संग्रामजय रामसंदेसहर, कौसला-कुसल-कल्यानभाषी।
राम-विरहार्क-संतप्त-भरतादि-नरनारि-सीतलकरन कल्पसाषी॥४॥
जयति सिंहासनासीनसीतारमन निरखि निर्भरहरष नृत्यकारी।
राम-संभ्राज सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-बिहारी॥५॥

शब्दार्थ—मंगलागार=मंगल, कल्याण के भण्डार। भारापहर=भार+अपहर=भार को दूर करने वाले। वानराकार=वानर रूप। विग्रह=शरीर। मिष=बहाने से। ध्वांतचर=राक्षस। सलभ=शलभ, पतिंगे। मरुदंजनामोद=

मरुत+अंजना+मोद=पवन और अंजना का आनन्द । नतग्रीव=नीची गर्दन किये हुए । दुखैक=दुख के । वन्धो=वन्धु के समान । जातुधानोद्धत=जातुधान+उद्धत=राक्षसों के बढ़े हुए । कालाग्निहर=काल+अग्नि+हर=काल रूपी अग्नि को हरने वाले । रुद्राग्रनी=रुद्र+अग्रनी=रुद्रों में श्रेष्ठ । विद्याग्रनी=विद्या+अग्रनी=विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ, अग्रणी । भट=योद्धा, वीर । सामगानाग्रनी=सामगान करने वालों में अग्रणी । कामजेताग्रनी=काम+जेता+अग्रनी=काम को जीतने में अग्रणी, सर्वश्रेष्ठ । रामभक्तानुवर्ती=रामभक्त+अनुवर्ती=रामभक्तों के पीछे-पीछे रहने वाले । संदेसहर=संदेश ले जाने वाले । कौसला=अयोध्या । विरहार्क=विरह+अर्क=विरहरूपी सूर्य । कल्पसापी=कल्पवृक्ष=सापी=शापी=वृक्ष । निर्भर=पूर्णरूप से भरे हुए । संभ्राज=शोभित । रामपुर=अयोध्या ।

भावार्थ—हे कल्याण के भण्डार, संसार के भार को दूर करने वाले, वानर के आकार जैसे शरीर वाले, त्रिपुरारि शिव के अवतार, राम के क्रोधरूपी अग्नि की ज्वाल-माला के वहाने से राक्षस रूपी पतिंगों को भस्म कर देने वाले हनुमान ! तुम्हारी जय हो । पवन और अंजना (पिता और माता) के आनन्द के मन्दिर अर्थात् उन्हें आनन्द देने वाले, (वालि के भय के मारे) नीची गर्दन किये दीन बने सुग्रीव के दुख में वन्धु के समान उसके सहायक, राक्षसों के उद्धत क्रोध की काल के समान भयंकर विनाशकारी अग्नि का विनाश करने वाले अर्थात् राक्षसों के भयंकर क्रोध को उनका विनाश कर दूर करने वाले, सिद्ध, देवता और सज्जन पुरुषों को आनन्द देने वाले सिन्धु, अर्थात् जिस प्रकार सागर सब को अपने जल द्वारा आनन्द देता है, उसी प्रकार सब को अमित, अथाह आनन्द देने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! एकादश रुद्रों में अग्रणी, संसार भर के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ, विश्व-विख्यात वीर, चक्रवर्ती, सामगान करने वालों में सर्वशिरोमणि, काम को जीतने वालों में अद्वितीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचारी, राम का हित करने वाले, राम के भक्तों के पीछे-पीछे चलने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

संग्रामों में विजय प्राप्त करने वाले, राम का (सीता के पास) सन्देश ले जाने वाले, अयोध्या का कुशल समाचार (राम को) सुनाने वाले, सदैव कल्याण कारक वचन बोलने वाले, राम के विरहरूपी सूर्य की ज्वाला से संतप्त भरत और अयोध्या के नर-नारियों को (राम का कुशल समाचार सुना) शीतलता प्रदान करने वाले, कल्पवृक्ष के समान सब की मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! सिंहासन पर आसीन सीताराम को देखकर हर्ष से पूर्णरूपेण उल्लसित हो नाच उठने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! जैसे तुम राम के साथ शोभासहित अयोध्या में विराजमान हुए थे, उसी प्रकार तुलसीदास की मनरूपी अयोध्या में रामसहित सदा विहार करो ।

टिप्पणी—(१) हनुमान को पवन और अंजना का पुत्र माना गया है जबकि अंजना का पति केसरी नामक बन्दर था । कहा जाता है कि एक बार अंजना श्रृंगार

किये खड़ी थी कि उधर से गुजरते हुए पवन उसके सौन्दर्य पर मुग्ध उठे। उन्हीं के वीर्य से अंजना के गर्भ से हनुमान का जन्म हुआ। इसी कारण हनुमान को 'पवन-कुमार', 'वातात्मज' तथा साथ ही 'केसरी नन्दन' भी कहा जाता है।

(२) 'रुद्राग्रनी'—देखिए पदसंख्या २५ की पाँचवीं टिप्पणी।

(३) चौथे पद के अनुसार हनुमान जब संजीवनी बूटी लेकर आ रहे थे तो भरत ने उन्हें अयोध्या के ऊपर से गुजरते हुए देख वाण मारकर नीचे गिरा लिया था। उसी समय हनुमान ने भरतादि को राम का समाचार सुनाया था, और लौटकर राम को अयोध्या के समाचार सुनाये थे।

(४) अन्तिम पद में यह विशेषता द्रष्टव्य है कि तुलसी हनुमान के इतने प्रशस्ति गान के उपरान्त भी उनसे याचना करते हैं कि वह सिंहासनासीन राम-सीता सहित ही उनके मानस-मन्दिर में विहार करें, न कि अकेले। यह तुलसी की राम के प्रति अनन्य भक्ति-भावना का द्योतक है।

[२८]

जयति बात-संजाय, बिख्यात बिक्रम, बृहद्‌बाहु बल बिपुल बालधिबिसाला।
जातरूपाचलाकार बिग्रह लसत, यूम बिद्युल्लता ज्वालमाला ।।१।।
जयति बालार्क बर-बदन, पिंगल नयन, कपिस-कर्कस जटाजूटधारी।
बिकट भृकुटी, बज्र दसन नख, बैरि-मत्त-कुंजर-पुंज कुंजरारी ।।२।।
जयति भीमार्जुन-व्यालसूदन-गर्वहन, धनंजय-रथ-त्राण-केतू।
भीष्म-द्रोण-करणादि-पालित कालदृक सुजोधन-चमू-निधान-हेतू ।।३।।
जयति गतराजदातार, हंतार-संसार संकट, दनुज-दर्पहारी।
ईति-अतिभीति-गृह-प्रेत-चौरानल-व्याधिबाधा-समन घोर मारी ।।४।।
जयति निगमागम-व्याकरन-करनलिपि, काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो।
सामगायक भक्त-काम-दायक, बामदेव, श्रीराम-प्रिय-प्रेम-बन्धो ।।५।।
जयति धर्मांसु-संदग्ध संपाति नवपच्छ - लोचन - दिव्य - देह-दाता।
कालकलि-पापसंताप-संकुल सदा, प्रनत तुलसीदास तात माता ।।६।।

शब्दार्थ—बात-संजात=पवन से उत्पन्न, वायुपुत्र। बालधि=पूँछ। जात-रूपाचलाकार=जातरूप+अचल+आकार=सोने के पर्वत (सुमेरु) के आकार के समान। जातरूप=स्वर्ण। अचल=पर्वत। विद्युल्लता=बिजली की लता। बालार्क =बाल सूर्य, उदय होता हुआ सूर्य। पिंगल=पीले। कपिस-कर्कस=भूरे और कठोर। कुंजरारी=कुंजर=अरि=हाथी का शत्रु सिंह। भीमार्जुन=भीमसेन और अर्जुन। व्यालसूदन=गरुड़। धनंजय=अर्जुन। केतू=पताका पालित=

रक्षित । कालदृक=काल के समान दृष्टि वाली, प्रचंड, भयानक, दुर्दमनीय । सुजोधन =दुर्योधन । चमू=सेना । गतराजदातार=गये हुए राज्य को पुनः दिलाने वाले । हंतार=हरण करने वाले । ईति=अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टीढ़ी, मूषक, तोते, राजा-क्रमण आदि कृषि के लिए छः प्रकार की ईति अर्थात् संकट माने गये हैं । अतिभीति =बड़े-बड़े भयानक भय । चौरानल=चौर+अनल=चोर और अग्नि । व्याधि= संकट । मारी=महामारी, भयंकर बीमारी । निगमागम=निगम+आगम=वेद और शास्त्र । करनलिपि=लिखने वाले, लिपिबद्ध करने वाले । भक्त-काम-दायक =भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले । बामदेव=शिव । बन्धो=बन्धु । घर्मांसु=सूर्य । संपाति=एक गिद्ध का नाम जो जटायु का भाई था । पच्छ=पंख । संकुल=व्याप्त ।

भावार्थ—हे वायु पुत्र ! तुम्हारी जय हो ! तुम्हारा पराक्रम जगत्प्रसिद्ध है, तुम्हारे भुजदंड विशाल, बल असीम और पूँछ बड़ी लम्बी है । तुम्हारा शरीर स्वर्ण-पर्वत सुमेरु के आकार के समान पीले रंग का, विशाल और सुन्दर है और पूँछ बिजली की लता अथवा अग्नि की लपटों के समान जगमगाती रहती है । उदयकालीन सूर्य के समान लाल सुन्दर मुख, पीले नेत्र और भूरे कठोर जटाजूटधारी, टेढ़ी भौंहों, वज्र के समान तीक्ष्ण-कठोर दाँत और नाखूनों वाले, अहंकार में मदमत्त बने शत्रुओं रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह के समान भयानक हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! भीम, अर्जुन और गरुड़ के अहंकार को दूर करने वाले, अर्जुन के रथ की रक्षार्थ उसकी पताका पर बैठ उसकी रक्षा करने वाले, भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि द्वारा रक्षित दुर्योधन की सेना का विनाश करने के लिए काल दृष्टि अर्थात् यम की दृष्टि के समान भयानक हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! भाव यह है कि तुमने ही अर्जुन के रथ की पताका पर बैठकर भीष्मादि महारथियों द्वारा रक्षित दुर्योधन की सेना का अर्जुन द्वारा विनाश करवाया था ।

लोगों के गये हुए राज्यों को पुनः उन्हीं को दिलाने वाले (सुग्रीव और विभीषण का राज्य उन्हीं को दिलाने वाले), संसार के संकटों को दूर करने वाले, दैत्यों के अहंकार का दलन करने वाले, ईति (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टीढ़ी, मूषक, तोते, राजाक्रमण आदि कृषि सम्बन्धी संकटों), बड़े-बड़े भय, विभिन्न कुग्रहों, प्रेत, चोर, अग्नि, रोग आदि विघ्नों का शमन करने वाले और भयंकर महामारियों (बीमारियों) आदि को दूर करने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! वेद, शास्त्र, व्याकरण आदि को (सूर्य से पढ़कर) लिपिबद्ध या उनकी टीका करने वाले, काव्य का जो कौतुक है (अर्थात् अलंकार, वैचित्र्य, रस आदि) उसे तथा विभिन्न प्रकार की करोड़ों कलाओं के समुद्र के समान अथाह, गम्भीर विद्वान्, सामगान करने वाले, भक्तों की सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले, शिव के अवतार

और प्रेम-वत्सल राम का बन्धु के समान हित करने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

सूर्य के प्रखर तेज से दग्ध हुए सम्पाति नामक गिद्ध को नये पंख, नेत्र और दिव्य शरीर प्रदान करने वाले, कलियुग के पापों और सन्तापों से सदैव ओतप्रोत रहने वाला यह दीन तुलसीदास तुम्हें प्रणाम करता है। तुम्हीं इसके माता-पिता हो। ऐसे हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

टिप्पणी—(१) पाठान्तर—आचार्य शुक्ल ने 'धर्मांसु' स्थान पर 'घर्मांसु' पाठ माना है। अर्थ दोनों का ही 'सूर्य' है।

पण्डित रामेश्वर भट्ट ने द्वितीय पंक्ति में 'लसत लूम विद्युल्लता' के स्थान पर 'लसल्लोम-विद्युल्लता' पाठ माना है। जिसका अर्थ है—तुम्हारे रोमों में बिजली की लता के समान बड़ी भारी चमक झकझका रही है।

(२) भीम, अर्जुन और गरुड़ का हनुमान ने गर्व नष्ट किया था। इस सम्बन्ध में 'महाभारत' में निम्नलिखित कथाएँ आयी हैं—

भीम—जब पाण्डव वनवास कर रहे थे, उस समय एक दिन भीमसेन को मार्ग में एक विशालकाय बन्दर मार्ग को रोके हुए पड़ा मिला। भीम गर्व में भर जोर से हुँकार कर उठे। उस हुँकार से बन्दर की नींद खुल गयी। उसने भीम से पूछा कि तुमने मुझे क्यों जगा दिया। भीम ने कहा कि मार्ग से हटकर हमें रास्ता दो। बानर ने कहा कि भई ! मैं बूढ़ा हूँ, उठा-बैठा नहीं जाता, तुम मेरी पूँछ हटा कर निकल जाओ। भीम ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी परन्तु पूँछ टस-से-मस नहीं हुई। फिर यह ज्ञात होने पर कि यह हनुमान हैं, भीम ने उन्हें प्रणाम किया। तब हनुमान ने उन्हें मार्ग दिया।

अर्जुन—महाभारत के युद्ध में अर्जुन और कर्ण का संग्राम हो रहा था। अर्जुन के वाण से कर्ण का रथ बहुत दूर जा गिरता था और कर्ण का वाण लगने पर अर्जुन का रथ जरा सा खिसक कर ही रह जाता था। यह देखकर अर्जुन को अपने बल पर बड़ा गर्व हुआ। यह देख कृष्ण ने अर्जुन की ध्वजा पर बैठे हनुमान से चुपचाप कह दिया कि तुम थोड़ी देर के लिए दूर हट जाओ। कर्ण ने जब फिर वाण मारा तो अर्जुन का रथ बहुत दूर जा गिरा। अर्जुन ने व्याकुल होकर अपने सारथी कृष्ण से इसका कारण पूछा। कृष्ण ने कहा कि तेरा अपने बल का अभिमान करना व्यर्थ है क्योंकि अब तक हनुमान तेरी ध्वजा पर बैठे थे, इसलिए रथ अधिक नहीं खिसक पाता था। अब वह उतर गये हैं; इसलिए तेरी यह दुर्गति हुई है। यह सुन अर्जुन बहुत लज्जित हुआ।

गरुड़—एक बार भगवान ने गरुड़ को हनुमान को बुला लाने के लिए भेजा। हनुमान ने गरुड़ से कहा कि तुम चलो, मैं आता हूँ और तुमसे पहले पहुँच लूँगा।

गरुड़ अपनी तीव्र गति के गर्व में भरपूर तेजी से चले और जब भगवान् के पास पहुँचे तो देखा कि हनुमान वहाँ विराजमान हैं। यह देख गरुड़ बड़े लज्जित हुए।

(३) सम्पाति जटायु का भाई था। एक बार दोनों भाई गर्व में भर सूर्य की ओर उड़े। जटायु तो सूर्य का तेज न सह सकने के कारण बीच से ही लौट आया परन्तु सम्पाति सूर्य के पास तक पहुँच गया और उसके पंख और सारा शरीर झुलस गया और वह नीचे गिर पड़ा। जब हनुमान सीता की खोज करते हुए समुद्र-तट पर पहुँचे तो सम्पाति ने ही उन्हें सीता का पता बताया। हनुमान की कृपा से उसको नये पंख, नेत्र, शरीर आदि प्राप्त हुए।

(४) कहा जाता है कि हनुमान बड़े विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। उन्होंने सूर्य से सारी विद्याएँ पढ़कर वेदों, शास्त्रों, काव्य, वेदांग आदि पर भाष्य लिखे थे। हनुमन्नाटक, हनुमत् ज्योतिष आदि ग्रन्थ हनुमान द्वारा लिखे हुए कहे जाते हैं। यह भी लोकविश्वास है कि चित्रकाव्य के आदि प्रणेता वही थे।

(५) इस पद में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिन कार्यों को करने का श्रेय राम को दिया जाता है, उन्हीं को करने का श्रेय हनुमान को दिया गया है, यद्यपि इन कार्यों के मूल कारण राम थे। हनुमान तो निमित्त मात्र थे। परन्तु क्योंकि वह प्रत्येक कार्य में राम के प्रधान सहायक रहे थे, इसलिए श्रेय का अंश उन्हें मिलना न्यायोचित है। तुलसीदास ने इसी कारण हनुमान को इन कार्यों का कर्त्ता कहा है।

[२६]

जयति निर्भरानन्द-सन्दोह कपिकेसरी, केसरी-सुवन भुवनैकभर्त्ता।
दिव्य-भूम्यंजना-मंजुलाकर-मणे, भक्त-संताप-चिन्तापहर्त्ता ॥१॥
जयति धर्मार्थ-कामापवर्गद विभो, ब्रह्मलोकादि-वैभव-बिरागी।
बचन-मानस-कर्म-सत्य-धर्मव्रती, जानकीनाथ-चरनानुरागी ॥२॥
जयति बिहगेस-बलबुद्धि-बेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन ऊर्ध्वरेता।
महानाटक-निपुन-कोटि-कबिकुल-तिलक, गानगुन-गरब-गन्धर्व जेता॥३॥
जयति मन्दोदरी-केस-कर्षन विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुःख-संजात-रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी ॥४॥
जयति रामायन-स्रवन-सजात-रोमांच, लोचन सजल, शिथिल बानी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर पाहि दासतुलसी सरन सूलपानी ॥५॥

शब्दार्थ—निर्भरानन्द=निर्भर+आनन्द=पूर्णानन्द। सन्दोह=समूह। भुवनैकभर्त्ता=भुवन+एक+भर्त्ता=संसार के एक ही स्वामी। भूम्यंजनामंजुलाकर-

मणे=भूमि+अंजना+मंजुल+आकार+मणि=अंजना-रूपी भूमि की सुन्दर खान के रत्न । चिन्तापहर्त्ता=चिन्ता+अपहर्त्ता=चिन्ता का अपहरण करने वाले। धर्मार्थ=धर्म+अर्थ । कामापवर्गद=काम+अपवर्ग+द=काम और मोक्ष के दाता। बिरागी=विरक्ति रखने वाले। बिहगेस=गरुड़। वेगति=वेग+अति=अत्यन्त तीव्र गति। मनमथ-मथन=कामदेव का मर्दन करने वाले। ऊर्ध्वरेता=जितेन्द्रिय, जिसका वीर्य कभी स्खलित न हुआ हो, अखण्ड ब्रह्मचारी। गानगुन=संगीत विद्या। जेता=जीतने वाले। केश-कर्षन=केशों को खींचने वाले। विद्यमान=प्रस्तुत रहते हुए। भट-मुकुट=सर्वश्रेष्ठ योद्धा। मानी=अभिमानी। भूमिजा=भूमि की पुत्री सीता। संजात=उत्पन्न। जातना=यातना । जातुधानी=राक्षसियाँ। पाहि=रक्षा करो। रोषांतकृत=रोष+अंतकृत=रोष के कारण यमराज के समान। अंतकृत=यमराज। सूलपानी=शूलपाणि, त्रिशूलधारी शिव। जातना जन्तु=वह जन्तु जो मरण काल का कष्ट भोग रहा हो।

भावार्थ—पूर्ण आनन्द के समूह, वानरों में सिंह के समान अमित पराक्रमी, केसरी के पुत्र, संसार के एकमात्र स्वामी, अंजना रूपी दिव्य भूमि की (उदररूपी) सुन्दर खान से उत्पन्न मणि, भक्तों की चिन्ता और दुःखों को दूर करने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! (यहाँ 'मणि' से अभिप्राय 'चिन्तामणि' से ग्रहण किया जा सकता है। भाव यह है कि जिस प्रकार दिव्य भूमि से चिन्तामणि उत्पन्न हुई थी, उसी प्रकार तुम अंजना के गर्भ से उसी चिन्तामणि के समान सबकी चिन्ताएँ दूर करने के निमित्त उत्पन्न हुए थे।) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने में पूर्ण समर्थ, ब्रह्मलोक आदि के वैभव के प्रति पूर्ण विरक्त (अनासक्त) रहने वाले, वचन, मन और कर्म से सत्य धर्म पर आरूढ़ रहने वाले, सीतापति राम के चरणों में अनुराग रखने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो !

गरुड़ के बल, बुद्धि और अत्यन्त तीव्र गति के गर्व का हनन करने वाले, कामदेव का दमन करने वाले अखंड ब्रह्मचारी, बड़े-बड़े नाटकों (हनुमन्नाटक आदि) की रचना में परम निपुण, करोड़ों कवियों के समूह के शिरोमणि अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कवि, संगीत-विद्या में गधर्वों के वर्व को नष्ट करने वाले अर्थात् पूर्ण संगीत विशारद हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो ! वीर-शिरोमणि, अभिमानी रावण के विद्यमान रहते मन्दोदरी के केशों को खींचने वाले, सीता के दुःख से उत्पन्न यमराज के समान प्राणान्तक क्रोध कर राक्षसियों को भयंकर यंत्रणाएँ देने वाले हे हनुमान ! तुम्हारी जय हो। भाव यह है कि जिस प्रकार यमराज क्रुद्ध होकर प्राणियों को यंत्रणाएँ दिया करते हैं उसी प्रकार तुमने सीता के दुःख के कारण राक्षसियों पर भयंकर रूप से क्रुद्ध हो उन्हें प्राणान्तक यंत्रणाएँ दी थीं।

रामायण की कथा सुनते ही तुम्हारा शरीर रोमांचित, नेत्र सजल और वाणी शिथिल हो उठती है। अर्थात् तुम्हारे नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आते हैं और कंठ गद्गद हो

उठता है। राम के चरण कमलों के मकरंद का भ्रमर के समान पान करने वाले हे त्रिशूलधारी शिव के अवतार हनुमान ! तुम्हारा दास तुलसी तुम्हारी शरण में आया है, उसकी रक्षा करो। तुम्हारी जय !

टिप्पणी—(१) 'जयति मन्दोदरी केस कर्षन' में अनुचित उपमा होने के कारण रसाभास हो जाता है। नारी के केश पकड़कर खींचना वीरता का प्रतीक नहीं माना जा सकता और वह भी हनुमान जैसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी द्वारा। हनुमान ने रावण का यज्ञ-विध्वंस करने के लिए रावण को उत्तेजित कर यज्ञ छोड़ उठ जाने के लिए मन्दोदरी के केश खींचे थे।

(२) 'महानाटक'—कहा जाता है कि हनुमान ने राम-चरित्र पर आधारित एक विशाल नाटक लिखा था परन्तु किसी को उसका उचित अधिकारी न पाकर उसे समुद्र में फेंक दिया। थोड़े से अंश बच रहे थे। उन्हीं का संकलन कर बाद में दामोदर मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' की रचना की।

(३) यह लोक-प्रसिद्धि है कि जहाँ कहीं रामायण की कथा होती है, हनुमान उसे सुनने वहाँ पहुँच जाते हैं।

(४) 'विहगेस'—गरुड़ सम्वन्धी कथा पिछले पद की टिप्पणी सं० २ में दी गयी है।

राग सारंग

[३०]

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की॥ १॥
अघटि-घटन, सुघट-बिघटन ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच-विमोचन, मूरति मोद-निधान की॥ २॥
तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा-बिलोकनि, खानि सकल कल्यान की॥ ३॥

शब्दार्थ—गति=शरण, आश्रय। पैज=प्रतिज्ञा। पूजि=पूर्ण। अघटि=असम्भव। सुघट=सम्भव। विघटन=नष्ट कर देते हैं। बिरुदावलि=कीर्ति, प्रशंसा। आन=अन्य। मोद-निधान=आनन्द के भण्डार।

भावार्थ—जिसे हनुमान का आश्रय प्राप्त है, अर्थात् जिसके सिर पर सदैव हनुमान की कृपा रहती है उसकी सारी प्रतिज्ञाएँ पूरी हो जाती हैं। यह बात वज्र और पत्थर की लकीर के समान अमिट है। हनुमान असम्भव बात को भी सम्भव

बना देते हैं (जैसे कि सुग्रीव और विभीषण को बालि और रावण जैसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहते हुए राज्य मिलना असम्भव था परन्तु वही सम्भव हो गया) और किसी की बनी-बनायी बात को बिगाड़ देते हैं। (जैसे रावण और बलि के वैभवपूर्ण राज्यों को नष्ट कर उनका वध कर डाला था।) ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने का यश इस संसार में अन्य किसी ने भी नहीं पाया है। ऐसे इन हनुमान का स्मरण करते ही सारे संकटों से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि इनकी मूर्ति ही आनन्द का भण्डार है। जो हनुमान का स्मरण करता है उस पर पार्वती, शिव, लक्ष्मण, राम और जानकी की सदैव कृपा बनी रहती है। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे इन हनुमान की कृपादृष्टि सम्पूर्ण कल्याणों की खान के समान है। अर्थात् हनुमान की कृपादृष्टि होते ही भक्त का सम्पूर्ण कल्याण हो जाता है।

टिप्पणी—'रेखा कुलिस पषान की' ने क्रम भङ्ग दोष' है क्योंकि यहाँ कुलिस (वज्र) पहले आया है जो पाषाण से अधिक कठोर माना गया है। नियम के अनुसार यहाँ 'पाषान कुलिस की' पाठ होना चाहिए था।

राग गौरी

[३१]

ताकिहै तमकि ताकी ओर को।
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी - किसोर को॥ १॥
जन-रंजन, अरिगन गंजन मुख-भंजन खल बरजोर को।
बेद पुरान प्रगट पुरुषारथ सकल - सुभट - सिरमोर को॥ २॥
उथपे-थपन, थपे उथपन पन, बिबुधवृन्द-बन्दिछोर को।
जलधि लाँघि दहि लंक प्रबल दल दलन निसाचर घोर को॥ ३॥
जाको बालबिनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को।
जाकी चिबुक-चोट चूरन किय रद-मद कुलिस कठोर को॥ ४॥
लोकपाल अनुकूल बिलोकिबो चहत बिलोचन-कोर को।
सदा अभय, जय मुदमंगलमय जो सेवक रनरोर को॥ ५॥
भक्त - कामतरु नाम राम परिपूरन चन्द चकोर को।
तुलसी फल चारों करतल जस गावत गई-बहोर को॥६॥

शब्दार्थ—तमकि=क्रुर होकर। ताकी=उसकी। को=कौन। अरिगन-गंजन=शत्रुओं का नाश करने वाले। बरजोर=बलवान। उथपे-थपन=उखड़े हुए को जमाने वाले। थपे=स्थापित, जमे हुए। उथपन पन=उखाड़ने की प्रतिज्ञा।

विबुधवृन्द=देवताओं का समूह। बन्दिछोर=बन्दीखाने से छुड़ाया। भोर=प्रभात। चिबुक=ठोढ़ी। रद-मद=दाँत और अहंकार। विलोचन-कोर=नेत्रों की कोर अर्थात् कृपादृष्टि। रनरोर=रण में विजयी। करतल=हाथ में। गई-बहोर=गयी हुई वस्तु को पुनः लौटाने वाले। जस=यश।

पाठान्तर—छठवीं पंक्ति में 'दल' के स्थान पर 'बल' पाठान्तर मिलता है। पण्डित रामेश्वर भट्ट द्वारा सम्पादित 'विनय-पत्रिका' में 'बल' पाठ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और वियोगी हरि ने 'दल' पाठ ही माना है।

भावार्थ—जिसे सब तरह से बन्दर केसरी के पुत्र हनुमान का भरोसा है; अर्थात् जो सब तरह से हनुमान पर निर्भर है उसकी ओर क्रोधपूर्वक देखने का भला कौन साहस कर सकता है ? अपने भक्तों को प्रसन्न रखने वाला, शत्रुओं का विनाश करने वाला और दुष्टों का मुख तोड़ने वाला हनुमान के समान दूसरा और बली कौन है ? वेद और पुराणों में इनके पुरुषार्थ की महिमा गायी गयी है, फिर भला इनके समान सर्वश्रेष्ठ योद्धा दूसरा कौन हो सकता है ? जो (सुग्रीव आदि) अपने राज्य से निकाल दिये गये थे, उन्हें पुनः उनका राज्य दिलाने वाला और (बालि, रावण आदि) सिंहासनासीन राजाओं को उखाड़ फेंकने वाला, बन्दीगृह में बन्द देवताओं को मुक्ति दिलाने वाला हनुमान के अतिरिक्त और कौन दूसरा हुआ है ? ऐसा दूसरा कौन है जिसने समुद्र को लाँघकर लंका को जलाया था और राक्षसों के भयंकर बलशाली दलों का विनाश किया था ?

जिनकी बाल-क्रीड़ा का स्मरण कर प्रभात कालीन सूर्य अब भी अपने हृदय में सदैव डरता रहता है कि कहीं यह फिर मुझे निगलने न आ पहुँचे। जिनकी ठोड़ी की चोट ने (इन्द्र के) कठोर वज्र के भी दाँत तोड़कर (उसकी धार कुंठित कर) उसका मान-मर्दन किया था। (इन्द्रादि) लोकपाल जिनकी कृपादृष्टि की बराबर चाहना किया करते हैं कि उन पर हनुमान की कृपादृष्टि बनी रहे क्योंकि जो रण में दुर्दमनीय ऐसे हनुमान का सेवक बना रहता है वह सदैव निर्भय रहता है और आनन्द-मंगल से परिपूर्ण रहता है। जिस प्रकार चकोर पूर्ण चन्द्र की ओर सदैव टकटकी लगाये रहता है उसी प्रकार सोलह कलाओं के अवतार राम की ओर बराबर टकटकी लगाये रहने वाले हनुमान भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के समान अर्थात् उनकी सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले हैं। तुलसीदास कहते हैं कि जो व्यक्ति गयी हुई वस्तु को पुनः प्राप्त करा देने वाले हनुमान का यश-गान करता है, उसे चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) हथेली पर रखी वस्तु के समान अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

राग बिलावल

[३२]

ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न राम से, तो से न उसीले ॥ १ ॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले।
जानत हौं कलि तेरेऊ मन गुनगन कीले ॥ २ ॥
हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।
सो बल गयो, किधौं भये अब गर्बगहीले ॥ ३ ॥
सेवक को परदा फटे तू समरथ सी ले।
अधिक आपु तें आपुनो सुनि मान सही ले ॥ ४ ॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँकाल तिनको भलो जे राम रँगीले ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—न बूझिये=चाहिए, समझ नहीं होनी चाहिए। साहब=स्वामी। उसीले=वसीला, सहायक। सिंह के सिसु=सिंह-शावक, सिंह का बच्चा। कीले=कील दिया है, नष्ट कर दिया है। बन्धन=अंग-अंग के जोड़। किधौं=अथवा। गर्बगहीले=घमंडी। सी ले=टाँके लगा दे। सुनि=सुनता। मान=मानता। सही=सहता। आपुनो=अपने सेवक की। साँसति=कष्ट। सुजस=सुयश, बड़ाई।

भावार्थ—कहा जाता है कि काशी के पण्डितों द्वारा कष्ट दिये जाने पर अथवा कलि द्वारा सताये जाने पर अथवा भयंकर फोड़ा होने पर अथवा अकबर द्वारा बन्दी बना लिये जाने पर तुलसीदास ने इस पद की रचना की थी। इसमें तुलसीदास का हनुमान के प्रति भक्ति-मिश्रित व्यंग्य-भाव प्रधान है।

हे हठी हनुमान! तुम्हारी ऐसी समझ तो नहीं होनी चाहिए अर्थात् मैं इतने भयंकर कष्ट में हूँ और तुम अपने भक्त की बात ही नहीं सुन रहे हो। आखिर मेरा कष्ट दूर न करने की ऐसी हठ तुमने क्यों ठान रखी है। राम के समान अपने सेवकों पर दया करने वाला दूसरा कोई भी स्वामी नहीं है, और न तुम्हारे समान राम-भक्तों की सहायता करने वाला ही कोई और है। परन्तु स्थिति यह है कि तुम्हारे देखते-देखते ही मुझ सिंह-शावक को मेंढक निगले जा रहा है। अर्थात् तुम सिंह के समान बलवान हो और मैं तुम्हारा बच्चा अर्थात् तुम पर उसी प्रकार आश्रित रहने वाला हूँ जिस प्रकार बच्चा अपने पिता पर आश्रित रहता है। फिर भी मेंढक के समान तुच्छ (कलियुग, काशी के पण्डित, फोड़ा या बादशाह) मुझे खोये डाल रहे हैं। यह स्थिति देखकर मुझे ऐसा लगता है कि कलियुग ने तुम्हारे मन तथा गुणों को

कील दिया है। अर्थात् भक्तों की रक्षा करने वाले तुम्हारे मन और दया, उदारता, शक्ति आदि गुणों को नष्ट कर दिया है।

एक दिन वे थे कि तुम्हारी हुंकार सुनते ही रावण के अंग-अंग ढीले पड़ गये थे, भय के मारे उसके पेट में पानी हो गया था। ऐसा लगता है कि तुम्हारा वह बल, अब नष्ट हो गया है अथवा अब तुम बहुत घमंडी हो गये हो कि अपने स्वामी राम के सेवक की आर्त्त पुकार सुनकर भी उनकी सहायतार्थ नहीं आते हो। देखो, तुम्हारे सेवक का परदा फट रहा है अर्थात् मेरी पोल खुली जा रही है कि यह राम का कैसा सेवक है कि राम और हनुमान जैसे रक्षक होते हुए भी इतना कष्ट पा रहा है। भाव यह है कि मैं राम-भक्त न सिद्ध होकर ढोंगी प्रमाणित हो रहा हूँ। तुम तो समर्थ हो, आकर मेरे इस फटे परदे में टांके लगा दो। अर्थात् मेरी इज्जत बचा लो, मेरे सेवकपन में बट्टा मत लगने दो। तुम्हारा तो यह स्वभाव था कि तुम स्वयं अपने आप से भी अपने सेवक की आर्त्त पुकार सुन उसे सही मान लेते थे और तुरन्त उसकी रक्षा करने जा पहुंचते थे।

तुलसीदास की इस कष्ट-गाथा को सुनकर तुम्हीं उसका उद्धार करने का सुन्दर यश अपने ऊपर ले; लो अर्थात् मुझे कष्ट-मुक्त कर भक्तों का उद्धार करने के यश के भागी बनो। (यदि तुम मेरी सहायता नहीं करते तो कोई बात नहीं, क्योंकि) जो राम-भक्त होते हैं उनका तीनों कालों में भला होता है अर्थात् उनके भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल सुन्दर हो जाते हैं। मैं राम-भक्त हूं, इसलिए मेरा तो उद्धार हो ही जायेगा परन्तु तुम्हें मेरा उद्धार करने के यश से वंचित ही रहना पड़ेगा।

टिप्पणी—(१) लोक-प्रसिद्धि है कि काशी के पण्डितों ने तुलसी का घोर विरोध कर उन्हें बड़े कष्ट दिये थे। अथवा एक बार उनके भयंकर फोड़ा हुआ था, उसके कष्ट से व्याकुल हो उन्होंने यह पद लिखा था अथवा कलि के प्रभाव के कारण उनकी बुद्धि में विकार उत्पन्न होने लगा था। इससे त्रस्त होकर उन्होंने इसे लिखा था।

एक दूसरी कथा इस पद से सम्बन्धित यह भी प्रचलित है कि एक बार बादशाह अकबर ने तुलसी की प्रसिद्धि सुन उन्हें अपने दरबार में बुला कोई चमत्कार दिखाने की आज्ञा दी। जब तुलसी ने मजबूरी जाहिर की तो बादशाह ने उन्हें जेल में डलवा दिया। वहीं उन्होंने इस पद की रचना की थी और उसका परिणाम यह हुआ था कि वन्दरों की विशाल टोलियों ने सारी राजधानी को आक्रान्त कर डाला। तब अकबर ने इन्हें मुक्त कर इनसे क्षमा-याचना की थी।

उपर्युक्त कारणों में से इस पद की रचना का मूल कारण चाहे कोई भी रहा हो, परन्तु यह निश्चित है कि तुलसी ने भयंकर रूप से पीड़ित या संकट-ग्रस्त होने पर ही इसकी रचना की होगी।

(२) 'कीलना'—उस क्रिया विशेष को कहते हैं, जिसमें तन्त्र-मन्त्र जानने

वाले अपने मन्त्रों के प्रभाव से सर्प आदि घातक जन्तुओं को वश में कर उनका घातक प्रभाव नष्ट कर देते हैं। सँपेरे आदि प्रायः इस प्रकार के चमत्कार दिखाते पाये जाते हैं। ओझा, सयाने आदि मन्त्रों द्वारा भूत-प्रेतों को भी कीलते कहे जाते हैं।

(३) इस पद में हनुमान के प्रति तुलसी का वही सामीप्य और ऐक्य का भाव मिलता है जो कहीं-कहीं सूर की सखा-भक्ति में दिखाई पड़ता है। जैसे कोई मुँह-लगा सेवक स्वामी से कहनी-अनकहनी सभी तरह की बातें कह लेता है, उसी प्रकार लाड़ले हनुमान-भक्त तुलसी हनुमान को उपालम्भ दे रहे हैं। यहाँ भक्ति की प्रगाढ़, अनन्य भावना अनुपम रूप से प्रकट हुई है।

(४) 'उसीले'—'वसीला' में अरबी-फारसी का प्रभाव लक्षित है।

[३३]

समरथ सुअन समीर के रघुबीर पियारे।
मोपर कीबी तोहि जो करि लेह भिया रे ॥१॥
तेरी महिमा तें चलैं चिंचिनी-चिया रे।
अँधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे ॥२॥
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ औगुन आपनो कर डारि दिया रे ॥३॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि, आजु लौं जग जागि जिया रे ॥४॥
जो तोसों होतौ फिरौं मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यों बदन देखावतो कहि बचन इया रे ॥५॥
तोसो ग्यान-निधान को सर्बग्य बिया रे।
हौं समुझत साईं-द्रोह की गति चार छिया रे ॥६॥
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे? ॥७॥

शब्दार्थ—मोपर=मुझ पर। कीबी=करना। भिया=भैया। चिंचिनी-चिया=इमली के चिए, बीज। जन=भक्त। अघ=पाप। डारि दिया=त्याग दिया। खोंची=भिक्षा। जागि=प्रसिद्ध होकर। तोसों=तुम्हारे समान। फिरौं=विमुख हो जाऊँ। हेतु=कारण। बदन=मुख। बिया=दूसरा। इया=यह, जली-कटी, न कहने योग्य बातें। साईं-द्रोह=स्वामी के साथ द्रोह। छार छिया=विष्टा का नरक। काको=किसको। तकिया=तकिया, सहारा, आश्रय।

भावार्थ—हे समर्थ, पवन पुत्र, रघुवीर राम के प्रिय हनुमान ! (इस संकट के समय) तुम्हें मुझ पर जो कुछ (अत्याचार) करने हैं, सो हे भैया ! जी भरकर कर लो। तुम्हारी महिमा इतनी अपार है कि तुम्हारे प्रताप से इमली के चिया (बीज) भी सिक्कों के समान चलते हैं अर्थात् मूल्यवान बन जाते हैं। तीनों लोकों में अपने कार्यों द्वारा (रावण आदि का वध कर) आनन्द का प्रकाश फैलाने वाले हे हनुमान ! फिर मेरी बारी आने पर तुमने इतना अन्धकार क्यों कर रखा है ? अर्थात् कलि मुझे इतना सता रहा है और फिर भी तुम उससे मेरी रक्षा नहीं करते। मेरी किस करनी (कार्य) से तुमने मुझे भक्त मानकर इतना सम्मान दिया था और फिर मेरे किस पाप के कारण अपने ही हाथ से मुझे इस प्रकार तिरस्कृत कर रखा है ? मैं भीख माँग-माँगकर अपना पेट भरता था और तुम्हारा नाम लिया करता था। मैं तुम पर बलिहार जाता हूँ, क्योंकि तुम्हारे ही बल-बूते पर मैं संसार में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर सका था और जीवित रहा था। अर्थात् मेरी प्रसिद्धि और मेरा जीवन तुम पर ही आधारित था। यदि मैं भी तुम्हारे जैसा ही होता तो तुमसे विमुख हो जाता (यह समझ कर कि जब तुमने ही मुझे त्याग दिया है तो तुमसे फिर प्रीति क्यों करूँ) परन्तु तुमसे विमुख न होने का कारण मेरा यह हृदय ही है (जो यह मानने को प्रस्तुत ही नहीं होता कि तुम मुझे त्याग सकते हो)। यदि ऐसा ही होता अर्थात् मैं भी तुमसे विमुख हो गया होता तो फिर तुम्हें आकर अपना यह मुख क्यों दिखाता और इतनी न कहने योग्य जली-कटी बातें क्यों सुनाता ? भाव यह है कि मुझे अब भी तुम पर पूरा भरोसा है। मैं तुम्हें अपना समझता हूँ। इसी कारण तुमसे इतनी कठोर बातें कह रहा हूँ।

इस संसार में तुम्हारे समान दूसरा सर्वज्ञ और ज्ञान का भण्डार और कौन है। मैं जानता हूँ कि स्वामी के साथ द्रोह (विश्वासघात) करने से विष्टा के नरक में पड़ना पड़ता है। (इसलिए मैं कभी स्वामिद्रोह नहीं कर सकता।) तुम्हारे स्वामी राम और स्वामिनी सीता हैं। उनके दरबार में तुम्हारे सिवाय तुलसी का और कौन है जिसकी ओर वह सहायता की दृष्टि डालें। भाव यह है कि मेरे तो एकमात्र तुम्हीं सहायक हो जो राम-सीता से मेरी सिफारिश कर सकते हो।

टिप्पणी—(१) इस पद में प्राणान्तक कष्ट से पीड़ित तुलसी की हनुमान के प्रति अगाध, अडिग भक्ति दृष्टव्य है। साथ ही इसमें दास्यभक्ति के अतिरिक्त सखा-भाव वाली भक्ति के भी लक्षण मिलते हैं।

(२) आज के व्यक्ति-प्रधान काव्य में आत्मश्लाघा पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई पड़ती है परन्तु तुलसी में इसका नाम-निशान तक नहीं मिलता। तुलसी में पूर्ण दैन्य-भावना है।

(३) 'कीबी' में बुन्देलखण्डी प्रभाव है, 'किया' आदि क्रियाओं पर उर्दू का, तथा 'तकिया' पर अरबी-फारसी का।

(४) 'भिया'—बनारसी बोली का ठेठ शब्द है, जिसका अर्थ है 'भैया'।

[३४]

अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी ।
इन को बिलगु न मानिये, बोलहिं न बिचारी ।।१।।
लोक-रीति देखी सुनी, व्याकुल नर नारी ।
अतिबरषे अनबरषे हूँ, देहि दैवहिं गारी ।।२।।
नाकहि आयो नाथ सों, साँसति भय भारी ।
कहि आयो, कीबी छमा, निज ओर निहारी ।।३।।
समै साँकरे, सुमिरिये, समरथ हितकारी ।
सो सब बिधि ऊबर करै अपराध बिसारी ।।४।।
बिगरी सेवक की सदा, साहबहिं सुधारी ।
तुलसी पर तेरी कृपा, निरुपाधि निरारी ।।५।।

शब्दार्थ—आरत=आर्त्त, दुखी । बिलगु=बुरा । बिचारी=सोच-समझ कर । दैवहिं=दैव, भगवान । नाकहि आयो=नाक में दम आ गया, बहुत परेशान हो उठा । नाथ=स्वामी । कीबी=करना । साँकरे=संकट के । ऊबर=उद्धार । बिसारी=भूल कर । सुधारी=सुधार लेते हैं । निरारी=निराली, अनोखी ।

पाठान्तर—आठवीं पंक्ति में 'ऊबर' के स्थान पर 'ऊपर' पाठ मिलता है जिसका अर्थ है—सहायता करता है ।

भावार्थ—इस पद के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि तुलसी की आर्त्त पुकार को सुन सम्भवतः हनुमान ने तुलसी का कष्ट दूर कर दिया होगा और तुलसी ने अपनी पिछली जली-कटी बातें कहने के लिए हनुमान से क्षमा कर देने की प्रार्थना की होगी । वैसे अकबर वाली घटना से भी इसका सम्बन्ध बैठाया जा सकता है ।

तुलसीदास कहते हैं कि जो अत्यन्त दुखी, अत्यन्त स्वार्थी, बड़ा दरिद्री और दुखी होता है उसकी बात का बुरा नहीं मानना चाहिए क्योंकि ऐसे लोग सोच-समझ कर कोई बात नहीं कहा करते । कारण यह है कि इनकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, जो मन में आया सो कह डालते हैं । संसार में ऐसी रीति देखी और सुनी जाती है कि नर-नारी बहुत अधिक वर्षा होने पर भी और वर्षा बिल्कुल न होने पर भी व्याकुल होकर ईश्वर को गालियाँ दिया करते हैं । (परन्तु ईश्वर इन गालियों का बुरा नहीं मानता, क्योंकि संकट पड़ने पर व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाया करती है ।) (और मैं तुमसे इतनी कड़वी बातें कहता भी नहीं परन्तु) जब कलि के अत्याचारों से मैं भयंकर रूप से पीड़ित और भयभीत हो उठा था, तब मैंने अपने स्वामी अर्थात् तुमसे (हनुमान से) इतनी कड़वी बातें कह डाली थीं । अर्थात् उस समय कष्ट और भय के कारण मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं रही थी और मैं ऊट-पटाँग बक

गया था। तुम तो क्षमाशील हो, इसलिए अपने इस गुण की ओर देखकर मेरी उस धृष्टता को क्षमा कर देना।

संकट पड़ने पर समर्थ और हितकारी का ही स्मरण किया जाता है अर्थात् उसे ही सहायता के लिए पुकारा जाता है और वह समर्थ और हितकारी अपने भक्त के सारे अपराधों को भुलाकर उसे उस संकट से उबार लेता है। सेवक की बिगड़ी बात को हमेशा स्वामी ही सुधारा करते हैं। (यह कोई नई बात नहीं है, सदैव से ऐसा ही होता चला आ रहा है।) और तुलसी पर तो तुम्हारी ऐसी निराली कृपा है कि उसे प्राप्त कर किसी बात का खटका ही नहीं रहता। भाव यह है कि तुम स्वामी और मैं तुम्हारा सेवक हूँ। संकट पड़ने पर यदि तुमसे न कहता तो भला और किससे कहने जाता। और तुम्हारी तो मुझ पर सदैव से निराली कृपा रही है।

[३५]

कटु कहिए गाढ़े परे, सुन समुझि सुसाईं।
करहिं अनभलेउ को भलो आपनी भलाई ॥१॥
समरथ सुभ जो पाइये, बीर पीर पराई।
ताहि तकैं सब ज्यों नदी, बारिधि न बुलाई ॥२॥
अपने अपने को भलो, चहैं लोग लुगाई।
भावै जो जिहिं तिहिं भजें, सुभ असुभ सगाई ॥३॥
बाँह बोल दै थापिये, जो निज बरिआई।
बिन सेवा सों पालिये, सेवक की नाईं ॥४॥
चूक चपलता मेरियै, तू बड़ो बड़ाई।
होत आदरे ढीठ है, अति नीच निचाई ॥५॥
बन्दिछोर बिरुदावली, निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को तेरियै निकाई ॥६॥

शब्दार्थ—कटु=कड़वी बातें। गाढ़े परे=संकट पड़ने पर। सुसाईं=अच्छे स्वामी। अनभलेउ=बुरे व्यक्ति का। सुभ=भला करने वाला। सगाई=सम्बन्ध। बाँह बोल=भुजबल का भरोसा। थापिए=स्थापित किया है, रख लिया है। बरिआई=जबर्दस्ती, हठपूर्वक। नाईं=तरह। मेरियै=मेरी है। निचाई=नीचता। बन्दि-छोर=बन्दीगृह से छुड़ाने वाले हो। निकाई=भलाई।

भावार्थ—संकट पड़ने पर ही कड़वे वचन कहे जाते हैं परन्तु अच्छे और भले स्वामी अपने सेवक की उस विषम परिस्थिति को सुन और समझ कर उस बुरे सेवक

की भी अपनी भलाई करने की आदत के अनुसार सदैव भलाई ही करते हैं। यदि समर्थ, भला और वीर स्वामी मिल जाता है तो सेवक के सारे कष्ट दूर भाग जाते हैं (क्योंकि वह पराई पीड़ा को भी अपनी पीड़ा के समान समझ उसे दूर कर देता है।) सब लोग उसकी ओर उसी प्रकार टकटकी लगाये देखा करते हैं और उसी प्रकार बिना बुलाये ही दौड़-दौड़ कर जाते हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र द्वारा बुलाये न जाने पर भी उसकी ओर दौड़ा करती हैं। (नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना अस्तित्व विलीन हो जाने से मार्ग के अपने सम्पूर्ण कष्टों से मुक्त हो जाती हैं।) सभी नर-नारी अपना-अपना भला चाहते हैं और भले-बुरे के नाते जो उन्हें अच्छा लगता है, उसी की उपासना किया करते हैं। उनकी इस उपासना का सम्बन्ध उनके लिए उपास्य के भले और बुरे होने पर आधारित रहता है। भाव यह है कि यदि कोई यह कहे कि मैं हनुमान की ही उपासना क्यों करता हूँ तो उसका उत्तर यह है कि मैं इसी में अपनी भलाई समझता हूँ। मुझे और किसी से फिर क्या मतलब है।

(यद्यपि में तुम्हारी सेवा करने योग्य नहीं हूँ) परन्तु जब तुमने मुझे हठपूर्वक अपने भुजबल का सहारा देकर अपनी शरण में रख लिया है तो फिर चाहे मैं तुम्हारी सेवा करूँ या न करूँ, तुम्हें मेरा पालन अपने सेवक की भाँति ही करना चाहिए। क्योंकि मैं तुम्हारा सेवक तो बन ही चुका। गलती और चंचलता तो सब मेरी हैं। अर्थात् मैं अपने चंचल (अस्थिर) स्वभाव के कारण सदैव गलतियाँ किया करता हूँ। परन्तु तुम तो बड़े हो और तुम्हारी बड़ाई इसी की है कि तुम मुझ जैसे दुष्टों को भी सदैव क्षमा कर उनकी रक्षा किया करते हो। (मैंने तुमसे जो इतने कटु वचन कहे, उनका कारण यह है कि) नीच व्यक्ति को यदि अधिक आदर दिया जाय तो वह ढीठ (धृष्ट) हो जाता है और अत्यन्त नीचता करने पर उतर आता है।

वेद और शास्त्रों ने तुम्हारी यह महिमा गाई है कि तुम अपने भक्तों को बन्दीगृह से मुक्त कराने वाले हो (तुमने देवताओं को बन्दीगृह से मुक्त कराया था—देखिए पद संख्या ३१ की पाँचवीं पंक्ति का अन्तिम अंश—और मुझे भी अकबर के बन्दीगृह से छुड़ाया था।) मुझ तुलसीदास की भलाई होगी भी तो तुम्हारे द्वारा भलाई करने से ही होगी। (इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यदि तुलसीदास की भलाई होगी तो उसमें तुम्हारी भी भलाई है, क्योंकि तुम्हें तुलसी की भलाई करने का यश मिलेगा।

राग गौरी

[३६]

मंगल-मूरति मारुत-नन्दन। सकल-अमंगल-मूल-निकन्दन ॥१॥
पवनतनय संतन-हितकारी। हृदय विराजत अवध-बिहारी ॥२॥

मातु-पिता गुरु गनपति सारद। सिवा समेत, संभु, सुक नारद ॥३॥
चरन बंदि बिनवौं सब काहू। देहु रामपद-नेह-निबाहू ॥४॥
बंदौं राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही ॥५॥

शब्दार्थ—मूल=जड़, कारण। निकन्दन=विनष्ट करने वाले। सारद=शारदा, सरस्वती। सिवा=शिवा, पार्वती।

भावार्थ—वायु-पुत्र हनुमान कल्याण की साक्षात् मूर्त्ति (सब का कल्याण करने वाले) और सम्पूर्ण अनिष्टों को जड़ से विनष्ट कर देने वाले हैं। पवन-पुत्र हनुमान सन्तों का हित करने वाले हैं। उनके हृदय में सदैव राम विहार किया करते हैं। अर्थात् वह सदैव राम के चिन्तन में निमग्न रहते हैं। मैं माता-पिता, गुरु, गणेश, शारदा, पार्वती सहित शम्भु, शुकदेव और नारद आदि सभी के चरणों में प्रणाम कर उनसे यह विनय करता हूँ कि (मुझे ऐसा वरदान दें, जिससे) राम के चरणों में मेरा प्रेम सदैव बना रहे। मैं राम, लक्ष्मण और सीता को प्रणाम करता हूँ जो तुलसी के बड़े प्रेमी हैं। अथवा जो तुलसी को सर्वाधिक प्रिय हैं।

टिप्पणी—(१) एक ही पद में 'मारुत नन्दन' और 'पवन तनय' शब्द आने से पुनरुक्ति दोष आ गया है, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है।

(२) वियोगी हरि इस पद में हनुमान की स्तुति के अनन्तर अन्य देवी-देवताओं तथा राम-लक्ष्मण-सीता की स्तुति आ जाने से शृंखला का टूटना मानते हैं। पर तु यह दृष्टव्य है कि इस पद में हनुमान की स्तुति समाप्त कर कवि राम लक्ष्मण-सीता आदि की भावी स्तुतियों के प्रति अस्पष्ट सा संकेत दे रहा है जो हमें आगामी पदों में मिलती हैं। जिस प्रकार किसी प्रबन्ध काव्य के किसी खण्ड के अन्तिम छन्द में प्रायः भावी घटनाओं का संकेत दे दिया जाता है, वही पद्धति तुलसी ने इस पद में अपनायी है।

लक्ष्मण-स्तुति

राग दण्डक

[३७]

लाल लाड़िले लखन हितु हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी, पालक कृपालु अपने पन के ॥१॥
धरनी-धरनहार, भंजन-भुवनभार, अवतार साहसी सहसफन के।
सत्यसंध, सत्यब्रत, परमधरमरत, निरमल करम बचन अरु मन के ॥२॥
रूप के निधान, धनु-बान पानि, तून कटि, महाबीर बिदित, जितैया बड़े रन के।
सेवक-सुख-दायक, सबल, सब लायक, गायक जानकीनाथ-गुनगन के ॥३॥

भावते भरत के, सुमित्रा सीता के दुलारे, चातक चतुर राम स्यामघन के ।
बल्लभ उर्मिला के, सुलभ सनेहबस, धनी धन तुलसी-से निरधन के ।।४।।

शब्दार्थ--हितु=हित करने वाले। जन=भक्त। पन=प्रतिज्ञा, प्रण। धरनी-धरनहार=पृथ्वी को धारण करने वाले, शेपनाग के अवतार। सहसफन=हजार फनों वाले शेपनाग। संघ=प्रतिज्ञा। पानि=पाणि, हाथ। तून=तरकश। विदित=प्रसिद्ध। जितैया=जीतने वाले। भावते=प्रिय। बल्लभ=स्वामी, पति।

भावार्थ—तुलसीदास लक्ष्मण की स्तुति कर रहे हैं—

हे प्यारे लखन लाल ! तुम भक्तों का हित करने वाले हो। तुम भक्तों द्वारा स्मरण करते ही उनके संकट दूर करने वाले, सब तरह से कल्याण करने वाले, अर्थात् शेपनाग के अवतार संसार के भार (संकट) को हरने वाले और साहसी हजार फनों वाले शेषनाग के अवतार हो। (लक्ष्मण को शेपनाग का अवतार माना जाता है।) तुम सदैव सत्य पर आरूढ़ रहने की प्रतिज्ञा करने वाले, सत्य का व्रत धारण करने वाले, धर्म के परम प्रेमी, मन कर्म और वचन से सदैव निर्मल बने रहने वाले हो।

तुम रूप के भण्डार (अत्यन्त रूपवान), हाथ में धनुष-बाण और कटि में तरकश धारण करने वाले महावीर के रूप में विश्व-विख्यात तथा बड़े-बड़े संग्रामों में विजय प्राप्त करने वाले हो। तुम अपने सेवकों (भक्तों) को सुख देने वाले, बलवान, सब तरह से योग्य और राम के गुणों का गान करने वाले हो। तुम भरत के प्रिय, माता सुमित्रा और भाभी सीता के दुलारे और श्याम शरीर वाले राम के उसी प्रकार अनन्य प्रेमी हो, जिस प्रकार चातक श्यामघन का प्रेमी होता है। तुम उर्मिला के स्वामी (उर्मिला लक्ष्मण की पत्नी थी), स्नेह के वश होकर सहज ही सबको प्राप्त हो जाने वाले और तुलसी जैसे निर्धन को (रामभक्ति रूपी) धन देने वाले धनी स्वामी हो।

राग धनाश्री

[३८]

जयति लछमनानंत भगवंत भूधर, भुजगराज,
भुवनेस, भू-भार हारी ।
प्रलै — पावक — महाज्वालमाला — बमन,
समन-संताप, लीलावतारी ।।१।।
जयति दासरथि, समर-समरथ, सुमित्रा-सुवन,
सत्रुसूदन, रामभरत-बंधो ।

चारु चंपक बरन, बसन-भूषन-धरन
दिव्यतर, भव्य लावन्य-सिन्धो ॥२॥
जयति गाधेय-गौतम-जनक-सुख-जनक,
बिस्व - कंटक - कुटिल - कोटि हंता ।
बचन - चय - चातुरी परसुधर - गरबहर,
सर्वदा रामभद्रानुगंता ॥३॥
जयति सीतेस-सेवासरस, विषयरस—
निरस, निरुपाधि धुरधर्मधारी ।
बिपुलबलमूल सार्दूलबिक्रम जलदनाद—
मर्दन, महाबीर भारी ॥४॥
जयति ग्राम-सागर-भयंकर-तरन,
रामहित-करन बरबाहु-सेतु ।
उर्मिला - रवन - कल्यान - मंगल - भवन,
दासतुलसी दोस - दवन हेतु ॥५॥

शब्दार्थ—लछमनानंत=लक्ष्मण+अनन्त=अनन्त सम्पदाओं के स्वामी लक्ष्मण। भगवंत=ऐश्वर्यशाली। भुजगराज=सर्पराज शेषनाग। प्रलै=प्रलयकालीन। पावक=अग्नि। बमन=उगलने वाले लीलावतारी=लीला करने के लिए अवतार लेने वाले। दासरथि=दशरथ के पुत्र। सत्रुसूदन=शत्रुघ्न। बरन=वर्ण, रंग। लावन्य-सिन्धो=लावण्य, सुन्दरता के सागर। गाधेय=विश्वामित्र। जनक=राजा जनक। हंता=हनन, नाश करने वाले। चय=समूह। परसुधर=परशुराम। गरवहर=गर्व को हरने वाले। रामभद्रानुगंता=राम+भद्र+अनुगंता=सदैव राम के पीछे-पीछे भले आदमी के समान चलने वाले। सीतेस=राम। विषयरस निरस=सांसारिक भोग-विलासों से विरक्त रहने वाले। निरुपाधि=निष्कंटक, कामना रहित। धुरधर्मधारी=धर्म की धुरी को धारण करने वाले। सार्दूल=सिंह। जलदनाद=मेघनाद। बरबाहु-सेतू=श्रेष्ठ भुजाओं का पुल बनाने वाले। रवन=रमण करने वाले। दोस-दवन=दोषों, पापों को दावाग्नि के समान भस्म कर देने वाले। हेतु=कारण, हेतु।

भावार्थ—अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी, पृथ्वी को धारण करने वाले सर्पराज शेष-नाग (के अवतार), संसार के स्वामी, संसार के भार को अर्थात् दुख को दूर करने वाले, दुष्टों को देखकर क्रुद्ध हो प्रलयकालीन अग्नि की भयंकर ज्वालाओं को उग-लने वाले (लक्ष्मण शेषनाग के अवतार माने जाते हैं और शेषनाग प्रलय के समय

अपने सहस्र फनों से विषाक्त अग्नि की ज्वालाएँ उगलने लगते हैं), सारे सन्तापों को शमन (शान्त) करने वाले तथा विभिन्न प्रकार की लीलाएँ करने के निमित्त अवतार धारण करने वाले हे लक्ष्मण ! तुम्हारी जय हो ! राजा दशरथ के पुत्र, युद्ध में पूर्ण समर्थ, सुमित्रानन्दन, शत्रुघ्न, राम और भरत के बन्धु (कुछ टीकाकारों ने 'शत्रुसूदन' का अर्थ शत्रुओं का विनाश करने वाला माना है परन्तु लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न को भी 'शत्रुसूदन' कहा जाता है, इसलिए यहाँ 'शत्रुघ्न' अर्थ ही अधिक उपयुक्त है), सुन्दर, चम्पा के वर्ण वाले, अत्यन्त दिव्य वस्त्राभूषण धारण करने वाले, भव्य-रूप और सौन्दर्य के सागर, हे लक्ष्मण ! तुम्हारी जय हो ।

(ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों का वध कर) विश्वामित्र को, (पाषाणी अहिल्या को राम द्वारा तरवा कर) गौतम ऋषि को तथा (सीता-स्वयंवर के समय वीरता भरे वचन कहकर निराश) राजा जनक को सुख देने वाले, संसार को कष्ट देने वाले काँटों के समान कुटिल राक्षसों का वध करने वाले, अनेक भाँति से चतुराई की बातें कर परशुराम का गर्व हरने वाले और भलेमानस के समान सदैव राम के पीछे-पीछे चलने वाले अर्थात् आज्ञाकारी हे लक्ष्मण ! तुम्हारी जय हो ! सीतापति राम की मनभावनी सेवा में सदा निरत रहने वाले, सांसारिक भोग-विलासों के प्रति विरक्त रहने वाले (लक्ष्मण ने वनवास के चौदह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य और रात्रि-जागरण का पालन किया था) और निष्कंटक अर्थात् कामना आदि की बाधाओं से मुक्त हो (राम की सेवा रूपी) धर्म की धुरी को धारण करने वाले, महाबलवान, सिंह के समान पराक्रमी, मेघनाद का विनाश करने वाले और बड़े भारी योद्धा हे लक्ष्मण ! तुम्हारी जय हो !

रण रूपी भयंकर समुद्र को पार कर जाने वाले अर्थात् भयंकर रण में पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले, राम के हित के लिए अपनी सुन्दर भुजाओं का पुल बनाने वाले, उर्मिला के स्वामी, कल्याण और मंगल के स्थान (अर्थात् कल्याण और मंगल करने वाले) और तुलसीदास के दोषों को भस्म करने के लिए दावाग्नि के समान प्रमुख कारण बन जाने वाले हे लक्ष्मण ! तुम्हारी जय हो !

टिप्पणी—(१) 'प्रलै पावक·········समन-संताप'—में विरोधाभास है । लक्ष्मण एक तरफ तो अग्नि की ज्वालाएँ प्रकट करने वाले हैं और दूसरी तरफ दुःखों की ज्वालाओं का शमन करने वाले भी हैं । इस कारण यहाँ विरोधाभास प्रतीत होता है जो सुन्दर काव्य की दृष्टि से एक अनुपम उदाहरण माना जा सकता है ।

भरत-स्तुति

[३९]

जयति-भूमिजा-रवन-पदकंज-मकरंद-रस-
रसिक-मधुकर-भरत-भूरिभागी ।

भुवन-भूषन, भानुबंस-भूषन, भूमिपाल–
मनि, रामचन्द्रानुरागी ॥१॥
जयति बिबुधेस-धनदादि-दुर्लभ महा–
राज-संभ्राज सुख-प्रद-बिरागी।
खंग - धाराव्रती प्रथमरेखा प्रगट
सुद्धमति-जुवति-पति-प्रेमपागी ॥२॥
जयति निरुपाधि भक्तिभाव-जंत्रित हृदय,
बन्धु-हित चित्रकूटाद्रि-चारी।
पादुका-नृप-सचिव पुहुमि-पालक परम
धरम-धुर-धीर, बरवीर भारी ॥३॥
जयति संजीवनी-समय-संकट हनूमान
धनुबान-महिमा बखानी।
बाहुबल-बिपुल, परमिति पराक्रम अतुल,
गूढ़ गति जानकी-जानि जानी ॥४॥
जयति रन - अजिर गंधर्व-गन-गर्वहर,
फेर किये रामगुनगाथ–गाता।
मांडवी–चित्तचातक नवाम्बुद–बरन,
सरन तुलसीदास अभय-दाता ॥५॥

शब्दार्थ—भूमिजा रवन=पृथ्वी पुत्री सीता के साथ रमण करने वाले राम। भूरिभागी=महाभाग, बड़े भाग्यशाली। भूमिपाल=राजागण। विबुधेस=देवताओं के राजा इन्द्र। धनदादि=धनद+आदि=कुबेर आदि। संभ्राज=साम्राज्य (पाठान्तर 'संभ्राज्य'=शोभित)। प्रद=प्रदान करने वाले। खंग-धाराव्रती=तलवार की धार के समान कठिन व्रत करने वाले। प्रथम रेखा=सर्वश्रेष्ठ। सुद्धमति-जुवति=शुद्ध मति रूपी युवती। पति=स्वामी राम। निरुपाधि=उपाधि रहित, निष्कंटक। जंत्रित= यंत्रित, चालित, वश में। चित्रकूटाद्रि=चित्रकूट+अद्रि=चित्रकूट पर्वत। चारी=जाने वाले। पादुका=खड़ाऊँ। परमिति=वेहद, हद से परे। जानकी-जानि=सीतापति राम। रन-अजिर=रणांगण, युद्ध का आँगन, युद्ध-क्षेत्र। गाथ=गाथा, कथा। गाता=गायक। मांडवी=भरत की पत्नी का नाम था। नवाम्बुद=नव+अम्बुद= नवीन मेघ। वरन=वर्ण, रंग।

भावार्थ—पृथ्वी-पुत्री सीता के साथ रमण करने वाले राम के चरण-कमलों के मकरन्द-रस को चाहने वाले भ्रमर के समान हे महाभाग्यशाली भरत! तुम्हारी जय हो। तुम संसार के आभूपण अर्थात् श्रेष्ठ, सूर्यवंश के भूषण, राजाओं में शिरो-

मणि और रामचन्द्र से प्रेम करने वाले हो। देवताओं के राजा इन्द्र, कुबेर आदि को भी जो महादुर्लभ है ऐसे विशाल राज्य और साम्राज्य से प्राप्त सुख को त्याग विरक्त बन जाने वाले (भरत ने राज्य का सम्पूर्ण सुख त्याग संन्यासी बन चौदह वर्ष तक राज्य का संचालन किया था), तलवार की धार के समान कठिन व्रतों का पालन करने वालों में निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले, जिनकी शुद्धमति रूपी युवती कामिनी उनके स्वामी राम के प्रेम में सदैव पगी रहती है अर्थात् जो निर्मल बुद्धि से सदैव राम से प्रेम करते रहते हैं, ऐसे हे भरत ! तुम्हारी जय हो ! निष्कंटक, निष्काम भक्ति भाव से अपने हृदय को नियंत्रित कर अपने भाई राम के हित के लिए (उन्हें लौटाने के लिए) जो पैदल ही चित्रकूट पर्वत पर गये और जिन्होंने राम की पादु-काओं को राज-सिंहासन पर आसीन कर अर्थात् उन्हें ही राजा मान स्वयं उनका मन्त्री बन पृथ्वी का पालन किया (राज्य-संचालन किया), जो परम धर्म अर्थात् राम की भक्ति की धुरी को धारण करने वाले और बड़े भारी वीर योद्धा हैं, ऐसे उन भरत की जय हो !

संजीवनी बूटी लाते समय जब हनुमान पर संकट पड़ा अर्थात् जब वह भरत के बाण से आहत हो पृथ्वी पर गिर मूर्च्छित हो गये तब हनुमान ने भरत के धनुष-बाण की बड़ी महिमा गायी थी। भाव यह है कि हनुमान ऐसे योद्धा को भी एक थोथे बाण से आहत कर मूर्च्छित कर देने वाले भरत असाधारण योद्धा थे। जिनकी भुजाओं का बल असीम है, जिनके पराक्रम की कोई सीमा नहीं है और जिनकी गूढ़ गति अर्थात् साधारण व्यक्ति की समझ में न आने वाली क्रियाओं के वास्तविक रहस्य को सीतापति राम जानते थे, ऐसे हे भरत ! तुम्हारी जय हो। रणक्षेत्र में गन्धर्वों की सेना के गर्व को चूर-चूर कर देने वाले, और फिर उन्हें राम की गुणगाथा का गायक बनाने वाले, मांडवी के चित्त रूपी चातक के लिए नवीन मेघ के समान वर्ण वाले (जिस प्रकार चातक श्यामघन को देख प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार भरत की पत्नी मांडवी भरत को देख आनन्द से भर उठती हैं), और अपनी शरण आये हुए को अभय देने वाले हे भरत ! तुम्हारी जय हो ! दास तुलसी तुम्हारी शरण में आया है।

टिप्पणी—(१) छठवीं पंक्ति में आये 'संभ्राज' शब्द का एक पाठान्तर 'संभ्राज' मिलता है। यह अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि 'राज-संभ्राज' शब्दों में पुनरुक्ति का आभास मिलता है। इसलिए यदि संभ्राज' शब्द को शुद्ध पाठ मान लिया जाय तो इसका अर्थ होगा जो राज्य-सिंहासन पर शोभित होते हुए भी राज्य के सम्पूर्ण सुखों से विरक्त रहे। 'रामचरितमानस' में भरत की इस विरक्त-स्थिति का चित्रण करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है—

'तेहि पुर भरत बसहिं बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा-बिलास राम-अनुरागी। तजहिं बमन-इव जन बड़भागी॥'

(२) 'गूढ़ गति' से अभिप्राय यह है कि भरत पर यह लांछन लगाया गया था कि भरत ने ही स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिए षड्यंत्र कर कैकेयी द्वारा राम को वनवास दिलाया था। चित्रकूट पर भरत को सेना सहित आते हुए देख लक्ष्मण को उनकी नीयत पर सन्देह हुआ था और वह क्रुद्ध हो उठे थे। परन्तु राम भरत को पूर्णरूपेण निर्दोष मानते थे। यहाँ 'गूढ़ गति' से यही अभिप्राय है कि भरत की जो गति-विधियाँ अन्य व्यक्तियों को शंकालु बना देती थीं, राम उनके वास्तविक रहस्य को जानते थे।

(३) 'संजीवनी समय'—जब हनुमान संजीवनी बूटी के पर्वत को हाथों पर उठाये आकाश-मार्ग से अयोध्या के ऊपर होकर गुजरने लगे तो भरत ने समझा कि यह कोई मायावी राक्षस है जो अयोध्या को विध्वंस करने के लिए आया है। यह सोच भरत ने एक थोथा बाण हनुमान के मार दिया। हनुमान आहत हो पृथ्वी पर गिर मूर्च्छित हो गये। जब उन्हें होश आया तो सारा रहस्य खुला और भरत ने उनसे सबकी कुशल-क्षेम पूछी।

(४) 'रन अजिर गंधर्व गुन गर्वहर'—एक बार गन्धर्वों ने भरत के मामा कैकेय देश के राजा युधाजित् को बहुत परेशान किया, उस समय भरत मामा की सहायता करने वहाँ गये और उन्होंने गन्धर्वों को परास्त कर भगा दिया।

शत्रुघ्न-स्तुति

राग धनाश्री

[४०]

जयति जय सत्रु-करि-केसरी सत्रुहन
सत्रुतम-तुहिनहर-किरनकेतु।
देव-महिदेव-महि-धेनु-सेवक-सुजान—
सिद्ध-मुनि-सकल-कल्यानहेतु ॥ १ ॥
जयति सर्वाङ्गसुन्दर सुमित्रा-सुवन,
भुवन-विख्यात भरतानुगामी।
वर्म - चर्मासि - धनु- बान-तूनीर-धर
सत्रु-संकट-समन यत्प्रनामी ॥ २ ॥
जयति लवनाम्बुनिधि-कुम्भसंभव महा-
दनुज - दुर्जन - दवन दुरितहारी।
लछमनानुज भरत-राम-सीता-चरन-
रेनु-भूषित भाल-तिलकधारी ॥ ३ ॥

जयति स्त्रु तिकीर्ति-बल्लभ सुदुर्लभसुलभ
नमत नर्मद भक्तिमुक्तिदाता।
दासतुलसी चरन-सरन सीदत विभो,
पाहि दीनार्त्त-संताप-हाता ।। ४ ।।

शब्दार्थ—सत्रु-करि-केसरी=शत्रुओं रूपी हाथी के लिए सिंह के समान। सत्रुहन=शत्रुओं का हनन करने वाले। तुहिन=तुषार, पाला, कोहरा। हर=हरने, दूर करने। किरनकेतू=सूर्य। महिदेव=भूदेव, ब्राह्मण। सेवक=भक्त। सृजन=सन्त। हेतू=कारण। भरतानुगामी=भरत+अनुगामी=भरत का अनुसरण करने वाले। वर्म=कवच। चर्मासि=चर्म+असि=ढाल-तलवार। तूनीर=तूणीर, तरकश। यत्प्रनामी=जो प्रणाम करने वाले हैं। लवनाम्बुनिधि=लवन+अम्बु+निधि=लवणासुर रूपी सागर। कुम्भ संभव=अगस्त्य ऋषि। महादनुज=भयंकर दैत्य। दवन=भस्म कर देने वाले। दुरित=पाप। लछमनानुज=लछमन+अनुज=लक्ष्मण के छोटे भाई। स्त्रुतिकीर्त्ति,=श्रुतिकीर्त्ति, शत्रुघ्न की पत्नी। नमत=प्रणाम करते ही। नर्मद=सुखदाता। सीदत=दुख पाता है। पाहि=रक्षा करो। दीनार्त्त=दीन+आर्त्त=दीन-दुखी।

भावार्थ—शत्रुओं रूपी हाथी के लिए सिंह के समान भयंकर हे शत्रुघ्न ! तुम्हारी जय हो ! जय हो ! ऐसे ये शत्रुघ्न शत्रुओं रूपी अन्धकार और कोहरे का विनाश करने वाले किरणमाली सूर्य के समान, देवता, भूदेव (ब्राह्मण), पृथ्वी, गौ, भक्त, सन्त, सिद्ध, मुनि आदि सभी के कल्याण के प्रधान कारण हैं; अर्थात् इन सव का कल्याण करने वाले हैं। सर्वाङ्ग सुन्दर, सुमित्रा के पुत्र, विश्व-विख्यात भरत के आज्ञाकारी, कवच, ढाल, तलवार, धनुष, वाण और तरकश धारण करने वाले, शत्रुओं द्वारा उत्पन्न किये गये संकटों को दूर करने वाले हे शत्रुघ्न ! तुम्हारी जय हो ! तुम अपने शत्रुओं का दमन कर उनसे स्वयं को प्रणाम कराने वाले अर्थात् उन्हें अपने सम्मुख झुका देने वाले हो, अथवा जो तुम्हें प्रणाम करने वाले हैं तुम उन्हें उनके शत्रुओं के संकटों से मुक्ति दिलाने वाले हो, अथवा जिनको प्रणाम करने से शत्रुओं द्वारा उत्पन्न संकट दूर हो जाता है।

लवणासुर रूपी समुद्र को अगस्य के समान पान कर जाने वाले अर्थात् उसका वध करने वाले (शत्रुघ्न ने लवणासुर का वध किया था), वड़े-बड़े भयानक दैत्यों, दुष्टों और पापों का विनाश करने वाले, लक्ष्मण के छोटे भाई, भरत, राम और सीता के चरणों की धूल को अपने ललाट पर तिलक के समान धारण करने वाले हे शत्रुघ्न ! तुम्हारी जय हो ! श्रुतिकीर्त्ति के पति (शत्रुघ्न की पत्नी का नाम श्रुतिकीर्त्ति था), भगवान राम से विमुख रहने वालों को प्राप्त होने में दुर्लभ तथा राम-भक्तों को सुलभ, प्रणाम करने वालों को सुख और भक्तों को भक्ति

और मुक्ति प्रदान करने वाले हे शत्रुघ्न ! तुम्हारी जय हो ! हे विभो ! तुलसीदास तुम्हारी शरण में आकर भी दुख पा रहा है। हे दीन-दुखियों के सन्ताप को दूर करने वाले शत्रुघ्न ! मुझ तुलसीदास की रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) लवणासुर मथुरा का राजा और बड़ा भारी अत्यारी था। राम की आज्ञा से शत्रुघ्न ने उसका वध किया था।

(२) राजा दशरथ के चारों पुत्रों में से लक्ष्मण राम को सबसे अधिक चाहते थे और शत्रुघ्न भरत को। इसी कारण यहाँ शत्रुघ्न को 'भरतानुरागी' कहा गया है।

श्रीसीता-स्तुति

राग केदारा

[४१]

कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ।।१।।
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ।।२।।
बूझि है 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।।३।।
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ ।।४।।

शब्दार्थ—अम्ब=माता। मेरिऔ=मेरी भी। द्याइबी=दिला देना, दिखा देना। छीन=दुर्बल=अघी=पापी। अघाइ=मन भर कर पाप करने वाला। प्रभु-दासी-दास=भगवान की दासी तुलसी का दास तुलसीदास। कहाइ=कहलाता है। बूझि हैं=पूछेंगे। कहिबी=कहना। तव-नाथ=तुम्हारे स्वामी राम।

भावार्थ—गोस्वामीजी सीता की स्तुति कर रहे हैं—

हे माता ! कभी तुम्हें अवसर मिले अर्थात् राम अच्छी मनःस्थिति में हों तो उन्हें मेरी याद दिला देना (परन्तु एकाएक कहीं ऐसा मत कर बैठना)। मेरी याद दिलाने से पहले कोई करुण-प्रसंग छेड़ देना (और फिर कहना कि) हे प्रभो ! एक दीन, सारे साधनों से हीन, दुर्बल शरीर वाला, मैला-कुचैला, मन भरकर पाप करने वाला पापी, तुम्हारी दासी तुलसी का दास (तुलसीदास) तुम्हारा नाम ले-लेकर पेट भरता है। अर्थात् राम का नाम ले-लेकर भिक्षा माँगता और अपना पेट पालता है।

यह सुनकर जब प्रभु यह पूछें कि 'वह कौन है' तो मेरा नाम बताकर उन्हें मेरी (ऊपर कही हुई) दशा से परिचित करा देना। कृपालु राम द्वारा मेरे विषय में इतना सुन लेने मात्र से ही मेरी बिगड़ी बात बन जायेगी (क्योंकि वे कृपाकर मेरे सारे संकट दूर कर देंगे)। हे जगन्माता जानकी! यदि तुमने केवल अपने वचनों द्वारा ही अपने इस सेवक की सहायता कर दी तो यह तुलसीदास तुम्हारे स्वामी के गुण गाता हुआ इस संसार (सागर) से पार हो जायेगा।

टिप्पणी—(१) तुलसीदास ने अन्य पदों में जो बात अन्य लोगों से पद के अन्त में कही है, वही यहाँ सीता से पहले ही कह दी है।

(२) 'अवसर पाइ'—में मनोवैज्ञानिक संकेत द्रष्टव्य है।

(३) पूरे पद में सामीप्य की भावना अत्यन्त प्रबल है।

(४) 'प्रभु दासी-दास'—में 'दासी' से अभिप्राय 'माया' से भी ग्रहण किया जा सकता है। 'माया'—'ब्रह्म' की दासी मानी गयी है। तुलसी माया का दास अर्थात् माया में लिप्त है। इसलिए यहाँ अस्पष्ट-सा संकेत यह भी है कि प्रभु राम अपनी दासी 'माया' को आज्ञा दें कि वह तुलसी को अपने चंगुल से मुक्त कर दे।

(५) यहाँ तुलसी का सेवक-भाव द्रष्टव्य है। जिस प्रकार सेवक स्वामी के पास सिफारिश पहुँचाया करते हैं, उसी प्रकार तुलसी स्वामी-पत्नी सीता से अपनी सिफारिश कर देने की प्रार्थना कर रहे हैं।

(६) सीता राम की आह्लादिनी शक्ति मानी गयी हैं। उनकी सहायता प्राप्त कर लेने मात्र से जीव भगवान के सामीप्य का अधिकारी बन जाता है। तुलसी इसी कारण अत्यन्त करुण-भाव से सीता से प्रार्थना कर रहे हैं और अन्त में जाकर उनकी यही प्रार्थना फलीभूत होती है। राम अन्तिम पद में अप्रत्यक्ष रूप से सीता की इस सिफारिश की बात को स्वीकार करते हैं—"सुधि मैं हू लही है।"

[४२]

कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।
जन कहाइ नाम लेत हौं, किये पन चातक ज्यों, प्यास प्रेम-पान की ॥१॥
सरल प्रकृति आपु जानिए करुना-निधान की।
निजगुन अरिकृत अनहितौ दास-दोष सुरति चित रहत न दिए दानकी ॥२॥
बानि बिसारनसील है मानद अमान की।
तुलसीदास न बिसारिये मन क्रम बचन जाके सपनेहुँ गति न आन की ॥३॥

शब्दार्थ—जन=दास, भक्त। प्रकृति=स्वभाव। अरिकृत=शत्रु द्वारा किया हुआ। अनहितौ=बुराई। सुरति=स्मृति। बानि=आदत। बिसारनसील=भूल

जाने की। मानद=मान देकर। अमान=सम्मान रहित। गति=सहारा। आन की =दूसरे की।

भावार्थ—हे माता जानकी! कभी समय निकाल कर स्वामी को मेरी भी याद दिला देना। मैं उनका (राम का) दास कहलाता हूँ और सदैव उनका नाम लेता हूँ। मैंने चातक का सा प्रण ठान रखा है। मैं उन्हीं के प्रेम-रस का पान करने के लिए प्यास से व्याकुल रहता हूँ। अर्थात् चातक के समान पान करूँगा तो उन्हीं के प्रेम रस का, वरना प्यासा ही तड़प-तड़प कर मर जाऊँगा। तुम तो जानती ही हो कि करुणा-निधान स्वामी (राम) की प्रकृति कितनी सरल है। (वे मुझ पर अवश्य कृपा करेंगे।) उन्हें अपने गुण, शत्रु द्वारा की हुई बुराई, अपने दास के दोष और दूसरों को दिये हुए दान कभी याद नहीं रहते। जिस व्यक्ति का कहीं भी सम्मान नहीं होता, उसको भी वह सम्मान प्रदान कर देते हैं। अर्थात् बड़े-से-बड़े पापी को भी अपना भक्त स्वीकार कर उसे सम्मानित बना देते हैं। परन्तु उनकी आदत कुछ ऐसी है कि अपने द्वारा किये गये इन कामों को भी भूल जाते हैं। अर्थात् स्वभाव से ही भुलक्कड़ हैं। (यदि तुमने उन्हें मेरी याद न दिलायी तो वे मुझे भी भूल जायेंगे।) इसलिए हे माता! तुम उन्हें याद दिला देना कि वे मुझे न भुला दें, क्योंकि मुझ तुलसीदास को तो मन, वचन और कर्म से उनके सिवाय, स्वप्न में भी किसी दूसरे का सहारा नहीं है। अर्थात् मैं तो पूर्णतः उन्हीं पर आश्रित हूँ।

टिप्पणी—(१) यहाँ तुलसी ने राम के चरित्र में शील का निरूपण और उनके प्रति अपनी अनन्य, एकनिष्ठ भक्ति का प्रदर्शन किया है।

(२) 'अरिकृत अनहितौ' द्वारा तुलसी राम के 'करुणायतन' रूप का उद्घोष कर रहे हैं। जो शत्रु द्वारा किये गये अहित को भुला देता है उसके समान करुणा से द्रवित हो उठने वाला अन्य कोई भी नहीं हो सकता।

श्रीराम-स्तुति

[४३]

जयति सच्चिद्व्यापकानन्द यद्, ब्रह्म बिग्रह-व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस, विमल गुन-गेह नर-देहधारी ॥१॥
जयति कोसलाधीस कल्यान कोसलसुता, कुसल कैवल्य-फल चरु चारी।
बेद-बोधित कर्म-धर्म-धरनी-धेनु, विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी ॥२॥
जयति रिषि-मख-पाल, समन, सज्जन-साल, सापबस-मुनिबधू-पापहारी।
भंजि भवचाप, दलि दाप भूपावली, सहित, भृगुनाथ नतमाथ भारी ॥३॥
जयति धार्मिक-धुर धीर रघुबीर गुरु-मातु-पितु-बन्धु-बचनानुसारी।
चित्रकूटाद्रि विन्ध्याद्रि दंडकबिपिन, धन्यकृत, पुन्यकानन-बिहारी ॥४॥

जयति पाकारि-सुत-काक-करतूति-फलदानि, खनि गर्त्त गोपित विराधा।
दिव्य-देवी-बेष देखि, लखि निसिचरी, बिडम्बित करी बिस्वबाधा ।।५।।
जयति खर-त्रिसिर-दूषन-चतुर्दस-सहस-सुभट-मारीच-संहारकर्त्ता।
गृध्र-सबरी-भक्ति-बिबस करुनासिंधु, चरित निरुपाधि, त्रिविधातिहर्त्ता ।।६।।
जयति मदअन्ध कुकबन्ध बधि, बालि बलसालि बधि, करन सुग्रीव राजा।
सुभट-मर्कट-भाल-कटक-संघट सजत, नमत पद रावनानुज निवाजा ।।७।।
जयति पाथोधि-कृत-सेतु कौतुक-हेतु काल-मन अगम लई ललकि लंका।
सकुल सानुज सदल दलित दसकंठ रन, लोक-लोकप किए रहित-संका ।।८।।
जयति सौमित्रि-सीता-सचिव-सहित चले पुष्पकारूढ़ निज राजधानी।
दासतुलसी मुदित अवधवासी सकल, राम भे भूप, बैदेहि रानी ।।९।।

शब्दार्थ—सच्चिद्व्यापकानन्द=सत्+चित+व्यापक+आनन्द=सत् (शुद्ध) आत्मस्वरूप, चित (चेतन), व्यापक (अन्तर्यामी), आनन्द स्वरूप ब्रह्म। यद्=वही। बिग्रह-व्यक्त=शरीर रूप में व्यक्त, साकार स्वरूप। कोसलाधीस=राजा दशरथ। कोसलसुता=कोशल की पुत्री कौशल्या। कैवल्य-फल=मोक्ष रूपी फल। चारुचारी =सुन्दर चार। वेद-बोधित=वेदोक्त, वेदों द्वारा कहे गये। मोदकारी=आनन्द देने वाले। रिषि-मख-पाल=ऋषि के यज्ञ की रक्षा करने वाले। साल=दुख। मुनिबधू =गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या। भंजि=तोड़कर। भवचाप=शिव का धनुष। दाप=दर्प, घमण्ड। भृगुनाथ=भृगुवंश परशुराम। नतमाथ=मस्तक झुका दिया। धार्मिक-धुर=धार्मिकों में धुरी के समान अर्थात् उनके आधार। चित्रकूटाद्रि=चित्र-कूट+अद्रि=चित्रकूट पर्वत। धन्यकृत=धन्य बना दिया। पाकारि-सुत=पाक राक्षस के शत्रु इन्द्र का पुत्र जयन्त। खनि=खोदकर। गर्त्त=गड्ढा। गोपति= गाढ़ दिया। विराध=विराध नामक राक्षस। बिडम्बित करी=लज्जित की, विड-म्बना की। बिस्वबाधा=विश्व के लिए बाधा स्वरूप रावण। चतुर्दस-सहस=चौदह हजार। निरुपाधि=लाँछन रहित, निष्कलंक। त्रिविधार्त्तिहर्त्ता=त्रिविध+आर्त्ति+ हर्त्ता=तीनों प्रकार के दुखों को दूर करने वाले। मदअंध=मदांध। कुकबन्ध= दुष्ट कबन्ध नामक राक्षस। करन=किया। संघट=एकत्रित कर, संगठित कर। नमत पद=चरणों में झुकते ही। रावनानुज=रावन+अनुज=रावण का छोटा भाई विभीषण। निवाजा=निहाल कर दिया, शरण दी। पाथोधि=समुद्र। कृत-सेतु=पुल बाँधकर। काल-मन=काल के थन के लिए भी। ललकि=लपक कर। सानुज=छोटे भाई लक्ष्मण सहित। दलित+दमन किया। लोकप=लोकपाल, लोकों के स्वामी। सौमित्रि=सुमित्रानन्दन लक्ष्मण। भे=हुए।

भावार्थ—सत् अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप, चैतन्य, व्यापक (अन्तर्यामी) और आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म शरीर धारण कर नरलीला करने के लिए व्यक्त

अर्थात् साकार रूप में प्रकट हुए हैं। जब ब्रह्मा आदि सारे देवता और सिद्ध (दैत्यों के अत्याचारों से) व्याकुल हो उठे तब उनके संकोच को देखकर, अर्थात् वे इन दैत्यों का दमन करने में समर्थ होते हुए भी संसार में ब्रह्म द्वारा मर्यादा स्थापित कराना चाहते थे, इस बात को देखकर स्वयं ब्रह्म ने निर्मल गुणों से युक्त मानव शरीर धारण किया था अर्थात् अवतार लिया था। ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो ! कल्याण स्वरूप अवध-नरेश दशरथ और कोशल-कन्या कौशल्या के यहाँ मोक्ष के चार सुन्दर फल प्रकट हुए। अर्थात् राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न; मोक्ष के चार रूप—सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य—के रूपों में प्रकट हुए। अर्थात् ये चारों पुत्र ही मानो मोक्ष के चार रूप थे। वेद में कहे गये सम्पूर्ण कर्मों (यज्ञ आदि), धर्म (सत्य आदि) को करने वाले, पृथ्वी, गौ, ब्राह्मण, भक्त और साधुओं को आनन्द देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा, सज्जनों के कष्टों का शमन, और शाप के कारण पत्थर बनी मुनि गौतम की पत्नी अहिल्या के पाप को दूर करने वाले, शिव-धनुष को भंग कर परशुराम सहित सम्पूर्ण राजाओं के गर्व से उन्नत मस्तकों का दमन कर नीचे झुका देने वाले अर्थात् सब का गर्व नाश कर देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो। भाव यह है कि राम ने जनक द्वारा सीता-स्वयम्वर के निमित्त आयोजित धनुप-यज्ञ में शिव-धनुप को तोड़कर सारे राजाओं का घमण्ड चूर-चूर कर दिया था और किसी के भी सामने न झुकने वाले परशुराम के विशाल मस्तक को अपने सामने झुकवा लिया था। धर्म के गुरु भार को धैर्यपूर्वक अर्थात् बिना विचलित हुए धारण करने वाले, रघुकुल के वीर, गुरु, माता-पिता और भाइयों के वचन को मानने वाले, चित्रकूट, विन्ध्याचल, दण्डकारण्य आदि में विचरण कर उन्हें धन्य और वनों में भ्रमण कर उन्हें पवित्र बना देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

पाक दैत्य के शत्रु इन्द्र के पुत्र, कौए का रूप धारण किये जयन्त को उसकी करनी का फल देने वाले, गड्ढा खोदकर विराध राक्षस को उसमें गाड़ देने वाले, बाह्य रूप से अप्सरा का दिव्य सुन्दर रूप धारण किये शूर्पणखा की वास्तविकता को समझ कि वह राक्षसी है (उसके नाक-कान काट) संसार के लिए बाधा स्वरूप (रावण को) लज्जित किया। भाव यह है कि अपने को अजेय समझ संसार को अपने अत्याचारों से त्रस्त कर रखने वाले रावण की बहिन को विकलांग कर रावण को लज्जित कर देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो ! खर, त्रिशिरा, दूषण, इनके चौदह हजार योद्धाओं तथा मारीच आदि राक्षसों का संहार करने वाले, गिद्ध, जटायु और शबरी की भक्ति के कारण उनके वश में हो उनका उद्धार करने वाले, करुणा के सागर, निष्कलंक चरित्र वाले और तीनों प्रकार के दुखों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक—को दूर करने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

अपने अहंकार में अन्धे बने दुष्ट कवन्ध को मार महाबलवान बालि का वध कर सुग्रीव को राजा बनाने वाले, बड़े-बड़े वीर बन्दरों और रीछों की सेना एकत्र कर उसे संगठित बना सुसज्जित करने वाले और चरणों में आकर प्रणाम करते ही रावण के छोटे भाई विभीषण को निहाल कर देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो ! खेल-ही-खेल में समुद्र पर पुल बाँध, काल के मन के लिए भी अगम्य अर्थात् जिसमें प्रवेश करने के लिए काल कभी सोचने तक का साहस न कर सके, ऐसी अजेय लंका को लपक कर तुरन्त अपने अधिकार में कर लेने वाले, रावण को उसके वंश, भाई और सेना सहित अर्थात् वंश (पुत्र) मेघनाद, भाई कुम्भकर्ण सहित युद्ध में नष्ट कर तीनों लोकों और इन्द्रादि लोकपालों को भय से मुक्ति दिलाने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

फिर राम लक्ष्मण, सीता और अपने मन्त्रियों सहित पुष्पक विमान में बैठ अपनी राजधानी अयोध्या को चले। तुलसीदास कहते हैं कि राम को आया हुआ देख सारे अवध के निवासी प्रसन्न हो उठे। राम राजा बने और सीता रानी बनीं। ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो !

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने संक्षेप में राम-जन्म से लेकर राम के अयोध्या लौटने तक की रामायण की सम्पूर्ण कथा कह दी है।

(२) राम ब्रह्म के अवतार हैं। ब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं—ब्रह्माकार, सुराकार और नराकार। नराकार रूप अवतार कहलाता है। ब्रह्माकार की व्यक्त लीला राम के रूप में हुई थी। राम निराकार भी हैं और सुराकार भी। यहाँ कवि राम के निराकार रूप की ओर स्पष्ट संकेत दे रहा है। तुलसी के अनुसार ज्ञान मार्ग और भक्ति-मार्ग—दोनों ही सत्य हैं परन्तु सगुण भक्ति अधिक सरल होने के कारण तुलसी सामीप्य भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

(३) ऐश्वर्य, कृपा, न्याय, शील, सौजन्य, क्षमा, उदारता, करुणा, श्री, तेज, वीर्य आदि ब्रह्म के दिव्य गुण माने गये हैं। ब्रह्म इन्हीं गुणों से संयुक्त हो 'सगुण' रूप में अवतार लेता है।

(४) 'साप बस मुनि बधू'—एक बार इन्द्र ने गौतम की अनुपस्थिति में गौतम का रूप धारण कर उनकी पत्नी अहिल्या का सतीत्व नष्ट कर दिया था। गौतम ने लौटकर योग दृष्टि से सारा रहस्य जान लिया और इन्द्र को शाप दिया कि तेरे शरीर में सहस्र भग हो जायँ और अहिल्या को शाप दिया कि तू पत्थर हो जा। दोनों के अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने कहा कि राम के चरणों के स्पर्श से अहिल्या का पाप दूर हो जायेगा और शिव-धनुष तोड़ने पर इन्द्र के सहस्र भग सहस्र नेत्र बन जायेंगे।

(५) चित्रकूट में सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जयन्त ने कौए का रूप धारण कर सीता के स्तनों में चोंच मार दी। यह देख राम ने उस पर एक सींक का बाण मारा। जयन्त सारे ब्रह्माण्ड में भागता फिरा और अन्त में राम की शरण में लौट आया। राम ने उसकी एक आँख फोड़ उसे काना बना दिया। तुलसी ने सीता के

चरणों में जयन्त द्वारा चोंच मारने की बात कहकर मर्यादा की रक्षा करने का प्रयत्न किया है ।

(६) 'दिव्य देवी वेष देखि, लखि निसिचरी' में आये 'देखि' और 'लखि' शब्द एक ही अर्थ के बोधक होते हुए भी साभिप्राय प्रयुक्त हुए हैं । 'देखना' बाहरी आँखों का काम है और 'लखना' मनश्चक्षुओं का । सूर्पणखा का बाह्य रूप देवी के समान सुन्दर था, इसलिए उसके लिए 'देखि' शब्द आया है और वह वास्तव में राक्षसी थी, इसके रहस्य को मनश्चक्षु द्वारा 'लखने' पर ही समझा जा सकता है । इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता ।

[४४]

जयति राज-राजेन्द्र राजीवलोचन
राम नाम, कलि-कामतरु, साम साली ।
अनय-अंभोधि-कुम्भज, निसाचर-निकर-
तिमिर - घनघोर - खर - किरनमाली ॥१॥

जयति मुनिदेव, नरदेव दसरत्थके,
देव-मुनि बन्द्य किय अवध-बासी ।
लोकनायक–कोक – सोक–संकट–समन,
भानुकुल - कमल - कानन - बिकासी ॥२॥

जयति सिंगार-सर-तामरस-दाम दुति-देह,
गुनगेह बिस्वोपकारी ।
सकल - सौभाग्य - सौंदर्य - सुखमारूप,
मनोभव - कोटि - गरबापहारी ॥३॥

जयति सुभग सारंग सु-निखंग सायक,
सक्ति चारु चर्मासि वर वर्मधारी ।
धर्म-धुर-धीर रघुबीर भुज-बल अतुल,
हेलया दलित भूभार भारी ॥४॥

जयति कलधौत-मनि मुकुट, कुण्डल,
तिलक-झलक भलिभाल, बिधु-बदन सोभा ।
दिव्य भूषन बसन, पीत उपबीत,
किय ध्यान कल्याण भाजन न को भा ॥५॥

जयति भरत-सौमित्रि-सत्रुघ्न-सेवित,
सुमुख सचित्र-सेवक-सुखद, सर्वदाता।
अधम, आरत दीन पतित पातक-पीन
सकृत नतमात्र कहि पाहि पाता ॥६॥
जयति जय भुवन दसचारि जस जगमगत,
पुन्यमय धन्य जय रामराजा।
चरित सुरसरित कवि-मुख्य-गिरि-निःसरित,
पिवत, मज्जत मुदित संत समाजा ॥७॥
जयति वर्नास्रसमाचार पर नारि-नर,
सत्य - सम - दम - दया - दान-सीला।
बिगत दुख-दोष, संतोष सुख सर्वदा,
सुनत गावत राम-राजलीला ॥८॥
जयति बैराग्य बिग्यान-बारानिधे,
नमत नर्मद पाप-ताप-हर्त्ता।
दासतुलसी चरन सरन संसय-हरन देहि,
अवलंब वैदेहि-भर्त्ता ॥९॥

शब्दार्थ—राज-राजेन्द्र=राजाओं के भी राजा, राजराजेश्वर। राजीव-लोचन=कमल नयन। सामसाली=साम नीति वाले। अनय=अन्याय। अंभोधि=समुद्र। कुम्भज=अगस्त्य। निकर=समूह। खर=प्रखर। किरनमाली=सूर्य। कोक=चकवा। सर=सरोवर, तालाव। तामरस=कमल। दाम=माला। दुति=द्युति, कान्ति। मनोभव=कामदेव। गरवापहारी=गरव+अपहारी=गर्व का अपहरण करने वाले। सारंग=धनुष। निखंग=निषंग, तरकश। सायक=वाण। चर्मासि=चर्म+असि=ढाल तलवार। वर्म=कवच। हेलया=खेल ही खेल में, सहज ही में। कलधौत=स्वर्ण। भलिभाल=सुन्दर भाल, ललाट। विधु-बदन=चन्द्रमुख। उपवीत—यज्ञोपवीत, जनेऊ। भा=हुआ। सुमुख=राम के मंत्री का नाम। पातक-पीन=महापापी। सकृत=एक बार। पाता=रक्षक। पाहि=रक्षा करो। दसचारि=दस+चार=चौदह। सुरसरित=देवनदी गंगा। कवि-मुख्य=कवियों में प्रमुख वाल्मीकि ऋषि। निःसरित=निकली। मज्जत=स्नान करते हैं। वर्नास्रमाचार=वरनास्रम+आचार=वर्णाश्रम धर्म। बारानिधे=सागर। नर्मद=सुखदाता। अवलंब=सहारा। भर्त्ता=स्वामी।

भावार्थ—राज-राजेश्वरों में अर्थात् सम्राटों में इन्द्र के समान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, कमल नयन, 'राम-नाम' धारण करने वाले, कलियुग में कल्पवृक्ष (के समान सब की

मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले), साम (साम, दाम, दण्ड, भेद राजनीति की चार पद्ध-तियों में से एक) नीति का प्रयोग करने वाले, अन्याय रूपी समुद्र को अगस्त्य ऋषि के समान पान कर नष्ट करने वाले, राक्षसों के समूह रूपी भयंकर सघन अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रखर किरणों वाले सूर्य के समान हे राम ! तुम्हारी जय हो ! मुनियों, देवताओं और मनुष्यों के स्वामी दशरथ नन्दन राम ने अवध के निवासियों को ऐसा महत्त्वशाली बना दिया कि देवता और मुनि गण भी उनकी वन्दना करते हैं। (इन्द्र आदि) लोकपाल रूपी चकवों के शोक और संकट को दूर करने वाले तथा सूर्यवंश रूपी कमल-वन को खिला देने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो ! भाव यह है कि सूर्यवंशी लोग राम का नाम सुनते ही उसी प्रकार खिल उठते हैं, जिस प्रकार कमल सूर्योदय होते ही विकसित हो जाते हैं।

शृंगार रूपी तालाव में (खिले हुए) कमलों की माला के समान जिनके शरीर की कान्ति है, जो सम्पूर्ण गुणों के अगार, विश्व का उपकार करने वाले, सम्पूर्ण सौभाग्य, सौन्दर्य और लावण्य के साकार रूप, तथा अपने सौन्दर्य से करोड़ों कामदेवों के सौन्दर्य के गर्व को दूर करने वाले हैं, ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो ! सुन्दर शारंग नामक धनुष, तरकश, वाण, शक्ति, सुन्दर ढाल-तलवार और कवच धारण किये, धर्म का भार धुरी के समान धैर्यपूर्वक धारण करने वाले, रघुकुल में अनन्य वीर, अद्वितीय भुजवल वाले, खेल-ही-खेल में पृथ्वी के भार को दूर करने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

मणिजटित स्वर्ण मुकुट और कुण्डल धारण किये, सुन्दर ललाट पर चमकता हुआ तिलक लगाये, चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले, दिव्य वस्त्राभूषण और पीला जनेऊ धारण किये राम का ध्यान करने से ऐसा कौन है जिसका कल्याण न हुआ हो। ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो ! भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—तीनों भाव तुम्हारी सेवा करते हैं, या प्रसन्नमुख हो तुम्हारी सेवा करते हैं। (यहाँ 'सुमुख' का अर्थ 'प्रसन्न मुख वाले, तथा सुमुख नामक राम का मंत्री—दोनों से ही लिया जा सकता है।) मंत्रियों तथा सेवकों को सुख और सब कुछ देने वाले, नीच, दुखी, दीन, पतित और बड़े-बड़े पापियों द्वारा केवल एक वार प्रणाम कर 'रक्षा करो' कह देने मात्र से उनकी रक्षा करने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो !

जिनका यश चौदह भुवनों में जगमगाता रहता है—ऐसे परम पुण्यात्मा और धन्य तथा सब के द्वारा प्रशंसित हे राजा राम ! तुम्हारी जय हो ! जिनकी कथा रूपी गंगा कवियों में सर्वश्रेष्ठ वाल्मीकि ऋषि रूपी पर्वत से निकली है अर्थात् वाल्मीकि द्वारा कही राम-कथा गंगा के समान सब का उद्धार करने वाली है और जिसके जल का पान कर और उसमें स्नान कर सन्त-समाज सदा प्रसन्न होता है, ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो ! जिनके राज्य में सारे नर-नारी वर्णाश्रम धर्म का पालन करते थे, वे सभी सम, दम, दया और दान करने वाले थे, वे सभी दुखों और पापों से मुक्त,

सन्तोषी और सदा सुखी रहते हुए राम-राज्य की लीला गाते और सुनते रहते थे, ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो !

वैराग्य और आत्मज्ञान के सागर (संसारी विषयों से विरक्त और आत्मानन्द में निमग्न रहने वाले), प्रणाम करते ही सुख देकर भक्तों के पापों और दुखों को दूर करने वाले हे राम ! तुम्हारी जय हो ! तुलसीदास तुम्हारे चरणों की शरण में आया है। हे जानकीनाथ ! हे सन्देहों को दूर करने वाले राम ! उसे सहारा दो। अर्थात् उसकी अविद्या (संशय) को दूर कर उसे सहारा दो।

टिप्पणी—(१) तुलसी स्मार्त्त वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने राम की इस स्तुति में रूढ़ियों का प्रतिपादन किया है।

राग गौरी

[४५]

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भवभय-दारुनं।
नवकंज-लोचन, कंजमुख, करकंज, पदकंजारुनं ॥ १ ॥
कंदर्प-अगनित-अमित-छबि, नवनील नीरद सुन्दरं।
पटपीत मानहुँ तड़ित रुचि सुचि नौमि जनक-सुतावरं ॥ २ ॥
भजु दीनबन्धु दिनेस दानव-दैत्य-बंस-निकंदनं।
रघुनंद आनन्दकंद कोसलचंद दसरथ-नन्दनं ॥ ३ ॥
सिर मुकुट, कुण्डल तिलक चारु, उदारु अंग विभूषनं।
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्राम-जित-खरदूषनं ॥ ४ ॥
इति वदति तुलसीदास संकर-सेष-मुनि-मन-रंजनं।
मम हृदय-कंज निवास करु, कामादि-खल-दल-गंजनं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—दारुन=भयंकर। नवकंज=नये खिले कमल। कजारुनं=कंज+अरुनं=लाल कमल। कंदर्प=कामदेव। नीरद=मेघ। पटपीत=पीला उत्तरीय, वस्त्र। तड़ित=बिजली। नौमि=नमस्कार करता हूँ। जनक-सुतावरं=जनक की पुत्री सीता के वर। निकंदनं=विनष्ट करने वाले। आजानु=घुटनों तक लम्बी। सर चाप=वाण और धनुष। वदति=प्रार्थना करता है। गंजनं=नाश करने वाले। उदारु=सुन्दर।

भावार्थ—हे मन ! कृपालु श्री रामचन्द्र का भजन कर। वे संसार के दारुण भय (आवागमन आदि) को दूर करने वाले हैं। उनके नेत्र नये खिले कमल के, मुख और हाथ भी कमल के तथा चरण लाल कमल के समान सुन्दर हैं। उनकी छवि

असंख्य कामदेवों के सौन्दर्य से भी बढ़कर है । वे नवीन नीले वर्ण वाले मेघ के समान सुन्दर हैं । उनके उस नीले मेघ के समान सुन्दर शरीर पर पीताम्बर (पीला वस्त्र) इस प्रकार शोभा दे रहा है जैसे मेघ में चमकती हुई बिजली शोभा पाती है । ऐसे सीतापति राम को मैं प्रणाम करता हूँ । हे मन ! दीन-दुखियों के बन्धु, दानवों और दैत्यों के वंश को नष्ट करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, रघुवंशी, आनन्द के मूल, कोशल (अवध) में चन्द्र के समान अपने व्यक्तित्व की शीतल चन्द्रिका विकीर्ण कर सबको सुख-शान्ति देने वाले दशरथ नन्दन राम का भजन कर ।

उनके सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल और ललाट पर सुन्दर तिलक शोभायमान है । वे अंग-अंग में सुन्दर आभूषण धारण किये हुए हैं । घुटनों तक लम्बी भुजाओं में वे धनुष बाण धारण किये और युद्ध में खर-दूषण आदि राक्षसों पर विजय प्राप्त करने वाले हैं । तुलसीदास कहते हैं कि शिव, शेषनाग और मुनियों के मन को प्रसन्न करने वाले और काम आदि दुष्टों के समूहों को नष्ट करने वाले राम मेरे हृदय रूपी कमल में सदैव निवास करें ।

टिप्पणी—(१) नवीं पंक्ति में 'वदति' के स्थान पर 'वंदति' पाठान्तर है ।

(२) यह पद राम-भक्तों में बहुत प्रसिद्ध है । रामानन्दी वैष्णव आरती के समय नित्य इसी को गाया करते हैं । जन-साधारण में भी यह पद बहुत लोकप्रिय है ।

राग रामकली

[४६]

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु, राम जपु मूढ़ मन, बार बारं ।
सकल सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि सठ, मानि बिस्वास बद बेदसारं ॥१॥
कोसलेन्द्र नव-नीलकंजाभतनु, मदन-रिपु-कंजहृदि-चंचरीकं ।
जानकीरवन, सुखभवन, भुवनैक प्रभु, समर-भंजन, परम कारुनीकं ॥२॥
दनुज-बन-धूमधुज, पीन आजानुभुजदंड-कोदंडवर-चंड-बानं ।
अरुन कर चरन मुख, नैन राजीव, गुनऐन, बहुमन-सोभा-निधानं ॥३॥
वासनावृन्द-कैरव—दिवाकर काम-क्रोध-मद-कंज-कानन-तुषारं ।
लोभ-अति-मत्त-नागेन्द्र-पंचनानं भक्तहित हरन संसार-भारं ॥४॥
केसवं, क्लेसहं, केस-बंदित पदद्वन्द्व, मंदाकिनी-मूलभूतं ।
सर्वदानंद—संदोह मोहापहं घोर-संसार-पाथोधि पोतं ॥५॥
सोक-संदेह-पाथोदपटलानिलं पाप-पर्वत-कठिन कुलिसरूपं ।
संतजन-कामधुक-धेनु बिस्रामपद नाम कलि-कलुष भंजन अनूपं ॥६॥

धर्म कल्पद्रुमाराम हरिधाम-पथि-संबलं मूलमिदमेव एकं।
भक्ति-वैराग्य-विग्यान-सम-दान-दम नाम-आधीन साधन अनेकं ।।७।।
तेन तप्तं हुतं, दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिसमनवद्यमवलोक्य कालं ।।८।।
सुपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नामबल विपुल मति मलिनपरसी।
त्यागि सब आस-संत्रास भवपास-आस-निसित हरिनाम जपु दास तुलसी।।९।।

शब्दार्थ—वद=कह। कंजाभ=कमल की कान्ति। हृदि=हृदय। चंचरीकं =भ्रमर। मदन-रिपु=कामदेव के शत्रु शिव। रवन=रमण करने वाले स्वामी। भुवनैक=भुवन+एक=संसार के एकमात्र। कारुनीकं=करुणा करने वाले। धूमधुज=धुम्रध्वज, अग्नि। पीन=पुष्टि। कोदंड=धनुष। चंड=प्रचंड, प्रखर। कर=हाथ। गुनऐन=गुणों के अगार। मैन=कामदेव। कैरव=कुमोदिनी। तुषारं=पाला। नागेन्द्र=गजेन्द्र, हाथियों का राजा। पंचाननं=सिंह। केस= क (ब्रह्मा) ईश (शिव)। क्लेसहं=क्लेशों के नाशक। पदद्वन्द्व=दोनों चरण। मंदाकिनी=गंगा। मूलभूतं=मूल, उद्‌गम स्थान। संदोह=संशय, अविद्या। मोहापहं=मोह के विनाशक। पाथोधि=समुद्र। पोतं=जहाज। पाथोद=मेघ। पटलानिलं=पटल+अनिल=समूह के लिए वायु के समान। कुलिस=वज्र। कामधुक=कामधेनु। विस्रामपद=उद्यान, विश्राम करने का स्थान। कलुष=पाप। कल्पद्रुमाराम=कल्पद्रुम+आराम=कल्पवृक्ष का बाग। हरिधाम=वैकुंठ। पथि-संबलं=मार्ग के लिए कलेवा। मूलमिदमेव=मूलम्+इदम्+एवम्=यही एकमात्र मूल है। तेन=उसी ने। तप्तं=तप। हुतं=यज्ञ, होम। दत्तमेवाखिलं =दत्तम्+एव+अखिलं=सर्वस्व दान दिया। कृतं=किये। येन=जिसने। पानकृत-मनिसमनवद्यमवलोक्य = पानम्+कृतम्+अनिसम्+अनवद्यम्+अवलोक्य = पान किया रात-दिन देखकर अर्थात् जिसने देखकर रात-दिन पान किया। कालं=काल या कलिकाल। सुपच=श्वपच, चांडाल। भिल्ल=भील। जमनादि=यवन आदि। गत=गये। परसी=स्पर्श किया। संत्रास=भय। भवपास=संसार रूपी जाल। असि=तलवार। निसित=पैनी, तीक्ष्ण।

भावार्थ—हे मेरे मूर्ख मन ! बारम्बार राम-राम जपा कर। यह राम नाम 'सम्पूर्ण सौभाग्य और सुख की खान है' तथा 'वेदों का सार है', ऐसा अपने हृदय में समझ और विश्वास कर रे मूर्ख ! सदैव राम-राम जपा कर। कोशल के राजा राम नये खिले नीले कमल की कान्ति जैसे सुन्दर शरीर वाले हैं। अर्थात् उनके शरीर की कान्ति नये खिले नीले कमल की कान्ति जैसी है। ये कामदेव के शत्रु शिव के हृदय-रूपी कमल में भ्रमर के समान निवास करने वाले हैं। अर्थात् शिव उन्हें अपने हृदय-में सदैव उसी प्रकार धारण किये रहते हैं जिस प्रकार कमल के भीतर भ्रमर निवास

करता है । वे सीता के साथ रमण करने वाले अर्थात् उनके पति; सुख के आग़ार संसार के एकमात्र स्वामी, संग्राम में (दुष्टों का) विनाश करने वाले और परम करुणामय हैं । वे राक्षसों के वन अर्थात् समूह को जलाने के लिए अग्नि के समान, पुष्ट और घुटनों तक लम्बी भुजाओं में श्रेष्ठ धनुप और तीक्ष्ण धार वाले वाण धारण करने वाले हैं । उनके हाथ, चरण और मुख लाल कमल के समान, नेत्र राजीव (कमल) के समान प्रफुल्लित और सुन्दर हैं । वे गुणों के आगार, और अनेक कामदेवों की शोभा के निधान हैं ।

वे वासना रूपी कुमुदिनियों को मुरझा कर वन्द कर देने वाले सूर्य (सूर्योदय होते ही कुमुदिनी के फूल वन्द हो जाते हैं) तथा काम, क्रोध और अहंकार रूपी कमल-वन को नष्ट करने वाले तुषार (पाला) के समान हैं । वे लोभरूपी अत्यन्त मदान्ध बने हाथी के लिए सिंह के समान, भक्तों का कल्याण करने वाले और संसार के भार को दूर करने वाले हैं । उनका नाम केशव है । वे दुखों को दूर करने वाले हैं । ब्रह्मा और शिव—दोनों उनके चरणों की वन्दना करते हैं, उनके चरण गंगा के उद्गम स्थान हैं; अर्थात् गंगा उन्हीं के चरणों से निकली है । वे सव को आनन्द देने वाले (सर्व+दा+आनन्द) अथवा सदैव आनन्द के समूह बने रहने वाले, मोह (अविद्या) के नाशक, और भयंकर संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए जहाज के समान हैं । वे शोक और सन्देह रूपी मेघों के समूह को उड़ा देने के लिए वायु के समान और पाप रूपी पर्वतों को चूर्ण-विचूर्ण कर देने के लिए कठोर वज्र के समान हैं । वे सन्तों को कामधेनु के समान मनचाही वस्तु प्रदान करने वाले; सव को आराम पहुँचाने वाले हैं । उनका नाम कलियुग के घातक प्रभाव को दूर करने में अद्वितीय है । राम-नाम धर्म रूपी कल्पवृक्ष के लिए उद्यान-स्वरूप (अर्थात् धर्म को पूर्ण रूप से आश्रय देने वाला) और भगवान् के लोक को जाने वालों के लिए मार्ग के कलेवे के समान है । अर्थात् साकेतधाम जाने वाले मार्ग में राम का नाम लेते उसके सहारे से ही वहाँ पहुँच जाते हैं । और यही राम-नाम उनका अथवा संसार का एक मात्र मूल है । भाव यह है कि कलियुग में एकमात्र राम-नाम ही स्वर्ग पहुँचने का एकमात्र आधार है ।

'कलियुग केवल नाम अधारा । जानि लेहि जो जाननिहारा ॥'

भक्ति, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञान, शम, दम, दान, आदि अनेक साधन इसी एक नाम के अधीन हैं । अर्थात् राम नाम के बिना ये साधन मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति नहीं करवा सकते अथवा राम-नाम का जाप करने से ही ये सम्पूर्ण साधन अनायास ही सुलभ हो जाते हैं ।

जिसने कलियुग को निकट आता हुआ देखकर पवित्र राम-नाम रूपी अमृत का दिन-रात पान किया अर्थात् दिन-रात राम-नाम जपा उसने मानो सम्पूर्ण तप, होम और सर्वस्व दान तथा विधिवत् सम्पूर्ण कर्मकाण्ड करने का पुण्य फल प्राप्त कर लिया । भाव यह है कि कलियुग में राम-नाम का जाप करने मात्र से ही तप, यज्ञ

और दान का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है। विना राम नाम जपे ये सम्पूर्ण कर्म-काण्ड व्यर्थ हैं। चाण्डाल, दुष्ट, भील आदि जंगली जातियाँ, यवन (म्लेक्ष) आदि भगवान के नाम के बल पर ही अर्थात् राम का नाम लेने मात्र से ही विष्णु लोक चले गये, मुक्त हो गये। उनकी मलिन बुद्धि राम नाम लेते ही विशुद्ध हो गयी। अथवा मलिनता ने उनकी बुद्धि का स्पर्श नहीं किया अर्थात् उनकी बुद्धि फिर मलिन नहीं हुई। इसलिए हे तुलसीदास ! तू सव आशाएँ और भय के दुख आदि को छोड़-कर संसार रूपी बन्धन को काटने के लिए पैनी धार वाली तलवार के समान इस राम-नाम का जाप कर।

टिप्पणी—(१) इस पद के प्रारम्भ में 'राम जपु' की पाँच वार आवृत्ति इसलिए की गई है कि यह हमारी पंचेन्द्रियों का एक-एक कर विनाश करे। शब्द, स्पर्श, रूप; रस और गन्ध को ग्रहण करने वाली पंचेद्रियाँ मानव को सांसारिक विषय-वासनाओं में आसक्त वनाये रखती हैं। इसीलिए पाँच बार 'राम जपु' की आवृत्ति कर एक-एक कर इनके विनाश की कामना की गई है।

(२) 'मदन रिपु-कंजहृदि-चंचरीक'—यहाँ शैवों और वैष्णवों की पारस्परिक कटुता को दूर कर उनमें परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयास लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी इस एकता को स्थापित करने के लिए वहुत अधिक जागरूक और प्रयत्नशील रहे थे।

(३) 'केसवं' शब्द में त्रिमूर्त्ति—ब्रह्मा, विष्णु और शिव—का समन्वय है; अर्थात् क (ब्रह्मा), ईश (शिव) और वं (विष्णु)।

(४) 'जमनादि'—कहा जाता है कि एक मुसलमान ने किसी सुअर द्वारा आक्रमण किये जाने पर मर्मान्तक रूप से घायल हो 'हराम' शब्द का उच्चारण किया था। 'हराम' में 'राम' अनायास ही आ जाने से 'राम' नाम के प्रताप से उसकी मुक्ति हो गई थी। मुसलमानों में सुअर 'हराम' अर्थात् त्याज्य माना जाता है।

[४७]

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुखद्वन्द गोविन्द आनन्दघन ॥१॥

अचरचर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति वासना-धूप दीजै।
दीप निजबोध गत कोह-मदमोह-तम-प्रौढ़ अभिमान-चितवृत्ति छीजै ॥२॥
भाव अतिसै बिसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम-सन्तोषकारी।
प्रेम ताम्बूल, गत सूल संसय सकल, बिपुलभव-बासना-बीजहारी ॥३॥
असुभ-सुभकर्म घृतपुर्न दस वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुन प्रकासम्।
भक्ति-वैराग्य-बिग्यान-दीपावली, अर्पि नीराजनं जग-निवासम् ॥४॥

बिमल हृदि-भवन कृत सांति-परजंक सभ, सयन विश्राम श्रीराम राया।
छमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका जत्र हरि तत्र नहिं भेद माया ॥५॥
यहै आरती-निरत सनकादि स्रुतिसेषसिवदेवरिषि अखिल मुनितत्त्व-दरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, बदति इति अमलमति-दासतुलसी ॥६॥

शब्दार्थ—ऐसी=इस प्रकार। मन=मन से। द्वन्द=राग-द्वेष आदि। सर्वगत=सब में। इति बासना=इस वासना की। निजबोध=आत्मज्ञान। गत=विहीन। कोह=क्रोध। प्रौढ़=सघन। छीजै=क्षीण हो जायेंगी। अतिसै=अतिशय। प्रवर=श्रेष्ठ। श्रीरमन=लक्ष्मी रमण लक्ष्मीपति भगवान्। सूल=शूल, कष्ट। वर्तिका=वाती, बत्ती। पावक=अग्नि। नीराजनं=आरती। परजंक=पर्यंक, पलंग। राया=राजा। तत्र=वहाँ। जत्र=जहाँ। निरत=लगे रहते हैं। बदति=कहता है। प्रमुख=आदि।

भावार्थ—हे मन! रघुवीर राम की आरती इस प्रकार कर। वे राम राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से उत्पन्न दुखों को दूर करने वाले, इन्द्रियों के स्वामी (गोविन्द) और आनन्द की सर्वत्र वर्षा करने वाले मेघ हैं। 'भगवान् राम चर-अचर (जड़-चेतन) आदि सभी में समाये हैं, विश्व के कण-कण में उनका निवास है, इस वासना (इच्छा) सुगन्धि की उन्हें धूप दे अर्थात् यह विश्वास कर ले कि राम विश्वव्यापी हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार आरती प्रारम्भ करने से पूर्व धूप, गूगल आदि जलाने से वातावरण दुर्गन्धि आदि से मुक्त हो स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार राम को विश्व-व्यापी मान, उनमें दृढ़ आस्था रखने से मन की सारी मायाजन्य वासनाएँ निर्मल (निष्काम) हो जाती हैं। और भक्त के मन का सारा भेद-भाव जाता रहता है। उसकी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। (यहाँ 'इति' का अर्थ 'समाप्ति' भी माना जा सकता है।) (आरती करते समय धूप देने के उपरान्त दीपक जलाया जाता है), इसके उपरान्त अपने आत्मज्ञान का दीपक जलाकर क्रोध, अहंकार और मोह (अज्ञान) के सघन अन्धकार को दूर कर। ऐसा करने से तेरी सारी अभिमान की वृत्तियाँ नष्ट हो जायेंगी। अर्थात् तेरा सारा अभिमान दूर हो जायेगा। (आत्मज्ञान होने पर मनुष्य सुख-दुख की भावनाओं से मुक्त हो जाता है।)

(दीपक के उपरान्त नैवेद्य—भोग—लगाया जाता है) फिर अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ भाव का नैवेद्य (भोग) लगा। अर्थात् अपने निष्कपट भाव को भगवान् के चरणों में अर्पित कर। यह भाव-रूपी नैवेद्य लक्ष्मीपति भगवान् को परम संतोष प्रदान करता है। अर्थात् निष्कपट भाव से भगवान् की आराधना करने से भगवान् पूर्ण संतुष्ट हो भक्त पर प्रसन्न हो जाते हैं। (नैवेद्य के उपरान्त भगवान् को ताम्बूल-पान-अर्पित किया जाता है) अपने प्रेम रूपी ताम्बूल से, जो शोक, सारे अविद्याजनित अज्ञान तथा अपार सांसारिक वासनाओं के बीज (मूल) का विनाश करने वाला है, भगवान् का मुखरंजन कर। भाव यह है कि प्रेम द्वारा संसार की सम्पूर्ण वासनाएँ,

दुख और अज्ञान आदि का जड़ से नाश हो जाता है। यही प्रेम ताम्बूल के रूप में भगवान को अर्पित कर। (ताम्बूल के उपरान्त आरती जलाई जाती है) अपने शुभ-अशुभ कर्मों रूपी घृत में डूबी हुई दस (इन्द्रियों रूपी) वृत्तियों को त्याग रूपी अग्नि से प्रज्वलित कर (शरीर रूपी दीपक में) सतोगुणी रूपी प्रकाश कर। (तीनों गुणों में से सतोगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और शान्त माना गया है) और भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान रूपी दीपावली की आरती जगत में निवास करने वाले भगवान राम को अर्पित कर। भाव यह है कि त्याग प्राप्त हो जाने पर हमारी दसों इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) अपनी-अपनी वासनाओं से मुक्त हो सतोगुणी वृत्ति धारण कर लेती हैं। त्याग भावना आते ही वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं।

(आरती के उपरान्त भगवान को शयन कराया जाता है।) आरती के उपरांत अपने निर्मल हृदय रूपी मन्दिर में शान्ति रूपी सुन्दर पर्यंक (पलंग) पर राजा श्री रामचन्द्र को शयन कराकर उन्हें विश्राम दे। अर्थात् अपने शरीर को पूर्ण निर्मल बना, हृदय को विषय-वासनाओं से मुक्त कर शान्त, स्थिर मन से सदैव भगवान का ध्यान करता रह। (जहाँ महाराज सोते हैं वहाँ उनकी सेवा-परिचर्या के लिए कुछ दासियाँ भी रखी जाती हैं) भगवान के इस शयनागार में क्षमा, करुणा आदि दासियों को भगवान की सेवा के निमित्त नियत कर। अर्थात् सदैव क्षमा, करुणा आदि भावों को अपने हृदय में धारण किये रह। इनसे भगवान परम प्रसन्नता और सन्तोष प्रदान करते हैं। जहाँ भगवान रहते हैं वहा भेद-भावना उत्पन्न कराने वाली माया नहीं रहती। अर्थात् हृदय में भगवान के निवास करने से मन का अविद्याजनित सारा भेद-भाव नष्ट हो, वह पूर्ण निर्मल और निष्काम बन जाता है। भगवान की इस आरती के करने में सनक-सनन्दन (सनातन, सनत्कुमार) आदि, शुकदेव, शेषनाग, शिव, देवता, ऋषि और तत्त्वज्ञानी मुनि आदि सभी व्यस्त रहते हैं। अर्थात् सदैव इस आरती को किया करते हैं। निर्मल बुद्धि वाले परम ज्ञानियों का सेवक तुलसी कहता है कि जो कोई भी इस आरती को करता है वह काम आदि कलुषित भावनाओं से मुक्त हो जाता है।

(इस आरती का भाव यह है कि ईश्वर को सर्वव्यापी मान लेने से आत्म-ज्ञान हो जाने पर क्रोध, मोह, मद, अहंकार आदि कलुषित भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। हृदय निर्मल तथा पूर्ण सन्तुष्ट हो भगवान से अनन्य प्रेम करने लगता है। भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होने से सारा अज्ञान और सांसारिक वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। फलतः त्याग की भावना पैदा होती है। इस भावना के उदय होते ही हमारी सारी इन्द्रियाँ अपने शुभ-अशुभ कर्मों को त्याग देती हैं और सतोगुणी बन जाती हैं तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य में लीन हो जाती हैं। ऐसा हो जाने पर मन पूर्ण शान्त हो ब्रह्म के प्रकाश से आपूरित हो जाता है। ब्रह्म का प्रकाश हो जाने से क्षमा,

करुणा आदि सद्गुणों की स्थिति और माया, भेद आदि अज्ञान का नाश हो जाता है। इस मानसिक आरती का यही अभिप्राय और उद्देश्य है।)

टिप्पणी—(१) अलंकार—सांगरूपक।

(२) आरती के छः अंग होते हैं—धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, आरती और शयन।

(३) यह पद तुलसी के भक्तिमार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है। तुलसी माानस-पूजा का महत्त्व अधिक मानते हैं। यह आरती सगुण साधना की प्रतीक अवश्य है परन्तु यहाँ मानसिक पूजा की ओर स्पष्ट संकेत मिल जाता है। जो भक्त मन से राम की पूजा कर सकता है उसे वाह्यचार की आवश्यकता नहीं रहती। तुलसी ने इस आरती में लोकपक्ष और व्यक्तिपक्ष का समन्वय कराया है। भक्त स्थूल से परे सूक्ष्म की मन से पूजा कर सकता है। उसे स्थूल की आवश्यकता नहीं। बाह्य आरती से मानसिक आरती श्रेष्ठ और सरल है।

(४) 'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया'—जहाँ भगवान का निवास होता है वहाँ माया जनित भेदबुद्धि नहीं रहती। रहीम, भारतेन्दु आदि ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। रहीम का एक दोहा दृष्टव्य है—

'प्रीतम छबि नैननि बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आय फिरि जाय॥'

[४८]

हरति सब आरती आरती राम की।
दहन दुख दोष, निर्मूलिनी काम की॥ १॥
सुभग सौरभ धूप दीपवर मालिका।
उड़त अघ-बिहँग सुनि ताल करतालिका॥ २॥
भक्त-हृदि-भवन, अग्यान-तम-हारिनी।
बिमल बिग्यानमय तेज-बिस्तारिनी॥ ३॥
मोह-मद-कोह-कलि- कंज - हिमजामिनी।
मुक्ति की दूतिका देह-दुति दामिनी॥ ४॥
प्रनत-जन-कुमुद-बन-इन्दु-कर - जालिका।
तुलसी अभिमान-महिषेस बहु कालिका॥ ५॥

शब्दार्थ—आरती=दुख। निर्मूलिनी=जड़ से नष्ट कर देने वाली। सौरभ=सुगन्धि। दीपवर=सुन्दर दीपक। मालिका=माला। करतालिका=हाथ की

तालियाँ। अघ-बिहंग=पाप रूपी पक्षी। हृदि=हृदय। हिमजामिनी=जाड़े की रात। दामिनी=बिजली। इन्दु-कर-जालिका=चन्द्र किरणों का समूह। महिषेस=महिषासुर।

भावार्थ—राम की आरती सारे दुखों को दूर करती है, क्लेशों और पापों को जलाकर भस्म कर डालती है और काम-वासना को जड़ से विनष्ट कर देती है। यह आरती सुन्दर, सुगन्धित धूप और श्रेष्ठ सुन्दर दीपकों की माला है। अर्थात् जिस प्रकार दीपकों की माला अन्धकार को दूर कर प्रकाश फैला देती है, उसी प्रकार यह आरती अज्ञान जनित माया के अन्धकार को दूर कर मन को सतोगुणी शान्ति-प्रदायक प्रकाश से भर देती है। आरती करते समय बजायी जाने वाली हाथ की तालियों की ताल को सुनते ही पाप-रूपी सारे पक्षी उड़कर भाग जाते हैं; अर्थात् सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। यह भक्तों के हृदय-रूपी मन्दिर में व्याप्त अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर करने वाली और वहाँ निर्मल आत्मज्ञान रूपी प्रकाश को बढ़ाने वाली है।

यह आरती मोह, अहंकार, क्रोध और क्लेश (कलि) रूपी कमलों का नाश करने के लिए शीत ऋतु की रात्रि के समान है। अर्थात् जिस प्रकार जाड़े की रात में पाला पड़ने से कमल नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार यह आरती मोह आदि भावनाओं को नष्ट कर डालती है। यह मुक्ति रूपी नायिका से मिलन करा देने वाली दूती के समान है। अर्थात् आरती करने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके शरीर की दीप्ति बिजली के समान विश्व के कण-कण में प्रकाश भर देने वाली है। यह शरणागत भक्तों रूपी कुमुदिनियों के वन को खिलाने के लिए चन्द्रमा की किरणों की माला अर्थात् चाँदनी के समान है; अर्थात् भक्त आरती सुनकर खिल उठते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि यह अभिमान रूपी महिषासुर का वध करने के लिए बहुत-सी कालिकाओं के समान है। अर्थात् यह जीव के अभिमान को नष्ट कर देती है।

टिप्पणी—अलंकार—(१) 'आरती आरती' में यमक अलंकार है।

(२) 'मुक्ति की दूतिका''''दामिनी'—से यह भाव भी ग्रहण किया जा सकता है कि जिस प्रकार सघन अन्धकार भरी रात्रि में कोई नायक नायिका से मिलने गन्तव्य स्थान की ओर जाता है तो मार्ग में बिजली चमक कर उसे अन्धकार में खड़ी नायिका का पता बता देती है, इसी प्रकार यह आरती भक्तों को मुक्ति तक पहुँचा देती है। इसी से इसके शरीर की कान्ति को बिजली की चमक के समान माना है।

(३) महिषासुर शिव के अंश से उत्पन्न अजय दैत्य था। काली ने इसका वध किया था।

हरिशंकरी पद

[४६]

दनुज-बन-बहन, गुन-गहन, गोविन्द, नंदादि-आनन्द-दाताऽविनासी।
संभु सिव रुद्र संकर, भयंकर भीम, घोर तेजायतन, क्रोध-रासी ॥१॥
अनन्त भगवन्त जगदन्त-अन्तक-त्रास-समन श्रीरमन भुवनाभिरामं।
भूधराधीस जगदीस ईसान बिग्यानघन ग्यान - कल्यान - धामं ॥२॥
वामनाव्यक्त पावन परावर बिभो, प्रगट परमात्मा प्रकृति-स्वामी।
चन्द्रसेखर सूलपानि हर अनघ अज अमित, अविछिन्न बृषभेस-गामी ॥३॥
नील जलदाभतनु स्याम, बहु काम छबि, राम राजीवलोचन कृपाला।
कंबू-कर्पूर-बपुधवल निर्मल, मौलि जटा सुर-तटिनि, सित सुमन माला ॥४॥
बसन किंजल्कधर चक्र - सारंग - दर-कंज - कौमोदकी अति बिसाला।
मार-करिमत्त-मृगराज त्रैनैन हर, नौमि अपहरन-संसार-जाला ॥५॥
कृष्ण करुनाभवन, दवन कालीय खल, बिपुल कंसादि निर्बंस्सकारी।
त्रिपुर-मद-भंगकर मत्तगज-चर्मधर, अन्धकोरग-ग्रसन पन्नगारी ॥६॥
ब्रह्म व्यापक अकल सकलपर परमहित, ग्यान-गोतीत गुन-वृत्ति हर्त्ता।
सिंधुसुत-गर्व-गिरि-बज्र, गौरीस, भव, दच्छ-मख-अखिल-विध्वंसकर्त्ता ॥७॥
भक्तिप्रिय भक्तजन-कामधुक-धेनु हरि हरन दुर्घट-बिकट-बिपति-भारी।
सुखद नर्मद वरद, विरज अनवद्यऽखिल बिपिन-आनन्द-बीथिन-बिहारी ॥८॥
रुचिर हरिसंकरी नाम मंत्रावली, द्वन्द्वदुख-हरनि आनन्दखानी।
विष्णु-सिव-लोक-सोपान-सम सर्वदा वदति तुलसीदास बिसद बानी ॥९॥

शब्दार्थ—गहन=वन। गोविन्द=गो अर्थात् इन्द्रियों के नियन्ता, नियंत्रण रखने वाले। नंदादि=नन्द आदि गोप। आनन्ददाताऽविनासी=आनन्ददाता+अविनासी। तेजायतन=तेज के स्थान। जगदन्त+संसार का नाश करने वाले। अन्तक=यमराज। श्रीरमन=लक्ष्मी-रमण। भगवन्त=ऐश्वर्यशाली। भूमराधीस=कैलास पर्वत के स्वामी। जगदीस=संसार के स्वामी। ईसान=ईशान। वामनाव्यक्त=वामन+अव्यक्त=वामनावतार और अव्यक्त (निराकार)। परावर=दूर और पास, सर्वत्र। परावर विभो—सर्वत्र व्यापक। प्रकृति=माया। अनघ=निष्पाप। अज=अजन्मा। अमित=अनन्त। अविच्छिन्न=अखंड। वृषभेस=नादिया। गामी=सवारी करने वाले। जलदाभ=जलद+आभ=बादल की कान्ति। कंबु=शंख। बपुधवल=धवल, श्वेत शरीर। मौलि=मस्तक। सुर-तटिनि=देवनदी गंगा। सित=श्वेत,सफेद। किंजल्क=कमल की केसर के समान जिसका रंग पीला होता है। धर=धारण करने

वाले। सारंग=विष्णु का धनुष। दर=शंख। कौमोदकी=विष्णु की गदा का नाम। मार=कामदेव। त्रैनैंन=त्रिनेत्र, तीन नेत्र वाले। नौमि=नमस्कार करता हूँ। कालीय=कालीनाग। निवंसकारी=वंश नाश करने वाले। त्रिपुर=त्रिपुरासुर। अन्धकोरग=अन्धक+उरग=अन्धक दैत्य रूपी सर्प। ग्रसन=भक्षण करने के लिए। पन्नगारी=पन्नग+अरि=सर्पों के शत्रु गरुड़। अकल=कला-रहित। सकल-पर=सबसे परे, सर्वश्रेष्ठ। गोतीत=इन्द्रियों से परे। वृत्ति=वासना। सिन्धुसुत=जलन्धर नामक दैत्य, रावण इसी का अवतार था। गर्व-गिरि=गर्व रूपी पर्वत। गौरीस=गौरी के स्वामी। भव=मंगल रूप। दच्छ मख=दक्ष प्रजापति का यज्ञ। अखिल=सम्पूर्ण। दुर्घट=भयंकर। सुखद=सुख देने वाले। नर्मद=आनन्ददाता। वरद=वर दाता। विरज=रजोगुण के प्रभाव से रहित। अनवद्य=दोष रहित, निर्दोष। विपिन आनन्द=आनन्दवन काशी। बीथिन=गलियाँ। रुचिर=सुन्दर। हरि-संकरी=विष्णु और शिव। द्वन्द्व=चिन्ता। आनन्दखानी=आनन्द की खान। सोपान=सीढ़ी। विसद=शुद्ध, स्पष्ट।

भावार्थ—इस पद में प्रत्येक पहली पंक्ति में विष्णु की और प्रत्येक द्वितीय पंक्ति में शिव की स्तुति की गयी है। ऐसे पदों को 'हरिशंकरी' पद कहते हैं। हम यहाँ 'विष्णु पक्ष' और 'शिव पक्ष'—दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत इनका क्रम-क्रम से अर्थ करने का प्रयत्न करेंगे। यथा—

विष्णु पक्ष—भगवान् विष्णु दैत्यरूपी वन को भस्म करने के लिए दावाग्नि, गुणों के सघन वन अर्थात् बड़े गुणी अथवा गुणों को ग्रहण करने वाले सर्वगुण सम्पन्न इन्द्रियों के स्वामी, नन्द आदि गोपों को आनन्द देने वाले और अविनाशी (जिनका कभी नाश न हो) हैं।

शिव पक्ष—भगवान् शिव—शम्भु, शिव, रुद्र, शंकर आदि अनेक नाम धारण करने वाले, बड़े भयंकर, भारी तेज के स्थान अर्थात् महान् तेजस्वी और क्रोध के पुंज अर्थात् भयानक रूप से क्रोधी हैं।

विष्णु पक्ष—भगवान् विष्णु अनन्त (जिनका अन्त नहीं), अमित ऐश्वर्यशाली, संसार का नाश करने वाले यमराज के भय को भी दूर करने वाले, लक्ष्मीपति और सारे भुवनों (चौदह भुवनों) को आनन्द देने वाले हैं।

शिव पक्ष—भगवान् शिव कैलास पर्वत के स्वामी, संसार के अधिनायक, ईश नाम धारण करने वाले (शिव को ईश अर्थात् संसार का स्वामी माना जाता है); विज्ञान के मेघ अर्थात् विश्व में आत्मज्ञान का समान भाव से वितरण करने वाले ज्ञान और कल्याण के धाम (स्थान) हैं।

विष्णु पक्ष—वामन रूप धारण करने वाले, निराकार, पवित्र, दूर और पास अर्थात् सर्वत्र व्यापी, साक्षात् परमात्मा स्वरूप और प्रकृति अर्थात् माया के स्वामी हैं।

शिव पक्ष—चन्द्रशेखर (सिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाले), हाथ में त्रिशूल लिये, पापों को हरने वाले, निष्पाप, अजन्मा (जन्म रहित), अनन्त, अखण्ड और बैल पर सवारी करने वाले हैं।

विष्णु पक्ष—नीले मेघ की छवि के समान सुन्दर श्याम शरीर वाले, अनेक कामदेवों की छवि से संयुक्त, जिनमें योगी रमते हैं (राम), कमल-नयन और कृपालु हैं।

शिव पक्ष—शंख और कपूर के समान श्वेत निर्मल शरीर वाले, मस्तक पर जटाजूट बाँधे और उस जटाजूट में श्वेत धारा वाली गंगा को श्वेत पुष्पों की माला के समान धारण करने वाले हैं।

विष्णु पक्ष—कमल की केसर के समान पीला पीताम्बर पहने, हाथों में सुदर्शन चक्र, शारंग धनुष, शंख, कमल और कौमोदिकी नामक विशाल-भारी गदा को धारण करने वाले हैं।

शिव पक्ष—कामदेव रूपी हाथी का संहार करने के लिए सिंह के समान भयंकर तीन नेत्रों वाले और संसार के जाल अर्थात् जन्म-मरण के जाल से मुक्ति दिलाने वाले शिव को मैं प्रणाम करता हूँ।

विष्णु पक्ष—श्याम शरीर वाले कृष्ण, करुणा के स्थान, कालीनाग का दमन करने वाले, कंस आदि दुष्टों को मारकर उनके वंश का नाश कर देने वाले हैं।

शिव पक्ष—त्रिपुरासुर नामक राक्षस का अहंकार दूर कर उसका वध करने वाले, मतवाले हाथी को मार उसका चर्म धारण करने वाले और अन्धक नामक दैत्य रूपी सर्प का गरुड़ के समान वध कर डालने वाले हैं।

विष्णु पक्ष—ब्रह्म, चराचर में व्याप्त, कला-रहित अर्थात् पूर्ण ब्रह्म, सबसे परे, परम हितैषी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे अर्थात् भिन्न और मायाजनित तीनों गुणों (सत्, रज, तम) की वृत्तियों अर्थात् वासनाओं से मुक्ति दिलाने वाले हैं।

शिव पक्ष—जलन्धर नामक दैत्य के गर्व रूपी पर्वत को चूर-चूर करने के लिए वज्र के समान कठोर और भयंकर, पार्वती के पति, मंगल के साक्षात् रूप और प्रजापति दक्ष के यज्ञ को सम्पूर्ण रूप ने विध्वंस करने वाले हैं।

विष्णु पक्ष—भगवान विष्णु को भक्ति प्रिय है। वे भक्तों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने के लिए कामधेनु के समान और उनकी कठिन और भयानक विपत्तियों को दूर करने वाले हैं।

शिव पक्ष—शिव भक्तों को सुख, आनन्द और वरदान देने वाले, रजोगुण से रहित और सम्पूर्ण विकारों से रहित, आनन्द वन काशी की गलियों में विहार करने वाले हैं।

इसके उपरान्त तुलसी इस 'हरिशंकरी' पद का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि विष्णु और शिव के नामों वाली यह सुन्दर मन्त्रों की दुहरी पंक्ति द्वन्द्व (रागद्वेषादि) के दुख को दूर करने वाली, आनन्द की खान और विष्णु लोक तथा शिवलोक पहुँचाने वाली शाश्वत नसैनी (सीढ़ी) के समान है। तुलसी इस तथ्य की घोषणा शुद्ध वाणी से अर्थात् स्पष्ट रूप से करता है।

टिप्पणी—(१) वामन अवतार, काली दमन आदि की अन्तर्कथाएँ सर्वप्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ उनका विवरण देना व्यर्थ है।

(२) **जलन्धर**— जलन्धर अपनी पतिव्रता स्त्री के प्रताप के कारण अजेय हो गया था। शिव भी उसे मारने में असमर्थ रहे थे। यह देख भगवान विष्णु उसके घर साधु वेश बना जा बैठे। विष्णु की माया से वहाँ जलन्धर के एक-एक अंग आकर गिरे। यह देख उसकी स्त्री विलाप करने लगी। इस पर विष्णु ने कहा कि तू सती है, इसके अंग जोड़ दे। स्त्री के ऐसा करने पर जब जलन्धर पुनः जीवित हो उठा तो उसकी स्त्री साधु रूपी विष्णु की अत्यन्त कृतज्ञ हो उनके चरण दबाने लगी। पर-पुरुष से स्पर्श होते ही उसका सतीत्व नष्ट हो गया और उधर शिव ने रण में जलन्धर को मार डाला। यह देख उस सती ने विष्णु को शाप दिया कि दूसरे जन्म में मेरा पति तुम्हारी स्त्री का हरण करेगा और तुम उसके विरह में दुखी होगे। रावण जलन्धर का ही अवतार था।

(३) दक्ष प्रजापति की पुत्री सती शिव की अर्द्धाङ्गिनी थीं। एक बार दक्ष ने यज्ञ किया और शिव से रुष्ट रहने के कारण शिव को नहीं बुलाया। इस पर सती बड़ी क्रुद्ध हुईं और यज्ञ की अग्नि में जलकर मर गयीं। यह सुन शिव ने अपने गण वीरभद्र को भेज उस यज्ञ का विध्वंस करवा डाला।

(४) अन्धक अत्यन्त दुष्ट दैत्य था। शिव ने उसका वध किया था।

[५०]

भानुकुल-कमल-रबि, कोटि - कंदर्प - छबि, कालकलि-व्यालमिव बैनतेयं।
प्रबल भुजदण्ड परचण्ड कोदण्ड-धर, तूनवर बिसिख बलमप्रमेयं॥१॥
अरुन राजीवदल - नैन सुखमा - ऐन, स्याम-तन-कान्ति बर-बारिदाभं।
तप्त कांचन-वस्त्र सस्त्र-विद्या-निपुन, सिद्ध-सुर-सेव्य पाथोजनाभं॥२॥
अखिल-लावान्य-गृह बिस्व - बिग्रह परम प्रौढ़ गुनगूढ़ महिमा उदारं।
दुर्द्धर्ष दुस्तर दुर्ग, स्वर्ग, अपवर्ग-पति भग्न संसार पादप-कुठारं॥३॥
सापबस-मुनिबधू - मुक्तकृत, बिप्रहित जग्य - रच्छन - दच्छ पच्छकर्त्ता।
जनकनप-सदसि सिवचाप-भंजन, उग्र-भार्गवागर्व-गरिमापहर्त्ता॥४॥

गुरु-गिरा-गौरव अमर-सुदुस्त्यज राज्य त्यक्त सहित सौमित्रि-भ्राता।
संग जनकात्मजा मनुजमनुसृत्य अज, दुष्ट-बध- निरत त्रैलोक्यत्राता ॥५॥
दण्डकारन्य कृत पुन्य पावन चरन, हरन मारीच-मायाकुरंगं।
बालिबल-मत्तगजराज इव केसरी, सुहृद-सुग्रीव-दुखरासि-भंगं ॥६॥
रिच्छ मरकट बिकट सुभट उद्भट समर, सैल-संकास रिपु-त्रासकारी।
बद्ध पाथोधि सुर-निकर-मोचन, सकुल दलन दससीस-भुजबीस-भारी ॥७॥
दुष्ट-बिबुधारि-संघात-अपहरन महि-भार, अवतार कारन अनूपं।
अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप-रूपं ॥८॥
सेष स्रुति-सारदा-संभु-नारद-सनक गनत गुन अन्त नहिं तव चरित्रं।
सोइ राम कामारि-प्रिय अवधपति सर्वदा दासतुलसी-त्रास-निधि-वहित्रं ॥९॥

शब्दार्थ—व्यालमिव=व्यालम्+इव=सर्प को। वैनतेयं=गरुड़, वनिता का पुत्र। तूनवर=श्रेष्ठ तरकश। विसिख=विशिख, वाण। वलमप्रमेयं=बलम्+अप्रमेयं=अपरिमित बल। दल=पंखुड़ी। सुखमा=सुषुमा, सौन्दर्य। वारिदाभं=वारिद+आभं=मेघ की कान्ति। सेव्य=सेवित, पूज्य। पाथोजनाभं=पाथोज=कमल, नाभं=नाभि से। विग्रह=शरीर। प्रौढ़=चतुर। गूढ़=गुप्त। दुर्ग=दुर्गम। अपवर्ग=स्वर्ग। पादप=वृक्ष। कुठारं=कुठार, परशु, फरसा। मुनिवधू=गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या। पच्छकर्त्ता=पक्ष लेने वाले। सदसि=सभा। भार्गवागर्व=भार्गव परशुराम के गर्व को। गरिमापहर्ता=गौरव का अपहरण करने वाले। गुरु=वड़े, पिता। गिरा=वाणी, वचन। अमर=देवता। दुस्त्यज=कठिनता से त्यागने योग्य। त्यक्त=त्याग दिया। मनुजमनु-सृत्य=मनुजम्+अनुसृत्य=मनुष्यों के अनुसार, मनुष्य रूप धारण कर। निरत=संलग्न हो गये। त्राता=रक्षक। कृत पुन्य=पुण्य, पवित्र वना दिया। मायाकुरंग=माया मृग मारीचि। इव=के समान। सुहृद=मित्र। संकास=आकार, समान। बद्ध पाथोधि=समुद्र को बाँधा। निकर=समूह। विबुधारि=विबुध+अरि=देवताओं के शत्रु (राक्षस)। संघात=समूह। अनवद्य=दोषरहित=निर्दोष, निष्पाप। सुमिरामि=स्मरामि, स्मरण करता हूँ। स्रुति=वेद। कामारि प्रिय=कामदेव के शत्रु शिव के प्रिय। त्रासनिधि=दुख का सागर। वहित्रं=नाव, जहाज।

भावार्थ—राम सूर्यवंश रूपी कमलों को खिलाने के लिए सूर्य रूप (अर्थात् जिन्हें देखकर सूर्यवंश के लोग कमल के समान खिल उठते हैं), करोड़ों कामदेवों की छवि के समान सुन्दर, कलियुग रूपी सर्प को ग्रसने (खाने) के लिए गरुड़ रूप, अपने प्रबल भुजदण्डों में प्रचण्ड धनुष और बाण धारण किये, कमर में सुन्दर तरकश बाँधे, अतुल बलशाली हैं। लाल कमल के समान सुन्दर जिनके नेत्र हैं, जो सौन्दर्य के भण्डार हैं, जिनके शरीर की कान्ति सुन्दर मेघ के वर्ण जैसी है, जो तपे हुए सोने के से रंग

वाले, सुन्दर वस्त्र अर्थात् पीताम्बर धारण किये हैं, जो शस्त्र-विद्या में निपुण तथा सिद्ध और देवताओं द्वारा सेवित हैं, जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है (यहाँ कमल से अभिप्राय विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन ब्रह्मा से ही मानना चाहिए), जो सम्पूर्ण सौन्दर्य के धाम, विराट् रूप, परम चतुर, गुप्त गुणों से युक्त, उदार महिमा अर्थात् बड़े ही महत्त्वशाली, अजेय योद्धा, दुस्तर (जिनकी महिमा को कोई भी नहीं जान सकता), बड़े ही दुर्गम (अर्थात् जिन तक कोई भी नहीं पहुँच सकता), स्वर्ग और मोक्ष के स्वामी अर्थात् दाता और संसार रूपी वृक्ष को (संसार के जन्म-मरणादि भय को) जड़ से नष्ट कर देने के लिए कुठार के समान हैं।

राम गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या को मुनि के शाप से मुक्त करने वाले, ब्राह्मणों के हितैषी, यज्ञों की रक्षा करने में कुशल (विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी), भक्तों का सदैव पक्ष लेने वाले, जनक की सभा में शिव-धनुष तोड़कर क्रुद्ध परशुराम के भारी अहंकार का नाश करने वाले हैं। देवता भी जिस राज्य के मोह को छोड़ने में अत्यन्त कष्ट का अनुभव करें, ऐसे राज्य को पिता के वचनों की रक्षा के लिए तिनके के समान त्यान देने वाले लक्ष्मण और पत्नी सीता को साथ लेकर, अजन्मा पूर्ण ब्रह्म होने पर भी नर-लीला करते हुए संसार की रक्षा के लिए दुष्ट रावण आदि राक्षसों का संहार करने में संलग्न रहने वाले राम हैं। अपने पवित्र चरणों से दण्डकवन को पवित्र वना देने वाले, कपट मृग मारीच का वध करने वाले, मतवाले हाथी के समान महान् बलशाली वाली के लिए सिंह के समान बन जाने वाले, और मित्र सुग्रीव के सम्पूर्ण दुखों को दूर करने वाले राम हैं।

भयंकर शूरवीर रीछ और बन्दर योद्धाओं को साथ लेकर (कुम्भकर्ण जैसे) पर्वताकार शत्रुओं को भी संग्राम में भयभीत कर देने वाले, समुद्र पर पुल बाँधने वाले, देवताओं के समूह को रावण की कैद से मुक्ति दिलाने वाले, दस सिर और बीस भुजाओं वाले भारी योद्धा रावण का वंश-सहित नाश करने वाले, देवताओं के शत्रु दुष्ट राक्षसों के समूह को, जो पृथ्वी पर भार के समान थे, मारने के लिए अनुपम कारण और विशिष्ट अवतार धारण करने वाले, निर्मल (शुद्ध सत्त्व रूप), निर्दोष, अद्वैत, निर्गुण (तीनों गुणों से रहित), सगुण (अवतार लेने वाले), परब्रह्म और नर रूप धारी राजराजेश्वर राम का मैं स्मरण करता हूँ। शेषनाग, वेद, सरस्वती, शिव, नारद, सनकादिक जिनके गुणों कर वर्णन करते हैं किन्तु फिर भी जिनके चरित्र का पार नहीं पा पाते, वही शिव के प्रिय, अवध के स्वामी राम इस तुलसीदास को इस संसार रूपी दुख के समुद्र से पार कर देने के लिए नाव के समान हैं। अर्थात् राम ही तुलसीदास को इस संसार के दुखों से मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं।

टिप्पणी—(१) 'दंडकारन्य पुन्यकृत'—कहा जाता है कि पहले दण्डकवन को यह शाप मिला था कि वहाँ कोई भी नहीं जा सकेगा। परन्तु राम ने वहाँ जाकर दण्डकवन को उस शाप के प्रभाव से मुक्त कर पुण्य-क्षेत्र बना दिया था।

[५१]

जानकीनाथ रघुनाथ रागादि-तम-तरनि तारुन्यतनु तेजधामं।
सच्चिदानन्द आनंदकंदाकरं विस्व-विश्राम रामाभिरामं ॥१॥
नीलनव-वारिधर सुभग-सुभकांतिकर पीलकौसेय-बरबसन-धारी।
रत्न-हाटक-जटित मुकुट मंडित मौलि, भा-सत-सदृस उद्योतकारी ॥२॥
स्रवन कुंडल, भाल तिलक, भ्रू रुचिर अति, अरुन-अंभोज-लोचन-बिसालं।
बक्र अवलोक त्रैलोक्य-सोकापहं मार-रिपु-हृदय-मानस-मरालं ॥३॥
नासिका चारु, सुकपोल, द्विज बज्रदुति, अधर बिंबोपमा, मधुरहासं।
कंठ दर, चिबुक बर, बचन गंभरतर, सत्य संकल्प, सुरत्रास-नासं ॥४॥
सुमन सुबिचित्र नवतुलसिकादल-युतं मृदुल बनमाल उर-भ्राजमानं।
भ्रमत आमोदबस मत्तमधुकर-निकर, मधुरतर मुखर कुर्वन्ति गानं ॥५॥
सुभग श्रीवत्स केयूर कंकन हार किंकिनी-रटनि कटितट रसालं।
बाम दिसि जनकजासीन-सिंहासनं कनक-मृदु बल्लिवत तरु तमालं ॥६॥
आजानुभुजदंड कोदंड-मण्डित बाम बाहु, दच्छिन पानि बानमेकं।
अखिल मुनि-निकर सुर सिद्ध गंधर्ववर नमत नर नाग अवनिप अनेकं ॥७॥
अनघ अविच्छिन्न सर्वग्य सर्वेस खलु सर्वतोभद्र दाताऽसमाकं।
प्रनतजन-खेद-विच्छेद-विद्या-निपुन नौमि श्रीराम सौमित्रि-साकं ॥८॥
जुगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं चिन्ह कुलिसादि सोभातिभारी।
हनुमंत-हृदिविमल-कृत-परममंदिर सदा दासतुलसी सरन सोकहारी ॥९॥

शब्दार्थ—तरनि=सूर्य। तारुन्य=तरुण। आनन्दकंदाकरं=आनन्द+कन्द+आकरं=आनन्द की वर्षा करने वाले मेघों की खान अर्थात् समूह। कन्द=मेघ, जड़। वारिधर=बादल। सुभ=शुभ, मंगलमय। पीत कौसेय=पीला रेशमी वस्त्र, पीताम्बर। हाटक=स्वर्ण। मौलि=मस्तक। उद्योत प्रकाश। अंभोज=कमल। वक्र=पाठान्तर वक्त्र=मुख, वक्र=तिरछी, टेढ़ी। अवलोक=पाठान्तर आलोक=देखना, प्रकाश। सोकापहं=शोक को दूर करने वाले। मार-रिपु=काम के शत्रु शिव। द्विज=दाँत। बज्र=हीरा। बिंबोपमा=बिम्बाफल के समान। दर=शंख। सुरत्रास=देवताओं का दुख। नव तुलसिकादल=तुलसी के नये कोमल पत्ते। भ्राजमानं=शोभित है। मधुकर-निकर=भ्रमरों का झुण्ड। मुखर=शब्दायमान, गुंजित। आमोद=सुगन्धि। कुर्वन्ति=कर रहे हैं। श्री वत्स=श्री का चिह्न। केयूर=बाजूबन्द। रटनि=ध्वनि। जनकजासीन=जनकजा+आसीन=सीता बैठी हैं। बल्लिवत=लता के समान। पानि=हाथ। बानमेकं=बानम्+एकम्=एक

वाण। अवनिप=अवनि+प=पृथ्वी के रक्षक, राजा। अनघ=निष्पाप। अवि-च्छिन्न=अखंड। खलु=निश्चयपूर्वक। सर्वतोभद्र=सब प्रकार से कल्याण रूप। दाताऽसमाकं=दाता+अस्माकं=हमारे दाता, हमको देने वाले। प्रनतजन=भक्त। विच्छेद=विनाश। नौमि=नमस्कार करता हूँ। साकं=सहित। सद्म=घर। पद्मालयं=पद्मा+आलयं=लक्ष्मी का निवास स्थान। कुलसादि=वज्र आदि। कृत=बनाया। हृदि=हृदय।

भावार्थ—जानकीनाथ, रघुनाथ रागद्वेषादि रूपी अन्धकार का नाश करने के लिए तरुण शरीर अर्थात् मध्याह्नकालीन सूर्य के समान तेज के धाम, सच्चिदा-नन्द स्वरूप, आनन्द की वर्षा करने वाले मेघों की खान, संसार को शान्ति देने वाले और परम सुन्दर हैं। नीले नवीन मेघ के समान सुन्दर, मांगलिक कान्ति वाले, सुन्दर रेशमी पीताम्बर धारण किये, मस्तक पर रत्नजटित स्वर्ण का मुकुट पहने हैं। उनका तेज सैकड़ों सूर्यों के समान है। उनके कानों में कुण्डल और ललाट पर तिलक शोभित है। उनकी भौंहें अत्यन्त सुन्दर, विशाल नेत्र लाल कमल के समान और चितवन तिरछी है। वे तीनों लोकों का दुख हरने वाले, और कामदेव के शत्रु शिव के हृदयरूपी मान-सरोवर में सदैव निवास करने वाले हंस के समान हैं। अर्थात् शिव सदैव उनका ध्यान करते रहते हैं।

उनकी नासिका सुन्दर, कपोल मनोहर, दाँत हीरे की सी कान्ति वाले, अधर बिम्बाफल के समान लाल, मुसकान मधुर, ग्रीवा शंख के समान सुडौल और चिकनी, ठोड़ी परम सुन्दर और वाणी अत्यन्त गम्भीर है। वे सत्य-प्रतिज्ञ और देव-ताओं के भय को दूर करने वाले हैं। उनके वक्ष पर अत्यन्त विचित्र और विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों तथा तुलसी के नये पत्तों से बनी कोमल वनमाला सुशोभित हो रही है। जिसकी सुगन्धि से आकर्षित हो मतवाले भौरों का झुंड, मधुर गुंजार करता हुआ उस पर चक्कर काट रहा है। उनके वक्ष पर श्रीवत्स का सुन्दर चिन्ह अंकित है और भुजाओं में बाजूबन्द और कंकण, हृदय पर हार तथा कमर में करधनी का सुन्दर शब्द हो रहा है। उनके वाम भाग में (बायीं ओर) जनक-पुत्री सीता सिंहासन पर विराजमान हैं (सोने की सी कान्ति वाली सीता श्यामल कान्ति वाले राम के पार्श्व में बैठी ऐसी शोभा दे रही हैं) मानों तमाल वृक्ष के समीप कोमल स्वर्ण-लता शोभित हो रही हो।

राम की भुजाएँ घुटनों तक लम्बी हैं। वे बाएँ हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में एक बाण धारण किये हुए हैं। सम्पूर्ण मुनियों का समूह, देव, सिद्ध सुन्दर गन्धर्व, नर, नाग और अनेक राजा-महाराजा उन्हें प्रणाम करते हैं। वे निष्पाप, पूर्ण, सर्वज्ञ, सब के स्वामी और हमको सब तरह से कल्याण देने वाले अर्थात् सब तरह से हमारा कल्याण करने वाले हैं। मैं, भक्त जनों का दुख दूर करने की कला में निपुण ऐसे राम को, लक्ष्मण-सहित प्रणाम करता हूँ। जिनके दानों चरण-कमल

आनन्द के धाम और लक्ष्मी के निवासस्थान हैं और जो वज्र आदि शुभ चिन्हों से अंकित महान् शोभा को प्राप्त हो रहे हैं और जिन्होंने हनुमान के निर्मल हृदय को अपना सुन्दर मन्दिर बना रखा है अर्थात् हनुमान जिनका सदैव ध्यान किया करते हैं, मैं तुलसीदास शोक को दूर करने वाले ऐसे उन चरणों की शरण में हूँ।

टिप्पणी—(१) इस पद में राम के सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन किया गया है तथा उनकी महिमा गायी गयी है।

(२) 'वनमाला'—कुन्द, मदार, कमल, मालती और तुलसी के पत्तों से वनायी जाती है। यह वहुत मोटी और पैरों तक लम्वी होती है।

[५२]

कोसलाधीस जगदीस जगदेकहित, अमित गुन बिपुल बिस्तार लीला।
गायंति तव चरित सुपवित्र स्रुति सेष सुक, संभु सनकादि मुनि मननसीला॥१॥
वारिचर वपुष धरि भक्त-निस्तार-पर, धरनि कृत नाव महिमातिगुर्वी।
सकल जग्यांसमय उग्र विग्रह क्रोड़, मर्दि दनुजेस उद्धरन उर्वी॥२॥
कमठ अति विकट-तनु, कठिन पृष्ठोपरि, भ्रमत मंदर कंडु-सुख मुरारी।
प्रगटकृत अमृत, गो, इन्दिरा, इन्दु वृन्दारकावृद आनन्दकारी॥३॥
मनुज-मुनि-सिद्ध-सुर-नाग-त्रासक दुष्ट, दनुज द्विजधर्म-मरजाद हर्त्ता।
अतुल मृगराजवपु धरित, विद्दरति अरि, भक्त प्रहलाद-अहलाद-कर्त्ता॥४॥
छलन बलि कपट बटुरूप बामन ब्रह्म, भुवन पर्जंत पद तीन करनं।
चरन-नख-नीर त्रैलोक पावन परम, बिबुध जननी-दुसह सोक हरनं॥५॥
छत्रियाधीस-करि-निकर-बर-केसरी, परसुधर बिप्र-ससि-जलदरूपं।
बीस भुजदंड दससीस खंडन चंडबेग सायक नौमि राम भूपं॥६॥
भूमिभार-हर प्रगट परमातमा ब्रह्म नररूप कर भक्तहेतू।
वृष्णि-कुल-कुमुद-राकेस राधारमन कंस वंसाटवी धूमकेतू॥७॥
प्रबल पाखंड महि-मंडलाकुल देखि निंद्यकृत अखिल मख-कर्म-जालं।
सुद्ध बोधैक घनग्यान गुनधाम अज बोध-अवतार बंदे कृपालं॥८॥
कालकलिजनित मलमलिन मन सर्वनर मोह-निसि निबिड़जमनांधकारं।
विष्णुजस पुत्र कलकी दिवाकर उदित दासतुलसी हरनबिपतिभारं॥९॥

शब्दार्थ—जगदेकहित=जगत+एक+हित=जगत के एकमात्र हितकारी। गायंति=गाते हैं। सुक=शुकदेव। मननशीला=विचारशील। वारिचर=मत्स्य,

मछली। वपुप=शरीर। भक्त-निस्तार-पर=भक्तों का उद्धार करने के लिए। कृत =बनायी। महिमाति=महिमा+अति=बड़ी महिमा। गुर्वी=भारी। जग्यांसमय= =जग्य (यज्ञ)+अंस+मय=यज्ञों के अंश रूप अर्थात् यज्ञों के अंशों से पूर्ण। उग्र=भयंकर। विग्रह=शरीर। क्रोड=सुअर, शूकरावतार। मर्दि=मर्दन कर। दनुजेस=दैत्यों का स्वामी हिरण्याक्ष। उर्वी=पृथ्वी। कमठ=कछुआ, कूर्मावतार, कच्छपावतार। पृष्ठोपरि=पीठ। भ्रमत=घूमना। मंदर=मन्दराचल। कंडु=खुजलाने का सुख। वृन्दारकावृन्द=देवताओं का समूह। मृगराज=नृसिंहावतार। वपु=शरीर अरि=शत्रु। अहलाद=आह्लाद, प्रसन्नता। बटुरूप=वामनावतार। पर्जंत=पर्यन्त, तक। विबुध-जननी=देवताओं की माता अदिति। छत्रियाधीस=क्षत्रियों का राजा सहस्रबाहु। परसुधर=परशुराम। ससि=शस्य, धान्य, अनाज। जलद=बादल। वृष्णिकुल=कृष्ण का वंश। वंसाटवी=वंश रूपी वन। धूमकेतू=अग्नि। निंद्यकृत= निन्दा की। मख=यज्ञ। बोधैक=बोध+एक=एकमात्र बोध स्वरूप, बुद्ध। अज= अजन्मा। बौध-अवतार=बुद्धावतार। निविड़=सघन। जमनांधकार=यवन, म्लेक्ष रूपी अन्धकार। विष्णुजस=विष्णुयश नामक ब्राह्मण जिसके पुत्ररूप में कल्कि भगवान् का अवतार होगा।

भावार्थ—हे अयोध्यापति ! तुम जगत के स्वामी, जगत के एकमात्र हितकारी और अपने अगणित गुणों की लीला का विस्तार करने वाले अर्थात् असंख्य लीलाएँ करने वाले हो। तुम्हारे परम पावन चरित्र का वेद, शेषनाग, शुकदेव, शिव तथा सनकादिक आदि विचारशील मुनिगण सदैव गान किया करते हैं।

इस पद में तुलसीदास ने भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन किया है, जो क्रमानुसार इस प्रकार हैं :—

मत्स्यावतार—तुमने मत्स्य (मछली) का रूप धारण कर भक्तों का उद्धार करने के लिए (प्रलय के समय) पृथ्वी की नौका बनायी। इसलिए तुम्हारी महिमा अत्यन्त महान् है। भाव यह है कि मत्स्यावतार रूप में प्रलय काल रहने तक भगवान् प्रलय से शेष बची प्रजा को अन्त समय तक धारण किये रहे।

वाराहवतार—तुम सम्पूर्ण यज्ञों के अंश रूप अर्थात् यज्ञों के अंशों से पूर्ण हो। (जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य पृथ्वी को चुरा ले गया था उस समय) तुमने महा भयंकर विशाल शरीर वाले दैत्यराज हिरण्याक्ष का दमन कर सुअर का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया था।

कूर्मावतार अथवा कच्छपावतार—हे मुरारी ! तुमने अत्यन्त भयंकर कछुए का रूप धारण कर (समुद्र मंथन के समय) मंदराचल रूपी मथानी को अपनी कठोर पीठ पर धारण कर, उसके घूमने से खुजलाने का सा सुख प्राप्त किया था। अर्थात् जिस प्रकार खुजली उठने पर खुजाने से आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है वैसा ही आनन्द

और शान्ति तुम्हें उस समय प्राप्त हुई थी जब तुम्हारी पीठ पर रखे हुए मन्दराचल को देव और दानव मिलकर मथानी की तरह घुमाते हुए समुद्र मंथन कर रहे थे। भाव यह है कि मन्दराचल के भार को तुमने सहज रूप से धारण कर लिया था। ऐसा करके तुमने समुद्र से अमृत, कामधेनु, लक्ष्मी और चन्द्रमा को उत्पन्न किया था जिनसे देवताओं के समूह को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ था। (क्योंकि समुद्र मंथन से उत्पन्न इन रत्नों को देवताओं ने ले लिया था।)

नृसिंहावतार—तुमने मनुष्य, मुनि, सिद्ध, सुर और नाग आदि को दुख देने वाले तथा ब्राह्मणों और धर्म की मर्यादा का नाश करने वाले अपने प्रबल शत्रु हिरण्यकशिपु का, अनुपम नृसिंह का रूप धारण कर, वध किया था और अपने भक्त प्रहलाद को आह्लादित किया था।

वामनावतार—तुमने राजा बलि को छलने के लिए कपट द्वारा वामन (बौने, बावन अंगुल शरीर वाले) ब्रह्मचारी ब्राह्मण का रूप धारण किया था और फिर तीन पगों में ही तीनों लोकों को नाप लिया था। नापते समय तुम्हारे चरणों के नख से तीनों लोकों को पवित्र करने वाला परम पवित्र गंगाजल बह निकला था। तुमने अपने इस कार्य से देवताओं की माता अदिति का शोक दूर कर दिया था। अर्थात् इन्द्र के बलि द्वारा छीने गये राज्य को पुनः इन्द्र को लौटा देने से अदिति प्रसन्न हुई थी।

परशुरामावतार—तुमने सहस्रबाहु आदि क्षत्रिय राजा रूपी हाथियों के समूह को सुन्दर सिंह के समान विदीर्ण कर डाला था। (परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया था।) तुमने ब्राह्मण रूपी खेती को हरा-भरा बनाने के लिए अर्थात् ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिए मेघरूप परशुराम का स्वरूप धारण किया था।

रामावतार—तुमने दस सिर और बीस भुजाओं वाले रावण को अपने भयंकर वेग वाले बाणों से मार डाला था। ऐसे राजा राम को मैं प्रणाम करता हूँ।

कृष्णावतार—तुम पृथ्वी के भारी भार (राक्षसों) को दूर करने के लिए परमात्मा, परब्रह्म होकर भी भक्तों का उद्धार करने हेतु नर-रूप में प्रकट हुए थे। वृष्णिवंश रूपी कुमुदिनियों को प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रमा के समान हे राधारमण! तुम कंस आदि दैत्य रूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान हो।

बुद्धावतार—बड़े-बड़े पाखण्डों और दम्भों से इस संसार को व्याकुल देखकर तुमने यज्ञादि कर्मकांड का पूर्ण खण्डन किया था। (बौद्ध धर्म में यज्ञादि बाह्याचारों का पूर्ण खण्डन किया गया है।) ऐसे निर्मल, बोध-स्वरूप, ज्ञान के मेघ अर्थात् मेघ के समान सबको ज्ञान का वितरण करने वाले, सर्वगुण-सम्पन्न, अजन्मा कृपालु भगवान बुद्ध की मैं वन्दना करता हूँ।

कल्कि अवतार—इस कलिकाल में सारे मनुष्यों का मन पाप से मलिन हो रहा है। इसलिए तुम इस अज्ञान रूपी रात्रि में म्लेक्ष रूपी सघन अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्योदय के समान विष्णुयश नामक ब्राह्मण के यहाँ पुत्र-रूप में कल्कि अवतार धारण करोगे। हे नाथ! तुम तुलसीदास की विपत्ति को दूर कर उसका उद्धार करो।

टिप्पणी—(१) इस पद में भगवान के दशावतारों का क्रमानुसार वर्णन किया गया है।

(२) 'जग्यांसमय'—भगवान सम्पूर्ण यज्ञों का अंश ग्रहण करते हैं। यज्ञ का अर्थ—कर्म है। अर्थात् भगवान सारे कर्मों के भोक्ता और साक्षी हैं, इसी कारण उन्हें यज्ञ-पति कहा जाता है।

(३) यह दृष्टव्य है कि तुलसीदास ने सम्पूर्ण दशावतारों में से केवल राम और बुद्ध को ही प्रणाम किया है। तथाकथित नास्तिकवादी बौद्धधर्म के प्रवर्तक के प्रति तुलसीदास की यह श्रद्धा उनके उदार समन्वयात्मक दृष्टिकोण की ज्वलन्त प्रतीक मानी जा सकती है।

[५३]

सकल-सौभाग्य-प्रद सर्वतोभद्र-निधि सर्व सर्वेस, सर्वाभिरामं।
सर्व-हृदि-कंज-मकरन्द-मधुकर रुचिर रूप, भूपालमनि नौमि रामं ॥१॥
सर्वसुख-धाम, गुनग्राम, विस्रामपद, नाम सर्वास्पद अति पुनीतं।
निर्मलं, सान्त, सुबिसुद्ध, बोधायतन, क्रोध-मद-हरन, करुना-निकेतं ॥२॥
अजित, निरुपाधि, गोतीतमव्यक्त, विभुमेकमनवद्यमजमद्वितीयं।
प्राकृतं प्रगट परमातमा परमहित, प्रेरकानन्त बन्दे तुरीयं ॥३॥
भूधर सुन्दरं श्रीवरं, मदन-मद-मथनं सौन्दर्य-सीमातिरम्यं।
दुष्प्राप्य, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर्क्य, दुष्पार, संहारहर सुलभ मृदुभावगम्यं ॥४॥
सत्यकृत, सत्यरत, सत्यब्रत, सर्वदा, पुष्ट संतुष्ट संकष्टहारी।
धर्मवर्मनि ब्रह्मकर्म-बोधैक, विप्रपूज्य ब्रह्मन्य जनप्रिय मुरारी ॥५॥
नित्य, निर्मम, नित्यमुक्त, निर्मान, हरि, ग्यानघन, सच्चिदानन्द मूलं।
सर्वरच्छक सर्वभच्छकाध्यक्ष, कूटस्थ, गूढार्चि भक्तानुकूलं ॥६॥
सिद्ध साधक साध्य, वाच्य वाचकरूप, जंत्र-जापक जाप्य, सृष्टि-स्रष्टा।
परम कारन, कंजनाभ, जलदाभतनु, सगुन निर्गुन, सकल दृश्य द्रष्टा ॥७॥
व्योम-व्यापक, विरज ब्रह्म बरदेस बैकुण्ठ, वामन बिमल ब्रह्मचारी।
सिद्ध-वृन्दारकावृन्द-वन्दति सदा खण्डि पाखण्ड-निर्मूलकारी ॥८॥

पूरनानंदसंदोह अपहरन संमोह - अग्यान - गुन - सन्निपातं ।
वचन -मन -कर्म गत सरन तुलसीदास त्रास-पाथोधि इव कुम्भजातं ॥६॥

शब्दार्थ—प्रद=प्रदान करने वाले । सर्वतोभद्र=सब प्रकार से कल्याण रूप । सर्व=विश्वरूप शिव । ग्राम=समूह । विस्रामपद=विश्राम, शान्ति देने वाले । सर्वास्पद=सारी वस्तुओं का मूल स्थान । वोधायतन=ज्ञान के स्थान । निकेतनं=स्थान । निरुपाधि=उपाधि (माया) से रहित । गोतीतमव्यक्त=गो+अतीतम्+अव्यक्त=इन्द्रियों से परे, अप्रकट । विभुमेकमनवद्यमजमद्वितीयं=विभुम्+एकम्+अनवद्यम्+अजम्+अद्वितीयं=ऐश्वर्य सम्पन्न, केवल एक स्वामी, निष्पाप, अजन्मा, अद्वितीय । प्राकृतं=प्रकृति से वद्ध, मनुष्यरूपधारी । प्रेरकानन्तं=प्रेरक+अनन्तं=प्रेरणा देने वाले और और अनन्त । तुरीयं=निर्गुण ब्रह्म । श्रीवरं=लक्ष्मी के पति । सीमातिरम्यं—सीमा+अति+रम्यं=सीमा और अत्यन्त मनोहर रूप वाले । दुष्प्रेक्ष्य=कठिनता से दिखाई देने वाले । दुस्तर्क्यं=तर्क द्वारा पहुँचा नहीं जा सकता । गम्यं=प्राप्त होने वाले । सत्यकृत=सत्य को उत्पन्न करने वाले । पुष्ट=दिव्य देहधारी । धर्मवर्मनि=धर्म के कवच, रक्षक । वोधैक=वोध+एक=ज्ञान में एक, अद्वितीय । ब्रह्म-कर्म=ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड । निर्मम=ममतारहित । निर्मान=मान रहित, वेहद, अपार । सर्वभच्छकाध्यच्छ=सर्व+भच्छक+अध्यक्ष=सबके भक्षक यमराज के स्वामी । कूटस्थ=निर्विकार । गूढार्चि=गुप्त तेज वाले । वाच्य=अर्थ । वाचक=शव्द । मन्त्र-जापक=मन्त्र का जाप करने वाले । जाप्य=जिसका जाप किया जाता है । कंजनाभ=नाभि से कमल उत्पन्न करने वाले । जलादाभतनु=मेघ की कान्तिमय शरीर वाले । व्योम=आकाश । विरज=रजो-गुण से रहित । बरदेस=दरद+ईश=देवताओं के स्वामी । विमल=मल रहित । वृन्दारकावृन्द=देवताओं का समूह । खण्डि=खण्डन कर । संदोह=समूह । संमोह=भारी मोह । सन्निपात=समूह । कुम्भ जातं=अगस्त्य ऋषि, कुम्भज ।

भावार्थ—सम्पूर्ण सौभाग्य को प्राप्त करने वाले सब प्रकार से कल्याण के भण्डार, विराट रूप, सबके स्वामी, सबको आनन्द देने वाले, शिव के हृदय-कमल के मकरन्द (पराग) का पान करने के लिए भ्रमर रूप अर्थात् जो शिव के निर्मल हृदय की भक्ति-भावना के रस का सदैव पान किया करते हैं, सुन्दर रूप वाले और राजाओं के शिरोमणि राम को मैं प्रणाम करता हूँ । हे राम ! तुम सव सुखों के भण्डार, गुणों के समूह, सबको शान्ति देने वाले हो । तुम्हारा नाम अत्यन्त पवित्र और सब कुछ प्रदान करने वाला है । तुम निर्मल, शान्त, परम पवित्र, परमज्ञान के आगार, क्रोध और अहंकार के नाशकर्त्ता तथा करुणा के धाम हो । तुम अजेय, निरुपाधि (माया से रहित), इन्द्रिय जन्य ज्ञान से परे, अप्रकट (निर्गुण रूप), दोषों से रहित, अजन्मा, अद्वितीय और एकमात्र समर्थ हो । भक्तों के हित के लिए ब्रह्म होते हुए भी प्राकृत

रूप (नर रूप) धारण करने वाले, सबके परम हितैषी, प्रेरणा देने वाले, अनन्त और निर्गुण रूप राम को मैं प्रणाम करता हूँ।

तुम पृथ्वी को धारण करने वाले, सुन्दर, लक्ष्मीपति, कामदेव के सौन्दर्य के अहंकार को नष्ट करने वाले, सौन्दर्य की सीता और बड़े ही मनोहारी रूप वाले हो। तुम दुष्प्राप्य अर्थात् बड़ी कठिनाइयों से प्राप्त होने वाले, कठिनता से दर्शन देने वाले, तर्क से न ज्ञात होने वाले हो। तुम्हारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। तुम संसार के बन्धन को दूर करने वाले, भक्तों को सहज ही प्राप्त और कोमल प्रेम के वश में हो जाने वाले हो। अर्थात् तुम्हें प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

तुम सत्य कार्य करने वाले, सत्यप्रेमी, सत्य-प्रतिज्ञ, सदैव पुष्ट अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ, सन्तोषी और बड़े-बड़े कष्टों को दूर करने वाले हो। तुम धर्म के कवच अर्थात् धर्म की रक्षा करने वाले, ब्रह्मविद्या (परा-विद्या) और कर्मकाण्ड अर्थात् वेद और मीमांसा के एकमात्र अद्वितीय ज्ञाता, ब्राह्मणों के पूज्य, ब्राह्मणों में श्रद्धा रखने वाले, भक्तों के प्रिय और मुर दैत्य का वध करने वाले हो। तुम नित्य स्वरूप अर्थात् अविनाशी, ममता रहित सदैव माया से मुक्त रहने वाले, मान रहित अर्थात् मान-सम्मान की भावना से मुक्त, हरि, ज्ञान के मेघ, सच्चिदानन्द स्वरूप और विश्व के मूल कारण हो। अथवा सत्, चित्, आनन्द के मूल कारण अर्थात् उत्पन्न करने वाले हो। तुम सबके रक्षक, सबका विनाश करने वाले अथवा सबका विनाश करने वालों के अध्यक्ष यमराज के स्वामी, कूटस्थ अर्थात् निर्विकार, गुप्त तेज वाले और भक्तों के सदैव अनुकूल रहने वाले हो। तुम्हीं सिद्धि, साधक और साध्य हो, तुम्हीं वाच्य और वाचक रूप हो; अर्थात् शब्द और उसके अर्थ हो। तुम्हीं मन्त्र हो, तुम्हीं उस मन्त्र (ओंकार आदि मन्त्र) का जाप करने वाले हो और भक्त तुम्हारा ही जाप करते हैं। तुम्हीं स्वयं सृष्टि और सृष्टि के रचयिता हो। तुम्हीं सबके परम कारण अर्थात् सबके आदि कारण हो। तुम्हारी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई है। तुम्हारे शरीर की छवि मेघ के समान श्याम है। तुम निर्गुण और सगुण––दोनों ही रूप वाले हो। तुम्हीं दृश्य और उसके देखने वाल द्रष्टा हो।

तुम आकाश के समान सब में व्याप्त, रजोगुण आदि से निर्लिप्त अर्थात् शुद्ध सत्व स्वरूप, ब्रह्म, वरदान देने वाले शिव आदि देवताओं के स्वामी, बैकुण्ठ-वासी, वामनावतार धारण करने वाले, विशुद्ध स्वरूप और ब्रह्मचारी हो। सिद्धों और देवताओं के समूह सदा तुम्हारी वन्दना किया करते हैं। पाखण्ड (आडम्बर, बाह्याचार आदि) का खण्डन कर उसका जड़ से नाश करने वाले हो। तुम पूर्ण अर्थात् अखण्ड आनन्द की राशि, भारी मोह और अज्ञान-जन्य तीन गुणों (त्रिदोष) के सन्निपात को दूर करने वाले हो। यह तुलसीदास मन, वचन और कर्म से तुम्हारी शरण में आया है। तुम उसके सांसारिक भय रूपी समुद्र को सोख लेने (पी जाने) के लिए साक्षात् अगस्त्य ऋषि के समान हो। अर्थात् जिस प्रकार अगस्त्य ऋषि ने

टिटहरी का दुख दूर करने के लिए समुद्र को सोख लिया था, उसी प्रकार तुम तुलसीदास का दुख दूर करने के लिए सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों को दूर करने वाले हो।

टिप्पणी—(१) 'गोतीतम्' का भाव यह है कि मन और इन्द्रियों की पहुँच से परे अर्थात् इनकी सहायता से ब्रह्म का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता; क्योंकि इनकी पहुँच केवल माया तक ही होती है। जैसे—

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'

इस माया के दो रूप होते हैं—आवरण, और विक्षेप। इन्हीं के कारण ब्रह्म ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता।

(२) 'सिद्ध साधक····द्रष्टा'—इस पंक्ति में अद्वैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का निरूपण किया गया है। अद्वैत वेदान्त सृष्टि-स्रष्टा, दृष्टि-द्रष्टा आदि में ऐक्य स्थापित करता है अर्थात् ये परस्पर भिन्न न होकर एक ही हैं। माया के कारण ही इनमें भिन्नता दिखाई पड़ती है। परन्तु साथ ही यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि तुलसीदास ने कहीं भी अद्वैतवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म की अद्वैतता स्थापित नहीं की है। यहाँ आकर तुलसी शुद्ध अद्वैतवादी नहीं रह जाते। ज्ञान के साथ भक्ति का समावेश उनके सिद्धान्त को एक विचित्र रूप दे देता है जो विशुद्ध अद्वैत-सिद्धान्त और विशुद्ध भक्ति के बीच की चीज बन जाता है।

[५४]

बिस्व-विख्यात, विस्वेस, विस्वायतन बिस्वमरजाद, व्यालारिगामी।
ब्रह्म, बरदेश, वागीस, व्यापक, बिमल बलवान, निर्वानस्वामी॥१॥
प्रकृति, महतत्व, शब्दादि, गुन, देवता, व्योम, मरुदग्नि, अमलाम्बु, उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तातमा, काल, परमानु, विच्छक्ति गुर्वी॥२॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि! व्यक्तमव्यक्त गतभेद, विष्णो।
भुवन भवदंग काभारि वन्दित पदद्वन्द्व मन्दाकिनी-जनक, जिष्णो॥३॥
आदिमध्यान्त, भगबंत! त्वं सर्वगतमीस, पश्यंति ये ब्रह्मबादी।
जथा पट-तन्तु, घट-मृत्तिका, सर्प-स्रग, दारुकरि, कनक-कटकांगदादी॥४॥
गूढ़, गम्भीर, गर्वघ्न, गूढ़ार्थवित्, गोतीत, गुरु, ग्यान-ग्याता।
ग्येय, ग्यानप्रिय, प्रचुर गरिमागार, घोर संसारकर पारदाता॥५॥
सत्यसंकल्प, अतिकल्प, कल्पान्तकृत, कल्पनातीत, अहि-तल्पवासी।
वनज-लोचन,वनज-नाभ,वनदाभ-बपु, वन चरध्वज-कोटि-लावन्यरासी॥६॥
सुकर, दुष्कर, दुराराध्य दुर्व्यसनहर, दुर्ग, दुर्द्धर्ष, दुर्गार्त्तिहर्त्ता।
वेद गर्भार्भकादभ्र-गुनगर्व, अर्वागपर-गर्व निर्वाप-कर्त्ता॥७॥

भक्त-अनुकूल, भवसूल-निर्मूलकर, तूलअघ नाम पावक-समानं।
तरल-तृष्णातमी-तरनि, धरनीधरन, सरन-भय-हरन, करुनानिधानं ॥८॥
बहुल वृन्दारकावृन्द-वंदारु, पद-द्वन्द्व मन्दार-मालोरधारी।
पाहि मामीस सन्ताप-संकुल सदा दासतुलसी प्रनत रावनारी ॥९॥

शब्दार्थ—विस्वायतन=विश्व के स्थान, विराट विश्व रूप। व्यालारिगामी=व्याल+अरि+गामी=सर्पो के शत्रु गरुड़ पर सवारी करने वाले। वरदेश=वर देने वाले देवताओं के स्वामी। वागीस=वाक्+ईस=वाणी के स्वामी। निर्वान=मोक्ष। प्रकृति=महामाया। शव्दादि=शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि। मरुदग्नि=मरुत+अग्नि=वायु और अग्नि। अमलाम्वु—अमल+अम्बु=निर्मल जल। उर्वी=पृथ्वी। चिच्छक्ति=चित्+शक्ति=चैतन्य शक्ति। गुर्वी=महा। सर्वमेवात्र=सर्वम्+एव+अत्र=इन सब में हो। त्वद्रूप=त्वत्+रूप=तुम्हारा रूप। व्यक्तम-व्यक्त=व्यक्तम्+अव्यक्त=प्रकट और अप्रकट। गतभेद=भेद रहित। भवदंग=भवत्+अंग=तुम्हारा अंश है। जिष्णो=हे जयशील, सर्व विजेता। आदिमध्यान्त=आदि+मध्य+अन्त। त्वं=तुम्हें। सर्वगतमीस=सर्व+गतम्+ईस=सर्व व्यापी ईश। पश्यंति=देखते हैं। जथा=यथा, जैसे। पट-तन्तु=वस्त्र में सूत। घट-मृत्तिका=घड़े में मिट्टी। सर्प स्रग=सर्प में माला के समान अर्थात् भ्रम-रूप में सत्य वस्तु के समान। दारुकरि=लकड़ी का वना हुआ हाथी। कटकांगदादी=कटक+अंगद+आदि=कड़े, बाजूवन्द आदि। गर्वघ्न=गर्व का विनाश करनें वाले। गूढ़ार्थवित्=गूढ़ रहस्यों के ज्ञाता। गरिमागार=गरिमा+आगार=गरिमा के भण्डार। पारदाता=पार करने वाले। अतिकल्प=महाकल्प, जब ब्रह्म की आयु पूरी हो जाती है। कल्पान्त=कल्प का अन्त, प्रलय। तल्प=शय्या। वनज=कमल। वनदाभ=मेघ की कान्ति। वपु=शरीर। वनचर-ध्वज=वन=जल=चर=विचरण करने वाली मछली=ध्वज=ध्वजा, पताका=मछली की ध्वजा वाला, मीनकेतु कामदेव। दुर्ग=दुर्गम। दुर्गार्त्ति=दुर्ग+आर्त्ति=घोर दुख। वेद-गर्भार्भकादभ्र=वेदगर्भा+अर्भक+अदभ्र, वेदगर्भ=ब्रह्मा अर्भक=बालक, अदभ्र=अनेक अर्थात् सनकादि ऋषिगण। अर्वागपर=अर्वाक्+अपर=यह और वह अर्थात् परा-अपरा विद्या। निर्वाप=नाश। तूलअध=पाप रूपी रुई। तरनि=सूर्य। तमी=रात। तरल=चंचल। वंदारु=वन्दनीय। मंदार=एक पुष्प विशेष। मालोरधारी=माला+उर+धारी=हृदय पर माला धारण करने वाले। पाहि=रक्षा करो। मामीस=माम्+ईस=हे स्वामी मेरी। प्रनत=प्रणाम करता है। रावनारी=रावन+अरि=रावण के शत्रु राम।

भावार्थ—हे राम! तुम विश्व-विख्यात, विश्व के स्वामी, विराट रूप, विश्व की मर्यादा, सर्पों के शत्रु गरुड़ पर सवारी करने वाले, ब्रह्म, वरदान देने वाले, देवताओं के स्वामी, वाणी (सरस्वती) के अधिष्ठाता, सर्वव्यापी, विशुद्ध रूप, महाबल-

शाली और मोक्ष के स्वामी अर्थात् मोक्ष देने वाले हो। तुम प्रकृति अर्थात् महामाया महत्तत्त्व, शब्द आदि (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श), सत्, रज, तम–तीनों गुण, देवता आकाश, वायु, अग्नि, निर्मल जल और अग्नि (पंच तत्त्व), बुद्धि, मन, दसों इन्द्रियाँ, प्राण, चित्त, आत्मा, काल, परमाणु और महान् चैतन्य शक्ति हो। हे राज राजेश्वर ! इन प्रकट-अप्रकट आदि सभी रूपों में तुम्हारा ही रूप अभिव्यक्त हो रहा है। तुम अभेद रूप से इन सब में रम रहे हो। यह संसार तुम्हारा ही अंश है। शिव तुम्हारे दोनों चरणों की वन्दना करते हैं। हे सब को जीतने वाले ! तुम्हारे इन्हीं चरणों से गंगा की उत्पत्ति हुई है। (गंगा विष्णु के चरणों से निकली बतायी जाती है।)

हे भगवान ! तुम आदि, मध्य और अन्त सभी में व्याप्त रहते हो। हे ईश ! जो ब्रह्मज्ञानी हैं वे तुम्हें उसी प्रकार सर्वव्यापी देखते हैं जिस प्रकार वस्त्र में सूत, घड़े में मिट्टी, साँप में माला, लकड़ी के बने हाथी में लकड़ी और कंकण, बाजूबन्द आदि आभूषणों में सोना देखा जाता है। भाव यह है कि भ्रम रूप वस्तु में सत्य वस्तु के दर्शन करते हैं। वेदान्त के अनुसार इस मिथ्या संसार की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह ब्रह्मरूप सत्य वस्तु के कारण ही है। इस प्रकार तुम गूढ़ (चराचर में गुप्त रूप से वास करने वाले), गम्भीर (तुम्हारे अन्तःकरण का भेद कोई नहीं जानता), अहंकार को दूर करने वाले, गूढ़ार्थ वित अर्थात् कर्म, वचन में जो गुप्त अर्थ रहता है उसके जानने वाले, गुप्त रहस्यों को जानने वाले, गुप्त रूप, इन्द्रिय जन्य ज्ञान से परे, महान् ज्ञानी, ज्ञान स्वरूप तथा उसके ज्ञाता हो। तुम ज्ञेय (जो पदार्थ जाना जाय), ज्ञान-प्रिय (ज्ञान के अधिष्ठाता), अत्यन्त गरिमाशाली और भयंकर संसार के जाल में पड़े जीवों का उद्धार करने वाले हो। तुम्हारा संकल्प सत्य है; अर्थात् तुम दृढ़ प्रतिज्ञ हो। तुम महाकल्प (ब्रह्मा की पूरी आयु) और कल्प (ब्रह्मा का एक दिन)—इन दोनों की प्रलय करने वाले अर्थात् अन्त करने वाले कल्पना से परे और शेषनाग की शय्या पर वास करने वाले हो। तुम्हारे नेत्र कमल ने समान सुन्दर हैं। तुम्हारी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई है। तुम मेघ की सी श्यामल कान्ति शरीर वाले और मछली की ध्वजा वाले करोड़ों कामदेवों के सम्मिलित सौन्दर्य की राशि अर्थात् पुंज के समान हो; अर्थात् सौन्दर्य में करोड़ों कामदेवों के समान हो।

तुम भक्तों को सुलभ (आसानी से प्राप्त हो जाने वाले) किन्तु दुष्टों को दुर्लभ हो। तुम्हारी आराधना बड़ी कठिनाई के साथ पूरी हो पाती है; अर्थात् तुम्हारी आराधना करना अत्यन्त दुष्कर है। तुम दुर्गुणों के विनाशक, कठिनता से प्राप्त होने वाले, दुर्द्धर्ष (अजेय योद्धा) तथा घोर दुखों को दूर करने वाले हो। तुम ब्रह्मा के पुत्रों सनकादि के गर्व को, जिन्हें अपनी परा और अपरा विद्या का बड़ा गर्व था, नष्ट करने वाले हो। तुम भक्तों पर प्रसन्न रहने वाले, सांसारिक कष्टों (जन्म-मरणादि की पीड़ा) को जड़ से नाश कर देने वाले अर्थात् मोक्ष दाता हो। तुम्हारा नाम पाप रूपी रुई को जलाने के लिए अग्नि के समान है। अर्थात् तुम्हारा नाम लेते

ही पाप भस्म हो जाते हैं। तुम तृष्णा रूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य रूप, पृथ्वी के भार को शेष रूप हो धारण करने वाले, शरणागतों को भय मुक्त करने वाले तथा करुणा के आगार हो। देवताओं के अनेक समूह तुम्हारे चरणों की वन्दना करते हैं। तुम अपने हृदय पर मन्दार पुष्पों की माला धारण किए रहते हो। ऐसे हे रावण का वध करने वाले राम! सदा दुखों से व्याकुल मैं तुलसीदास, तुम्हें प्रणाम करता हूँ। हे स्वामी! मेरी रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) 'प्रकृति' से अभिप्राय महामाया से है। इसी के चक्कर में पड़ जीव आत्मज्ञान प्राप्त करने वाली दृष्टि से वंचित हो जाता है।

(२) 'वेद गर्भ'—एक बार ब्रह्मा के पुत्र सनकादिक ने ब्रह्मा से परा-विद्या सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे। ब्रह्मा उनका उत्तर नहीं दे सके। फिर ब्रह्मा के स्मरण करते ही विष्णु हंस रूप में वहाँ प्रकट हुए। उन्हें देख सनकादिक ने पूछा कि 'तू कौन है ?' बस, इसी एक प्रश्न के उत्तर में विष्णु ने परा-अपरा विद्या का सारा तत्त्व सुना डाला। निम्बार्क सम्प्रदाय के आदि आचार्य यही हंस रूप भगवान माने जाते हैं।

(३) 'जथा पटतन्तु····कटकांगदादी'—इसमें वेदान्त के मायावाद सम्बन्धी विभिन्न उदाहरण देकर समझाया गया।

(४) सांख्य के अनुसार जब तीनों गुणों में से एक का आधिक्य हो जाता है, तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। समरसता में सृष्टि नहीं होती।

[५५]

**संत-संतापहर विस्व-विस्रामकर राम कामारि-अभिरामकारी।
सुद्धबोधायतन, सच्चिदानन्दघन सज्जनानन्द-वर्द्धन खरारी॥१॥
सील-समता-भवन विषमता-मति-समन राम रामारमन रावनारी।
खंगकर चर्मवर-वर्मधर, रुचिर कटि तून, सर-सक्ति-सारंगधारी॥२॥
सत्यसंधान निर्वानप्रद सर्वहित सर्वगुन - ग्यान - विग्यानसाली।
सघन-तम-घोर-संसार-भर-सर्बरी-नाम - दिवसेस - खर - किरनमाली॥३॥
तपन तीच्छन, तरुन तीव्र तापघ्न, तपरूप तनभूप, तम पर, तपस्वी
मान-मद-मदन-मत्सर मनोरथ-मथन मोह-अंभोधि-मन्दर मनस्वी॥४॥
वेद विख्यात बरदेश, बामन, बिरज, बिमल, बागीस, बैकुण्ठस्वामी।
काम-क्रोधादिमर्दन विवर्द्धन-छिमा सांति-विग्रह विहँगराज-गामी॥५॥
परम पावन, पापपुञ्ज-मुंजाटवी-अनल इव निमिष निर्मूलकर्त्ता।
भुवन-भूषन, दूषनारि, भुवनेस, भूनाथ, स्त्रुतिनाथ, जय भुवनभर्त्ता॥६॥**

अमल, अबिचल, अकल, सकल, संतप्त-कलि-विकलता-भंजनानंदरासी ।
उरगनायक-सयन तरुन-पंकज-नयन छीरसागर-अयन सर्बवासी ॥७॥
सिद्ध-कवि-कोविदानन्द-दायक पदद्वन्द्व मन्दात्ममनुजैर्दु रापं ।
यत्र संभूत अतिपूत जल सुरसरी दर्सनादेव अपहरति पापं ॥८॥
नित्य, निर्मुक्त संयुक्तगुन, निर्गुनानंत, भगवंत नियामक नियंता ।
विस्व पोषन-भरन विस्व-कारन-करन, सरन-तुलसीदास-त्रास हंता ॥९॥

शब्दार्थ—अभिरामकारी=आनन्द दाता । सुद्धबोधायतन=शुद्ध+बोध+आयतन=शुद्ध ज्ञान के भंडार । खरारी=खर+अरि=खर राक्षस के शत्रु । विषमता-मति=वैषम्य बुद्धि (भेदभाव वाली बुद्धि) । चर्म=ढाल । वर्म=कवच । तून=तरकश । सर=वाण । सक्ति=शक्ति, सांग । सारंग=शारंग नामक धनुष । सत्य-संधान=सत्य प्रतिज्ञ । सर्वरी=रात्रि । दिवसेस=सूर्य । खर=प्रखर । तपन=तेज । तरुन=नवीन । तापघ्न=तापों को हरने वाले । तम-पर=अविद्या से परे । मदन=काम । मत्सर=द्वेष । मन्दर=मन्दराचल नामक पर्वत । इसी को मथानी बनाकर समुद्र-मंथन किया गया था । विरज=रजोगुण से रहित । विवर्द्धन-छिमा=क्षमा को बढ़ाने वाले । सांति-विग्रह=शान्त स्वरूप । विहंगराज=गरुड़ । मुंजावटी=मुंज+अटवी=मूँज का वन । अनल इव=अग्नि के समान । निमिष=क्षण मात्र में दूषनारि=दूषण राक्षस के शत्रु । स्रुतिमाथ=वेदों के मस्तक अर्थात् मुख्य तत्त्व । भजनांद-रासी=भजन+आनन्द+रासी । उरगनायक=सर्पराज शेषनाग । अयन=निवास-स्थान । कोविद=विद्वान् । मन्दात्ममनुजैर्दुरापं=मन्द+आत्मा+मनुज+दुरापं=नीच आत्मा वाले मनुष्यों को कठिनता से प्राप्त होने वाले । यत्र=जहाँ । सम्भूत=निकली हैं । अतिपूत=अत्यन्त पवित्र । दर्सनादेव=दर्सनात्+एव=दर्शन मात्र से ही । निर्गुनानंत=निर्गुन+अनन्त । नियामक=शासक । करन=सामग्री ।

भावार्थ—हे राम ! तुम सन्तों का दुख दूर करने वाले, संसार में शान्ति स्थापित करने वाले और कामदेव के शत्रु शिव को आनन्द देने वाले, शुद्ध आत्मज्ञानी, सत्, चित्त, आनन्द के मेघ अर्थात् इनकी वर्षा करने वाले, सज्जनों के बढ़ाने वाले, और खर राक्षस का वध करने वाले हो । हे राम ! तुम शील और समता के भण्डार, वैषम्य बुद्धि अर्थात् भेदभाव करने वाली बुद्धि के विनाशक, लक्ष्मी के स्वामी, रावण का वध करने वाले, हाथ में सुन्दर तलवार, ढाल, वाण, धनुष और शक्ति (साँग), शरीर पर कवच और कटि में तरकश धारण करने वाले हो । तुम सत्य-प्रतिज्ञ, मुक्तिदाता, सर्व हितकारी, सर्व दिव्य गुण सम्पन्न, और ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता हो । तुम्हारा नाम इस सघन अन्धकार से परिपूर्ण संसार रूपी रात्रि का विनाश करने के लिए प्रखर किरणों वाले सूर्य के समान है ।

तुम्हारा तेज बड़ा प्रखर है । तुम संसार के नित्य नूतन और भयंकर तापों का दुख दूर करने वाले, राजा का शरीर धारण करने पर भी साक्षात् तपस्या के स्वरूप

(मूर्त्तिमान तपस्या), अज्ञान से परे और पूर्ण तपस्वी हो। तुम मान, मद, काम, द्वेष, मनोकामना और मोहरूपी समुद्र का मंथन करने वाले मंदराचल के समान और मनस्वी अर्थात् मन को विचार के वश में रखने वाले, वेदों में विख्यात, वर देने वाले, देवताओं के स्वामी, वामनावतार, रजोगुण से रहित निर्मल, वाणी (सरस्वती) के अधिष्ठाता (स्वामी), वैकुण्ठ के मालिक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और द्वेष भावनाओं का नाश करने वाले, क्षमा-भावना को बढ़ाने वाले, शान्ति के स्वरूप और गरुड़-गामी हो। तुम परम पवित्र, पापों के समूह रूपी वन को भस्म कर देने वाले अग्नि रूप, ब्रह्माण्ड के भूषण, दूषण राक्षस के संहारक, विश्व के स्वामी, पृथ्वी के पति, वेदों के मस्तक अर्थात् उनका संचालन करने वाले और समस्त लोकों के पालक हो। ऐसे हे राम ! तुम्हारी जय हो।

तुम अमल अथवा रजोगुण आदि से मुक्त शुद्ध स्वरूप, एकरस अर्थात् स्थिर रहने वाले, अकल अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं से मुक्त (अर्थात् तुम्हारी कला चन्द्रमा के समान कभी घटती-बढ़ती नहीं, सदैव स्थिर रहती है), सम्पूर्ण कलाओं के भण्डार, कलियुग के प्रभाव से व्याकुल जीवों का सन्ताप दूर करने वाले और आनन्द की राशि हो। तुम सर्पों के राजा शेषनाग के ऊपर शयन करने वाले, नवीन प्रफुल्लित कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले, क्षीर सागर में निवास करने वाले और घट-घट वासी हो। तुम्हारे दोनों चरण सिद्धों, कवियों और विद्वानों को आनन्द प्रदान करने वाले तथा पापियों को दुर्लभ हैं। तुम्हारे इन चरणों से पवित्र जल वाली गंगा उत्पन्न हुई है जिसके दर्शन मात्र से सारे पाप दूर हो जाते हैं। तुम नित्य मुक्त अर्थात् माया से सदैव निर्लिप्त रहने वाले, दिव्यगुण सम्पन्न, रजोगुण आदि मायात्मक गुणों से रहित, अनन्त, (ऐश्वर्य, धर्म, यश, सत्य, शोभा, वैराग्य आदि) छः गुणों से युक्त, नियमों के विधाता अर्थात् सबको नियमों (मर्यादा) में रखने वाले, सब पर शासन करने वाले हो। तुम संसार का पालन करने वाले, संसार के आदि कारण अर्थात् उसे उत्पन्न करने वाले और शरणागत तुलसीदास के सांसारिक भय को दूर करने वाले हो।

टिप्पणी—इस पद की अन्तिम दो पंक्तियों में निर्गुण और सगुण का समन्वय मिलता है।

[५६]

दनुजसूदन, दयासिंधु, दंभापहन, दहन, दुर्दोष, दुष्पापहर्त्ता।
दुष्टतादमन, दमभवन दुःखौघहर, दुर्ग-दुर्वासना-नासकर्त्ता ॥१॥
भूरि-भूषन, भानुमन्त, भगबन्त, भव-भंजनाभयद, भुवनेस भारी।
भावनातीत भववंद्य, भवभक्तहित, भूमिउद्धरन भूधरन-धारी ॥२॥

वरद बनदाभ बागीस बिस्वातमा, बिरज, बैकुण्ठ-मन्दिर-बिहारी।
व्यापक व्योम, बंदारु बामन बिभो, ब्रह्मविद् ब्रह्म, चिंतापहारी ।।३।।
सहज सुन्दर, सुमुख सुमन, सुभ सर्वदा, सुद्ध, सर्वग्य, स्वच्छन्दचारी।
सर्वकृत, सर्वभृत, सर्वजित्, सर्वहित, सत्य-संकल्प, कल्पान्तकारी ।।४।।
नित्य, निर्मोह, निर्गुन, निरंजन, निजानन्द, निर्वान, निर्वानदाता।
निर्भरानन्द, निस्कंप, निस्सीम, निर्मुक्त, निरुपाधि, निर्मम, बिधाता ।।५।।
महामंगलमूल, मोद-महिमायतन, मुग्ध-मधु-मथन, मानद, अमानी।
मदनमर्दन, मदातीत, मायारहित, मन्जु रमानाथ, पाथोजपानी ।।६।।
कमल-लोचन, कलाकोस, कोदंडधर, कोसलाधीस, कल्यानरासी।
जातुधान-प्रचुर-मत्तकरि-केसरि, भक्तमन-पुण्य आरन्यवासी ।।७।।
अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज, अमित, अविकार, आनंदसिंधो।
अचल, अनिकेत, अबिरल, अनामय, अनारंभ, अंभोदनादहन-बंधो ।।८।।
दासतुलसी खेदखिन्न, आपन्न इह सोकसंपन्न, अतिसै सभीतं।
प्रनतपालक राम, परम करुनाधाम, पाहि मामुर्विपति, दुर्बिनीतं ।।९।।

शब्दार्थ—दनुजदूसन=दैत्यों के विनाशक। दंभापहन=दंभ+अपहन=दम्भ का नाश करने वाले। दहन=जलाने वाले। दुर्दोष—कठिन पाप। दमं=इन्द्रिय दमन। दुखौघहर=दुख+अघ (पाप)+हर। दुर्ग=दुर्गम। भूरि=अनेक। भानुमन्त=सूर्य के समान तेजस्वी। भंजनाभयद=भंजन+अभय+द=भंजन कर्त्ता और अभय दाता। भववंद्य=शिव द्वारा वन्दित। भवभक्त=शिव-भक्त। बरद=वरदाता। बनदाभ=वनद+आभ=मेघ की सी कान्ति वाले। बंदारु=वन्दनीय। ब्रह्मचिंता=ब्राह्मणों की चिन्ता। अपहरी=दूर करने वाले। सर्वकृत=सब कुछ करने वाले। सर्वभृत=सब के भरण-पोषण कर्त्ता। कल्पान्त=प्रलय। निजानन्द=आत्मानन्द स्वरूप। निर्भरानन्द=निर्भर+आनन्द=पूर्ण आनन्द रूप। निस्कंप=अटल, स्थिर। निर्मुक्त=मुक्तिरूप। निर्मम=मोह ममता से रहित। मोद=आनन्द। मुग्ध-मधु=मूढ़ मधु नामक दैत्य। मानद=मान देने वाले। अमानी=मान रहित। मदातीत=मद+अतीत=अहंकार से रहित। रमानाथ=लक्ष्मीपति। पाथोजपानी=हाथ में कमल धारण करने वाले। पाथोज=कमल। पानी=पाणि, हाथ। कलाकोस=६४ कलाओं के भंडार। जातुधान=राक्षस। मत्तकरि=मस्त हाथी। आरन्यवासी=वनवासी। अनघ=निष्पाप। अनवद्य=निर्दोष। अज=अजन्मा, जन्म रहित। अनिकेत=निवास स्थान से हीन। अबिरल=अनवच्छिन्न, परिपूर्ण। अनामय=रोग रहित। अनारंभ=अनादि, जिसका आरम्भ न हो। अम्भोदनाद=मेघनाद। हन=मारने वाले लक्ष्मण। बन्धो=भाई। आपन्न=संकटों में ग्रस्त।

इह=संसार। संभीत=भयभीत। पाहि=रक्षा करो। मामुर्विपति=माम्+उर्विपति, माम्=मुझ, मेरी। उर्विपति=पृथ्वीपति।

भावार्थ—हे राम ! तुम दैत्यों के संहारक, दया के सागर, दम्भ को दूर करने वाले, भयंकर पापों को भस्म करने वाले, दोषों को दूर करने वाले, दुष्टता के विनाशक, जितेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ, दुःख-समूह को दूर करने वाले तथा कठोर और गन्दी वासनाओं के दुर्ग का विनाश करने वाले हो। तुम अनेक आभूषण धारण किये, सूर्य के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यों से सम्पन्न, संसार के भय को दूर करने वाले, सबको अभय देने वाले और ब्रह्मा, शिव आदि विश्व के नायकों में सर्व-शिरोमणि हो। तुम भावनानातीत अर्थात् मन, बुद्धि, विचार से परे हो। शिव तुम्हारी वन्दना करते हैं। तुम शिव भक्तों के हितकारी, पृथ्वी के उद्धारक और गोवर्द्धन पर्वत को धारण करने वाले हो। हे वर देने वाले राम ! तुम्हारे शरीर की छवि श्याम घन के समान है। तुम वाणी (सरस्वती) के अधिष्ठाता (स्वामी), विश्व की आत्मा अर्थात् विराट् रूप, रजोगुण रहित, वैकुण्ठ के मन्दिर में विहार करने वाले, आकाश के समान सर्वव्यापी, सबके वन्दनीय, वामन अवतार धारण करने वाले, सर्व शक्तिमान, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मरूप और सबकी चिन्ताओं को दूर करने वाले हो। (आचार्य शुक्ल ने 'ब्रह्म चिन्तापहारी' का अर्थ—ब्राह्मणों की चिन्ता दूर करने वाले माना है।)

हे राम ! तुम सहज अर्थात् स्वाभाविक रूप से सुन्दर, सुन्दर मुख और सुन्दर मन वाले, सदैव शुभ अर्थात् मंगल स्वरूप, शुद्ध, सर्वज्ञ और स्वच्छन्द रूप से विहार करने वाले हो। तुम सम्पूर्ण कर्मों को करने वाले अर्थात् सारे कर्मों के मूल कारण, सबका भरण-पोषण करने वाले, सब पर विजय प्राप्त करने वाले, सब का कल्याण करने वाले, सत्य की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले, और प्रलय करने वाले हो। तुम नित्य (सदैव रहने वाले), मोह रहित, निर्गुण, निरंजन (माया रहित), अपनी आत्मा में ही आनन्द करने वाले, साक्षात् मोक्ष स्वरूप और मोक्ष को देने वाले हो। तुम पूर्ण आनन्द स्वरूप, अचल, असीम, माया से मुक्त, निरुपाधि (उपाधि रहित अथवा माया-मोहादि से) ममता हीन (मोह-ममता से निर्लिप्त) और सब के विधाता अर्थात् विश्व के निर्माता हो। तुम बड़े-बड़े कल्याणों के मूल कारण अर्थात् करने वाले, आनन्द स्वरूप, महिमा के स्थान, मूर्ख मधु नामक दैत्य का संहार करने वाले, सबको मान देने वाले और स्वयं मान की भावना से रहित, कामदेव के विनाशक, अहंकार से रहित, माया से परे, सुन्दर लक्ष्मी के स्वामी और हाथ में कमल धारण करने वाले हो।

तुम कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले, सम्पूर्ण कलाओं के भण्डार, धनुपधारी, कोशल (अवध) के स्वामी और मंगल की राशि हो। तुम राक्षस रूपी मतवाले हाथियों का दमन करने के लिए सिंहरूप, भक्तों के मन को पवित्र और वन में निवास करने वाले हो। तुम पाप रहित, अद्वैत, निर्दोष, अप्रकट (निराकार), अजन्मा अपार

(असीम), विकार रहित, आनन्द के सागर, अचल (एकरस) हो। तुम्हारा कोई भी निवास स्थान नहीं है अर्थात् तुम सर्वव्यापी, अनवच्छिन्न (परिपूर्ण), सांसारिक रोगों से मुक्त, अनादि और मेघनाद का वध करने वाले लक्ष्मण के भाई हो। यह तुलसीदास इस संसार के दुख से दुखी, विपत्ति में पड़ा हुआ, शोक से पीड़ित और अत्यन्त भयभीत हो रहा है। हे भक्तों का पालन करने वाले! हे परम करुणा के धाम! हे पृथ्वीपति राम! मुझ दुर्विनीत अर्थात् उद्धत अहंकारी तुलसी की रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) इस पद में भगवान विष्णु के कई अवतारों—राम, कृष्ण, वामन आदि के सम्मिलित स्वरूप की वन्दना की गयी है।

(२) 'मदन-मर्दन' से भाव कामजित् से है। कृष्ण इसी कारण योगेश्वर कहे गये हैं। यहाँ शिव से भाव नहीं है।

(३) 'भूधरनहारी' कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठा लेने वाली कथा से अभिप्राय है।

[५७]

देहि सतसंग निजअंग श्रीरंग! भवभंग-कारन सरन-सोकहारी।
येतु भवदंघ्रिपल्लव-समाश्रित सदा, भक्तिरत विगतसंसय मुरारी॥१॥
असुर, सुर, नाग, नर, जच्छ, गंधर्व, खग, रजनिचर, सिद्ध ये चापि अन्ने।
संत-संसर्ग त्रैवर्ग-पर परमपद प्राप्य, निःप्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने॥२॥
बृत्र, बलि, बान, प्रल्हाद, मय, व्याध, गज, गृद्ध, द्विजबंधु निजधर्मत्यागी।
साधुपद सलिल-निर्धूत-कल्मष सकल, स्वपच जवनादि कैवल्य भागी॥३॥
सांत, निरपेच्छ, निर्मम, निरामय, अगुन, सब्दब्रह्मैकपर, ब्रह्मग्यागी।
दच्छ, समदृक, स्वदृक विगत अतिस्वपरमति परमरति विरति तव चक्रपानी॥४॥
बिस्व उपकारहित व्यग्र-चित्त सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी।
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि सहित गच्छन्ति छीराब्धिवासी॥५॥
बेद-पयसिन्धु सुविचार-मन्दरमहा अखिल-मुनिवृन्द निर्मथनकर्त्ता।
सार सतसंगमुद्धृत्य इति निश्चितं वदति श्रीकृष्ण वैदर्भिभर्त्ता॥६॥
सोक संदेह भय हर्ष तम तर्षगन साधु-सद्युक्ति विच्छेदकारी।
जथा रघुनाथ-सायक निसाचर-चमू-निचय-निर्दलन पटु बेगभारी॥७॥
यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मबस भ्रमत जगजोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन-समागम सदा भवतु मे राम, विस्राममेकम्॥८॥
प्रबल भव-जनित त्रैव्याधि भेषज भगति, भक्त भैषज्यमद्वैतदरसी।
संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि, मति मलिन कह दासतुलसी॥९॥

शब्दार्थ—निज अंग=तुम्हारा एक अंग अर्थात् तुमसे मिलने का साधन। श्रीरंग=लक्ष्मीपति। भवभंग=संसार का विनाश। येतु=जो भवदंघ्रि=भवत्+अंघ्रि=तुम्हारे चरण। समास्रित=आश्रित। विगतसंसय=संदेह से मुक्त। ये=जो। चापि=च+अपि=और भी हैं। अन्ने=अन्य। त्रैवर्गपर=अर्थ, धर्म और काम से परे। निष्प्राय=अप्राप्य। गति=मोक्ष। त्वयि=तुम्हारे। वृत्र=वृत्रासुर। बान=बाणासुर। मय=मयासुर। व्याध=बहेलिया। द्विजबंधु=ब्राह्मणों का भाई अजामिल। निर्धूत=धुला हुआ, निर्मल। साधुपद सलिल=सन्तों का चरणामृत, चरणोदक। स्वपच=चांडाल। जवनादि=यवन आदि। कैवल्य=मोक्ष। निरामय=निः+आमय=निरुपाधि, काम-क्रोधादि से रहित। अगुन=गुण रहित। ब्रह्मैक=ब्रह्म+एक। शब्द ब्रह्म=वेद। पर=परब्रह्म, परा-विद्या। दच्छ=दक्ष, निपुण। समदृक=समान भाव देखने वाले। स्वदृक=अपनी ओर अर्थात् अपने दयालु स्वभाव की ओर देखने वाले। विगत=मुक्त अतिस्वपरिमत=अपनी-पराई भेदभावना वाली बुद्धि। विरति=वैराग्य। व्यक्तमदमन्यु=व्यक्त+मद+मन्यु=मद और क्रोध का त्याग। कृत=करने वाले। तिष्ठन्ति=रहते हैं। यत्र=जहाँ। अज=ब्रह्मा। सर्व=शिव। छीराब्धिवासी=छीर+अब्धि+वासी=क्षीर सागर में निवास करने वाले। पयसिन्धु=पय=क्षीर=क्षीर सागर। मन्दर महा=महान् मन्दराचल। अखिल=सम्पूर्ण। निर्मथनकर्त्ता=मंथन करने वाले। सतसंगमुद्धृत्य=सत्संगम्+उद्धृत्य=सत्संग रूपी सार निकाल कर। इति निश्चित=यह निश्चित अर्थात् सत्य है। वैदर्भिभर्त्ता=विदर्भ राज की कन्या रुक्मिणी के स्वामी कृष्ण। तर्ष=वासना। सद्युक्ति=सत्+उक्ति=अच्छी उक्ति। विच्छेदकारी=नाश करने वाली। जथा=यथा, जैसे। चमू=सेना। निचय=समूह। पटु=कुशल। वेगभारी=तीव्र गति। कुत्रापि=जहाँ कहीं भी। जगजोनि=संसार की विभिन्न योनियाँ। त्वद्भक्ति=त्वत् (तुम्हारी)+भक्ति। भवतु=हो। विश्राममेकम्=विश्रामम्+एकम्=एक यही विश्राम। त्रैव्याधि=तीन प्रकार की व्याधि, रोग। भेषज=औषधि। भैषज्यमद्वैत दरसी=भैषज्यम्+अद्वैत+दरसी=अद्वैतदर्शी वैद्य है। निरन्तर=सदैव। किमपि=कोई भी।

भावार्थ—हे श्रीरंग अर्थात् लक्ष्मीपति! मुझे सत्संग दो जो तुम्हें प्राप्त करने का एकमात्र प्रधान अंग अर्थात् साधन है। यह सत्संग संसार के जन्म-मरण के चक्र अर्थात् आवागमन का नाश करने वाला और तुम्हारी शरण में आये भक्तों का शोक हरने वाला है। हे मुरारी! जो सदैव तुम्हारे चरण-पल्लव के आश्रित रहते हैं और जिनकी प्रीति सदैव तुम्हारी भक्ति में लगी रहती है, उनके सारे सन्देह अर्थात् अज्ञान के कारण उत्पन्न हुए सन्देह (भ्रम) दूर हो जाते हैं। (इस सत्संग का ऐसा अमित प्रभाव है कि) दैत्य, देवता, नाग, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, पक्षी, राक्षस, सिद्ध तथा अन्य जितने भी जीव हैं वे सब सन्तों के सत्संग के प्रभाव से त्रय वर्ग (धर्म अर्थ, काम) से भी परे जो परमपद (मोक्ष) है, उसे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।

यह मोक्ष पद निःप्राप्य गति है अर्थात् अन्य किसी भी साधन द्वारा प्राप्त नहीं होता। वह तो केवल तुम्हारे प्रसन्न होने से ही प्राप्त होता है।

वृत्तासुर, बालि, वाणासुर, प्रह्लाद, मय, व्याध (वाल्मीकि आदि), गज, गिद्ध (जटायु आदि) तथा ब्राह्मणों का वन्धु अर्थात् स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म को त्याग देने वाले अजामिल, चाण्डाल और यवन आदि सन्तों का चरणामृत पान करने से अपने समस्त पापों को धो, अर्थात् उनसे मुक्त हो, मोक्षपद के अधिकारी वन गये थे। इस सत्संग के प्रभाव से मनुष्य शान्त (राग-द्वेषादि रहित), निरीह अर्थात् निरपेक्ष (आकांक्षा रहित), निर्मम (मोह-ममता से रहित), निरुपाधि अर्थात् निरामय (सांसारिक काम-क्रोध-रोग से रहित), अगुण (सत, रज, तम गुणों से रहित), शब्द ब्रह्म अर्थात् शब्द-ब्रह्म वेद के प्रमुख ज्ञाता, ब्रह्मवेत्ता, कुशल (सब शास्त्रों के ज्ञाता), सम दृष्टि वाले (सब को समान दृष्टि से देखने वाले) आत्मद्रष्टा (अपने स्वरूप को पहचानने वाले) और अपनी-परायी भेद-भावना वाली बुद्धि से मुक्त (अपने-पराये में भेद न करने वाले) वन जाते हैं। हे चक्रपाणि ! ऐसे लोग वैराग्य धारण करने वाले और तुम्हारे परम भक्त होते हैं।

संसार के कल्याण के लिए जिनका मन सदा व्याकुल रहता है, जिन्होंने अहंकार और क्रोध को त्याग बहुत से पुण्य किये हैं, ऐसे साधु-सन्त जहाँ रहते हैं उनके पास ब्रह्मा और शिव को साथ लेकर क्षीरशायी भगवान विष्णु स्वयं दौड़े आते हैं। वेद ही क्षीरसागर है, विवेक मन्दराचल है, और सम्पूर्ण मुनियों का समूह ही उसे मथने वाले देव-दानव हैं। इन्होंने इस सागर को मथकर सत्संग रूपी सारतत्त्व अमृत निकाला है। इस बात की घोषणा रुक्मिणी-पति कृष्ण ने की है। भाव यह है कि वेद, ज्ञान और मुनियों के सम्पूर्ण चिन्तन का सार यह है कि सत्संग ही इस संसार से मुक्ति पाने का एकमात्र प्रधान आधार है। साधु-सन्तों के सदुपदेश शोक, सन्देह, भय, हर्ष, अज्ञान और वासनाओं के समूह को उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर नष्ट कर देते हैं जैसे रघुनाथ राम के वाण राक्षसों के सैन्य-समूहों को अपने प्रखर वेग तथा कौशल द्वारा छिन्न-भिन्न कर नष्ट कर देते हैं।

हे राम ! अपने कर्मवश संसार में जहाँ कहीं मेरा जन्म हो और जिन-जिन योनियों में कष्ट सहता हुआ मैं भटकता फिरूँ, वहाँ मुझे सदैव तुम्हारी ही भक्ति और सन्तों का सत्संग प्राप्त होता रहे। मुझे इसी से विश्राम अर्थात् शान्ति प्राप्त होगी। तीनों प्रकार के सांसारिक (दैहिक, दैविक, भौतिक) रोगों को दूर करने के लिए तुम्हारी भक्ति ही एकमात्र औषधि है और इस औषधि को देने वाले वैद्य हैं अद्वैतदर्शी (चराचर में समदृष्टि भाव रखने वाले) तुम्हारे भक्त जन। सन्त और भगवान में कभी भी रंचमात्र भी अन्तर नहीं रहा है। अर्थात् सन्त और भगवान एक समान हैं। इस मलिन बुद्धि वाले तुलसीदास का यही कहना है। अथवा यह

मलिन-बुद्धि तुलसीदास इस विषय में कह ही क्या सकता है। यह तो शाश्वत सत्य है।

टिप्पणी—(१) 'वृत्त'—यह वृत्तासुर नामक दैत्य परम वैष्णव था। यह इन्द्र के वज्र से मारा गया था। युद्ध के समय इसने भक्ति और ज्ञान की बड़ी सारगर्भित व्याख्या की थी।

(२) 'बान'—बाणासुर नामक यह दैत्य राजा बलि का पुत्र और पहले शैव तथा बाद में वैष्णव बन गया। पहले इसके एक हजार हाथ थे। परन्तु कृष्ण के साथ युद्ध में इसके चार हाथ रह गये। तब यह परम वैष्णव बन गया। इसकी पुत्री उषा का विवाह प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध के साथ हुआ था। इसी विवाह को लेकर कृष्ण के साथ इसका युद्ध हुआ था।

(३) 'अजामिल'—यह ब्राह्मण होते हुए भी बड़ा पापी था। साधुओं के आदेशानुसार इसकी पत्नी ने अपने नवजात पुत्र का नाम 'नारायण' रखा था। मरते समय जब यमदूत अजामिल को नरक ले जाने के लिए बाँधने लगे तो इसने व्याकुल हो अपने पुत्र नारायण को पुकारा। 'नारायण' नाम लेते ही नारायण भगवान के गण आ पहुँचे और उन्होंने इसे मुक्ति दिला दी।

(४) 'यवन'—पद संख्या ४६ की पादटिप्पणी द्रष्टव्य है।

[५८]

देहि अवलम्ब करकमल कमलारमन, दमन दुख समन संताप भारी।
अग्यान-राकेश-ग्रासन बिधुंतुद, गर्ब-काम-करिमत्त-हरि दूषनारी॥१॥
वपुष ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज-मय-रूपधारी।
बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर-निकर, सत्वगुन प्रमुख त्रै कटककारी॥२॥
कुनप-अभिमान सागर भयंकर घोर-बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि-संकुल, मनोरथ सकल संग-संकल्प बीची बिकारम्॥३॥
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित् काम बिस्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोधपापिष्ट बिबुधांतकारी॥४॥
द्वेष दुर्मुख, दम्भ खर, अकम्पन कपट, दर्प मनुजाद, मद-सूलपानी।
अमितबल परम दुर्जय, निसाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो जातुधानी॥५॥
जीव-भवदंघ्रि सेवक बिभीषन, बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता।
नियम-यम सकल सुरलोक-लोकेस लंकेस-बस नाथ ! अत्यन्त भीता॥६॥
ग्यान-अवधेस-गृह, गेहिनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार-हरता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य-कृत गमन किय गहज वैदेहि-भरता॥७॥

**कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट बिकट ग्यान-सुग्रीव कृत जलधि-सेतू।
प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन-तनय, विषय वन-भवनमिव धमकेतू ॥८॥
दुष्ट-दनुजेस निर्बंस कृत दासहित, बिस्वदुख-हरन बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्बदा दासतुलसी-हृदय-कमलबासी ॥९॥**

शब्दार्थ—अवलम्ब=सहारा। राकेस=चन्द्रमा। ग्रासन=ग्रसने के लिए। बिधुंतुद=राहु। दूषनारी=दूषण राक्षस के शत्रु। वपुष=शरीर रूपी। मय=मय दानव जिसने लंका की रचना की थी। कोसौघ=कोस+ओघ=कोशों के समूह। निकर=समूह। त्रैकटककारी=तीन प्रचण्ड सेनापति। कुनप=शरीर। अवगाह=गहरा। दुस्तर=जिसे पार करना कठिन हो। नक्र=घड़ियाल। संकुल=भरे हुए। संग-संकल्प=विषयासक्ति की कामनाएँ। वीचि=लहरें। दसमौलि=दस मस्तक वाला रावण। तद्भ्रात=उसका भाई कुम्भकर्ण। पाकारिजित्=पाक दैत्य के शत्रु इन्द्र को जीतने वाला मेघनाद। बिस्रामहारी=शान्ति भंग करने वाला। अतिकाय=रावण के सेनापति का नाम। महोदर=रावण का एक सेनापति। बिबुधान्त=देवान्तक नामक राक्षस। दुर्मुख, खर, अकम्पन, मनुजाद, शूलपाणि आदि विभिन्न राक्षसों के नाम थे। षड्वर्ग=छः राक्षसों का समूह। गो=इन्द्रियाँ। जातुधानी=राक्षसियाँ। भवदंघ्रि=तुम्हारे चरणों का। दुष्टाटवी=दुष्ट+अटवी=दुष्टों का वन। नियम=नियमरूपी देवता। यम=यम आदि लोकपाल। सुरलोक=देवलोक का लोकपाल इन्द्र। लोकेस=लोकपाल। लंकेस-बस=रावण के वंश में होकर। भीता=भयभीत। अवधेस-गृह=राजा दशरथ के घर। गेहिनी=गृहिणी, कौशल्या। संकष्ट=संकट और कष्ट। गहन=सघन वन। प्रभंजन-तनय=वायु पुत्र हनुमान। वन=अशोक वन। भवनमिव=भवनम्+इव=भवनों को। धूमकेतु=अग्नि। दनुजेस=रावण। कृत=करके। बोधैकरासी=ब्रह्मज्ञानी, अखण्ड ज्ञान स्वरूप।

भावार्थ—हे कमला रमण! तुम दुखों को हरने वाले और भारी सन्तापों का विनाश करने वाले हो। मुझ संसार सागर में डूबते हुए को अपने कर कमलों का सहारा दो। मेरा उद्धार करो। हे दूषण दैत्य का वध करने वाले राम! तुम अज्ञान रूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिए साक्षात् राहु के समान तथा अहंकार और कामरूपी मतवाले हाथियों का मर्दन करने के लिए सिंह से समान हो। शरीर रूपी ब्राह्मण्ड में जो प्रवृत्ति है वही लङ्का का गढ़ है। लङ्का-गढ़ निर्माण मय नामक दैत्य ने किया था और इस प्रवृत्ति की रचना मन ने की है। जैसे लङ्का में अनेक महल और सेना-पति थे, उसी प्रकार इस प्रवृत्ति रूपी लङ्का-गढ़ में अनेक कोश (शरीर के पाँच कोश माने गये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय) रूपी महल हैं और सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि तीन प्रमुख सेनापति हैं। जैसे लङ्कागढ़ को चारों ओर से अथाह, भयंकर सागर घेरे हुए है वैसे ही यहाँ प्रवृत्ति रूपी लङ्का-गढ़ को

देहाभिमान (शरीर का अभिमान) रूपी भयंकर, अथाह गहरा, अपार समुद्र घेरे हुए है जिसमें राग-द्वेषादि रूपी घड़ियाल भरे पड़े हैं और सम्पूर्ण मनोकामनाओं तथा विषयासक्ति रूपी संकल्प-विकल्प की लहरें उठा करती हैं।

इस प्रवृत्ति रूपी लङ्का-गढ़ में मोह रूपी रावण, अहंकार रूपी कुम्भकर्ण और शान्ति को भंग करने वाले मेघनाद रूपी कामदेव का अटल राज्य है। यहाँ लोभरूपी अतिकाय, मत्सररूपी दुष्ट महोदर, क्रोधरूपी महापापी देवान्तक नामक राक्षस योद्धा निवास करते हैं। यहाँ द्वेषरूपी दुर्मुख दम्भरूपी खर, कपटरूपी अकम्पन, दर्परूपी मनुजाद और मदरूपी शूलपाणि नामक दैत्यों का समूह रहता है जो बड़े पराक्रमी और दुर्जेय हैं। इनके साथ ही यहाँ मोह आदि छः राक्षसों के साथ इन्द्रियरूपी अनेक राक्षिसियाँ भी रहती हैं। (भाव यह है कि लङ्का के राक्षस-राक्षियों के समान प्रवृत्ति में भी मोह आदि भावनाएँ भरी हुई हैं जो इन्द्रियों के साथ रमण करती हैं। इसलिए इन्हें जीतना असम्भव है।) हे नाथ! तुम्हारे चरण-कमलों का सेवक यह जीव ही मानो राक्षसों से भरे लङ्का-गढ़ में एकाकी रहने वाला विभीषण है। यह गरीब इन दुष्टों के वन में रहता हुआ वड़ी चिन्ता में अपने दिन काट रहा है। नियम रूपी सारे देवता और यमरूपी लोकपाल इन्द्रादि भी मोहरूपी इस रावण के अधीन पड़े अत्यन्त भयभीत रहते हैं। अर्थात् यम-नियमादि का पालन न करने से जीव वड़ा व्याकुल बना रहता है क्योंकि मोह उसे सदैव सताता रहता है।

सो हे नाथ! जैसे तुमने राजा दशरथ के यहाँ कौशल्या के गर्भ से पृथ्वी का भार उतारने के लिए सगुण रूप में अवतार लिया था वैसे ही यहाँ ज्ञान रूपी दशरथ और सुन्दर भक्ति-रूपी कौशल्या के गर्भ से, मोहादि का नाश करने के लिए प्रकट हो। हे जानकीवल्लभ! जैसे तुमने भक्तों का दुख देख, पिता की आज्ञा मान वन-गवन किया था वैसे ही यहाँ जीव रूपी भक्त का कष्ट देखकर ज्ञानरूपी दशरथ की प्रेरणा से हृदय रूपी वन में पधारो अर्थात् ज्ञान द्वारा अपना रूप प्रकट करो। मोक्ष के अनेक प्रकार के साधनों को ही रीछ-वन्दर वना, विवेकरूपी सुग्रीव को साथ ले संसार रूपी समुद्र का पुल बाँधो और प्रवल वैराग्य रूपी हनुमान, विषय-वासना रूपी वन और महलों को अग्नि के समान भस्म कर देंगे। हे पूर्णज्ञान स्वरूप रघुनाथ राम! हे संसार के दुख को दूर करने वाले! तुम इस जीवरूपी विभीषण भक्त के लिए, मोहरूपी दुष्ट रावण का वंश सहित नाश करो और फिर तुलसीदास के हृदय-कमल में, अपने अनुज लक्ष्मण और पत्नी सीता सहित सदैव निवास करो। भाव यह है कि जब समाधि, जप, तप आदि मोक्ष के साधनों द्वारा ज्ञान का उदय होता है तब मनुष्य का शरीराभिमान नष्ट हो जाता है और इन्द्रियों के विषयों तथा अन्नमयादि कोशों की तल्लीनता नष्ट हो जाती है। आत्मज्ञान होने पर हृदय में शुद्ध ज्ञान का प्रकाश होता है और जीव को परम शान्ति मिलती है।

टिप्पणी—(१) समस्त पद में 'रूपक' अलङ्कार है।

(२) 'वपुष ब्रह्मांड'—यह शरीर ही ब्रह्मांड का रूप है। कबीर भी यही कहते हैं—'प्यंड ब्रह्माँड का एक लेखा।'

(३) पं० रामेश्वर भट्ट ने 'प्रवृत्ति' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"शरीर में प्रवृत्ति का आधार मन है अर्थात् जब मन में संकल्प होता है तब इन्द्रियाँ अपना-अपना विषय ग्रहण करने की ओर झुकती हैं और तब ही प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उस पर अन्नमयादि पाँचों कोशों का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे प्राणी 'मैं मनुष्य हूँ, मैं क्षुधित हूँ, मेरा देह है, मैं ज्ञानी हूँ, मैं सुखी हूँ' इत्यादि कहता है। तीनों गुणों का प्रकाश भी प्रवृत्ति में ही होता हैं क्योंकि संसार की कोई अवस्था या मनुष्य का कोई कर्म ऐसा नहीं जो तीनों गुणों में से एक का प्रकाश न हो।"

(४) 'अग्यान राकेस·····'—दूषित उपमा है।

(५) मय दानव रावण-पत्नी मन्दोदरी का पिता और वास्तुकला का सबसे बड़ा पौराणिक कलाकार माना जाता है।

(६) सम्पूर्ण पद में लङ्का का शरीर के साथ रूपक प्रस्तुत कर प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों पक्षों का सुन्दर सामंजस्य किया गया है।

[५६]

दीन-उद्धरन रघुवर्य करुनाभवन, समन संताप पापौघहारी।
बिमल-बिग्यात-बिग्रह, अनुग्रहरूप, भूपवर, बिबुध-नरमद, खरारी॥१॥
संसार-कांतार अति घोर गम्भीर घन गहन तरुकर्म-संकुल, मुरारी।
बासना-बल्लि खर-कंटकाकुल बिपुल, निबिड़-बिटपाटवी कठिन भारी॥२॥
बिबिध चितवृत्ति खग-निकर सेनोलूक, काक बक गृद्ध आमिष-अहारी।
अखिलखल निपुन छलछिद्र निरखत सदा, जीवजन पथिकमन-खेदकारी॥३॥
क्रोध करि मत्त, मृगराज कंदर्प, मद-दर्प, वृक भालु अति उग्रकर्मा।
महिष मत्सर क्रूर, लोभ सूकररूप, फेरु छल, दंभ मार्जारधर्मा॥४॥
कपट मर्कट बिकट, व्याघ्र पाखण्डमुख, दुखद मृगब्रात उत्पातकर्त्ता।
हृदय अवलोकि यह सोक सरनागतं, पाहि मां पाहि, भो विस्वभर्त्ता॥५॥
प्रबलऽहंकार दुरघट महीधर, महामोह गिरि-गुहा निबिडांधकारं।
चित्त बेताल, मनुजाद मन, प्रेतगन रोग, भोगौघ बृश्चिक विकारं॥६॥
विषय-सुख लालसा दंस मसकादि, खल, झिल्लि, रूपादि सब सर्प स्वामी।
तत्र आच्छिप्त तव विषम माया, नाथ, अंध मैं मंद, व्यालादगामी॥७॥
घोर-अवगाह भव-आपगा, पापजलपूर, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर अपारा।
मकर षड्वर्ग, गोनक्र-चक्राकुला, कूल सुभ-असुभ, दुख तीव्र धारा॥८॥

सकल संघट्ट पोच, सोचबस सर्वदा दासतुलसी विषम-गहन-ग्रस्तं।
त्राहि रघुबंसभूषन कृपाकर, कठिन काल बिकराल-कलित्रास-त्रस्तं ॥६॥

शब्दार्थ—उद्धरन=उद्धार करने वाले। रघुवर्य=रघुकुल में श्रेष्ठ। पापौघ =पाप+ओघ=पापों का समूह। अनुग्रह=कृपा, दया। नरमद=सुख दाता। कांतार=वन। तरुकर्म-संकुल=कर्मरूपी वृक्षों से भरा हुआ। वल्लि=वल्लरी, लता। खर=प्रखर, तीखे। निबिड़=सघन। बिटपाटवी=विटप+अटवी=वृक्षों का वन। खग-निकर=पक्षियों के समूह। सेनोलूक=सेन+उलूक=बाज और उल्लू। आमिष-अहारी=मांसाहारी। कंदर्प=कामदेव। वृक=भेड़िया। उग्रकर्मा=भयानक कर्म करने वाले। महिष=भैंसा। मत्सर—द्वेष। सूकर=सुअर। फेरु=गीदड़। मार्जार =बिलाव। धर्मा=स्वभाव। व्रात=समूह। भो=हे। दुरघट=जिसे लाँघा न जा सके। महीधर=पर्वत। निबिडांधकारं=सघन अन्धकार। मनुजाद=मनुष्य को खाने वाला। भोगौघ=भोग+ओघ=भोगों का समूह। वृश्चिक=बिच्छू। मसकादि= मच्छर। झिल्ली=झिल्लि। तत्र=वहाँ। अच्छिप्त=अक्षिप्त, पटक दिया गया है। व्यालादगामी=व्याल+आद+गामी=सर्प खाने वाले गरुड़ पर सवारी करने वाले। आपगा=नदी। दुष्प्रेक्ष्य=देखने में भयंकर। मकर=घड़ियाल, मगर। षड्वर्ग= काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छः प्रवृत्तियाँ। गोनक्र=इन्द्रियों रूपी मगर। चक्राकुला=भँवर वाली। संघट्ट=एकत्र, जमाव। पोच=नीच। ग्रस्तं= कैद कर रखा है। कलि त्रास-त्रस्तं=कलियुग के भय से भयभीत।

भावार्थ—हे रघुकुल में श्रेष्ठ! तुम दीनों का उद्धार करने वाले, करुणा के भंडार, सन्तापों और पाप-समूहों का विनाश करने वाले हो। तुम शुद्ध आत्मज्ञान के साक्षात् स्वरूप कृपा की मूर्त्ति, राजाओं में सर्वश्रेष्ठ अर्थात् सम्राट, देवताओं को सुख देने वाले और खर नामक दैत्य का वध करने वाले हो। हे मुरारी! यह संसार रूपी वन बड़ा भयानक, गहरा, सघन, दुर्गम और (शुभाशुभ) कर्म रूपी वृक्षों से भरा हुआ है। उन कर्मरूपी वृक्षों पर वासना रूपी लताएँ लिपट रही हैं और (उन वासनाओं को पूर्ति न होने से उत्पन्न) व्याकुलता रूपी बड़े पैने असंख्य काँटे छा रहे हैं। ऐसा यह सघन वृक्षों से भरा वन बड़ा भयानक है। इस भयानक संसार रूपी वन में मनुष्य की अनेक प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ ही मानो वन में रहने वाले मांसाहारी बाज, उल्लू, कौए, बगुले और गिद्ध आदि पक्षियों के समूह के समान हैं। ये सब बड़े ही दुष्ट और धोखा देने में चतुर हैं तथा दोष अर्थात् कमजोरी देखते ही पथिकों के मन को सदा दुख दिया करते हैं। अर्थात् मानव की चित्त-वृत्तियाँ सदैव मानव को दुख देती रहती हैं, उसे कभी चैन नहीं लेने देतीं।

इस भयंकर वन में क्रोध रूपी मतवाला हाथी, काम रूपी सिंह, मद रूपी भेड़िया और अहंकार रूपी रीछ जन्तु हैं जो सब अत्यन्त निर्दय हैं। यहाँ मत्सर (द्वेष) रूपी निर्दय भैंसा, लोभ रूपी सुअर, छल रूपी गीदड़ और दम्भ रूपी वन-बिलाव हैं।

यहाँ कपट रूपी अत्यन्त विकट बन्दर और पाखण्ड रूपी बाघ हैं जो सन्तों रूपी मृगों के झुण्ड को सदैव सताया और उपद्रव मचाया करते हैं। हे विश्व का पालन करने वाले ! अपने हृदय में इस असह्य कष्ट को देखकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा करो ! इस संसार रूपी वन में विशाल अहंकार रूपी दुर्लंघ्य (जिसे लाँघा न जा सके) पर्वत है जिसमें महामोह रूपी कन्दरा (गुफा) है, जिसके भीतर सघन अन्धकार भरा रहता है। यहाँ चित्तरूपी वैताल, मन रूपी राक्षस, रोगरूपी प्रेतगण और भोग रूपी बिच्छुओं का तीव्र विष है।

इस संसार रूपी वन में विषय-सुख की लालसा रूपी मक्खियाँ और मच्छर तथा दुष्ट-रूपी झिल्लियाँ हैं। हे स्वामी ! यहाँ रूप, रस, गंध आदि विषयरूपी सर्प रहते हैं। हे नाथ ! तुम्हारी त्रिगुणात्मिका माया ने मुझ मूर्ख को इस कठिन वन के भीतर ला पटका है। हे गरुड़गामी ! मैं अन्धा हूँ अर्थात् मेरे ज्ञान-नेत्र नहीं हैं, मुझे आत्मज्ञान नहीं हुआ है, फिर मैं इसे कैसे पार कर सकूँगा ? इस वन में प्रवृत्तिरूपी बड़ी भयंकर और गहरी नदी है जो पाप रूपी जल से लबालब भरी हुई है। इसकी तरफ देखना तक कठिन है, फिर इसे पार करना तो और भी अधिक दुष्कर कार्य है। इसका कहीं ओर-छोर ही नहीं प्रतीत होता। इस नदी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर रूपी मगर रहते हैं। इसमें इन्द्रियों रूपी घड़ियाल और भँवर भरे पड़े हैं। शुभ और अशुभ कर्म ही इसके दो तट हैं और दुख रूपी इसकी धारा बड़ी भयंकर है। हे रघुवंश के भूषण राम ! इन सारे दुष्टों के समूह ने एकत्र होकर मुझे इस वन में कैद कर रखा है। यह तुम्हारा दास तुलसी सदा चिन्ता के मारे व्याकुल रहता है। हे प्रभु ! इस कराल कलियुग के भय से भयभीत मुझ तुलसी की कृपा कर रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) 'भव आपगा'—'भव' के दो अर्थ होते हैं—'संसार' तथा 'प्रवृत्ति'। संसार रूपी वन में संसार रूपी नदी का होना संगत अर्थ नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ 'प्रवृत्ति रूपी नदी' अर्थ ही स्वीकार करना चाहिए।

(२) 'तरुकर्म'—शास्त्रों में कर्म कई प्रकार के माने गये हैं; जैसे—(१) कर्म, अकर्म और विकर्म, (२) शुभ और अशुभ कर्म, (३) सकाम और निष्काम कर्म, (४) संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म, (५) वैध और निषिद्ध कर्म, (६) सुकृत्य, कुकृत्य, कृत्य और अकृत्य कर्म।

(३) इसमें 'रूपक' अलंकार है। संसार का वन के रूप रूपक प्रस्तुत किया गया है।

[६०]

नौमि नारायनं नरं करुनायनं, ध्यान-पारायनं ग्यान-मूलम्।
अखिल संसार-उपकार-कारन सदय-हृदय तपनिरत प्रनतानुकूलम्॥१॥

स्याम-नव-तामरस-दामद्युति बपुष-छबि, कोटि मदनार्क अगनितप्रकासम् ।
तरुन-रमनीय-राजीव-लोचन ललित, बदन राकेस कर-निकर हासम् ।।२।।
सकल-सौंदर्य-निधि, विपुल गुनधाम, बिधि-वेद-बुध-संभु-सेवित अमानम् ।
अरुन-पदकंज-मकरंद-मन्दाकिनी मधुप मुनिबृन्द कुर्वन्ति पानम् ।।३।।
सक्र-प्रेरित घोर मदन-मद भंगकृत, क्रोधतग, बोधगत, ब्रह्मचारी ।
मारकण्डेय मुनिवर्यहित कौतुकी बिनहि कल्पांत प्रभु प्रलयकारी ।।४।।
पुन्य बन सैल सरि बदरिकास्रम सदासीन पद्मासनं एक रूपं ।
सिद्ध जोगीन्द्र वृन्दारकानंदप्रद, भद्रदायक दरस अति अनूपं ।।५।।
मान मनभंग चितभंग मद, क्रोध-लोभादि पर्वतदुर्ग, भुवन-भर्त्ता ।
द्वेष मत्सर राग प्रबल प्रत्यूह प्रति, भूरि निर्दय क्रूरकर्म-कर्त्ता ।।६।।
बिकटतर बक्र छुरधार प्रमदा, तीव्र दर्प कंदर्प खर खंगधारा ।
धीर-गंभीर-मन-पीर-कारक तत्र, के बराका वयं बिगतसारा ।।७।।
परम दुर्घट पन्थ, खल असंगत साथ, नाथ ! नहिं हाथ बर बिरति यष्टी ।
दर्सनारत दास, त्रसित माया-पास, त्राहि हरि, त्राहि-हरि, दास कष्टी ।।८।।
दासतुलसी दीन, धर्म-संबलहीन, स्रमित अति, खेद मति मोह नासी ।
देहि अबलंब न बिलंब अंभोज-कर, चक्रधर तेजबल सर्मरासी ।।९।।

शब्दार्थ—करुनायनं=करुणा के आगार। ध्यान-पारायनं=ध्यानावस्थित, ध्यान में मग्न। तपनिरत=तपस्वी। प्रनतानुकूलम्=प्रनत+अनुकूलन्=भक्तों पर कृपालु। तामरस=कमल। दाम=माला। द्युति=शोभा। वपुष=शरीर। मदनार्क=मदन+अर्क=कामदेव और सूर्य। वदन=मुख। कर-निकर=किरणों का समूह। हासम्=हास्य, हँसी। विधि=ब्रह्मा। बुध=बुद्धिमान। अमानम्=मान रहित। मकरद=पराग। मन्दाकिनी=गंगा। कुर्बन्ति=करते हैं। सक्र=शक्र, इन्द्र। भंगकृत=मंग करने वाले। वोधरत=शुद्ध ज्ञानी। मुनिवर्य=मुनियों में श्रेष्ठ। कल्पांत=कल्प का अन्त अर्थात् प्रलय। सदासीन=सदैव विराजमान। वृन्दारकानन्दप्रद=वृन्दारक+आनन्द+प्रद=देवताओं को आनन्द दाता। भद्रदायक =कल्याण देने वाला। दरस=दर्शन। मनभंग=एक पर्वत का नाम जो वदरिकाश्रम के मार्ग में है। चितभंग=एक पर्वत का नाम। प्रत्यूह=विघ्न। प्रति=प्रत्येक। भूरि=अत्यन्त। छुरधार=छुरी की धार। प्रमदा=स्त्री। खर=प्रखर। खंडधारा =तलवार की धार। पीर-कारक=पीड़ा देने वाली। के=कौन। वराका=बेचारे गरीब। वयं=हम। बिगतसारा=बलहीन। असंगत=नीच। बर=सुन्दर। विरति =वैराग्य। यष्टी=लकड़ी, लाठी। दर्शनारत=दर्शन के लिए व्याकुल। त्राहि=

रक्षा करो । कष्टी=दुःखी । संवल=सहारा । स्रमित=थका हुआ । अंभोज-कर=कर-कमल । सर्म=शर्म, कल्याण ।

भावार्थ—तुलसीदास कहते हैं कि मैं करुणा के पुंज, ध्यान में निमग्न और ज्ञान के मूल श्री नर-नारायण को प्रणाम करता हूँ। वे समस्त संसार के उपकार करने वाले, दयालु हृदय वाले, तप करने में निरत (संलग्न) और भक्तों के सदैव अनुकूल अर्थात् भक्तों पर कृपा करने वाले हैं। उनके शरीर की शोभा नीले नये खिले कमलों की माला के समान, छवि करोड़ों कामदेव की छवि के समान तथा दीप्ति (कान्ति) अगणित सूर्यों के समान है। उनके नेत्र ताजे खिले कमल-पुष्प के समान, मुख चन्द्रमा के समान और हास्य चन्द्र-किरणों के समूह के समान है। वे समस्त सौन्दर्य के भण्डार, सर्वगुण सम्पन्न, ब्रह्मा, वेद, पंडित और शिव द्वारा सेवित तथा मान रहित अर्थात् मान-सम्मान की भावना से सर्वथा निर्लिप्त रहने वाले हैं। उनके लाल कमलों के समान चरणों से निकली हुई गंगा के जलरूपी पराग का मुनि रूपी भ्रमर सदैव पान किया करते हैं।

वे इन्द्र द्वारा भेजे गये कामदेव के भयंकर मद को भंग करने वाले, क्रोध-रहित, ज्ञान में निरत रहने वाले (शुद्ध ज्ञानी) और ब्रह्मचारी हैं। वे बिना ही कल्पान्त के अर्थात् प्रलय का समय न होने पर भी मुनियों में श्रेष्ठ मारकण्डेय मुनि को प्रलय का दृश्य दिखाने वाले प्रभु अर्थात् सामर्थ्यवान हैं। वे वन, पर्वत और नदियों से परिपूर्ण बदरिकाश्रम में सदा पद्मासन लगाये एक रूप में अर्थात् निश्चल भाव से बैठे रहते हैं। वे सिद्धों, बड़े-बड़े योगियों तथा देवताओं को आनन्द देने वाले, सब का कल्याण करने वाले हैं तथा उनके दर्शन अत्यन्त अनुपम हैं। अथवा उनका अनुपम दर्शन सब को आनन्ददायक और कल्याणकारक है। हे संसार के स्वामी ! तुम्हारे बदरिकाश्रम के मार्ग में 'मन भंग' नामक पर्वत है, जिसे देखकर बड़े-बड़े साहसी भी विचलित हो उठते हैं, और यहाँ अर्थात् मेरे हृदय में अभिमान रूपी पर्वत है (जिसके कारण मन दर्शन करने से विमुख हो जाता है। वहाँ 'चितभंग' नामक पर्वत है कि जिसे देखकर आगे जाने का विचार ही न हो), तो यहाँ मदरूपी पर्वत है। वहाँ तो बड़े-बड़े दुर्गम पर्वत हैं और यहाँ अर्थात् इस दर्शन-मार्ग में क्रोध, लोभ आदि महा भयंकर पर्वत हैं। वहाँ तो (व्याघ्र, सिंह आदि) भयानक विघ्न हैं और यहाँ द्वेष, मत्सर तथा राग रूपी बड़े भारी विघ्न हैं, जिनमें से प्रत्येक बड़ा ही निर्दयी और दुष्ट है।

बदरिकाश्रम के मार्ग में लुटेरे पैनी कटार और तेज धार वाली तलवार से पथिकों को मारते हैं और यहाँ प्रमदा अर्थात् मतवाली नारी की तिरछी चितवन ही कटार की भयंकर धार और कामरूपी विषभरी तलवार चलाने वाली है। कामिनी की ये छुरी और तलवारें धीर और गम्भीर मनुष्यों के मन को भी कष्ट देती हैं, फिर भला हम जैसे निर्बल मन वाले बेचारे व्यक्ति किस गिनती में हैं अर्थात् उनके प्रभाव

से कैसे वच सकते हैं। हे नाथ ! एक तो यह आत्म-दर्शन का मार्ग अत्यन्त भयंकर और दुर्गम है, दूसरे यहाँ काम-क्रोधादि दुष्ट, नीच जनों का साथ है और तीसरे साथ में सहारे के लिए वैराग्य कीं लड़की भी नहीं है। ऐसी भयंकर स्थिति में पड़ा यह दास तुलसी तुम्हारे दर्शनों के लिए व्याकुल हो रहा है और माया के फन्दे में पड़ा वड़ा कष्ट पा रहा है। इसलिए हे नाथ ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो ! इस तुम्हारे दास दीन तुलसी के पास धर्मरूपो कलेवा अर्थात् मार्ग का सहारा भी नहीं है, वह चलते-चलते थक गया है, बहुत दुखी है और मोह ने उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर रखा है। इसलिए हे सुदर्शन चक्रधारी ! हे तेज, बल और सुख के समूह ! देर न कर तुरन्त आकर मुझे अपने कर-कमल का अवलम्ब (सहारा) दो।

टिप्पणी—(१) 'नर-नारायण'––बदरिकाश्रम में नारायण (कृष्ण) और नर (अर्जुन) के ध्यानावस्थित स्वरूप विराजमान हैं। कृष्ण और अर्जुन के इस सम्मिलित स्वरूप को ही 'नर-नारायण' कहा गया है। 'नारायण' शब्द का अर्थ है––'नार' अर्थात् जल में जिनका भवन अर्थात् निवास है। विष्णु क्षीरशायी माने गये हैं।

(२) 'मारकण्डेय'––मारकण्डेय ऋषि ने उग्र तपस्या कर भगवान से प्रलय का दृश्य दिखाने का आग्रह किया था। भगवान ने बिना कल्पान्त हुए ही उन्हें प्रलय का दृश्य दिखा दिया था, जिस प्रकार अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखाया था।

(३) इस पद में संस्कृत की 'गीत-गोविन्द' वाली शैली मिलती है।

[६१]

सकल-सुख-कन्द, आनन्दबन पुन्यकृत, बिंदुमाधव द्वन्द्व-विपतिहारी।
यस्यांघ्रिपाथोज अज संभु सनकादि सुक सेष मुनिवृन्द अलि निलयकारी ॥१॥
अमल मरकत स्याम, काम सतकोटि छबि, पीतपट तड़ित इव जलदनीलम्।
अरुन सतपत्र लोचन, बिलोकनि चारु, प्रनत जन सुखद, करुनार्द्रसीलम् ॥२॥
काल-गजराज मृगराज, दनुजेस-बन-दहन पावक, मोह-निसि दिनेसम्।
चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर, सरसिजोपरि जथा राजहंसम् ॥३॥
मुकुट कुण्डल तिलक, अलक अलिब्रात इव, भृकुटि द्विज अधरसर चारुनासा।
रुचिर सुकपोल, दर ग्रीव सुखसींव, हरि ! इन्दुकर-कुन्दमिव मधुरहासा ॥४॥
उरसि बनमाल सुबिसाल नवमञ्जरी भ्राज श्रीवत्सलांछन उदारं।
परम ब्रह्मन्य, अतिधन्य, गत मन्यु अज, अमितबल-बिपुल महिमा अपार॥५॥
हार केयूर, कर कनक-कंकन रतन-जटित, मनि मेखला कटिप्रदेसं।
जुगल पद नूपुरा मुखर कलहंसवत, सुभग सर्वाङ्ग, सौन्दर्य बेसं ॥६॥
सकल सौभाग्य-संजुक्त त्रैलोक्यश्री, दच्छ दिसि रुचिर बारीस-कन्या।
बसत बिबुधापगा निकट तट सदनवर, नैन निरखंति नर तेऽति धन्या ॥७॥

अखिल-मंगल-भवन, निबिड़-संसय-समन, दमन ब्रजनाटवी कष्टहर्त्ता।
बिस्वधृत, बिस्वहित, अजित, गोतीत, सिव, बिस्वपालन-हरन, बिस्वकर्त्ता॥८॥
ग्यान-बिग्यान-वैराग्य-ऐस्वर्य-निधि, सिद्धि अनिमादि दे भूरिदानम्।
ग्रसित-भव-ब्याल अतित्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारि-यानम्॥९॥

शब्दार्थ—कन्द=मूल, जड़। आनन्दवन=काशी। पुन्यकृत=पुण्य पवित्र किया। यस्यांघ्रिपाथोज=यस्य+अंघ्रि+पाथोज=जिनके चरण कमल। अज=ब्रह्मा। अलि=भ्रमर। निलयकारी=बास करते हैं। मरकत=मणि। अमल=निर्मल। सतपत्र=शतदल कमल। विलोकनि=चितवन। करुनार्द्र=करुना+आर्द्र=करुणा से भीगा। दर=शंख। सरसिजोपरि=सरसिज+उपरि=कमल के ऊपर। जथा=यथा। अलक=केश। अलिव्रात इव=भ्रमरों के समूह के समान। द्विज=दाँत। नासा=नाक। सुखसीव=सुख की सीमा। इन्दुकर=चन्द्र किरण। हासा=हँसी, हास्य। उरसि=हृदय पर। लांछन=चिन्ह। भ्राज=शोभित। ब्रह्मन्य=ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा करने वाले। मन्यु=क्रोध। अज=अजन्मा। केयूर=भुजबन्द। मेखला=करधनी। नूपुर=झाँझन। कलहंवसत=सुन्दर हंस के समान। मुखर=शब्द करते हुए। वेसं=वेश। त्रैलोक्यश्री=तीनों लोकों की शोभा। दच्छ=दक्षिण की ओर। वारीस-कन्या=समुद्र की कन्या लक्ष्मी। विबुधापगगा=देवनदी गंगा। (विबुध+आपगा=देवता+नदी गंगा)। सदनवर=सुन्दर मन्दिर। तेऽति=ते+अति=वे बड़े। निबिड़-संसय=बड़े-बड़े संदेह। ब्रजनाटवी=ब्रजन+अटवी=पापों का वन। बिस्वधृत=विश्व को धारण करने वाले। गोतीत=गो+अतीत=इन्द्रियों के ज्ञान से परे। सिव=कल्याणकारी। हरन=संहार करने वाले। अनिमादि=अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ। भूरिदानम्=खूब दान देने वाले। ब्याल=सर्प। त्राहि=रक्षा करो। उरगारि-यानम्=सर्प के शत्रु गरुड़ पर सवारी करने वाले।

भावार्थ—हे बिन्दुमाधव! तुम सम्पूर्ण सुखों की वर्षा करने वाले मेघ अथवा सम्पूर्ण सुखों के मूल कारण, अपने निवास से आनन्द वन काशी को पवित्र बना देने वाले तथा राग-द्वेषादि जनित दुखों को दूर करने वाले हो। तुम्हारे चरण-कमलों में ब्रह्मा, शिव, सनक-सनन्दनन आदि, शेषनाग और मुनिगण भ्रमररूप में सदा निवास करते हैं अर्थात् सदैव तुम्हारे चरण-कमलों का ध्यान किया करते हैं। तुम्हारा वर्ण स्वच्छ नील (मरकत) मणि के समान श्याम है। तुम्हारी छबि सौ करोड़ कामदेवों की छवि के समान है। तुम पीताम्बर धारण किये ऐसे शोभा दे रहे हो मानो नीले मेघ में चमकती बिजली शोभा पा रही हो। तुम्हारे नेत्र सौ पंखुड़ियों वाले कमल के समान हैं तथा चितवन सुन्दर है। तुम भक्तों को सुख देने वाले हो और स्वभाव से ही सदैव करुणा से द्रवित होते रहते हो। अर्थात् सहज भाव से सब पर करुणा करते रहते हो। तुम काल-रूपी गजराज का मर्दन करने के लिए

सिंह रूप, राक्षसों रूपी वन को भस्म करने के लिए अग्निरूप तथा मोह रूपी रात्रि का विनाश करने के लिए सूर्य रूप हो। तुम अपनी चारों भुजाओं में चक्र, कौमोदिकी नामक गदा, कमल और शंख धारण किये रहते हो। तुम्हारे कमल रूपी हाथ में शंख ऐसी शोभा दे रहा है, मानो कमल के ऊपर राजहंस आसीन हो।

तुम्हारे मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, ललाट पर तिलक शोभित है। तुम्हारे केश भौंरों के समूह के समान काले हैं और तुम्हारी भौंहें, दाँत, होठ और नासिका बड़ी ही सुन्दर है। तुम्हारे कपोल, सुन्दर ग्रीवा शंख के समान सुडौल और चिकनी तथा सुख की सीमा है। हे हरि! तुम्हारा मन्द हास्य चन्द्र-किरण और कुन्द पुष्प के समान शीतलता प्रदान करने वाला है। तुम्हारे वक्ष पर नवीन मंजरियों सहित विशाल वनमाला और श्रीवत्स का सुन्दर चिह्न शोभित है। तुम परम ब्रह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणों का आदर करने वाले, अत्यन्त धन्य, क्रोध रहित, अजन्मा, अतुलित बलशाली और अनन्त महत्त्वशाली हो। तुम गले में हार, भुजाओं में रत्न-जटित स्वर्ण के बाजूबन्द और कंगन तथा कटि में मणि-जटित करधनी धारण किये हुए हो। तुम्हारे दोनों चरणों में हंस के समान सुन्दर शब्द करने वाले नूपुर हैं। तुम्हारे सारे अंग सुन्दर हैं और सम्पूर्ण वेश लावण्यमय है।

तुम्हारी दक्षिण दिशा में अर्थात् चरण-प्रान्त में सम्पूर्ण सौभाग्य की मूर्त्ति और तीनों लोकों की शोभा, समुद्र-कन्या लक्ष्मी शोभायान हैं। तुम गंगा के निकट उसके तट पर स्थित सुन्दर मन्दिर में निवास करते हो। जो मनुष्य तुम्हारे दर्शन करते हैं वे अत्यन्त धन्य अर्थात् भाग्यशाली हैं। तुम सम्पूर्ण कल्याण के स्थान, बड़े-बड़े सन्देहों (भ्रमों) को दूर करने वाले, पापरूपी वन को जलाकर भस्म कर देने वाले और कष्टों को दूर करने वाले हो। तुम विश्व को धारण करने वाले, जगत का कल्याण करने वाले, अजित (अजेय), इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से परे, शिव अर्थात् कल्याण की साक्षात् मूर्त्ति, और संसार के उत्पादक, पालक और संहारक हो; अर्थात् तुम ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हो। तुम ज्ञान, आत्मज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य के भंडार और अणिमा आदि आठों सिद्धियों को देने वाले महादानी हो। मुझ तुलसीदास को संसार रूपी सर्प निगले जा रहा है, इसलिए मैं बहुत भयभीत हो रहा हूँ। हे गरुड़ पर सवारी करने वाले राम! मेरी रक्षा करो। अर्थात् तुम्हारा गरुड़ आकर इस संसार रूपी सर्प को खा जायेगा और इस प्रकार मैं संसार के आवागमन के बन्धन से छूट जाऊँगा।

टिप्पणी—'श्रीराम उरगारियानम्' शब्द साभिप्राय है। तुलसी को संसार-रूपी सर्प निगले जा रहा है। गरुड़ सर्प को खा जाता है। तुलसी राम को कष्ट न देकर केवल गरुड़ को ही भेज देने की प्रार्थना कर रहे हैं, जिससे गरुड़ आकर इस संसार रूपी सर्प के बन्धन से तुलसी को मुक्ति दिला दे।

राग असावरी

[६२]

इहै परम फलु परम बड़ाई।

नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव-छबि निरखहिं नयन अघाई ॥१॥
बिसद, किसोर, पीन, सुन्दर बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई।
नीलकंज बारिद तमाल मनि, इन्ह तनु ते दुति पाई ॥२॥
मृदुल चरन सुभ चिन्ह, पदज नख अति अभूत उपमाई।
अरुन नील पाथोज-प्रसव जनु, मनिजुत दल-समुदाई ॥३॥
जातरूप मनि-जटित मनोहर, नूपुर जन-सुखदाई।
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि, रहे बर भवन बनाई ॥४॥
कटितट रटति चारु किंकिनि-रव, अनुपम बरनि न जाई।
हेम-जलज-कल-कलिन-मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई ॥५॥
उर बिसाल भृगुचरन चारु अति, सूचत कोमलताई।
कंकन चारु बिबिध भूषन बिधि, रचि निज कर मनलाई ॥६॥
गज-मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदक-निकाई।
जनु उडुगन-मण्डल बारिदपुर, नवग्रह रची अथाई ॥७॥
भुजगभोग-भुजदण्ड कञ्ज, दर, चक्र, गदा बनि आई।
सोभासीव ग्रीव चिबुकाधर, बदन अमित छबि छाई ॥८॥
कुलिस कुन्द-कुडमल दामिनि-दुति, दसनन देखि लजाई।
नासा-नैन-कपोल ललित स्रुति, कुण्डल भ्रू मोहि भाई ॥९॥
कुञ्चित कच सिर मुकुट भाल पर, तिलक कहौं समुझाई।
अलप तड़ित जुग रेख इन्दु महँ, रहि तजि चंचलताई ॥१०॥
निर्मल पीत दुकूल अनूपम, उपमा हिय न समाई।
बहु मनिजुत गिरि-नील-सिखर पर, कनक-बसन रुचिराई ॥११॥
दच्छ भाग अनुराग सहित, इन्दिरा अधिक ललिताई।
हेमलता जनु तरु तमाल ढिग, नील निचोल ओढ़ाई ॥१२॥
सत सारदा सेष स्रुति मिलि कै, सोभा कहि न सिराई।
तुलसिदास मतिमन्द द्वन्द्वरत, लहै कौन बिधि गाई ॥१३॥

शब्दार्थ—इहै=यही, इसका। अघाई=पेट भरकर। बिसद=निर्मल। पीन=पुष्ट। तनु ते=शरीर से। पदज=पैर की उँगलियाँ। अभूत=अभूतपूर्व,

अद्वितीय । उपमाई=उपमा । पाथोज=कमल । प्रसव=उत्पन्न हुआ है । मनिजुत= मणि जटित । दल=पंखुड़ी । जातरूप=स्वर्ण के । हर-उर=शिव के हृदय में । हरि=विष्णु, कामदेव । किंकिनि=करधनी । हेम-जलज=स्वर्ण-कमल । भृगुचरन= भृगु ऋषि के चरण । सूचत=सूचना देते हैं । मनलाई=मन लगा कर । गजमनि-माल=गज-मुक्ताओं की माला । पदक=छाती पर पहनने का एक आभूषण, पदिक, रत्न-चौकी । उडुगन=तारागण । अथाई=बैठक, सभा । नवग्रह=नौ ग्रह । भुजगभोग=भुजग=नाग=हाथी+भोग=सूँड़ अर्थात् हाथी की सूँड़ अथवा भुजग=सर्प+भोग=शरीर, सर्प के शरीर जैसे । कंज=कमल । दर=शंख । बनि आई=शोभा दे रही है । सोभासीव=सुन्दरता की सीमा । ग्रीव=गर्दन । चिबुका-धर=चिबुक+अधर=ठोढ़ी और होंठ । बदन=मुख । कुलिस=हीरा । कुडमल= कली=स्रुति=कान । कुंचित कच=घुँघराले केश । अलप=अल्प, छोटी । जुग= दो । दुकूल=वस्त्र । कनक-बसन=स्वर्ण का वस्त्र । दच्छ=दक्षिण भाग । इन्दिरा =लक्ष्मी । ढिग=पास । निचोल=वस्त्र । स्रुति=वेद । सिराई=पूर्ण । द्वन्द्वरत =राग-द्वेषादि में व्यस्त ।

भावार्थ—इस मानव-जीवन को प्राप्त करने का सबसे बड़ा फल और सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि अपने इन नेत्रों से हम नख से लेकर शिख तक परम सुन्दर बिन्दुमाधव की छबि का तृप्त होकर दर्शन करें । ये बिन्दुमाधव निर्मल, किशोर और सुन्दर पुष्ट शरीर वाले हैं । उनका श्याम वर्ण उनके सौन्दर्य को और भी अधिक शोभा प्रदान करने वाला है । नील कमल, मेघ, तमाल वृक्ष और नीलमणि ने इन्हीं के शरीर से कान्ति प्राप्त की है । अर्थात् ये सब वस्तुएँ इन्हीं के शरीर से नीली आभा प्राप्त कर नीले रंग की बनी हैं । भाव यह है कि इन वस्तुओं का नीला वर्ण बिन्दुमाधव के नील वर्ण की तुलना में कम है । (यहाँ नील कमल में चिकनापन, श्यामता और खिलने का भाव; मेघ में गम्भीरता और श्यामता; तमाल वृक्ष में विशालता, सघनता और श्यामता; तथा नीलमणि में सुन्दर नीली आभा से अभिप्राय है ।)

उनके कोमल चरणों में शुभ चिह्न (चौबीस चिह्न) अंकित हैं तथा पैर की उँगलियों तथा अँगूठों के नख की उपमा तो बड़ी ही अभूतपूर्व है । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो लाल और नीले कमलों में मणि-जटित पत्ते उत्पन्न हुए हों । (यहाँ उपमा की अभूतपूर्वता यह है कि कमल के पत्ते मणि-जटित नहीं होते ।) उन चरणों में मणि-जटित स्वर्ण के, मन को हरने वाले नूपुर भक्तों को आनन्द देने वाले हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो विष्णु शिव के हृदय को सुन्दर भवन मान वहाँ विविध रूपों में निवास कर रहे हों । उनके कटिप्रदेश (कमर) में पड़ी करधनी सुन्दर शब्द कर रही है, जिसका शब्द-सौंदर्य इतना अनुपम है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता (फिर भी यह उपमा दी जा सकती है) । मानो स्वर्ण-कमल की सुन्दर कलियों के बीच भ्रमर गुंजार कर रहे हों । (यहाँ

करधनी में लगी छोटी-छोटी सोने की घंटियाँ स्वर्ण कली और उनके बीच दिखाई पड़ने वाले शरीर के भाग भ्रमर के समान हैं ।)

उनके प्रशस्त वक्ष पर भृगु ऋषि के चरण का अत्यन्त सुन्दर चिन्ह अंकित है जिससे उनके वक्ष अर्थात् हृदय की कोमलता प्रकट होती है। (भृगु ने विष्णु के वक्ष पर लात मारी थी, उसका चिह्न बन गया था ।) उनके हाथों में शोभित कंकण आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण इतने सुन्दर हैं मानो ब्रह्मा ने उन्हें स्वयं अपने हाथों से मन लगाकर गढ़ा हो। गले में पड़ी गजमुक्ताओं की माला के बीच पदिक (रत्न चौकी) ऐसी शोभित हो रही है कि उसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह ऐसी प्रतीत हो रही है मानो नीले मेघ पर तारागणों की मंडली के बीच नवग्रहों ने अपना बैठने का स्थान बनाया हो (नवग्रह—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु)। यहाँ विष्णु का शरीर नीला मेघ, गजमुक्ताओं की माला तारागणों की मंडली तथा पदिक में जड़े विभिन्न रत्न नवग्रह के समान हैं।

उनके सर्प के शरीर अथवा हाथी की सूँड़ के समान श्यामल, चिकने, पुष्ट भुजदंडों में शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान हैं। उनकी ग्रीवा शोभा की सीमा है अर्थात् अद्वितीय रूप से सुन्दर है। ठोढ़ी, अधर और मुख की शोभा अमित है। उनके दाँतों की चमक को देखकर हीरा, कुन्द कली और बिजली की चमक भी लज्जित हो उठती है। अर्थात् उनकी कान्ति देखकर हीरा, आकार देखकर कुन्दकली और चमक देखकर बिजली भी फीकी पड़ जाती है। उनकी नाक, नेत्र, गाल, सुन्दर कुंडलों से सजे कान और भौंहें मुझे अच्छी लगती हैं। सिर पर घुँघराले केश हैं जिनके ऊपर मुकुट धारण किये हैं और भाल पर जो तिलक शोभायमान है उसे मैं समझा कर अर्थात् उपमा देकर बताता हूँ कि वह ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो बिजली की दो छोटी-छोटी सी रेखाएँ अपनी सहज चंचलता को त्याग-चन्द्रमा में बास कर रही हों। (यहाँ चन्दन के तिलक की दो रेखाएँ बिजली की छोटी रेखाएँ तथा मुख चन्द्रमा है।) उन्होंने जो निर्मल पीला वस्त्र (पीताम्बर) धारण कर रखा है, उसकी उपमा हृदय में नहीं समा रही। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो अनेक मणियों से जटित नीले पर्वत के शिखर पर स्वर्ण-वस्त्र शोभा दे रहा हो।

ऐसे बिन्दुमाधव की दक्षिण दिशा अर्थात् चरणों के पास लक्ष्मी बैठी हुई इस प्रकार अधिक शोभा पा रही हैं मानो तमाल वृक्ष के समीप नीला वस्त्र धारण किये कोई स्वर्ण-लता बैठी शोभित हो रही हो। सैकड़ों सरस्वती, शेषनाग और चारों वेद सब मिलकर भी इस शोभा का वर्णन करें तो भी इसका पार नहीं पा सकते। फिर भला मन्द बुद्धि वाला, राग-द्वेषादि के द्वन्द्वों में फँसा यह तुलसीदास किस प्रकार गाकर इस शोभा का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'अरुननील····समुदाई', 'जनु हर उर····बनाई',

'हेमजलज''''सुहाई', 'जनु उड़गन''''अथाई', 'अलप''''चंचलताई', 'बहु मनि युत''''रुचिराई', 'हेमलता''''ओढ़ाई' आदि में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

'नीलकंज''''पाई' में निदर्शना और प्रतीक—दोनों अलंकार माने जा सकते हैं।

(२) पं० रामेश्वर भट्ट ने 'जनु हर-उर' के स्थान पर 'जनु हर-डर' पाठ मान कर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'मानो शिवजी के डर के मारे हरि अर्थात् कामदेव ने अनेक रूप धर कर विष्णु के चरणों में आश्रय लिया हो।'

(३) इस पद में तुलसी बिन्दुमाधव के दर्शन करने की ही बात कहकर उस बाह्याचार का विरोध कर रहे हैं, जिसका मन पर प्रभाव नहीं पड़ता, और जो केवल बाहरी दिखावे के लिए ही होता है। कबीर ने भी बाह्याचार का डटकर विरोध किया है।

(४) बिन्दुमाधव की मूर्त्ति काशी में है।

(५) नवग्रह—सूर्य, चन्द्र, भौम (मंगल), बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु। इनमें से सूर्य और मंगल का रंग लाल; वृहस्पति का पीला; शनि, राहु और केतु का काला; बुध का हरा तथा चन्द्रमा और शुक्र का श्वेत माना गया है। वियोगी हरि ने सूर्य का रंग श्वेत माना है जो गलत है।

(६) इस पद में बिन्दुमाधव के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। सूर ने भी कृष्ण के नख-शिख का ऐसा ही प्रभावशाली वर्णन किया है, जैसे—

'करि मन नन्दनन्दन ध्यान।'—आदि पंक्तियों वाला पद।

(७) पाँचवीं पंक्ति में वियोगी हरि ने 'अभूत' के स्थान पर 'अद्‌भुत' पाठ माना है। केशव ने 'अभूत उपमा' को उपमा का एक भेद मानते हुए लिखा है—

'उपमा जाय कही नहीं, जाको रूप निहारि।
अस अभूत उपमा कही, केशवदास विचारि॥'

राग जयति श्री

[६३]

मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिन्दुमाधव-छबि, तजि सुभाव, अवलोक एक पलु॥१॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-दुति हृदय-तिमिर-हारी।
कुलिस, केतु, जव, जलज रेख वर, अंकुस मन-गज-बसकारी॥२॥
कनक-जटित मनि नूपुर मेखल, कटि-तट रटति मधुर बानी।
त्रिबली उदर, गँभीर नाभि सर, जहँ उपजे बिरंचि ग्यानी॥३॥

उर बनमाल, पदक अति सोभित, विप्र-चरन चित कहँ करषै।
स्याम-तामरस-दाम बरन बपु, पीत बसन सोभा बरषै ॥४॥
कर कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा, कंज, दर, चारु चक्रधर, नाग-सुण्ड-सम भुज चारी ॥५॥
कम्बुग्रीव छबिसीव, चिबुक, द्विज, अधर अरुन, उन्नत नासा।
नव राजीव नैन, ससि आनन, सेवक-सुखद बिसद हासा ॥६॥
रुचिर कपोल, स्रवन कुण्डल, सिर मुकुट, सुतिलक भाल भ्राजै।
ललित भ्रकुटी, सुन्दर चितवनि, कच निरखि मधुप-अवली लाजै ॥७॥
रूप-सील-गुन-खानि दच्छ दिसि सिंधु-सुता रत पद-सेवा।
जाकी कृपा-कटाच्छ चहत सिव, बिधि, मुनि, मनुज, दनुज, देवा ॥८॥
तुलसिदास भव-त्रास मिटै तब, जब मति इहि स्वरूप अटकै।
नाहिंत दीन मलीन हीनसुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै ॥९॥

शब्दार्थ—केतु=ध्वजा, पताका। जव=जौ। वसकारी=वश में करने वाले। मेखल=करधनी। विरंचि=ब्रह्मा। पदक=रत्न-चौकी। करषै=आकर्षित करना। तामरस=कमल। दाम=माला। मुद्रिक=मुद्रिका, अँगूठी। नाग-सुण्ड=हाथी की सूँड़। चारी=चार। द्विज=दाँत। बिसद=निर्मल। अवली=पंक्ति। सिन्धु-सुता=समुद्र की पुत्री लक्ष्मी। नाहिंत=नहीं तो।

भावार्थ—हे मन! इस मानव-शरीर को धारण करने का सबसे बड़ा फल (लाभ) यही है कि तू अपने चंचल स्वभाव को त्याग, स्थिर हो क्षण भर के लिए सम्पूर्ण सुन्दर अंगों वाले बिन्दु माधव की छवि के दर्शन कर ले। उनके मृदुल (कोमल) चरण नवीन खिले हुए लाल कमल के समान हैं, उनके नखों की कान्ति हृदय के अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली है। इन चरणों में वज्र, ध्वजा, जौ, कमल आदि की सुन्दर रेखाएँ तथा मन रूपी हाथी को वश में करने वाले अंकुश का चिन्ह विद्यमान है। इन चरणों में मणि जटित स्वर्ण के नूपर और कटि में मधुर शब्द करने वाली करधनी शोभित है। पेट पर त्रिवली अर्थात् तीन रेखाएँ हैं, नाभि सरोवर के समान गहरी है, जहाँ से ब्रह्मा सरीखे ज्ञानी उत्पन्न हुए हैं। (ब्रह्मा का जन्म विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से माना जाता है।) वक्ष पर वरमाला है जिसके मध्यभाग में मणि-चौकी (पदिक) शोभित है। वहीं वक्ष पर अंकित भृगु ऋषि का चरण-चिन्ह अपने सौन्दर्य से बलात् मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उनके शरीर का रंग नीलकमल के फूलों की माला के समान है, जिस पर पीताम्बर (पीला रेशमी वस्त्र) शोभा की वर्षा कर रहा है।

हाथों में मनोहर कंकण और भुजवन्द हैं और अँगूठी निराला ही आनन्द दे रही है। हाथी की सूँड़ के समान सुडौल, पुष्ट चारों भुजाओं में सुन्दर गदा, कमल, शंख और चक्र धारण किये हुए हैं। उनकी ग्रीवा (गर्दन) शंख के समान और लावण्य की सीमा है। और ठोढ़ी, दाँत, लाल अधर, ऊँची उठी हुई नासिका, नये कमल के समान नेत्र, चन्द्रमा के समान मुख और निर्मल हास्य सेवकों अर्थात् भक्तों को सुख देने वाले हैं। उनके कपोल सुन्दर हैं, वह कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट धारण किये हुए हैं और उनके मस्तक पर सुन्दर तिलक शोभा दे रहा है। उनकी भौंहें सुन्दर और चितवन मोहक है। उनके बालों की कालिमा और चिकनाई को देख भौंरों की पंक्ति भी लज्जित हो उठती है। वह रूप, गुण और शील की खान हैं तथा उनकी दक्षिण दिशा अर्थात् नीचे चरणों के पास समुद्र की पुत्री लक्ष्मी बैठी हुई उनकी चरण-सेवा में व्यस्त है, जिनकी कृपादृष्टि की आकांक्षा शिव, ब्रह्मा, मुनि, मनुष्य, दैत्य और देवता—सभी करते रहते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि संसार का भय (जन्म-मरण का भय) तभी मिट सकता है जब बुद्धि भगवान के इस स्वरूप में प्रेमपूर्वक निमग्न हो जाय, नहीं तो जीव दीन, मलीन और सुख से वंचित होकर करोड़ों जन्मों तक (भिन्न-भिन्न योनियों में) भटकता फिरेगा। अर्थात् आवागमन के बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो पायेगा।

टिप्पणी—(१) इस पद में मन को एकाग्र करने का स्पष्ट संकेत मिलता है। मन की एकग्रता ही अनन्य भक्ति-भावना का प्रधान साधन है।

(२) शास्त्रों में वर्णन आया है कि भगवान के दोनों चरणों में चौबीस-चौबीस चिन्ह होते हैं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार इन चिह्नों से युक्त चरणों वाला व्यक्ति अवतार होता है।

(३) 'रूपसील..........पदसेवा'—इस पंक्ति में आये 'दच्छ दिसि' के स्थान पर पं० रामेश्वर भट्ट ने 'वाम दिसि' पाठ माना है, जिसे स्वीकार कर लेने से लक्ष्मी का विष्णु की वामांगी (पत्नी) होने का अर्थ ठीक बैठ जाता है। परन्तु वियोगी हरि तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'दच्छ दिसि' पाठ ही माना है, जिसका अर्थ वियोगी हरि ने यह माना है कि लक्ष्मीजी विष्णु के दाहिनी ओर विराजमान हैं। परन्तु पत्नी का स्थान पति के वाम भाग में माना गया है, न कि दाहिने भाग में। पत्नी को वामांगी कहा जाता है। अतः यहाँ वियोगी हरि के अर्थ को स्वीकार कर लेने से शास्त्र और लोक की मान्यता का उल्लंघन होता है।

यहाँ 'दच्छ दिसि' का अर्थ 'दाहिनी ओर' न होकर 'दक्षिण दिशा' होना चाहिए। 'दक्षिण दिशा' का अर्थ हुआ—नीचे की ओर अर्थात् पैरों की ओर। नक्शों में उत्तर दिशा ऊपर की तरफ तथा दक्षिण दिशा नीचे की तरफ दिखाई जाती है। यहाँ लक्ष्मी विष्णु के बराबर न बैठकर उनके चरणों में बैठी चरण-सेवा कर रही हैं। यही सही अर्थ अभिप्रेत और संगत मानना चाहिए।

राग बसन्त

[६४]

बन्दौं रघुपति करुना-निधान । जाते छूटै भव-भेद-ग्यान ।।१।।
रघुबंस कुमुद सुखप्रद निसेस । सेवत पद-पंकज अज महेस ।।२।।
निज-भक्त-हृदय-पाथोज-भृङ्ग । लावन्य बपुष अगनित अनंग ।।३।।
अतिप्रबल-मोह-तम मारतंड । अग्यान-गहन पावक प्रचंड ।।४।।
अभिमान-सिंधु कुंभज उदार । सुररंजन भंजन भूमिभार ।।५।।
रागादि-सर्पगन पन्नगारि । कंदर्प-नाग मृगपति, मुरारि ।।६।।
भव-जलधि पोत चरनारविंद । जानकी-रमन आनन्द-कन्द ।।७।।
हनुमन्त-प्रेम-बापि मराल । निष्काम कामधुक गो दयाल ।।८।।
त्रैलोक-तिलक गुनगहन राम । कह तुलसिदास विश्राम-धाम ।।९।।

शब्दार्थ—निसेस=निस+ईस=रात्रि का स्वामी चन्द्रमा । अज=ब्रह्मा । बपुष=शरीर । अनंग=कामदेव । मारतंड=सूर्य । गहन=वन । कुंभज=अगस्त्य ऋषि । पन्नगारि=गरुड़=पन्नग+अरि=सर्पों का शत्रु । नाग=हाथी । बापि=बावड़ी । मराल=हंस ।

भावार्थ—हे करुणानिधान राम ! मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ कि जिससे मेरा सांसारिक भेदभाव अर्थात् 'तू-मैं' का भेदभाव दूर हो जाय । यह मेरा है, यह तेरा है—ऐसा ज्ञान ही भेदात्मक ज्ञान कहलाता है ।) राम रघुवंश रूपी कुमुदिनी के पुष्पों को चन्द्रमा के समान सुखदायी हैं अर्थात् रघुवंशी उन्हें देख उसी प्रकार खिल उठते हैं जिस प्रकार चन्द्रमा को देख कुमुदिनी का पुष्प । उनके चरण-कमलों की सेवा ब्रह्मा और शिव करते हैं । वह अपने भक्तों के हृदय में उसी प्रकार निवास करते हैं जैसे भ्रमर कमल-पुष्प में । उनके शरीर का सौन्दर्य अगणित कामदेवों के समान सुन्दर है । ये अत्यन्त प्रबल मोहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य तथा अज्ञान-रूपी सघन वन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावाग्नि के समान हैं ।

वह अभिमान रूपी समुद्र को सोखने के लिए अगस्त्य ऋषि के समान उदार हैं और देवताओं को सुख देने वाले तथा पृथ्वी के भार (राक्षसों) को दूर करने वाले हैं । वह राग-द्वेष आदि रूपी सर्पों के लिए गरुड़, कामरूपी हाथी के लिए सिंह के समान तथा सुर दैत्य का वध करने वाले हैं । उनके चरण-कमल संसार रूपी सागर को पार करने के लिए नौका के समान हैं । ऐसे सीता के साथ रमण करने वाले राम आनन्द के मूल अथवा आनन्द की वर्षा करने वाले हैं । वह हनुमान की प्रेम रूपी हृदय की बावड़ी में सदैव हंस के समान विहार करते रहते हैं । अर्थात् हनुमान सदैव हृदय में उनका चिन्तन करते रहते हैं । वह निष्काम भक्तों के लिए कामधेनु

के समान परम दयालु हैं। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे राम तीनों लोकों के तिलक अर्थात् शिरोमणि, गुणों के वन अर्थात् सर्वगुण सम्पन्न और विश्राम अर्थात् शान्ति के धाम हैं।

टिप्पणी—(१) 'जानकी रमन'—जानकी राम की आल्हादिनी शक्ति हैं। बिना उनके आनन्द नहीं रहता।

(२) इस पद तक स्तुतियाँ समाप्त हो जाती है। आगामी पद से विनय का प्रारम्भ होता है।

(३) विनय-पत्रिका में आरम्भ में साधनावस्था है परन्तु मध्य में साध्यावस्था का संकेत मिलता है। मन को वश में करने के लिए साधक के मन में सन्तों का सा भाव होना आवश्यक है। इस प्रकार सम्पूर्ण विनय-पत्रिका में साधना एवं साध्य का ऊहापोह वर्णन मिलता है।

(४) स्तुतियों वाले पदों में शुद्ध कला का संकेत मिलता है। आगे चलकर विनय के पदों में भावना का प्राबल्य हो जाने से कला का शुद्ध रूप मलिन हो उठता है, परन्तु प्रभाव बढ़ जाता है।

राग भैरव

[६५]

राम-राम रटु, राम-राम रटु, राम-राम जपु जीहा।
रामनाम-नवनेह-मेहको, मन ! हठि होहि पपीहा ॥१॥
सब साधन-फल कूप-सरित-सर-सागर-सलिल निरासा।
रामनाम-रति स्वाति-सुधा सुभ-सीकर प्रेम-पियासा ॥२॥
गरजि तरजि पाषान बरषि पबि, प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै ॥३॥
रामनाम-गति, रामनाम मति, रामनाम-अनुरागी।
ह्वै गये हैं, जे होहिंगे, त्रिभुवन तेइ गनियत बड़भागी ॥४॥
एक अङ्ग मग अगम गवन कर, बिलमु न छिन-छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं ॥५॥

शब्दार्थ—जीहा=जीभ। नेह=प्रेम। रति=प्रेम। सीकर=बूँद। पाषान=पत्थर, ओले। पबि=वज्र। परमिति=पूर्ण सीमा। गनियत=गिने जायेंगे। एक अंग मग=एकांकी मार्ग। बिलमु=विश्राम। अपनी दिसि=अपनी ओर से। निरुपधि=निर्विघ्न, निरुपाधि।

भावार्थ—हे जिह्वा ! तू सदैव राम का नाम रटा और जपा कर। और हे मन ! तू रामनाम रूपी नवीन अर्थात् निर्मल प्रेम के मेघ के लिए हठ करके अर्थात् पूर्ण दृढ़ता के साथ पपीहा बन जा। भाव यह है कि जिस प्रकार पपीहा वर्षा ऋतु के नवीन मेघों से एकनिष्ठ हो प्रेम करता है, उसी प्रकार तू भी रामनाम से प्रेम कर। तू भी अन्य प्रकार के साधनों—यज्ञ, योग, तप आदि—से प्राप्त फल की आशा उसी प्रकार छोड़ दे जिस प्रकार पपीहा कुँआ, नदी, तालाब और सागर के जल की कोई आशा न कर केवल स्वाति-जल की ही आशा करता है। उसी प्रकार तू भी सम्पूर्ण साधनों को त्याग केवल रामनाम की ही आशा पर निर्भर रह। जिस प्रकार पपीहा अमृत के समान स्वाति-जल की बूँद की प्यास में तड़पता रहता है उसी प्रकार तू भी रामनाम की भक्ति रूपी अमृत की बूँद की चाहना करता रह। पपीहे के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए मेघ गरज-तरजकर उसे डराता है, ओलों की वर्षा करता है, बिजली गिराता है और फिर जब पपीहे को अपने प्रेम में एकनिष्ठ देखता है तो उसके प्रेम की परीक्षा कर उसके प्रेम के प्रति अपने हृदय में आश्वस्त हो जाता है। वह यह जान लेता है कि मेरे द्वारा अधिकाधिक भय दिखाये जाने पर भी पपीहे के हृदय में उसके प्रति अधिकाधिक प्रेम उमड़ता जाता है। और इस प्रकार अन्त में वह पपीहे के प्रेम की पूर्ण सीमा को परख उसे स्वाति की बूँद दे देता है। (इसी प्रकार राम भी तेरी परीक्षा लेंगे और जब तुझे अपने प्रेम में एकनिष्ठ पायेंगे तो अन्त में तेरी मनोकामना पूर्ण कर देंगे।)

राम नाम ही तेरी गति है अर्थात् राम नाम लेने से ही तेरा उद्धार होगा, तू राम नाम में ही अपनी बुद्धि को स्थिर कर और राम नाम से ही प्रेम कर। राम नाम के अनन्य प्रेमी ऐसे जितने भी भक्त पहले हो चुके हैं, आजकल भी हैं और जो भविष्य में भी होंगे वे ही तीनों लोकों में बड़भागी अर्थात् भाग्यशाली माने जायेंगे। परन्तु राम नाम का यह एकांगी मार्ग अर्थात् अनन्य भाव से राम की भक्ति करना बड़ा अगम्य अर्थात् दुर्लभ है। और यदि तू इस मार्ग पर चले भी तो मार्ग में क्षण-क्षण भर बाद सुस्ताने के लिए ठहरना मत। अर्थात् मार्ग में पड़ने वाले आकर्षणों के मोह में पड़ विलम्ब मत करना (विलम्ब करने से तेरी आयु समाप्त हो जायेगी)। इसलिए हे तुलसीदास ! तेरा भला तो अपनी ओर से राम नाम में निष्कंटक प्रीति का निर्वाह करने से ही होगा। अर्थात् एकनिष्ठ भाव से राम नाम से प्रेम करने से ही तेरा कल्याण होगा।

टिप्पणी—(१) माया त्रिगुणात्मक होती है, इसलिए प्रथम पंक्ति में तीन बार 'राम नाम' जपने की बात कही गयी है।

(२) 'गरजि-तरजि''''जानै'—भक्ति के मार्ग में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं परन्तु उनसे भयभीत हो सच्चे भक्त को विचलित नहीं होना चाहिए।

(३) 'बिलमु''''छाहैं'—वृक्ष की छाया अस्थायी होती है। जब सूर्य मध्याकाश

में होता है तो वृक्ष की छाया का क्षेत्र भी कम हो जाता है। यदि यात्री इस छाया के मोह में पड़ वहीं बैठ जाय तो अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच पायेगा। अतः भक्त को सांसारिक सुख रूपी छाया के मोह में पड़, अपना जीवन बर्बाद नहीं करना चाहिए।

(४) तुलसी का भक्ति मार्ग व्यक्ति के चरित्रोत्थान पर अधिक बल देता है। यही 'Platonic Love' कहलाता है।

(५) 'एक अंग मग'—रसखान ने इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए एक दोहा कहा है—

'इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरस, सदा समान।
गनै प्रियहिं सरवस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥'

(६) 'गरजि तरजि····पहिचानै'—तुलसी विरचित दोहावली में 'चातक चौवीसी' में यह दोहा इसी रूप में मिलता है।

[६६]

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे॥१॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धी साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग संजम समाधि रे॥२॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे।
राम-नाम ही सों अंत सब ही कों काम रे॥३॥
जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे॥४॥
राम-नाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥५॥

शब्दार्थ—जोग=योग। संजम=संयम। पोच=नीच। दाहिनो=मित्र। बाम=शत्रु। धौरहर=महल। कूर=कुत्ता।

भावार्थ—रे बावले मन! राम जप, राम जप, राम जप। इस संसार रूपी भयंकर समुद्र को पार करने के लिए केवल राम का नाम ही अपनी नौका के समान है। अर्थात् राम का नाम ही एकमात्र अपना सहारा है। इसी एक साधन द्वारा अर्थात् राम का नाम लेकर ही तू सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त कर, क्योंकि कलि-युग रूपी रोग ने योग, संयम, समाधि आदि सारे अन्य साधनों को ग्रस लिया है; अर्थात् अब मुक्ति प्राप्त करने के ये सारे साधन प्रभावहीन हो चुके हैं। चाहे कोई

व्यक्ति अच्छा हो या बुरा, सीधा हो या उल्टा, मित्र हो या शत्रु, सब को अन्त में राम-नाम से ही काम पड़ता है। अर्थात् मरते समय प्रत्येक प्राणी से 'राम नाम' लेने का आग्रह किया जाता है और मर जाने पर 'राम नाम सत्य है' का उच्चारण करते हुए उसे श्मशान में ले जाकर फूँक दिया जाता है। इसलिए हे मन! तू अभी से राम-नाम का पल्ला पकड़ ले।

यह संसार आकाश-वाटिका के समान फल-फूल रहा है। अर्थात् जैसे आकाश में रंग-बिरंगे बादलों के कारण फूलों से भरी वाटिका का सा दृश्य दिखाई पड़ने लगता है परन्तु वास्तव में वह होता भ्रममात्र ही है उसी प्रकार यह संसार सुखों का भरा सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु दरअसल ये सारे सुख भ्रम के समान मिथ्या होते हैं। विचार करने पर उनका मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। तू धुएँ के से महलों के समान इस क्षणिक, असार, मिथ्या संसार को देख भूल मत। जैसे धुएँ के उठने से उसमें महलों के क्षणिक रूप दिखाई पड़ते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं वही स्थिति इस संसार और इसके सुखों की है। तू इन्हें सत्य मान धोखे में मत पड़। इनसे प्रीति मत कर। जो व्यक्ति राम का नाम छोड़कर दूसरों का भरोसा करता है, उसकी स्थिति उस कुत्ते के समान हो जाती है जो सामने परोसी थाली को ठुकरा कर दर-दर टुकड़े माँगता फिरता है। अर्थात् राम नाम सबसे सुलभ साधन है। उसे त्यागकर अन्य साधनों का सहारा लेना—कुत्ते के समान दरवाजे-दरवाजे टुकड़ों के लिए भटकते फिरना है।

टिप्पणी—(१) इसमें 'साँगरूपक' अलंकार है।

(२) इस पद से विनय की भावना प्रारम्भ होती है।

(३) कवि ने 'उपलक्षणा पद्धति' द्वारा राम नाम की महिमा का वर्णन किया है। उपलक्षणा पद्धति में किसी विशाल भावना को लेकर उसके एक लक्षण को लिया जाता है।

(४) कवि ने मुहावरों और कहावतों द्वारा 'राम-नाम-महत्त्व' जैसे गूढ़ विषय को बड़े रोचक और सरल ढङ्ग से स्पष्ट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

(५) 'जगत मिथ्या है'—इस सिद्धान्त का समर्थन हुआ है।

(६) माया त्रिगुणात्मक है, इसलिए प्रथम पंक्ति में तीन बार 'राम जपु' कहा गया है।

[६७]

राम-नाम जपु जिय सदा सानराग रे।
कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे ॥१॥
राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे ॥२॥

राम-नाम महामनि, फनि जगजाल रे।
मनि लिये फनि जियै व्याकुल बिहाल रे ।।३।।
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान, वेद, पंडित, पुरारि रे ।।४।।
राम-नाम प्रेम परमारथ को सार रे।
राम-नाम तुलसी को जीवन-अधार रे ।।५।।

शब्दार्थ—सानुराग=अनुराग सहित, प्रेमपूर्वक। बिराग=वैराग्य। जाग=यज्ञ। विधि=विधि-विधान, साधन। राज=राजा। निषेध=न करने योग्य कर्म। फनि=सर्प। पुरारि=शिव। परमारथ=मुक्ति।

भावार्थ—हे मन ! तू सदैव प्रेम के साथ राम नाम का जप किया कर। क्योंकि इस कलियुग में वैराग्य, योग, यज्ञ, तप, त्याग आदि कोई भी साधन (मुक्ति प्राप्त कराने में) सफल नहीं हो सकते। अर्थात् इन्हें करने से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती क्योंकि इन्हें करने में सदैव एक-न-एक बाधा लगी ही रहती है। कलियुग अपने प्रभाव से सदैव बाधाएँ खड़ी करता रहता है। राम नाम का स्मरण करना उपर्युक्त सम्पूर्ण साधनों का राजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ साधन है और राम को भूल जाना ही सम्पूर्ण निषेधों का सरताज है। भाव यह है कि शास्त्रों में दो प्रकार के कर्म माने गये हैं—'विधि' अर्थात् क्या करना चाहिए तथा 'निषेध' अर्थात् क्या न करना चाहिए। तुलसी कहते हैं कि मेरी समझ में राम का नाम लेना ही सर्वश्रेष्ठ 'विधि' अर्थात् करने योग्य कर्म है तथा राम को भूलना ही सबसे बड़ा 'निषेध' अर्थात् न करने योग्य कर्म है। अर्थात् केवल राम का नाम लेना चाहिए और उसे कभी भी नहीं भूलना चाहिए।

राम का नाम महामणि के समान और यह सांसारिक बन्धन सर्प के समान है। इस संसार रूपी सर्प की राम नाम रूपी मणि ले लेने से यह सर्प व्याकुल और दुखी होकर जीवित रहेगा अर्थात् इसका सारा घातक प्रभाव नष्ट हो जायेगा। अर्थात् राम का नाम लेने से सांसारिक विकार तेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकेंगे। राम का नाम कल्पवृक्ष के समान है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार फल देता है अर्थात् राम नाम लेने से इन चारों फलों की प्राप्ति हो जाती है। इस बात को पुराण, वेद, पंडित और स्वयं शिव कहते हैं। राम का नाम प्रेम (भक्ति) और परमार्थ (मोक्ष) दोनों का ही सार (मूलतत्त्व) है। और तुलसीदास के लिए तो यह राम नाम प्राणों का आधार है। अर्थात् तुलसीदास इसके बिना जीवित नहीं रह सकता।

टिप्पणी—(१) 'महामनि'—कहा जाता है कि फन वाले सर्प के फन में मणि रहती है। जो कोई इस मणि को प्राप्त कर लेता है, सर्प उसके वश में हो जाता है। राम नाम उसी मणि के समान है। उसे प्राप्त कर लेने से संसार रूपी सर्प स्वतः ही वश में हो जायेगा।

(२) इस पद में तुलसीदास ने मन को वश में करने की बात कही है। मन की शुद्धि के लिए राम नाम जपना आवश्यक है। बिना राम नाम जपे जीव की मुक्ति असम्भव है।

[६८]

राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।
तौलौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपिहै॥ १॥
सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै॥ २॥
जागत बागत, सपने न सुख सोइहै।
जनम जनम जुग जुग जग रोइहै॥ ३॥
छूटिबे के जतन बिसेष बाँधो जायगो।
ह्वै है विष भोजन जो सुधा सानि खायगो॥ ४॥
तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीन को।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को॥ ५॥

शब्दार्थ—जीह=जिह्वा, जीभ। तिहूँ=तीनों। सुरतरु=कल्पवृक्ष। बागत=फिरते हुए।

भावार्थ—हे मन ! जब तक तू अपनी जिह्वा से राम का नाम नहीं जपेगा तब तक तू चाहे कहीं भी जाय, सदैव तीन तापों—दैहिक, दैविक और भौतिक—की ज्वाला में दग्ध होता रहेगा अर्थात् तुझे कभी भी चैन नहीं मिल सकेगा। राम का नाम न लेने से तेरी ऐसी विषम दशा हो जायेगी कि गंगा के किनारे रहते हुए भी तू जल न मिलने से प्यास से तड़पता रहेगा परन्तु तुझे कोई भी पानी नहीं देगा। सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के नीचे रहने पर भी तुझे सदैव गरीबी सताती रहेगी। अर्थात् गंगा और कल्पवृक्ष भी प्यास और गरीबी को दूर करने में असमर्थ रहेंगे। तू जागते, इधर-उधर घूमते सुख के अभाव में व्याकुल बना भटकता फिरेगा। तू स्वप्न में भी कभी सुख की नींद नहीं सो सकेगा अर्थात् बुरे-बुरे स्वप्न नींद में आ-आकर तुझे सदैव डराते रहेंगे। तू जन्म-जन्म और युग-युग तक इस संसार में रोता रहेगा अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा कभी चैन नहीं पा सकेगा।

तू सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने का जैसे-जैसे उपाय करेगा अर्थात् यज्ञ, योग, जप, तप आदि करके इन बन्धनों से जैसे-जैसे छूटने का प्रयत्न करेगा वैसे-वैसे तू उन बन्धनों में और अधिक जकड़ता चला जायेगा। भाव यह है कि यज्ञादि करने से भव-

बन्धन से मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि तू अमृत में मिलाकर भी भोजन करेगा तो वह तेरे लिए विष बन जायेगा। हे तुलसी! तीनों लोकों में, तीनों कालों में तुझ जैसे दीन के लिए एक राम नाम ही गति है। जैसे मछली को केवल जल का ही सहारा होता है वैसे ही तू राम नाम का सहारा लेकर ही इस संसार सागर को पार करने में समर्थ हो सकेगा।

टिप्पणी—(१) 'छूटिवे·······जायगो'—भाव यह है कि राम की भक्ति के अतिरिक्त अन्य जितने भी साधन हैं, उन्हें करने से व्यक्ति कर्म-जाल के बन्धन में अधिकाधिक उलझता चला जाता है और उसे कोई भी सुख नहीं मिलता। इसलिए भव-बन्धन से मुक्त होने के लिए राम का नाम लेना; अर्थात् भक्तिमार्ग ही एकमात्र साधन है।

[६९]

सुमिर सनेह सों तू नाम रामराय को।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को॥ १॥
भाग है अभागेहू को, गुन गुनहीन को।
गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को॥ २॥
कुल अकुलीन को, सुन्यो है बेद साखि है।
पाँगुर को हाथ पाँय, आँधरे को आँखि है॥ ३॥
माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को।
सेतु भव-सागर को, हेतु सुखसार को॥ ४॥
पतित-पावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥ ५॥

शब्दार्थ—संबल=सहारा, कलेवा। साखि=साक्षी, गवाह। पाँगुर=लूला-लँगड़ा। हेतु=कारण। सुभूमि=सुन्दर उपजाऊ भूमि। ऊसरो=ऊसर जमीन।

भावार्थ—हे मन! तू प्रेम के साथ राजा राम के नाम का स्मरण कर। यह राम नाम साधनहीन पथिकों अर्थात् भक्तों के कलेवे के समान तथा असहायों के लिए सखा अर्थात् मित्र के समान है। भाव यह है कि भक्तगण राम का नाम ले यात्रा करते हैं और अपना पेट पालते हैं। असहाय व्यक्ति कष्ट में पड़ जब राम का नाम लेता है तो उसे वैसे ही ढाढ़स मिलता है—जैसे संकट पड़ने पर सच्चा मित्र सहायता कर ढाढ़स दिलाता है। यह राम नाम भाग्यहीनों का भाग्य और मूर्खों का गुण है। अर्थात् राम नाम लेने से भाग्यहीन भाग्यवान और मूर्ख विद्वान् बन जाते हैं। यह राम नाम गरीबों का ग्राहक; अर्थात् गरीबों को अपनी शरण में ले लेने वाला और दीन के लिए दयावान दानी है।

जो अकुलीन अर्थात् नीच कुल के हैं, उन्हें राम नाम कुल वाला अर्थात् उच्च-कुल का बना देता है (जैसे—वाल्मीकि महर्षि हो गये)। यह बात प्रसिद्ध है और वेद भी इस बात की साक्षी देते हैं अर्थात् वेदों में भी यही बात कही गयी है। लूले-लँगड़ों के लिए यह राम नाम हाथ-पैर के, और अन्धों के लिए आँख के समान है।

यह राम नाम भूखों के लिए माँ-बाप है अर्थात् भूखे राम के नाम पर भिक्षा माँगकर अपना पेट भर लेते हैं और जिसका कोई सहारा नहीं है उसका यह सबसे बड़ा सहारा है (जैसे ग्राह के मुख में पड़े गज का इसने उद्धार किया था)। यह संसार-रूपी समुद्र को पार करने के लिए पुल है, राम नाम लेते ही जीव इस संसार-सागर को पार कर जाता है। यह सम्पूर्ण सुखों का सार है; अर्थात् इसका उच्चारण करते ही सम्पूर्ण सुखों का सार (ब्रह्मानन्द) अनायास ही प्राप्त हो जाता है। पतितों का उद्धार करने वाला राम नाम के समान अन्य कोई भी दूसरा नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मुझ तुलसी जैसा ऊसर भूमि के समान गुणहीन व्यक्ति भी राम नाम लेने से सुन्दर उपजाऊ भूमि के समान गुणवान बन गया। भाव यह है कि पहले तुलसीदास धर्म-कर्म आदि नहीं करते थे परन्तु राम का नाम लेते ही अब उनके हृदय में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि की पवित्र भावनाएँ ओतप्रोत हो उठी हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद की अन्तिम पंक्ति में साधना की आनन्दावस्था की ओर संकेत किया गया है।

(२) 'कुल''''साखि'—भक्ति मार्ग में जाति-पाँति का भेद बाधक नहीं होता। तुलसी ने मानस में भी यही बात कही है—

'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई॥'

[७०]

भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागिहै।
मन राम-नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥ १॥
राम-नाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि है।
सहित सहाइ कलिकाल भीरु भागिहै॥ २॥
राम-नाम सों विराग जोग जप जागिहै।
बाम बिधि भाल हू न कर्म-दाग दागिहै॥ ३॥
राम-नाम-मोदक सनेह-सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार-द्वार बागिहै॥ ४॥
राम-नाम कामतरु जोइ-जोइ माँगि है।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगि है॥ ५॥

अभी रहेगी

शब्दार्थ—लागिहै=चलेगा । जूड़ी=जाड़ा । सहाइ=सहायक । जागिहै=जाग्रत हो उठेंगे । बाम=प्रतिकूल । कर्म-दाग=कर्म की रेखा । परितोष=संतोष, तृप्ति । बागिहै=फिरेगा । खाँगि है=कमी रहेगी ।

भावार्थ—हे मन ! यदि तू मेरे कहने के अनुसार चलेगा तो मेरा सभी तरह से भला अर्थात् कल्याण होगा और तू सहज भाव से अर्थात् निष्कपट भाव से राम-नाम से प्रेम करने लगेगा । तू यह बात जान ले कि राम नाम का प्रभाव जाड़े पर अग्नि के समान घातक होता है । राम नाम के लेते ही कलियुग अपने सम्पूर्ण सहायकों (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) के साथ भयभीय हो उसी प्रकार भाग खड़ा होता है, जैसे अग्नि के सम्मुख जाड़ा भाग खड़ा होता है । राम नाम के प्रभाव से वैराग्य, योग, जप आदि की भावनाएँ स्वतः ही जाग्रत हो उठेंगी (और जब उनके प्रभाव से तेरे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे तब) तेरे विरुद्ध हुआ विधाता भी तेरे भाग्य पर कर्म अंक के लेख नहो दाग सकेगा । अर्थात् वह तेरे भाग्य में तेरे द्वारा किये गये पापों के फल भोगने का भाग्य-लेख नहीं दाग सकेगा । भाव यह है कि राम नाम लेते ही तेरे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे ।

यदि तू राम नाम रूपी लड्डू को प्रेमरूपी अमृत की चाशनी में पागकर खायेगा अर्थात् प्रेम के साथ राम नाम लेगा तो तुझे पूर्ण सन्तोष प्राप्त होगा और फिर तुझे मुहताज हो घर-घर भीख माँगते हुए नहीं घूमना पड़ेगा अर्थात् किसी भी अन्य देवता की शरण नहीं ढूँढ़नी पड़ेगी । राम नाम कल्पतरु के समान है । इससे तू जो-जो वस्तु माँगेगा तुझे वही-वही प्राप्त हो जायेगी । फिर तेरे लिए स्वार्थ अर्थात् इस लोक के सुख तथा परमार्थ अर्थात् मोक्ष की कोई कमी नहीं रह जायेगी । अर्थात् राम नाम लेने से तेरे लोक-परलोक—दोनों बन जायेंगे । तुझे धर्म अर्थ, काम, मोक्ष आदि सभी कुछ अनायास ही मिल जायेंगे ।

टिप्पणी—(१) 'जानि जूड़ी आगि है'—का अर्थ यह भी हो सकता है कि तुझे अग्नि भी जाड़े के समान शीतल अर्थात् प्रभावहीन लगने लगेगी । परन्तु यह अर्थ सन्दर्भ को देखते हुए उचित नहीं प्रतीत होता ।

(२) नवीं पंक्ति में 'जोइ-जोइ' में से प्रथम 'जोइ' का अर्थ 'देख' तथा दूसरी 'जोइ' का अर्थ यदि जो' माना जाय तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'तू राम-नाम को कल्पवृक्ष के समान देख और उससे जो कुछ भी माँगेगा ।'

[७१]

ऐसेहू साहब की सेवा सों होत चोर रे ।
आपनी न बूझ, न कहै को राड रोर रे ॥ १ ॥
मुनि-मन अगम, सुगम माइ बाप सो ।
कृपासिंधु, सहज सखा, सनेही आप सो ॥ २ ॥

लोक-बेद-बिदित बड़ो न रघुनाथ सो।
सब दिन सब देस, सबहि के साथ सो॥ ३॥
स्वामी सर्बग्य सों चलै न चोरी चार की।
प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की॥ ४॥
काम न कलेस लेस, लेत मान मन की।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की॥ ५॥
रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे।
फलत सकल फल कामतरु-नाम रे॥ ६॥
बेंचे खोटा दाम न मिलै, न राखे काम रे।
सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम रे॥ ७॥

शब्दार्थ—साहब=स्वामी। होत चोर=छिपता-फिरता है, जी चुराता है। बूझ=समझ। राड रोर=बेकाम और उद्दंड। राड=बेकार। रोर=रोड़ा, पत्थर का टुकड़ा। देस=स्थान। चार=नौकर, दूत। लेस=तनिक भी। सुमिरे =स्मरण करने से। जोगवत=देखते हैं। जन=भक्त। निवाज्यो=निहाल कर दिया।

भावार्थ—तुलसी अपने मन को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं—

रे मन ! तू राम जैसे स्वामी की सेवा करने से चोर के समान मुँह क्यों छिपाता फिरता है; अर्थात् उनकी सेवा क्यों नहीं करता। एक तो तुझ में स्वयं सोचने-समझने की शक्ति नहीं; अर्थात् तू विवेकहीन है और न तू जड़ पत्थर के समान दूसरों की कही हुई बातों को ही सुनता है। अर्थात् तू जड़ पत्थर के समान किसी भी काम का नहीं है। जो राम मुनियों के मन के लिए भी अगम्य हैं अर्थात् मुनि-गण निरन्तर ध्यान करते रहने पर भी जिन राम को नहीं प्राप्त कर पाते, वही राम अपने भक्तों को उसी प्रकार सरलतापूर्वक सुलभ हो जाते हैं जैसे सन्तान को माता-पिता का स्नेह, संरक्षण सहज ही प्राप्त हो जाता है। भाव यह है कि राम माता-पिता के समान स्नेह के साथ अपने भक्तों का पालन-पोषण करते हैं। कृपा के सिन्धु, ऐसे राम स्वभाव से ही सबके मित्र तथा अपने आप ही सबसे स्नेह करने वाले हैं।

लोक और वेद—दोनों का ही यह कहना है कि इस विश्व में रघुनाथ श्रीराम से बड़ा अन्य कोई भी दूसरा नहीं है। वे सब दिन अर्थात् सदैव, सारे देशों में अर्थात् विश्व में और सभी के साथ रहते हैं। अर्थात् वे शाश्वत, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं। राम जैसा जो स्वामी सर्वज्ञ अर्थात् घट-घट की जानने वाला है उससे नौकर की चोरी नहीं चल सकती। अर्थात् ऐसे सर्वज्ञ स्वामी से नौकर कुछ भी नहीं छिपा सकता। राम के दरबार की यही रीति है; अर्थात् नियम है कि वहाँ प्रवेश पाने के

लिए प्रेम ही एक मात्र पहचान अर्थात् प्रमात्र-पत्र माना जाता है। अर्थात् जो प्रेमी भक्त होता है वही राम के दरबार में प्रवेश पाने का अधिकारी माना जाता है। और उनकी सेवा करने में कोई कष्ट नहीं होता, क्योंकि वहाँ करने के लिए कोई काम ही नहीं है जिससे कष्ट हो क्योंकि स्वामी राम तो भक्त के मन की बात जानकर ही उसे अपनी सेवा में स्वीकार कर लेते हैं। जब भक्त उनका स्मरण करता है तो वह संकोच में भरकर अर्थात् इस बात से चिन्तित होकर कि भक्त पर कोई संकट आ पड़ा है, तुरन्त उस भक्त की ओर देखने लगते हैं।

राम जिस पर प्रसन्न हो जाते हैं फिर उसी के वश में रहते हैं, और जिस पर क्रुद्ध हो जाते हैं उसे तुरन्त अपने धाम (विष्णु लोक) भेज देते हैं। (हनुमान पर रीझे तो सदैव उनके वश में रहे और रावण पर कुपित हुए तो उसे मारकर स्वर्ग भेज दिया।) भाव यह है कि राम के रीझने और कुपित होने—दोनों ही स्थितियों में जीव का कल्याण ही होता है। राम का नाम कल्पवृक्ष के समान भक्त की सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। खोटे अर्थात् निठल्ले, झूठे आदमी को बाजार में बेचने पर उसकी कौड़ी भी नहीं मिलती और उसे घर में रखने से कोई काम नहीं निकलता, ऐसे मुझ निठल्ले, कपटी तुलसीदास को भी उन्होंने अपनी शरण में लेकर निहाल कर दिया। राजा राम ऐसे ही महान् और परोपकारी हैं।

टिप्पणी—(१) द्वितीय पंक्ति में 'राड रोर' के स्थान पर 'राँड रोर' पाठान्तर भी मिलता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि ऐसा व्यक्ति जो राम की सेवा नहीं करता वह राँड (विधवा) और पत्थर के रोड़े के समान व्यर्थ है।

(२) इस पद में तुलसी ने राम के शील की ओर संकेत किया है। 'सुमिरे-सकुचि' राम के शील को ध्वनित करता है।

(३) तुलसी की यह मान्यता है कि निष्कपट हृदय से ही राम की भक्ति करनी चाहिए।

(४) 'काम''''मन की'—इस पंक्ति में निर्गुण की ओर संकेत स्पष्ट है।

(५) यह पद इस बात का उदाहरण है कि तुलसी का भाव-पक्ष जैसे-जैसे तीव्र होता जाता है, प्रभाव की दृष्टि से उनकी कला निखरती जाती है।

(६) 'रीझे''''धाम रे'—यह बात तुलसी ने 'मानस' में भी कही है—

'भाव, कुभाव, अनख, आलसहूँ। राम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

[७२]

मेरे भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साईं-द्रोही, पै सेवक-हित साईं॥ १॥
राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो॥ २॥

लोक कहै राम को गुलाम हौं कहावौं।
ऐतो बड़ो अपराध भो, न मन बावों ।।३।।
पाथ-माथे चढ़े तृन तुलसी ज्यों नीचो।
बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचो ।।४।।

शब्दार्थ—साईं-द्रोही=स्वामी-द्रोही। खरो=सच्चा, महान्। खोटो=नीच। कहावौं=कहलवाता हूँ। ऐतो=इतना। बावों=रखते हैं, बाम, टेढ़ा। भो=हुआ। पाथ=पानी। बोरत=डुबाता।

भावार्थ—तुलसी कहते हैं कि क्योंकि राम स्वभाव से ही भले हैं, इसलिए उन्होंने मेरा भला कर दिया अर्थात् मुझे निहाल कर दिया। जो स्वयं भले होते हैं, वे सदैव दूसरों की भलाई करते रहते हैं। मैं तो अपने स्वामी राम के साथ द्रोह करने वाला हूँ परन्तु स्वामी तो सदैव अपने सेवकों का हित ही करते रहते हैं। इस संसार में भला राम के समान बड़ा अर्थात् महान् और मेरे समान छोटा अर्थात् नीच तथा राम के समान खरा अर्थात् सच्चा और मेरे समान खोटा अर्थात् झूठा और दूसरा कौन है। संसार मुझे राम का गुलाम (सेवक) कहता है और मैं स्वयं भी अपने को (रामनामी वेश बनाकर) राम का गुलाम कहलवाता हूँ। अर्थात् मुझ में राम का सेवक बनने के लिए एक भी गुण नहीं हैं परन्तु मैं ऊपरी ढोंग बनाकर स्वयं को राम का सेवक दिखाता रहता हूँ। मुझसे इतना बड़ा अपराध बन पड़ा अर्थात् मैंने सारे संसार को इतना बड़ा धोखा दिया परन्तु इतने पर भी राम का मन मेरी ओर से रंचमात्र भी टेढ़ा अर्थात् विपरीत नहीं हुआ। तुलसीदास कहते हैं कि जैसे तिनका जैसी तुच्छ और नीच वस्तु भी जल के सिर पर चढ़ जाती है अर्थात् तिनका जल के ऊपर तैरने लगता है परन्तु जल फिर भी यह सोचकर कि यह मेरा ही पाला-पोसा हुआ है, उसे डुबोता नहीं। अर्थात् जल स्वयं तिनके को सींच-सींचकर उसे जीवन देता है परन्तु वही तिनका जब धृष्ट हो उसके सिर पर चढ़ बैठता है तो जल यह सोचकर कि मैंने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया है, उसकी उस धृष्टता को क्षमा कर उसे डुबाता नहीं। भाव यह है कि जीव ईश्वर के प्रति कितना ही बड़ा अपराध क्यों न करे परन्तु ईश्वर उसे अपनी ही सृष्टि समझ उसका अपकार नहीं करता।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने अपनी दीनता और अपने आराध्य राम की महत्ता का बड़ा प्रभावशाली चित्रण किया है। सेव्य (आराध्य) की महत्ता का चित्रण उतना ही आवश्यक है, जितना कि सेवक (भक्त) की दीनता दिखाना। परन्तु यहाँ यह दृष्टव्य है कि तुलसी की दीनता केवल राम के ही सामने है, लोक के सामने तुलसी केवल विनीत रहते हैं, न कि दीन।

(२) तुलसी का अपराध या अशिष्टता यह है कि वे राम का भक्त बनने का

दम्भ कर रहे हैं। यही वड़ा अपराध और अशिष्टता है। पाखण्ड ही सबसे भयंकर अपराध है।

(३) 'पाथ-माथे चढ़े तृन'—में दम्भी का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इस उदाहरण द्वारा तुलसी ने अपनी दीनता और राम की भक्त-वत्सलता का वड़ा ही मार्मिक, विशद और यथार्थ चित्रण किया है। तिनका जल से ही उत्पन्न होता है और समय पाकर जल के माथे अर्थात् ऊपर चढ़ जाता है, तैरने लगता है। जन्म-दाता के मस्तक पर चढ़ना घोर नीचता है। इसी कारण यहाँ 'नीचो' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[७३]

जागु-जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥१॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे।
बूड्यो मृग-बारि, खायो जेवरी को साँप रे ॥२॥
कहैं वेद बुध तू तो बूझ मन माँहि रे।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाँहि रे ॥३॥
तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहुँ ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥४॥

शब्दार्थ—जड़=विवेकहीन, जिसमें चैतन्य शक्ति जाग्रत न हो। जग-जामिनी=संसाररूपी रात्रि। जीहै=देख, देखता है। देह-गेह-नेह=शरीर और घर का मोह। संसृति=संसार। मृग-बारि=मृगजल, मृगतृष्णा। जेवरी=रस्सी। बुध=विद्वान्, पण्डित। ताय=ताप। ताप=जलन। सुचि=पवित्र।

भावार्थ—तुलसीदास विवेकहीन जीव को, जिसमें चैतन्य शक्ति जाग्रत नहीं हुई है, सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं—

हे मूर्ख जीव ! जाग ! जाग ! (क्योंकि तू विवेकहीन होने के कारण अपना हानि-लाभ नहीं देखता और सांसारिक मोहाकर्षण में पड़ वहुत समय से सो रहा है अर्थात् सांसारिक मोहों में ग्रस्त अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ है।) तू इस संसार रूपी रात्रि को देख अर्थात् यह जगत रात्रि के समान अन्धकारमय है। तू जड़ है क्योंकि तुझमें चैतन्य शक्ति जाग्रत नहीं हुई है। अव तू चैतन्य हो जा और इस संसार की वास्तविकता को समझ ले। इस शरीर तथा घर के प्रति मोह को तू वैसा ही अस्थायी और क्षणिक समझ, जैसे कि वादलों के बीच चमक उठने वाली बिजली क्षणमात्र के लिए अपना रूप दिखाकर पुनः गायब हो जाती है। अर्थात् ये सारे सांसारिक

सुख मेघों में चमकने वाली बिजली के समान असंख्य आकर्षणों से भरे प्रतीत होते हुए भी क्षणिक और नाशवान हैं।

तू सुप्तावस्था में विभिन्न प्रकार के स्वप्न देखता हुआ इस संसार के कष्टों को भोगता रहता है। अर्थात् सोते समय तू स्वप्न में इस मिथ्या संसार के अनेक प्रकार के आकर्षण-विकर्षण से भरे रूपों के जाल में फँस कष्ट पाता रहता है। तेरे मन के भीतर स्थित सांसारिक आकर्षण अपने रूप दिखा-दिखाकर तुझे सदैव दुख देते रहते हैं। तू बुरे-बुरे स्वप्न देखकर कष्ट पाता रहता है। अर्थात् स्वप्न में भी तुझे चैन नहीं मिलता। कभी तू मृगतृष्णा के जल में गोते खाता है, कभी तुझे रस्सी का साँप डस लेता है। अर्थात् कभी तू मृगतृष्णा के समान झूठे सांसारिक सुखों को देख उन्हें प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयास करता है और कभी संसार के दुखों को, जो रस्सी के सर्प के समान वास्तव में मिथ्या होते हैं, सहता है। अर्थात् तेरे भ्रम के कारण ही सांसारिक सुख-दुख मृगतृष्णा के जल और रस्सी के सर्प के समान तुझे सत्य प्रतीत होते हैं जबकि वास्तव में वे हैं असत्य अर्थात् भ्रममात्र ही। भाव यह है कि जैसे सोते समय स्वप्न सत्य प्रतीत होते हैं और जागने पर उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव जब तक मोहनिद्रा में पड़ा रहता है तब तक उसे ये सांसारिक सुख-दुख सत्य प्रतीत होते रहते हैं और ज्ञान-दृष्टि उपलब्ध होते ही यह संसार उसे मिथ्या प्रतीत होने लगता है।

चारों वेद और विद्वान् कहते हैं कि हे मन ! तू इस बात को अपने मन में अच्छी तरह से समझ ले। अथवा वेद और विद्वान् संसार को मिथ्या कहते हैं और तू इस बात को भली-भाँति समझ ले कि स्वप्न में भोगे गये दुख और दोष जागने पर ही दूर होते हैं, अन्यथा नहीं होते। अर्थात् स्वप्न से जागने पर ही मनुष्य स्वप्न में भोगे गये दुख और दोषों से मुक्त हो पाता है। यदि वह सोता ही रहे तो उसका इन कष्टों से मुक्त होना असम्भव है। भाव यह कि जीव चैतन्य होने पर ही सांसारिक दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।

तुलसीदास कहते हैं कि जागने पर ही इस संसार के तीनों ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) नष्ट होते हैं अर्थात् ज्ञानोदय होते ही जीव त्रिविध तापों से मुक्ति पाता है, सारे सांसारिक रागद्वेषादि के बन्धनों से मुक्त हो पूर्ण निष्काम बन जाता है। और ऐसा हो जाने पर ही जीव के मन में निष्कपट भाव से राम-नाम के प्रति पवित्र प्रेम उत्पन्न होता है। भाव यह है कि सांसारिक माया-मोह में ग्रस्त रहने पर राम-भक्ति की प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। राम-भक्ति तभी प्राप्त होती है जब जीव राग-द्वेषादि के बन्धनों से मुक्त हो पूर्ण निष्काम हो उठता है।

टिप्पणी—(१) इसमें 'सांगरूपक' है।

(२) कवि ने वेदान्त के दृष्टान्त—'मृगजल', 'जेबरी का साँप'— देकर संसार के मिथ्यात्व को प्रमाणित किया है।

(३) भावना शुद्ध अद्वैतवादी है। 'मायावाद' का आरोप किया गया है किन्तु साथ ही अद्वैतवादी सिद्धान्त के विपरीत यह बात भी कही गई है कि 'आत्म-बोध' होने पर ही राम-भक्ति की प्राप्ति सम्भव है।

(४) 'जग-जामिनी'—यह संसार रात्रि के समान अन्धकारपूर्ण अर्थात् दुखों से भरा हुआ है। इसमें कभी-कभी सुख की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु ये सांसारिक सुख मेघों में चमकने वाली बिजली के समान क्षणिक और असंख्य आकर्षण रखने वाले हैं। रात्रि का अन्धकार मेघों के कारण अधिक बढ़ता है। शरीर और घर के मोह में फँसे रहने पर अज्ञान भी अधिक बढ़ता है। बिजली के समान ये सांसारिक आनन्द क्षणिक होते हैं। बिजली के क्षणिक प्रकाश में जगत की वस्तुएँ सुन्दर दिखाई देती हैं, उससे क्षणिक आनन्द का अनुभव होता है, अन्धकार में जगत की वस्तुओं का आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। बिजली की चमक के उपरान्त अन्धकार और भी अधिक सघन प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार क्षणिक सुखों का उपभोग कर लेने के उपरान्त उनका अभाव जीव को और भी अधिक कष्ट देने लगता है। बिजली की चमक आँखों में समा जाती है, उसी प्रकार माया का आनन्द है, फिर उसे कुछ भी नहीं दिखाई देता। भाव यह है कि अविद्या अर्थात् मोहजनित अज्ञान ही संसार रूपी रात्रि है और उसी के जाल में पड़ा हुआ जीव दुख उठाता रहता है। 'रामचरित मानस' में भी यही बात इस प्रकार कही गई है—

'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा॥'

(५) 'ताप तिहूँ'—जगत के त्रिगुण तापों से विमुख होना ही जीव का जाग्रत अर्थात् चैतन्यशील होना है। अपने को यह 'शरीर' मान लेना और शारीरिक सुख को आत्मिक सुख मान लेना ही जीव की जड़ता अर्थात् अज्ञान है।

(६) यहाँ रात्रि अन्धकार और अज्ञान की प्रतीक है जिसमें सुख नहीं मिलता। जीव का सोना ही जगत में लिप्त रहना है। वह निद्रा में स्वप्न देखता है जो क्षणिक, काल्पनिक और असत्य होते हैं। अर्थात् जीव माया में लिप्त अज्ञानावस्था में पड़ा रहता है।

(७) दार्शनिक दृष्टि से यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है।

राग विभास

[७४]

जानकीस की कृपा जगावती सुजान-जीव, जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्रीहरे।
करि बिचार, तजि बिकार, भजु उदार रामचन्द्र, भद्रसिंधु दीनबंधु, बेद बदत रे।१।
मोह माय कुहू-निसा काल बिपुल सोयो[1] खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जो परे।
अब प्रभात प्रगट ग्यान-भानु के प्रकास, वासना[2], सरागमोहद्वेष निबिड़तमटरे।२।

भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधान-काम-मोह-लोभ-छोभ-निकर अपडरे।
देखत रघुबर-प्रताप, बीते संताप पाप-ताप त्रिविध प्रेम-आप दूर ही करे।३।
स्रवन सुनि गिरा गँभीर,जागे अति धीर बीर,बर बिराग तोष सकल संत आदरे।
तुलसिदासप्रभुकृपालु,निरखि जीवजनबिहालु,भंज्यौभव-जालपरम मंगलाचरे।४।

शब्दार्थ—सुजान जीव=ज्ञानी जन। मूढ़ताऽनुराग=मूढ़ता+अनुराग। भद्रसिंधु=कल्याण के सागर। ब्रदत=कहते हैं। मोह=अविद्या। माय=माया। कुहूनिसा=अमावस्या की रात्रि। काल=समय। विपुल=अधिक। अनूप रूप=आत्म स्वरूप। सराग=राग सहित। निबिड़=सघन। टरे=दूर हो। जातुधान=रात्रिचर, राक्षस। निकर=समूह। अपडरे=स्वयं डरकर। प्रेम-आप=प्रेम रूपी जल। तोप=सन्तोष। आदरे=आदर किया। बिहालु=व्याकुल। मंगलाचरे=मंगल+आचरे=आनन्द दिया, आचरण किया।

पाठान्तर—[१] 'बिपुल ब्याल सोयो खोयो।' [२] 'बास नास राग।'

भावार्थ—तुलसीदास अपने मन को सम्बोधन कर रहे हैं कि जानकी पति राम की कृपा ज्ञानी जनों को जगा देती है। अर्थात् राम की कृपा से ज्ञानी-जनों की मोह-निद्रा भंग हो जाती है। इसलिए हे मन! तू अपनी जड़ता को त्याग और भगवान राम से प्रेम कर। तू सत्-असत् पर विवेकपूर्वक विचार कर देख कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। अपने सारे विकारों को दूर कर उदार हृदय रामचन्द्र का भजन कर। वेदों का कहना है कि राम कल्याण के सागर और दीनों के बन्धु हैं। तू मोह-मायारूपी अमावस्या की सघन कालरूपी काली रात्रि में बहुत समय से पड़ा हुआ सो रहा है। अर्थात् यह मोह-माया, जिसके बन्धन में तू पड़ा हुआ है, काल के समान भयंकर है। तूने सोते-सोते मधुर-मादक स्वप्न देख-देखकर अपने आत्म-ज्ञान-रूपी अमूल्य रूप को खो दिया है। अर्थात् तू सांसारिक भोग-विलासों की, जो स्वप्न के समान अवास्तविक होते हैं, कल्पना कर-कर अपने आत्म-ज्ञान को भूल गया है। अब प्रभात हो गया है, ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने से वासना, राग, मोह, द्वेष आदि का सघन अन्धकार दूर हो चुका है। अर्थात् आत्म-ज्ञान होने से वासना, मोह आदि कलुषित भावनाएँ दूर हो गयी हैं।

ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होते ही अहंकार, सम्मान की भावना आदि चोर रूपी वासनाएँ भाग खड़ी हुई हैं और काम, क्रोध, लोभ रूपी राक्षसों के समूह स्वयं ही डरकर पलायन कर गये हैं। राम का प्रचण्ड प्रताप देखते ही दुख और पाप समाप्त हो गये हैं और तीनों प्रकार के सांसारिक तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) को राम के प्रेमरूपी जल ने दूर कर दिया है। (यहाँ मोह-माया अमावस्या की रात्रि, वासना आदि रात्रि का सघन अन्धकार, अहंकार आदि रात्रि में विचरण करने वाले चोर, काम आदि राक्षस हैं) इस गम्भीर वाणी को कानों से सुनकर कि—'जानकीस

की कृपा जगावती'—जो बड़े-बड़े धीर और वीर अर्थात् साधु-सन्त थे, जाग उठे हैं और सुन्दर वैराग्य, सन्तोष आदि शुभ कामनाओं का आदर करने लगे हैं। अर्थात् उनकी मोह-निद्रा भंग हो गयी है और वे वैराग्य और सन्तोष आदि भावनाओं में निमग्न रहने लगे हैं। तुलसीदास कहते हैं कि कृपालु भगवान राम ने जीव और भक्तों को व्याकुल देख इस संसार रूपी जाल को नष्ट कर सब का मंगल किया है। अर्थात् राम ने मोह-माया को दूर कर संसार में मंगल की वर्षा की है।

टिप्पणी—(१) तुलसीदास भगवत्कृपा से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव मानते हैं, न कि पुरुषार्थ अर्थात् ज्ञान द्वारा। इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति को सर्वोपरि ठहराते हैं। जीव केवल भगवत्कृपा से ही मोह-निद्रा से मुक्ति पाता है। राम की कृपा ही प्रसुप्त जीव को सचेत कर सकती है। और राम कृपालु हैं इसलिए जीव पर अवश्य कृपा करेंगे। यही तुलसी की भक्ति का मूलाधार है।

(२) भव-जाल से मुक्त हो जाने पर जीव को पराभक्ति और परमानन्द लाभ होता है।

राग ललित

[७५]

खोटो खरो रावरो हौं, रावरे सों झूठ क्यों कहौंगो, जानो सबही के मन की।
करम बचन हिये कहौं न कपट किये,ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे,सन की ।।१।।
दूसरो भरोसो नाहिं, बासना उपासना को,बासव बिरंचि,सुर-नर,मुनिगन की।
स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई[१],काहू तो नपीर रघुबीरदीन जानकी।२
साँप सभा साबर लबार भये देव दिव्य,दुसह साँसति कीजै आगे ही या तनकी।
साँचे परौं पाँऊ पान,पंचनमें पन प्रमान,तुलसी-चातक आस रामस्याम घनकी।३।

शब्दार्थ—खोटो खरो=बुरा-भला। रावरो=आपका, तुम्हारा। बासव=इन्द्र। लेवा देई=लेन-देन। साबर=साँप को पकड़ने का मंत्र जानने वाला। लबार=झूठा। साँसति=कष्ट। आगे ही=अपने ही सामने। पान=पान का बीड़ा। परौं=प्रमाणित हो जाऊँ। बासना=इच्छा।

पाठान्तर—[१]'मेरे हाथ सों न'।

भावार्थ—तुलसीदास राम से कहते हैं कि मैं बुरा-भला जैसा भी हूँ, सो तुम्हारा ही हूँ। मैं तुमसे झूठी बात क्यों कहूँगा क्योंकि तुम तो अन्तर्यामी हो, सबके मन की बात जानते हो। मैं यह बात मन में कपट रखकर नहीं बल्कि कर्म, वचन और हृदय से कह रहा हूँ कि मैंने तुम्हारा बनने की ऐसी पक्की हठ ठान रखी है जैसे सन की रस्सी में लगी गाँठ पानी पड़ने से और भी अधिक पक्की हो जाती है। अर्थात् जैसे वह गाँठ नहीं खुल सकती उसी प्रकार मैं तुम्हारी सेवा से मुख नहीं मोड़

सकता । मुझे किसी भी दूसरे देवी-देवता का भरोसा नहीं है, और न मुझे इन्द्र, ब्रह्मा देवता, मनुष्य और मुनियों की उपासना करने की ही इच्छा है, क्योंकि ये सब मतलब के यार हैं । अर्थात् जब तक इनकी खुशामद करता रहूँगा तब तक ये मुझे अपनाये रखेंगे और खुशामद बन्द कर देने से नाराज हो तकलीफ देने लगेंगे । ऐसी स्थिति में मेरी इनके साथ कैसे पट सकती है । जब मैं इन हाथी जैसे भारी देवताओं की जन्म-भर सेवा करूँगा तब ये, जैसे कुत्ते को एक टुकड़ा फेंक देते हैं, वैसा ही तुच्छ फल मुझे देंगे । अर्थात् मुझे सांसारिक धन-धान्य से सम्पन्न कर देंगे । (परन्तु यह सब कुछ तुम्हारी भक्ति की तुलना में अत्यन्त तुच्छ और नगण्य है ।) हे राम ! इनमें से किसी के भी तो मन में गरीबों के प्रति अपनेपन की वह भावना नहीं है जैसी कि तुम में है । भाव यह है कि मेरे और इन देवताओं के बीच लेन-देन का वही सम्बन्ध रहेगा जो एक हाथी और कुत्ते के बीच लेन-देन का हो सकता है । हाथी अपनी शक्ति के घमण्ड में कुत्ते को सदैव तुच्छ और त्याज्य समझता रहता है और उसके भौंकने की कभी भी परवाह नहीं करता । साथ ही इन दोनों में स्वाभाविक शत्रुता है । ऐसी स्थिति में इन हाथी जैसे अहंकारी देवताओं के साथ मुझ जैसे निरीह की नहीं पट सकती ।

ये सभी दिव्य देवता गरीबों का उद्धार करने में उसी प्रकार झूठे साबित हुए हैं जैसे कि साँपों की सभा, अर्थात् झुण्ड में साबर मन्त्र (सर्प पकड़ने का मन्त्र) जानने का ढोंग करने वाले झूठे की दशा होती है । अर्थात् वह साबर मन्त्र तो जानता नहीं और साँपों के बीच पहुँच जाता है । ऐसे ही गरीबों का उद्धार करने का दम्भ करने वाले ये सारे देवता झूठे साबित हुए हैं । (इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया गया है—हे देव ! आप तो सर्वज्ञ हैं, मेरे इस शरीर को अपने ही आगे ऐसी यातना दीजिए, जैसे साँप की सभा में झूठे सँपेरे की दुर्गति होती है, अर्थात् साँप उसे काट खाता है और वह मर जाता है ।) यदि मैं भी इन झूठों की तरह झूठ बोल रहा हूँ तो तुम अपने सामने ही मेरे इस शरीर की उस झूठे सँपेरे के समान यातना देकर दुर्गति करो । और यदि मैं सच्चा प्रमाणित हो जाऊँ; अर्थात् यह बात सत्य सिद्ध हो जाय कि मैं तुम्हारा सेवक हूँ तो पंचों के बीच मुझे प्रमाण-स्वरूप इस सच्चाई का एक बीड़ा मिल जाना चाहिए; अर्थात् मैं तुम्हारा भक्त स्वीकार कर लिया जाऊँ । मुझ तुलसी रूपी चातक को तो एक राम रूपी घनश्याम की ही आशा है । अर्थात् चातक जैसे स्वाति बूँद के लिए केवल श्यामघन की ओर टकटकी लगाये रहता है उसी प्रकार मैं तुम्हारी भक्ति पाने की आशा में केवल तुम्हारी ओर ही टकटकी लगाये रहता हूँ ।

टिप्पणी––(१) इस पद में गोस्वामी जी ने जीवन के सामान्य उपमान लेकर अपनी अनन्यता, निष्कपटता और दैन्य-भावना को मनोरम, हृदयग्राही अभिव्यक्ति दी है ।

(२) 'ऐसी हठ········सन की'—सन की रस्सी जितनी गीली होती जाती है उतनी ही कड़ी होती जाती है । राम की जितनी भक्ति की जाय उनके प्रति स्नेह अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है ।

(३) 'स्वारथ के साथी' से तुलसी उस घटना की ओर संकेत कर रहे हैं जब उन्हें काशी के पंडितों ने जाति से निकाल दिया था और किसी भी देवी-देवता ने उनकी सहायता नहीं की थी ।

(४) 'साँप सभा·········भए' में कहावत और मुहावरों का प्रयोग द्रष्टव्य है ।

[७६]

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहू कहत हौं ।
रोटी लूगा नीके राखै, आगेहू की बेद भाखै,
भलो ह्वैहै तेरो ताते आनँद लहत हौं ॥१॥
बाँध्यो हौं करम जड़ गरब निगड़ गूढ़,
सुनत दुसह हौं तौ साँसति सहत हौं ।
आरत-अनाथ-नाथ कौसलपाल कृपाल,
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं ॥२॥
बूझ्यौ ज्योंही, कह्यो मैंहूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं ।
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं ॥३॥
लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं ।
तुलसी अकाज काज रामही के रीझे खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥४॥

शब्दार्थ—द्वै=दो अक्षर । हौं=मैं । हौं=हूँ । लूगा=कपड़ा । नीके राखै =अच्छी तरह रखने पर । आगेहू की=भविष्य की । ताते=इससे, इसलिए । लहत =प्राप्त करता हूँ । गरब=गर्व, अभिमान । निगड़=बेड़ी । गूढ़=मजबूत । सुनत =सुनते ही । साँसति=कष्ट । आरत=आर्त्त, दुखी । दुरित=पाप । चेरो= सेवक ।मींजो=थपथपाई । बिरद बहत हौं=बाना, वेश धारण किये रहता हूँ, यश धारण करता हूँ । बिरद=यश । पोच=नीच । बरेखी=सगाई । अकाज-काज= बिगड़ना-बनाना, बुरा-भला होना । प्रतीति=विश्वास ।

भावार्थ—तुलसीदास आत्म-परिचय दे रहे हैं कि—

मैं राम का गुलाम (सेवक) हूँ, राम ने अर्थात् गुरु रूप राम ने मेरा नाम

'रामबोला' रखा है। मेरा काम केवल यही है कि कभी-कभी 'राम' नाम के दो अक्षरों का उच्चारण कर देता हूँ। वे मुझे रोटी-कपड़ा देते हैं और अच्छी तरह से रखते हैं। यह तो हुआ इस लोक अर्थात् इस जीवन का लाभ। और परलोक में इस काम के करने से मुझे क्या लाभ होगा, इसके सम्बन्ध में वेदों का कथन है कि ऐसा करने से तेरा भला होगा। यही सोच-सोचकर मैं परम आनन्द प्राप्त करता रहता हूँ। भाव यह है कि राम-नाम लेने से मेरे दोनों लोक सुधर जायेंगे। (राम का का गुलाम बनने से पहले मेरी यह दशा थी कि) जड़ कर्मों ने मुझे अभिमान रूपी पक्की बेड़ियों से कस रखा था अर्थात् मैं सांसारिक कर्म करके ही अपने कृतित्व पर अभिमान से फूला फिरता था। परन्तु जब दुखी और अनाथों के स्वामी कोशलराज कृपालु राम ने यह सुना कि मैं असह्य कष्टों के जाल में पडा हुआ भयंकर दुख उठा रहा हूँ तो उन्होंने मुझे (सचमुच) पापों की ज्वाला में दग्ध होता हुआ देख कर्म-बन्धन से छुड़ा लिया।

पापों के जाल से छुड़ा लेने के उपरान्त जैसे ही मुझसे यह पूछा कि तू कौन है ? तो मैंने उत्तर दिया कि—हे नाथ ! मैं (तुलसीदास) हूँ। मैं तुम्हारा दास बनना चाहता हूँ। मेरा इस संसार में कोई भी नहीं है। मैं तुम्हारे चरणों की शरण में आना चाहता हूँ। यह सुनकर गुरु रूप राम ने अपने पास बुलाकर मेरी पीठ थपथपायी अर्थात् दिलासा दी और हाथ पकड़ कर मुझे अपना लिया। तब से मैं राम-भक्तों को सुख देने वाला यह वेश—वैष्णव वेश—धारण किये सदैव घूमता रहता हूँ। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि—तब से मैं राम के इस यश का प्रचार करता फिरता हूँ कि राम अपने सेवकों को सदैव सुख से रखते हैं।) अब लोग भले ही यह कहते रहें कि यह नीच है अर्थात् राम की गुलामी करता है, परन्तु मुझे इस बात का तनिक भी सोच या संकोच नहीं हैं, क्योंकि अब न मुझे किसी के साथ सगाई करनी है और न मैं जाति-पाँति में शामिल होना चाहता हूँ। (क्योंकि मैं तो अब सारे सांसारिक बन्धन और सम्बन्ध तोड़कर राम का गुलाम बन गया हूँ।) अब तो मेरा बुरा-भला राम के प्रसन्न या अप्रसन्न होने पर ही निर्भर है। परन्तु यह सोच कर मैं मगन रहता हूँ कि मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि उनके चरणों में मेरा प्रेम सदैव एकरस बना रहेगा।

टिप्पणी—(१) 'तुलसी अकाज काज·······खीझे' में क्रमालंकार है।

(२) 'रोटी लूगा·······लहत हौं' में उपलक्षणा पद्धति है। किसी विशाल भावना को लेकर उसके एक लक्षण को लेना 'उपलक्षणा पद्धति' कहलाता है।

(३) यह पद संक्षेप में तुलसी के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालता है। उनका पहले 'रामबोला' नाम था। वैष्णव बन जाने पर जाति वालों ने उनका सामाजिक बहिष्कार कर रखा था।

'कवितावली' की एक पंक्ति भी इसी बात की पुष्टि करती है—

काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ ।
'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को, जाके रुचै सो कहो कछु कोऊ ॥

[७७]

जानकी-जीवन, जग-जीवन, जगत-हित,
जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम ।
सरद-बिधु-बदन, सुखसील, श्रीसदन,
सहज सुन्दर तनु, सोभा अगनित काम ॥१॥
जग-सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत,
सबको दाहिनो, दीनबन्धु, काहू को न बाम ।
आरतिहरन, सरनद, अतुलित दानि,
प्रनतपाल, कृपालु, पतित-पावन नाम ॥२॥
सकल-बिस्व-बन्दित, सकल-सुर-सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरेई गुनग्राम ।
इहै जानिकै तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ॥३॥

शब्दार्थ—सरद-बिधु-बदन=शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्र के समान मुख । श्रीसदन =लक्ष्मी-निवास । काम=कामदेव । सुहित=हितैषी । दाहिनो=सहायक । बाम= खिलाफ, शत्रु । सरनद=शरण देने वाले । आगम=शास्त्र । निगम=वेद । रावरेई =तुम्हारे ही । न्यारो=अलग । गनिबो=गिनोगे । गने=गिने ।

भावार्थ—हे राम ! तुम जानकी के जीवन, संसार के जीवन दाता और हितकारी, संसार के स्वामी, रघुकुल के नाथ और कमल-नयन हो । तुम्हारा सुख शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर है । तुम स्वभाव से ही सबको सुख देने वाले और लक्ष्मी के भण्डार हो । अर्थात् लक्ष्मी सदैव तुम्हारे पास रहती है । तुम्हारा शरीर स्वाभाविक रूप से सुन्दर है और उसकी शोभा अगणित कामदेवों के समान है । तुम जगत के पिता, माता, गुरु, हितकारी और मित्र हो । तुम सब के दाहिने रहने वाले; अर्थात् सहायक, दीनों के बन्धु हो तथा किसी के भी शत्रु नहीं हो । तुम दुख दूर करने वाले, सबको शरण देने वाले, अद्वितीय दानी, शरण में आये भक्तों का पालन करने वाले, कृपालु हो । तुम्हारा नाम पतित-पावन अर्थात् पापियों का उद्धार करने वाला है । भाव यह है कि तुम्हारा नाम लेने मात्र से ही पापियों का उद्धार हो जाता है ।

सारा विश्व तुम्हारी वन्दना करता है, सारे देवता तुम्हारी सेवा करते हैं,

वेद और शास्त्र—सब तुम्हारे ही गुण गाते रहते हैं। यही जानकर तुलसी तुम्हारा सेवक बना है। अब यह तुम्हारी मर्जी पर है कि इसकी गणना अपने उन गरीब गुलामों में करोगे (जिन्हें तुमने अपनाया है) या इसे उस सूची से अलग कर दोगे। भाव यह है कि तुम मुझे अपने सेवकों में गिनोगे या दुत्कार कर दूर दोगे।

टिप्पणी—(१)'जग-सुपिता..........सुमीत'—यह पंक्ति संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव' का अनुवाद प्रतीत होती है।

(२) वियोगी हरि ने अन्तिम पंक्ति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"स्वर्गीय पंडित रामेश्वर भट्ट जी और श्री बैजनाथ जी ने इसका यह अर्थ किया है कि—'अलग अर्थात् बड़े-बड़े हनुमान आदि सेवकों में।' " परन्तु वियोगी हरि की यह टिप्पणी गलत है। भट्टजी ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—"यही जानकर तुलसी तुम्हारा भक्त हुआ है, इसे अलग कर दोगे अर्थात् अपनी सेवा में न रखोगे या जहाँ (केवट आदि) गरीब गुलाम गिन रखे हैं, उनमें गिनोगे।" भट्टजी का यह अर्थ पूर्ण शुद्ध और सार्थक है। स्वयं वियोगी हरि ने यही अर्थ किया है। वियोगी हरि प्रायः सर्वत्र भट्टजी की टीका को ही आधार बनाकर चले हैं।

राग टोड़ी

[७८]

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ ॥१॥
सुर नर मुनि असुर नाग साहब तौ घनेरे।
पै तौ-लौं जौ-लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥२॥
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदत बेद बदिति चारी।
आदि अंत मध्य राम साहबी तिहारी ॥३॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजसु जाचन जन आयो ॥४॥
पाहन, पसु, बिटप, बिहँग अपने करि लीन्हें।
महाराज दसरथ के ! रंक राय कीन्हें ॥५॥
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु ! तुलसिदास मेरो ॥६॥

शब्दार्थ—साऊ=उसे ही। साहब=स्वामी। घनेरे=बहुत, अनेक। पै=

परन्तु । तौ-लौं=तब तक । बदति=कहते हैं । साहबी=स्वामित्व । माँगनो=माँगता, भिखारी । जाचन=याचना करने, माँगने । रंक=भिखारी । राय=राजा । निवाज=निहाल कर देने वाला । वारक=एक बार ।

भावार्थ—हे राम ! गरीबों पर दया करने वाला और दानी तेरे सिवाय अन्य कोई दूसरा नहीं है । जिससे भी मैं अपनी दीनता का रोना रोता हूँ, उसे ही स्वयं भी दीन पाता हूँ । अर्थात् जो स्वयं दीन है, वह दूसरे की दीनता कैसे दूर कर सकता है । देवता, मनुष्य, मुनि, असुर, नाग (सर्प) आदि स्वामी तो बहुत से हैं परन्तु ये तभी तक स्वामी बने रहते हैं जब तक कि हे राम ! तू अपनी नजर टेढ़ी नहीं करता । अर्थात् तेरी नजर टेढ़ी होते ही ये भी दीनों की ओर से अपनी नजर फिरा लेते हैं । अर्थात् फिर स्वामी नहीं रहते, क्योंकि इन सबका स्वामीपन तो तेरी कृपा पर ही निर्भर रहता है । भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों तथा पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल—तीनों लोकों में सर्वत्र यह बात विदित (ज्ञात) है, और चारों वेद भी यही बात कहते हैं कि हे राम ! आदि, मध्य और अन्त में तेरी ही सर्वत्र और सदैव प्रभुता रहती है ।

तुझसे भीख माँगकर फिर कोई भिखारी नहीं कहलाता । अर्थात् तू उसे इतना अधिक दे देता है कि फिर उसे किसी से माँगने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । तेरा ऐसा ही स्वभाव, शील और यश सुनकर यह दास (तुलसी) तुझसे भीख माँगने आया है । तूने पत्थर (अहिल्या), पशु (रीछ, बन्दर आदि), विटप (यमलार्जुन नामक वृक्ष) और पक्षी (जटायु) तक को अपना लिया; अर्थात् उन्हें अपनाकर मुक्ति प्रदान कर दी । हे महाराज दशरथ के पुत्र ! तूने निर्धनों को राजा बना दिया । (सुदामा जैसे दरिद्र को राजा बना दिया ।) हे कृपालु ! तू गरीबों को शरण देने वाला है और मैं तेरा गरीब भक्त हूँ । एक बार केवल इतना कह दे कि तुलसीदास मेरा है ।

टिप्पणी—(१) विटप—एक बार कुबेर के पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव ने नारद का मजाक उड़ाया । क्रुद्ध हो नारद ने उन्हें शाप दे दिया कि 'तुम बड़े जड़ हो, इसलिए जाकर वृक्ष बन जाओ ।' यही दोनों गोकुल में अर्जुन के उन दो वृक्षों के रूप में उत्पन्न हुए जिनसे एक बार यशोदा ने नाराज होकर कृष्ण को बाँध दिया था । कृष्ण ने अपने पैर बढ़ाकर दोनों वृक्षों को गिरा दिया । वृक्ष गिरते ही नलकूबर और मणिग्रीव शाप-मुक्त हो अपने दिव्य यक्ष शरीर को प्राप्त हो गये । यही दोनों वृक्ष पौराणिक कथाओं में 'यमलार्जुन' के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

(२) इस पद में तुलसी की दीनता, विनयशीलता और याचक भावना अनुपम और गहन है ।

(३) 'गरीब', 'निवाज' आदि शब्दों पर फारसी प्रभाव स्पष्ट है ।

[७९]

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारी ॥१॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥२॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितू मेरो ॥३॥
तोहि-मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥४॥

शब्दार्थ—आरत=दुखी। आरतिहर=दुख दूर करने वाला। भावै=अच्छा लगे। ज्यों-त्यों=जैसे बने तैसे।

भावार्थ—हे राम ! तू दयालु है और मैं दीन हु, तू दानी है तो मैं भिखारी हूँ। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ तो पाप-समूहों का विनाश करने वाला है। हे राम ! तू अनाथों का नाथ है और मेरे समान इस संसार में और कौन-सा दूसरा अनाथ है। मेरे समान कोई दुखी नहीं है और तेरे समान कोई दुखों को दूर करने वाला नहीं है। तू ब्रह्म है और मैं जीव हूँ, तू स्वामी है और मैं तेरा सेवक हूँ। हे राम ! सब तरह से केवल तू ही मेरा पिता, माता, गुरु, सखा और कल्याण करने वाला है। तेरे-मेरे बीच अनेक सम्बन्ध हैं, इनमें से जो तुझे अच्छा लगे उसे स्वीकार कर ले। (मेरे इतना कहने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि) जैसे बने तैसे हे कृपालु ! यह तुलसी तेरे चरणों की शरण प्राप्त कर ले। अर्थात् तू मुझे अपनी शरण में ले ले।

टिप्पणी—(१) तुलसी ने भावना के आधिक्य के कारण इस पद में राम के लिए 'तू' का प्रयोग किया है, जिसके कारण सामीप्य और अनन्यता की भावना तो उद्‌बुद्ध हो उठी है परन्तु कला का ह्रास हुआ है।

(२) इसमें तुलसी ने अपनी लघुता और राम की महत्ता का प्रतिपादन किया है। पद का मूल स्वर बड़ा करुण और प्रभावकारी है। कला के अभाव में भी इसी कारण ऐसे पद हृदय को द्रवित कर देने में पूर्ण समर्थ रहते हैं। अनेक भक्तजनों को प्रायः इस पद को गुनगुनाते हुए सुना जाता है। यही ऐसे पदों की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

[८०]

और काहि माँगिये, को माँगिबो निवारै ?
अभिमतदातार कौन, दुख-दरिद्र दारै ?॥१॥

धरमधाम राम काम-कोटि-रूप रूरो।
साहब सब बिधि सुजान, दान-खंग-सूरो ॥२॥
सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजैं।
कुसमय दसरथ के दानि ! तैं गरीब निवाजैं॥३॥
सेवा बिनु, गुनबिहीन दीनता सुनाये।
जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये ॥४॥
तुलसिदास जाचक रुचि जानि दान दीजै।
रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहि कीजै ॥५॥

शब्दार्थ—निवारै=दूर कर सकता है। अभिमतदातार=मनोवांछित फल देने वाला। टारै=दूर करता है। रूरो=सुन्दर। दान-खंग-सूरो=दानरूपी तलवार का धनी। निसान=नगाड़े। रुचि=इच्छा।

भावार्थ—हे राम ! मैं और किसके आगे माँगने के लिए हाथ फैलाऊँ ? ऐसा कौन है जो मेरे माँगने के इस स्वभाव को सदैव के लिए दूर कर दे; अर्थात् इतना दे दे कि फिर मुझे किसी से माँगने की जरूरत ही न रह जाय ? ऐसा कौन है जो मेरी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर मेरे दुख और दरिद्रता को दूर कर सके ? हे राम ! तू धर्म का स्थान और करोड़ों कामदेवों के रूप से भी अधिक लावण्यमय है, सब तरह से मेरा स्वामी है, चतुर है और दानरूपी तलवार का धनी वीर है अर्थात् बड़ा भारी दानी है। जब किसी के अच्छे दिन होते हैं तो उसके द्वार पर दो दिन नगाड़े बजते हैं परन्तु बुरे दिनों में तो हे दशरथ नन्दन दानी राम ! तू ही एक ऐसा दानी है जो गरीबों को अमित दान दे-देकर उन्हें निहाल कर देता है। भाव यह है कि अच्छे दिन रहने पर तो सभी दूसरों की सहायता करते हैं परन्तु राम ही एक ऐसे दानी हैं जिन्होंने स्वयं अपने बुरे दिनों अर्थात् वनवास के समय केवट, गिद्ध, शबरी, जटायु, सुग्रीव और विभीषण आदि को अपने दान से निहाल कर दिया था। बिना तेरी सेवा किये ही जिस किसी गुणहीन व्यक्ति ने तुझे अपनी दीनता की कहानी सुनायी, उसी को तूने निहाल कर दिया और आज वे लोग चारों ओर उमंग में भरे घूमते दिखाई देते हैं। अर्थात् उन लोगों ने तो बिना राम की सेवा किये ही सब कुछ प्राप्त कर लिया। इसलिए हे राम ! तू अब भिखारी तुलसी की भी इच्छा जान उसे उसका मनचाहा दान देकर निहाल कर दे। मेरी इच्छा तो केवल यही है कि तू स्वयं चन्द्रमा बन जा और मुझे चकोर बना ले। अर्थात् जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी बाँधे देखा करता है उसी प्रकार मैं सदैव तेरे दर्शन करने में अनुरक्त बना रहूँ।

टिप्पणी—(१) तुलसीदास ने राम के लिए 'तू' शब्द का सम्बोधन बहुत कम प्रयुक्त किया है, और जहाँ कहीं भी किया है वहीं तुलसी की कला का ह्रास हुआ है। ऐसे स्थानों पर भावना का आधिक्य रहने के कारण ही कला मलिन पड़

गयी है। यह पद इसका प्रमाण है। 'तू' का प्रयोग सामीप्य और अनन्यता का प्रतीक है।

[८१]

दीनबन्धु सुखसिंधु कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध जुर, करत फिरत बौराई ॥१॥
कबहुँ जोगरत, भोग,निरत सठ, हठ, बियोगी बस-होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई ॥२॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडम्बरत, कबहुँ धर्मरत ग्यानी ॥३॥
कबहुँ देव ! जग धनमय, रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-सन्निपात दारुन दुख, बिनु हरि-कृपा न नासै ॥४॥
संजम जप तप नेम धर्म ब्रत, बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास-भव-रोग रामपद - प्रेम - हीन नहिं जाई ॥५॥

शब्दार्थ—कृपाकर=कृपा के समुद्र ! कारुनीक=भीतर से जो करुणा से पूर्ण है। त्रिविध जुर=तीन प्रकार के ज्वर। बौराई=पागलपन। रंकतर=अत्यधिक दरिद्र। विडम्बरत=पाखंड में डूबा हुआ। भासै=दिखाई देता है। संसृति-सन्निपात=संसार रूपी सन्निपात। भेषज=दवाई, औषधि।

भावार्थ—हे रघुनाथ ! तुम दीनों के बन्धु, सुख के सागर, कृपा के आगार और हृदय में करुणा से पूर्ण हो। हे नाथ सुनो ! मेरा मन तीनों प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक, भौतिक—के ज्वर से जला जा रहा है और पागलों की तरह इधर-उधर फिरता रहता है। अर्थात् मुझे त्रिदोष हो गया है, और त्रिदोष हो जाने से जिस प्रकार सन्निपात में भर मरीज पागल के समान बकने और ऊधम मचाने लगता है, वैसी ही दशा मेरी हो रही है। कभी मेरा यह मन योगाभ्यास करने में निरत रहता है, कभी यह मूर्ख भोग-विलास में डूब जाता है और कभी हठपूर्वक वियोग की ज्वाला के अधीन हो तड़पता रहता है। अर्थात् अपने स्वजनों से अलग हो उनके वियोग में कष्ट पाता रहता है। कभी मोह के चंगुल में फँस नाना प्रकार के विद्रोह करता है। अर्थात् कभी ब्रह्म से वियोग कर माया में लिप्त रहता है और कभी माया से विद्रोह कर ब्रह्म-चिन्तन में लीन हो जाता है। कभी यह मन जिसके प्रति विद्रोह करता है उसी के प्रति अत्यन्त दयालु हो उठता है। अर्थात् कभी भी एक बात पर स्थिर नहीं रहता। कभी दीन, कभी मूर्ख, कभी अत्यधिक दरिद्र और कभी राजाओं के समान अहंकारी बन जाता है। कभी मूर्ख, कभी पंडित, कभी पाखंडी, कभी धार्मिक और कभी ज्ञानी बन जाता है।

हे देव ! कभी जब उसे धन की चाह होती है तो यह सारा संसार उसे धन रूप भासने लगता है, और कभी जब किसी से उसकी लड़ाई हो जाती है तो यह सारा संसार उसे शत्रुरूप दिखाई देने लगता है, और कभी जब उसे कामोद्दीपन होता है तो सारा संसार उसे नारीमय दिखाई देने लगता है। भाव यह है कि यह मन ही बलात् जगत को विभिन्न रूपों में देखने लगता है। अर्थात् यह सब इस मन की चंचलता के ही कारण होता है। इस प्रकार यह मन संसार रूपी सन्निपात में ग्रस्त हो भयंकर दुख उठा रहा है। बिना भगवान की कृपा के उसका यह पागलपन दूर नहीं हो सकता। यद्यपि इस संसार रूपी सन्निपात को दूर करने के लिए संयम, जप, तप, नियम, धर्म, व्रत आदि अनेक प्रकार की औषधियों का विधान किया गया है किन्तु हे राम ! तुलसीदास का यह संसार-रूपी रोग बिना तुम्हारे चरणों में प्रेम किये दूर नहीं हो सकता। अर्थात् राम-चरणों में प्रेम करने से ही संसार रूपी रोग से तुलसी की मुक्ति सम्भव है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सांगरूपक।

(२) इस पद से तुलसी मन की चंचलता का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। मन के द्वन्द्व की चरम सीमा आगे चलकर इस ग्रन्थ के मध्य में धीरे-धीरे अंकित होती गयी है।

(३) तुलसी ने मन की अवस्था का चित्रण व्यक्ति की जगत के प्रति भावना के आधार पर किया है। यह बहुरूपिया चंचल मन जीव को सदैव भटकाता रहता है। मन के इस द्वन्द्व का मूल कारण 'माया' है जिसके दो रूप हैं—आवरण तथा विक्षेप। आवरण रूप में जगत मुक्ति रूप नहीं दिखाई देता, और विक्षेप रूप में सुखदाई चीजें भी दुखदाई प्रतीत होती हैं।

(४) कबीर ने भी मन की इस चंचलता और बहुरूपियेपन का वर्णन किया है। जैसे—

मन के बहुतक रंग हैं, छिन्न-छिन्न बदलै सोय।
एकै रंग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय॥
× × ×
मनके मतै न चालिए, मन के मते अनेक। —आदि

[८२]

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम-जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक-अधिक लपटाई॥१॥
नैन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥२॥
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥३॥

तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप, सुद्धिहेतु स्रुति गावै ।
राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ।।४।।

शब्दार्थ—मल=पाप । वासना=कामना । भे=हुए । बचन=वाणी । पर=पराये, दूसरों के ।

भावार्थ—मोह अर्थात् अज्ञान के कारण उत्पन्न जो अनेक प्रकार के पाप इस शरीर और मन में लगे रहकर जीव को दुखी बनाते रहते हैं, वे करोड़ों प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटते । इसका कारण यह है कि जन्म-जन्मान्तरों से यह चित्त उन्हीं पापों का अभ्यास करने में व्यस्त होता चला आ रहा है, इसलिए उन पापों का मल इस चित्त पर अधिकाधिक लिपटता जाता है । भाव यह है कि यह चित्त पाप करने में आनन्द अनुभव करता है, इसलिए ये पाप इसका पीछा नहीं छोड़ते । पराई स्त्री को देखकर नेत्र मलिन अर्थात् काम-वासना से भर उठते हैं, और मन सदैव विषयों के साथ लगा रहता है, उनमें लिप्त रहता है । हृदय वासना, मन की भावना और अहंकार में डूबा रहने के कारण मलिन हो गया है । इस प्रकार यह जीव अपने सहज-स्वाभाविक सुख (आत्मानन्द) की अनुभूति का त्याग कर सदैव सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसा रहकर दुख पाता रहता है ।

परायी निन्दा सुन-सुनकर कान और दूसरों की बुराई करते-करते वाणी मलिन हो गयी है । अपने स्वामी राम के चरणों का विस्मरण कर देने के कारण ही यह पापों का मल सब तरह से मुझे घेरे रहता है । तुलसीदास कहते हैं कि वेद यह कहते आये हैं कि इन पापों से शुद्धि अथवा मुक्ति व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि करने से होती है, परन्तु असलियत यह है कि बिना राम के चरणों के प्रेमरूपी जल के ये भारी पाप कभी भी पूर्णरूप से नहीं धुल सकते । अर्थात् राम के चरणों में प्रेम करने से ही इन पापों से छुटकारा मिल सकता है ।

टिप्पणी—(१) 'नैन मलिन ·· ·······सुख त्यागे' में तुलसी ने लोकपक्ष पर बल देते हुए पूर्ण सामाजिक मर्यादा की ओर स्पष्ट संकेत दिया है । सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य में लोक-पक्ष पर आधारित सामाजिक मर्यादा का सुन्दर निर्वाह मिलता है ।

(२) 'निज नाथ········बिसराये' में अनन्यता की भावना है ।

(३) 'राम चरन········न पावै'—इसी भावना को तुलसी ने मानस में इस प्रकार व्यक्त किया है—

'रामभक्ति-जल बिनु खगराई । अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई ।।'

(४) 'अधिक-अधिक लपटाई'—मन के मैल को दूर करने के अन्य उपाय करने से मैल अधिकाधिक चढ़ता जाता है, क्योंकि माया का बन्धन प्रगाढ़ होता

जाता है। यह मैल तो राम-भक्ति द्वारा ही दूर हो सकता है। यही बात इस प्रकार कही गयी है--

'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात।'

राग जयतिश्री

[८३]

कछु ह्वै न आय गयो जनम जाय।

अति दुरलभ तन पाइ, कपट तजि, भजे न राम मन बचन काय ॥१॥

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।

जोबन-जुर जुबती-कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥२॥

मध्य बैस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।

राम-बिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ, निसि बासर तयो तिहूँ ताय ॥३॥

सेये नहिं सीतापति-सेवक साधु सुमति भलि भगति भाय।

सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जे चरित रघुबंसराय ॥४॥

अब सोचत मनि-बिनु भुजंग ज्यों, बिकल अंग दले जरा धाय।

सिर धुनि-धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय ॥५॥

जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यौ, ते लजात होत ठाढ़े ठाँय।

तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहिं तर्‌यो गयंद जाके एक नाँय ॥६॥

शब्दार्थ—जाय=व्यर्थ नष्ट हुआ जा रहा है। ह्वै न आय=न बन पड़ा। कांय=शरीर। लरिकाई=लड़कपन, बाल्यावस्था। चाय=प्रसन्नता। जोवन-जुर=यौवनरूपी ज्वर। जुबती-कुपथ्य=युवती रूपी बदपरहेजी। मदनबाय=कामरूपी सन्निपात। बाय=सन्निपात। वनिज=व्यापार। तयो=तप्त, दग्ध हुआ। ताय=ताप। भाय=भाव। जरा=वृद्धावस्था। धाय=दौड़कर। दाय=दावानल। ठाढ़े=खड़े। ठाँय=स्थान। नाँय=नाम। गयंद=हाथी।

भावार्थ--तुलसीदास सांसारिक विषयों में लिप्त बने रहने की अपनी पूर्व-प्रवृत्ति पर पश्चाताप करते हुए कह रहे हैं--

मुझसे कुछ भी न बन पड़ा। मेरा यह जन्म यों ही व्यर्थ बीता जा रहा है। (देवताओं के लिए भी) अत्यन्त दुर्लभ इस मानव शरीर को पाकर भी तूने कपट त्याग कर मन, वचन और शरीर से राम नाम का भजन नहीं किया। बाल्यावस्था में तो चित्त अज्ञान में डूबा रहा और उसी अज्ञानावस्था में लड़कपन बीत गया। उस समय चित्त में अब से चौगुनी अधिक चंचलता और प्रसन्नता छायी रहती थी। इसके उपरान्त जब यौवन रूपी ज्वर चढ़ा तो उसे दूर करने का कोई उपाय न कर युवती

रूपी बदपरहेजी कर बैठा अर्थात् स्त्री के साथ सम्भोग करने में लिप्त रहा। ज्वर की अवस्था में इस बदपरहेजी (कुपथ्य) करने का परिणाम यह निकला कि त्रिदोष का प्रकोप हो गया (वात, पित्त, कफ मिलने से त्रिदोष हो जाता है) और सारे शरीर में कामरूपी वायु भर गयी। अर्थात् जिस प्रकार ज्वर में कुपथ्य कर लेने से त्रिदोष का प्रकोप हो जाता है और रोगी सन्निपात में भर पागल के समान बकने लगता है उसी प्रकार युवावस्था में नारी-सम्भोग करने के कारण काम-वासना शान्त होने के स्थान पर भयंकर रूप से और अधिक बढ़ गयी।

जब बीच की अवस्था अर्थात् युवावस्था बीत जाने पर प्रौढ़ावस्था आयी तो धन पैदा करने में उसे गँवा दिया। धन पैदा करने के लिए खेती, व्यापार आदि नाना प्रकार के उपाय किये। अर्थात् प्रौढ़ावस्था धन कमाने में बीत गयी। परन्तु राम से विमुख रहने के कारण अर्थात् राम-भजन न करने के कारण कभी स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सका। दिन-रात तीनों प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक और भौतिक—में दग्ध होता रहा। न कभी राम-भक्तों, साधुओं और विद्वानों की सुन्दर भक्ति-भाव से भरकर सेवा ही की और न रोमाँचित होकर, प्रसन्न मन से भगवान् राम द्वारा किये गये चरित्रों को सुना और न कभी गाया ही।

अब जबकि वृद्धावस्था दौड़-दौड़कर तेरे सारे अंगों का मर्दन कर तुझे व्याकुल बना रही है अर्थात् वृद्धावस्था के कारण तेरे सारे अंग शिथिल और बेकार हो गये हैं तब तू उस सर्प के समान व्याकुल हो अपना सिर धुन रहा है जिसकी मणि छीन ली गयी हो। अब तू हाथ मल-मलकर पछताता है, सिर धुनता है परन्तु इस असह्य दावाग्नि के समान भयंकर कष्ट देने वाली वृद्धावस्था से तेरी रक्षा करने के लिए कोई भी मित्र और हितैषी तेरे पास नहीं आता जिनके लिए तूने अपना परलोक बिगाड़ दिया था। अर्थात् जिन स्त्री, पुत्र, कुटुम्बीजनों के हित के लिए तूने राम का भजन न कर अनेक प्रकार के पाप किये थे, वे अब तेरे पास खड़े होने तक में लज्जित होते हैं। अर्थात् कोई तेरी बात तक नहीं पूछता। तुलसीदास कहते हैं कि हे मन ! इसलिए तू अब भी भगवान् राम का स्मरण कर ले, जिनका केवल एक बार नाम लेने मात्र से गजेन्द्र का उद्धार हो गया था।

टिप्पणी—(१) 'तरयो गयंद'—एक बार एक गजेन्द्र (बड़ा बलवान हाथी) हथिनियों सहित जल में क्रीड़ा कर रहा था कि एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया और जल के भीतर खींचने लगा। हाथी ने पूरा जोर लगाया परन्तु अपने को मुक्त न कर सका। अन्त में उसने 'हरे' कहकर भगवान् को पुकारा। भगवान् विष्णु तुरन्त, गरुड़ को छोड़, पैदल वहाँ भागे आये और सुदर्शन चक्र से मगर का वध कर गजेन्द्र की रक्षा की।

(२) इसी पद के भावों को ध्वनित करने वाला सूरदास का भी एक पद है, जिसकी कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

दो मैं एकौ तौ न भई ।
ना हरि भजै न गृहसुख पाए वृथा बिहाइ गई ॥
× × ×
कहा होत अबके पछितायें, होनी सिर बितई ।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकलमई ॥

[८४]

तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ ।
भयो है सुगम तोको अमर-अगम तन, समुझिधौं कत खोवत अकाथ ?॥१॥
सुख-साधन हरि-बिमुख वृथा, जैसे स्रम फल घृतहित मथ पाथ ।
यह विचारि तजि कुपथ कुसंगति, चलि सुपंथ मिलि भले साथ ॥२॥
देखु राम-सेवक, सुनि कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ ।
हृदय आनु धनुबान-पानि प्रभु, लसे मुनिपट कटि कसे भाथ ॥३॥
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ रामपद-कमल माथ ।
जनि डरपहि तो से अनेक खल, अपनाये जानकी-नाथ ॥४॥

शब्दार्थ—मींजि=मल-मलकर । अमर-अगम=देवताओं के लिए भी दुर्लभ । समुझिधौं=समझ तो सही । अकाथ=व्यर्थ । पाथ=पानी, जल । गाथ=गाथा । आनु=ला । पानि=पाणि, हाथ । लसे=शोभित । भाथ=तरकश । परिहरि=त्याग कर । नाउ=झुका, नवा । जनि=मत । तो से=तेरे जैसे ।

भावार्थ—हे मन ! (यदि तू राम भजन नहीं करेगा तो) तुझे हाथ मल-मलकर पछताना पड़ेगा क्योंकि तुझे यह मानव-शरीर बड़ी आसानी से प्राप्त हो गया है जिसे प्राप्त करना देवताओं के लिए भी दुर्लभ है । अर्थात् देवता भी इस मानव-शरीर को प्राप्त करने के लिए तरसते रहते हैं, परन्तु प्राप्त नहीं कर पाते । इस बात को अच्छी तरह से समझ तो सही । इस शरीर को व्यर्थ क्यों खोये दे रहा है । भगवान् से विमुख होकर सम्पूर्ण सुख-साधन प्राप्त करना वैसे ही व्यर्थ है जैसे जल को मथकर घी रूपी अपने परिश्रम का फल प्राप्त करना असम्भव है । अर्थात् जैसे जल को मथ कर घी प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भगवान् से विमुख होकर सारे सुख प्राप्त करना व्यर्थ है—क्योंकि उस सुख-भोग का कोई कल्याणकारी फल तुझे नहीं मिलेगा । इस बात को सोचकर अर्थात् अच्छी तरह से इस बात पर मनन कर बुरा रास्ता और बुरे जनों का साथ त्याग, अच्छे मार्ग पर भले लोगों के साथ चल । अर्थात् साधु-सन्तों के साथ रह भगवान् का भजन कर ।

हे मन ! ऐसा करने के लिए तू राम-भक्तों के दर्शन कर, उनसे राम की कीर्त्ति-गाथा सुन, उनके नाम को रट और उनकी गुण-गाथा को गा । तू अपने हृदय

में भगवान् राम की धनुष-बाण हाथ में लिये, मुनियों के वस्त्रों में सुसज्जित, कमर में तरकश बाँधे मूर्त्ति का ध्यान कर। तुलसीदास कहते हैं कि हे मन! तू सारे सांसारिक प्रपंचों को त्याग दे और राम के चरण-कमलों में अपना शीश झुका। तू ऐसा करने में भयभीत मत हो अर्थात् यह मत सोच कि भगवान् तुझ जैसे पापी को नहीं अपनायेंगे। क्योंकि जानकीनाथ राम ने तुझ जैसे अनेक पापियों को अपनाया है, अतः वे तुझे भी अवश्य अपना लेंगे।

टिप्पणी—(१) 'अनेक खल' से संकेत—अजामिल, गणिका, यवन, चांडाल आदि के प्रति है।

(२) 'हृदय आनु····माथ' में तुलसी वनवासी वीर-वेशधारी राम का ध्यान कर रहे हैं।

राग धनाश्री

[८५]

मन, माधवको नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंक के धन ज्यों, छिन-छिन प्रभुहिं सँभारहि ॥१॥
शोभा-सील-ग्यान-गुन मंदिर, सुन्दर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल-अघ-गंजन, भंजन विषम बिकारहि ॥२॥
जौ बिनु जोग, जग्य, ब्रत संयम, गयो चहै भव-पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसिबासर, हरिपद-कमल बिसारहि ॥३॥

शब्दार्थ—नेकु=थोड़ा-सा। रंजन=प्रसन्न करने वाले। अघ गंजन=पापों का नाश करने वाले। जनि=मत।

भावार्थ—हे मन! तू जरा भगवान् की ओर देख तो, अर्थात् उनके दर्शन कर। हे दुष्ट! सुन! जिस प्रकार निर्धन अपने धन की बराबर देखभाल किया करता है उसी प्रकार तू भी बराबर अपने स्वामी भगवान् की देखभाल किया कर; अर्थात् उनकी सेवा करता रह। वे भगवान् सौन्दर्य, शील, ज्ञान और सम्पूर्ण गुणों के भण्डार, परम सुन्दर और बड़े उदार अर्थात् दानी हैं। वे सन्तों को प्रसन्न करने वाले, सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले और विषय आदि विकारों (बुरी भावनाओं) को दूर करने वाले हैं। यदि तू विना योग, यज्ञ, व्रत, संयम आदि विभिन्न प्रकार की साधनाएँ किये ही इस संसार रूपी सागर से पार होना चाहता है तो हे तुलसीदास! तू भगवान् के चरण-कमलों को दिन-रात कभी एक क्षण के लिए भी मत भूल। अर्थात् सदैव उन्हीं का ध्यान किया कर।

टिप्पणी—(१) योग आठ प्रकार के माने गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि।

(२) व्रत अनेक प्रकार के होते हैं। महीने और सप्ताह में अनेक तिथियों को व्रत किये जाते हैं। परन्तु कुछ प्रमुख व्रत निम्नलिखित माने गये हैं—चन्द्रायण, सोमायन, कृच्छ, महा कृच्छ आदि।

(३) 'सदा रंक के धन ज्यों'—तुलसी ने राम के प्रति अनन्यता की तुलना बड़ी विचित्र और देय सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रसिद्धि से की है, जैसे—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

(४) 'सुन्दर परम उदारहि' में 'परम' शब्द 'देहरी दीपक' है।

[८६]

इहै कह्यो सुत, बेद नित चहूँ।
श्रीरघुबीर-चरन-चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ॥१॥
जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।
सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजत करत अजहूँ॥२॥
जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कनहूँ।
हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ, कर्म बचन मनहूँ॥३॥
करुनासिंधु भगत-चिन्तामनि, सोभा सेवत हूँ।
और सकल सुर असुर ईस सब, खाये उरग छहूँ॥४॥ सर्प
सुरुचि कह्यो सोइ सत्य, तात ! अति परुष बचन जबहूँ। कठोर
तुलसिदास रघुनाथ-बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।५॥

शब्दार्थ—चहूँ=चारों। ठौर=स्थान। अजहूँ=आज भी। संतत=सदैव से। श्री=लक्ष्मी। कनहूँ=क्षण भर भी। उरग=सर्प। छहूँ=छः। परुष=कठोर। जबहूँ=यद्यपि।

भावार्थ—इस पद का प्रसंग निम्नलिखित है—

राजा उत्तानपाद की दो रानियाँ थीं—बड़ी सुनीति और छोटी सुरुचि। सुनीति के पुत्र का नाम ध्रुव और सुरुचि के पुत्र का नाम उत्तम था। राजा उत्तम को अधिक स्नेह करता था। एक दिन राजा सुरुचि सहित सिंहासन पर बैठा उत्तम को गोद में खिला रहा था, उसी समय ध्रुव वहाँ आ गया और राजा की गोद में चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। यह देख विमाता सुरुचि ने उससे कहा—यदि तू पूर्व जन्म में तप करता तो राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी बनता, इसलिए जाकर पहले तपस्या कर। ध्रुव ने यह बात जाकर अपनी माता सुनीति से कही।

सुनीति ने भी ध्रुव को तपस्या करने की सलाह दी। इस पद में माता सुनीति ध्रुव से यही बात कह रही है।

हे पुत्र ! चारों वेदों ने भी यही बात कही है कि श्री रघुवीर राम के चरणों का विस्मरण कर देने से प्राणी को अन्य कहीं भी जगह नहीं मिलती। अर्थात् प्राणी का एकमात्र आश्रय-स्थल भगवान राम के चरण ही हैं। देख, उनके चरणों की सेवा कर ही ब्रह्मा और शिव ने आठों सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और शुकदेव, सनकादि आदि मुनिगण, जो जीवन्मुक्त होकर स्वछन्द रूप से विचरण करते हैं, आज भी इन्हीं चरणों का भजन करते रहते हैं। यद्यपि लक्ष्मी सदैव से अत्यन्त चंचल रही है और एक क्षण के लिए भी कहीं स्थिर होकर नहीं रहती परन्तु वह भी भगवान के चरण-कमलों को प्राप्त कर मन, वचन और कर्म से वहीं स्थिर होकर बैठ गयी है। अर्थात् सदैव उन्हीं के चरणों की सेवा करती रहती है।

करुणा के सागर और भक्तों के लिए चिन्तामणि के समान अर्थात् भक्तों की सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले भगवान की सेवा करने से ही भक्त को शोभा प्राप्त होती है क्योंकि अन्य जितने भी देवता और राक्षस आदि ऐश्वर्यशाली प्राणी हैं उन सबको छः सर्पों ने डस लिया है। अर्थात् ये लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर नामक कुवासनाओं रूपी सर्पों द्वारा सदैव पीड़ित रहते हैं। (अतः ये तुम्हारी रक्षा क्या कर सकेंगे ?) इसलिए हे पुत्र ! सुरुचि ने तुमसे जो बात कही है वह सत्य है। यद्यपि उसके वचन बड़े कठोर हैं, परन्तु सत्य सदैव कठोर ही होता है। तुलसीदास कहते हैं कि सुनीति ध्रुव से कहती है कि भगवान राम से विमुख होने पर विपत्तियाँ कभी दूर नहीं होतीं। अर्थात् राम की सेवा करने से ही सारी विपत्तियों से मुक्ति पाई जा सकती है।

टिप्पणी—'परम चंचल श्री'—लक्ष्मी चंचला मानी गयी है। परन्तु विष्णु के चरणों में आते ही वह अपनी सारी चंचलता त्याग स्थिर हो जाती है। लक्ष्मी का स्थान विष्णु के चरणों में ही माना गया है, न कि उनके वाम भाग में। इसी कारण गोस्वामीजी ने पिछले अनेक पदों में लक्ष्मी को विष्णु के 'दच्छ दिसि' अर्थात् दक्षिण दिशा में स्थित बताया है। दक्षिण दिशा से अभिप्राय नीचे की ओर अर्थात् विष्णु के चरण प्रान्त से है। कुछ टीकाकारों ने 'दच्छ दिसि' का वास्तविक अभिप्राय न समझ 'वाम दिसि' पाठान्तर माना है तथा कुछ ने 'दच्छ दिसि' का अर्थ 'दाहिनी ओर' माना है। पत्नी वामांगी होती है, न कि दक्षिणांगी। इसलिए दाहिनी ओर अर्थ मानना गलत रहा है। यह पद हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है कि लक्ष्मी का स्थान विष्णु के चरणों में है, न कि उनके वामांग में।

[८७]

सुन मन मूढ़ ! सिखावन मेरो।
हरिपद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो ॥१॥

बिछुरे ससि रबि मन नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमर स्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥२॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥३॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, स्रुति सन्देह निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम कर चेरो ॥४॥

शब्दार्थ—सिखावन=शिक्षा। लह्यो=लिया। सबेरो=शीघ्र, जल्दी, समय रहते। भ्रमत=घूमते। स्रमित=थककर। बड़ेरो=बड़ा। घनेरो=खूब, अधिक। केरो=का। निबेरो=दूर कर दिया है।

भावार्थ—हे मूर्ख मन ! मेरी सीख (शिक्षा) सुन ! आज तक भगवान के चरणों से विमुख होकर किसी ने भी सुख नहीं प्राप्त किया है। हे दुष्ट ! अभी समय है, तू इस बात को समझ ले। अर्थात् अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा है, इसलिए तू राम के चरणों की सेवा कर। राम से विमुख होने पर अर्थात् राम से दूर हो जाने पर किसी को भी सुख नहीं मिलता। चन्द्रमा और सूर्य भगवान के मन और नेत्रों से दूर हो जाने पर बहुत दुख पा रहे हैं। वे रात-दिन आकाश में भटकते रहते हैं और थककर अस्त हो जाते हैं (उन्हें इतने से ही मुक्ति नहीं मिलती)। वहाँ आकाश में उनका भयंकर शत्रु राहु रहता है जो सदैव उनका पीछा करता रहता है (और अवसर पाने पर उन्हें खा जाता है)।

यद्यपि देवनदी गंगा अत्यन्त पवित्र है, तीनों लोकों में उसका अमित यश छाया हुआ है। (गंगा त्रिपथगा मानी गई है, तीनों लोकों में गंगा तीन भिन्न-भिन्न रूपों में बहती है।) परन्तु भगवान के चरणों से जब से वह अलग हुई है तब से आज तक उसका बहना अर्थात् भटकते फिरना बन्द नहीं हुआ है। (गंगा की उत्पत्ति विष्णु के चरणों से मानी गई है।) वह शान्ति न पाकर सदैव चंचल बनी रहती है। वेदों ने इस सन्देह को दूर कर दिया है कि राम का भजन किये बिना विपत्तियों से छुटकारा नहीं मिल सकता। तुलसीदास कहते हैं कि इसलिए हे मन ! तू अन्य सबका भरोसा छोड़कर राम का सेवक बन जा। अर्थात् अन्य किसी भी देवी-देवता से अपने उद्धार की आशा न कर केवल राम की सेवा कर। उसी से तेरी विपत्ति दूर होगी।

टिप्पणी—(१) 'जद्यपि……घनेरो'—इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि गंगा जैसी पवित्रतम वस्तु भी राम के चरणों से विमुख हो शान्ति नहीं प्राप्त कर पाती। वह सदैव अशान्त और असंतुष्ट बनी इधर-उधर भटकती फिरती है। उसे अथक परिश्रम करने पर भी शान्ति नहीं मिलती।

(२) 'बिछुरे……नैननि तें'—'पुरुष-सूक्त' में चन्द्रमा को भगवान का मन और सूर्य को उनके नेत्र माना गया है—

'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।'

साधारणतः चन्द्र और सूर्य को भगवान के दो नेत्र माना जाता है, परन्तु यहाँ तुलसीदास ने इस मान्यता को न मानकर चन्द्रमा को भगवान का मन और सूर्य को नेत्र माना है।

(३) इस पद में कवि ने उपलक्षणा पद्धति द्वारा राम की भक्ति के विशाल भाव को एक ही साधारण भाव द्वारा अर्थात् चन्द्र, सूर्य और गंगा के भटकने के भाव द्वारा स्पष्ट कर दिया है।

(४) 'बिछुरे.......तें' में यथाक्रम अलंकार है।

[८८]

कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसि-दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ-तहँ इन्द्रित तान्यो॥१॥
जदपि बिषय सँग सह्यो दुसह दुख, विषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़, ममताबस, जानत हूँ नहिं जान्यो॥२॥
जन्म अनेक किये नाना बिधि, कर्म - कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर-बिनु, बेद पुरान बखान्यो॥३॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों, हरिष हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय, सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥४॥

शब्दार्थ—बिसारि=भूलकर। तान्यो=तानना, खींच-तान। सहज सुख=आत्मानन्द। जान्यो=जाना, समझा। आन्यो=लगाया, लाया। सर=तालाब। खनतहिं=खोदते। सिरान्यो=बीत गया।

भावार्थ—हे मन ! तूने कभी विश्राम नहीं माना; अर्थात् कभी शान्त होकर नहीं बैठा। तू अपने सहज-सुख आत्मानन्द को भूलकर रात-दिन विषय-वासनाओं के चक्कर में पड़ा भटकता रहता है। तेरी इन्द्रियाँ तुझे खींच-खींचकर विषय-वासनाओं में उलझाये रखती हैं। यद्यपि विषयों में लिप्त रहकर तू असह्य दुख सहता है और उनके कठिन जाल में फँसा रहता है, परन्तु हे मूर्ख ! तू फिर भी उन्हें नहीं छोड़ता। तू उनकी ममता (मोह) में पड़ सब कुछ समझता हुआ भी अनजान सा बना रहता है अर्थात् तू जानता है कि विषय-विकार तुझे शान्ति नहीं देते परन्तु फिर भी तेरे मन में उनके प्रति इतना प्रबल मोह है कि तू सब कुछ जानता हुआ भी अनजान बना रहता है। तूने अनेक जन्मों में नाना प्रकार के कर्म किये हैं और उन्हीं कर्मों की कीचड़ में तेरा चित्त सन गया है। अर्थात् वे कर्म तेरे चित्त को सदैव घेरे रहते हैं, तू उनसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता। वेद और पुराण इस बात को कहते हैं कि यह कर्मरूपी

कीचड़ निर्मल ज्ञान (विवेक) के जल के विना नहीं छूट सकती। अर्थात् ज्ञान द्वारा ही कर्म-जाल से मुक्ति हो सकती है।

अपने हित के लिए तू जैसा प्रेम अपने स्वामी, पिता और गुरु से करता है, वैसा प्रेम तूने हृदय से प्रसन्न होकर भगवान से कभी नहीं किया। तुलसीदास कहते हैं कि उस तालाब से कब प्यास बुझ सकती है जिसे खोदने मे ही सारा जीवन बीत जाय। भाव यह है कि विषय-वासनाओं के सुख में सच्चे सुख की प्राप्ति असम्भव है।

टिप्पणी—(१) 'जानत हूँ नहिं जान्यो' में विरोधाभास है।

(२) 'तदपि·········ममताबस' में मन की परवशता की ओर संकेत है। इस पंक्ति में मन की परवशता का जैसा मार्मिक और सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

(३) कर्म जन्य वासना के कारण ही जीव को बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। जीव इसी वासना के चक्कर में पड़ा विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है। सूर ने भी यही भाव व्यक्त किया है—

'अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।'

[८९]

मेरा मन हरिजू ! हठ न तजै।
निसि-दिन नाथ ! देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै ॥१॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥२॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥३॥
हौं हार्यौ करि तन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥४॥

शब्दार्थ—सिख=सीख, शिक्षा। निजै=अपना। अनुभवति=अनुभव करती है। अनुकूल=प्रसन्न। सूल=कष्ट। गृहपसु=कुत्ता। पदत्रान=जूता। बजै=बजता है, पड़ता है। लजै=लज्जित होता। अजै=अजय। बरजै=रोके।

भावार्थ—हे हरि ! मेरा मन अपनी हठ नहीं छोड़ता; अर्थात् जो चाहता हूँ वही करता रहता है। हे नाथ ! मैं रात-दिन इसे अनेक प्रकार से समझाता रहता हूँ परन्तु यह अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण करता रहता है। जैसे युवती प्रसव के समय इस बात का अनुभव करती है कि प्रसव में अत्यन्त कष्ट होता है (और उस समय मन ही मन यह संकल्प करती है कि अब पति के पास कभी नहीं जाऊँगी) परन्तु ठीक हो जाने पर वह मूर्खा अपने प्रसव के समय की सम्पूर्ण पीड़ा को भूल

पति के अनुकूल हो पुनः उसी दुष्ट पति को भजती है अर्थात् उसके साथ प्रेम (संभोग) करती है।

जिस प्रकार लालची कुत्ता घर-घर भटकता फिरता है और वहाँ उसके सिर पर जूते पड़ते रहते हैं परन्तु फिर भी वह नीच मूर्ख उसी मार्ग पर चलता रहता है अर्थात् घर-घर फिरता रहता है और कभी भी अपने अपमान के कारण लज्जा का अनुभव नहीं करता। मैं अनेक प्रकार के उपाय कर-कर हार गया परन्तु यह मन अत्यन्त प्रबल और अजेय है। अर्थात् मेरे काबू में नहीं आता। तुलसीदास कहते हैं कि यह मन तभी बस में आ सकता है जब इसको प्रेरणा देने वाले प्रभु स्वयं ही इसे रोकें। भाव यह है कि भगवान सबको प्रेरणा देने वाले हैं, वही मन को भी प्रेरणा देते हैं। अतः इसे वही रोक सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं रोक सकता।

टिप्पणी—(१) 'ज्यों जुवती········पतिहि भजै' में वीभत्स का संकेत है। यह संकेत निर्वेद की उत्पत्ति के लिए ही किया गया है।

(२) 'लोलुप········मूढ़ लजै'—कुत्ते के समान यह मन विषय-वासना की ओर यह जानते हुए भी जाता है कि वहाँ ठोकरें और दुख ही मिलेगा, फिर भी यह उधर जाने से नहीं मानता।

(३) 'अतिसै प्रबल अजै' का भाव यह है कि मन अत्यन्त प्रबल है। इस पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। भगवान की कृपा से ही इसे रोका जा सकता है।

(४) 'प्रेरक' से भाव यह है कि भगवान की जिस पर कृपा होती है वही मन को वश में करने में सफल होता है। 'प्रेरक' से यह भाव भी लिया जा सकता है कि माया प्रभु का संकेत पाकर ही मन को भटकाती रहती है, अतः भगवान ही मन को प्रेरणा प्रदान करने वाली माया को रोककर मन को ठीक मार्ग पर लगा सकते हैं।

(५) मन की प्रबलता के सम्बन्ध में कबीर ने कहा है—

मन-गयंद मानै नहीं, चलै सुरत के साथ।
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ॥

[९०]

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भक्ति-सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥१॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होत लोचन की ॥२॥
ज्यों गच-कांच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥३॥

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥४१॥

शब्दार्थ--परिहरि=त्यागकर। ओसकन=ओस की बूँद। मति=बुद्धि से। बारि=जल। गच-काँच=दीवार में जड़े काँच। सेन=श्येन, बाज। टूटत=झपटता है। अहार=भोजन। छलि=क्षति, हानि। बिसारि=भुलाकर। आनन=मुख, चोंच। पन=प्रतिज्ञा।

भावार्थ—इस मन की मूर्खता कुछ ऐसी है अर्थात् यह मन ऐसा मूर्ख है कि राम-भक्ति रूपी गंगा को त्याग कर ओस की बूँदों की आशा करता रहता है। जिस प्रकार प्यासा चातक धुएँ के समूह को ही अपनी बुद्धि से बादल समझ उसकी ओर टकटकी बाँधे देखता रहता है परन्तु वहाँ उसे न तो शीतलता ही मिलती है और न जल ही, बल्कि उसे अपनी आँखों की हानि और उठानी पड़ती है। अर्थात् उस धुएँ के बादल की ओर देखते-देखते उसकी आँखें फूट जाती हैं। जैसे मूर्ख बाज दीवार में ज़ड़े काँच में अपने ही शरीर की परछाँही देख (उसे शिकार समझ) भूख से व्याकुल हो भोजन प्राप्त करने के लिए उस पर टूट पड़ता है और इस बात को भूल जाता है कि ऐसा करने से उसकी अपनी चोंच की हानि होगी; अर्थात् काँच से टकराने पर उसकी चोंच टूट जायेगी। (उसी प्रकार यह मन भ्रम में पड़ अनेक कष्ट उठाता रहता है) हे कृपानिधि ! मैं इस मन की कुचाल (बुरे कर्म) की बातें तुम से कहाँ तक कहूँ, तुम तो अपने भक्तों की दशा स्वयं ही जानते हो। तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरा दारुण, असह्य दुख दूर करो। और इस प्रकार अपने प्रण की, कि तुम सदैव अपने भक्तों की रक्षा करते हो, रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) अलङ्कार--'धूम समूह' में भ्रान्तिमान, 'राम-भक्ति सुरसरिता' में रूपक, 'ज्यों तृषित' में दृष्टान्त, 'पुनि हानि....की' तथा 'छति....की' में विषम अलकार हैं।

(२) 'आतुर अहार बस' में विशेषण विपर्यय है।

(३) 'ओसकन' में रूपकातिशयोक्ति है।

(४) 'परिहरि....ओसकन की'—यहाँ जगत के सुख ओस की बूँदों के समान हैं। राम की भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन ओस की बूँदों के ही समान तुच्छ और व्यर्थ हैं। ओस की बूँदें देखने में मोती के समान सुन्दर दिखाई देती हैं, इसी प्रकार सांसारिक सुख भी अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होते हैं। ओस के चाटने से प्यास नहीं बुझती, इसी प्रकार सांसारिक सुखों में शान्ति नहीं मिलती। ओस की बूँदें क्षणभंगुर होती हैं, सूर्य-किरण पड़ते ही नष्ट हो जाती हैं, इसी प्रकार सांसारिक सुख क्षणभंगुर और नष्ट हो जाने वाले होते हैं।

(५) बाज को जड़ इसीलिए कहा गया है कि मन चैतन्य शक्ति के जाग्रत न

होने पर जड़ बना रहता है, उसमें कर्माकर्म का विवेक नहीं रहता। बाज के ही समान मन अपनी भावना और प्रवृत्ति को ही जगत में प्रतिविम्बित देखता है।

(६) यह पद अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है।

(७) द्वितीय पंक्ति का भाव सूर की इस पंक्ति में भी मिलता है—

'परम गंग को छाँड़ि पियासो नभ महँ कूप खनावै।'

(८) 'ज्यों गच····आनन की'—कबीर ने भी यही बात कही है—

'दर्पन केरी जो गुफा, सोनहा बैठो धाय।
देखत प्रतिमा आपनी, भूकि-भूकि मरि जाय॥'

[९१]

नाचत ही निसिदिवस मर्‌यो।
तब ही तें न भयो हरि! थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो॥१॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग कर्‌यो॥२॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‌यो।
मेरो दुसह दरिद्र दोष दुःख काहू तो न हर्‌यो॥३॥
थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल बिछुर्‌यो।
अब रघुनाथ! सरन आयो जन, भव-भय बिकल डर्‌यो॥४॥
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‌यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‌यो॥५॥

शब्दार्थ—थिर=स्थिर। शिव=जीव। कंचुकि=स्वांग के वस्त्र। स्वाँग=तमाशा। पानि=पाणि, हाथ।

भावार्थ—हे हरि! मैं तो रात-दिन नाचते-नाचते ही मरा जा रहा हूँ अर्थात् बार-बार जन्म लेते और मरते परेशान हो उठा हूँ। जब से तुमने इसका नाम 'जीव' (प्राणी) रखा तभी से यह कभी स्थिर होकर नहीं रह सका। इस जीव ने अनेक प्रकार की वासनाओं रूपी विविध वस्त्र और लोभ आदि रूपी विभिन्न प्रकार के आभूषण पहन कर चर और अचर का रूप धारण कर अर्थात् जड़ और चैतन्य रूप धारण कर आकाश, जल और पृथ्वी पर ऐसा कौन-सा स्वाँग (तमाशा) है जो न किया हो। अर्थात् विभिन्न योनियाँ धारणकर खूब तमाशे किये हैं। देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि कोई भी ऐसा नहीं बचा जिससे मैंने अपना उद्धार करने की याचना न की हो। परन्तु किसी ने भी मेरी दरिद्रता के असह्य दुख को दूर नहीं किया। अर्थात् कोई भी मुझे इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति न दिला सका।

मेरे नेत्र, पैर, हाथ, बुद्धि का बल आदि सभी थक गये हैं और इन सारी इन्द्रियों ने मेरा साथ छोड़ दिया है; अर्थात् अब मेरी सारी इन्द्रियाँ शिथिल होकर मेरा साथ छोड़ गयी हैं। हे रघुनाथ! अब यह दास संसार के भय से व्याकुल हो तुम्हारी शरण में आया है। हे प्रभु! जिन गुणों पर रीझकर तुम भक्त के वश में हो जाते हो, उन सारे गुणों को तो मैं भूल गया हूँ। अर्थात् मैं नहीं जानता कि तुम किन गुणों से प्रसन्न होते हो। इसलिए हे नाथ! इतना ही करो कि इस तुलसीदास को अपने भवन के द्वार पर ही पड़ा रहने दो। अर्थात् दुत्कार कर भगाओ मत।

टिप्पणी—(१) इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाला सूरदास का भी एक पद है—

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
× × ×
कोटिक कला कांछि दिखराई, जल-थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल॥

(२) 'जब ते जिव नाम धर्‌यौ' का भाव यह है कि जीव परमात्मा का अंश है। माया के कारण उसमें 'सत्' और 'चित्' तो रहता है परन्तु 'आनन्द' को वह भूल जाता है। इसी कारण वह जन्म-जन्मान्तरों में अनेक योनियों में भटकता हुआ कष्ट पाता रहता है। हरि कृपा अथवा ज्ञान द्वारा ही उसे आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है और वह मुक्त हो जाता है।

(३) 'द्वार····पर्‌यौ' से मिलता-जुलता बिहारी का एक दोहा है—

हरि कीजत तुम सों यहै, बिनती बार हजार।
जिहि-तिहि भाँति डर्‌यौ रहौं, पर्‌यौ रहौं दरबार॥

[९२]

माधवजू! मो सम मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीनमति, मोहि नहिं पूजैं ओऊ॥१॥
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह, पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति विषय न तजत हौं, तातें अधिक अजान्यो॥२॥
महामोह-सरिता अपार महँ, संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरिचरन-कमल नौका-तजि, फिर-फिर फेन गह्यो॥३॥
अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यौं भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि, मन संतोष धरै॥४॥

परम कठिन भवव्यालग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक सरनागत खगपतिनाथ बिसारी॥५॥
जलचर-बृन्द जाल-अन्तरगत होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालच-बस, नहिं देखत निज नासा॥६॥
मेरे अघ सारद अनेक जुग, गनत पार नहिं पावै।
तुलसीदास पतित-पावन प्रभु, यह भरोस जिय आवै॥७॥

शब्दार्थ—मन्द=मूर्ख। पूजें=बराबरी करें। ओऊ=वहे भी। बस्य=वश में होकर। पावक=अग्नि। लोह=लोहा, लोहे का मछली पकड़ने का काँटा। अजान्यो=मूर्ख, अज्ञान। संतत=निरन्तर। पुरातन=पुरानी। तालूगत=तालू से निकला। त्रसित=भयभीत। भेक=मेंढक। खगपतिनाथ=पक्षियों के राजा गरुड़ के स्वामी भगवान। अघ=पाप। सारद=शारदा, सरस्वती।

भावार्थ—हे माधव! मेरे समान कोई भी दूसरा मूर्ख नहीं है। यद्यपि पतिंगे और मछली मतिहीन मूर्ख माने जाते हैं परन्तु मूर्खता में वे भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते। उन दोनों ने तो रूप और भोजन के वश में होकर अग्नि और लोहे को नहीं पहचाना। अर्थात् पतिंगा दीपक की लौ के सुन्दर रूप पर मुग्ध हो, उसके घातक रूप को न पहचान उसमें जल मरा और मछली भोजन के लालच में लोहे के काँटे में जा फँसी अर्थात् दोनों ही अनजाने ही मृत्यु के मुख में जा फँसे। परन्तु मैं यह जानता हुआ भी कि विषयों में ग्रस्त रहने से कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हीं में फँसा रहता हूँ। इसी कारण मैं पतिंगे और मछली की तुलना में अधिक अज्ञानी अर्थात् मूर्ख हूँ, क्योंकि जान-बूझकर संकटों में जा फँसता हूँ। मैं महामोह रूपी अपार नदी में निरन्तर बहता रहता हूँ अर्थात् माया-मोह के जाल में पड़ विषय-वासनाओं में फँसा रहता हूँ। इस नदी को पार करने के लिए एकमात्र भगवान के चरण-कमल ही नौका के समान हैं। परन्तु उस नौका को छोड़कर बार-बार फेन को अर्थात् फेन के समान तत्त्वहीन सांसारिक विषयों को पकड़ता अर्थात् उनका सहारा लेता हूँ।

जिस प्रकार बहुत भूखा कुत्ता पुरानी हड्डी को मुख में भरकर पकड़ लेता है (और चिचोड़ता है)। ऐसा करने से हड्डी के तालू में चुभने से जो रक्त निकलता है और उसी रक्त को पान कर मन-ही-मन यह सन्तोष प्राप्त करता है कि यह रक्त हड्डी में से निकल रहा है। मैं अत्यन्त भयानक इस संसार रूपी सर्प के मुँह में पड़ अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ। और इस संसार रूपी सर्प से मुक्ति पाने के लिए मैं सर्पों के भक्षक पक्षिराज गरुड़ के स्वामी भगवान राम को भूलकर अन्य देवी-देवताओं रूपी मेंढ़क की शरण में जाना चाहता हूँ। भला इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है क्योंकि सर्प तो मेंढ़क को खा जायेगा, फिर मेरी रक्षा कैसे हो सकेगी?

जैसे जल में रहने वाले जीवों—मछली, मगर आदि—का झुण्ड जाल में फँसकर सिमट कर एक साथ एकत्र हो जाता है, उस समय वे जीव अपने नाश को न देखकर लालच में पड़ आपस में ही एक-दूसरे को खाने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि मछुआ जाल उठाकर उन सबको मारकर खा जायेगा। (भाव यह है कि काल के जाल में फँसे हुए जीव आपस में एक-दूसरे का विनाश करते रहते हैं और अपने आसन्न भावी विनाश को भूल जाते हैं।) यदि स्वयं सरस्वती भी अनेक युगों तक मेरे पापों की गणना करती रहे तो वह भी उनका पार नहीं पा सकेगी; अर्थात् मेरे पाप अनन्त तौर असंख्य हैं। ऐसी स्थिति में तुलसीदास के मन में तो केवल यही एक भरोसा है कि भगवान पतित-पावन है, इसलिए मेरा भी उद्धार अवश्य कर देंगे।

टिप्पणी (१)—अलंकार—'रुचिर रूप आहार वस्य' में क्रमालंकार; अस्थि पुरातन····धरैं' में दृष्टान्तालंकार; 'चाहग····बिसारी' में परिकरांकुर अलंकार है।

(२) 'जद्यपि····ओऊ' का भाव यह है कि मछली और पतिंगे तो एक ही इन्द्रिय के वश में होकर इतना अधिक दुख उठाते हैं और मैं पाँचों इन्द्रियों से युक्त होने पर भी विवेक-बुद्धि से काम नहीं लेता अर्थात् वास्तविकता को नहीं समझता।

(३) 'अस्थि····धरैं'—जगत के सुख सूखी हड्डी के समान हीन, त्याज्य तथा तत्त्वहीन हैं, मिथ्या हैं।

(४) 'खगपति नाथ' शब्द का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है। भगवान की आज्ञा पाकर गरुड़ इस संसार रूपी सर्प का भक्षण कर लेगा।

[९३]

कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम !
जेहि करुना सुनि स्रवन दीन-दुख, धावत हौ तजि धाम ॥१॥
नागराज निज बल बिचारि हिय हारि चरन चित दीन्हों।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलम्ब न कीन्हों ॥२॥
दितिसुत-त्रास-त्रसित निसिदिन प्रहलाद-प्रतिग्या राखी।
अतुलित बल मृगराज-मनुज-तनु दनुज हत्यो स्रुति साखी ॥३॥
भूप-सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर-नारी।
बसन पूरि, अरि-दर्प दूरि करि, भरि कृपा दनुजारी ॥४॥
एक-एक रिपु तें त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।
अब मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु, कस न हरहु भवपीर ॥५॥

लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध, कुरुराज-बन्धु खल मार।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार ॥६॥

शब्दार्थ—सो=उस । धाम=वैकुण्ठ । नागराज=हाथियों का राजा गजेन्द्र । नाग=हाथी । आरत=आर्त्त, दुखी । गिरा=वाणी । खगपति=गरुड़ । दितिसुत=हिरण्यकशिपु । मृगराज-मनुज=नृसिंह अवतार । हत्यो=मारा । स्र ति साखी=वेद गवाह हैं । भूप-सदसि=राजा धृतराष्ट्र की सभा । राखु=रक्षा करो । नर-नारी=अर्जुन की स्त्री द्रौपदी । अर्जुन को नर माना गया है । कृष्ण और अर्जुन को नर-नारायण कहा जाता है । बसन=वस्त्र । अरि-दर्प=शत्रु का घमंड । भूरि=अधिक । दनुजारि=दनुज+अरि=दैत्यों के शत्रु कृष्ण । कस=क्यों । ग्राह=मगर । कुरुराज-बन्धु=कौरव-नरेश दुर्योधन का भाई दुःशासन । मार=कामदेव ।

भावार्थ—हे राम ! अब तुम अपनी उस कृपा को; अर्थात् सब पर कृपा करने के अपने उस स्वभाव को कहाँ भूल गये जिसके अनुसार दीनों के दुखों की बात अपने कानों से सुन पाकर, करुणा से द्रवित हो अपने धाम वैकुण्ठ को त्याग तुरन्त उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़ते थे। जब (ग्राह के मुख में पड़े) गजेन्द्र ने हृदय में यह विचार लिया कि मैं अपने बल द्वारा मुक्ति नहीं पा सकता तो उसने तुरन्त हरि के अर्थात् तुम्हारे चरणों का ध्यान किया। उसकी करुण पुकार को सुन तुम गरुड़ को छोड़, तनिक भी देर न कर उसकी रक्षार्थ तुरन्त दौड़ पड़े थे। तुमने दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु के भय द्वारा रात-दिन भयभीत रहने वाले प्रह्लाद की प्रतिज्ञा की रक्षा की थी। तुमने अत्यन्त बलवान सिंह और मनुष्य का अर्थात् नरसिंह का रूप धारण कर उस दैत्य का वध किया था, वेद इस बात के साक्षी हैं अर्थात् वेदों में यह बात कही गयी है।

राजा धृतराष्ट्र की सभा में जब अर्जुन की पत्नी द्रौपदी ने (दुःशासन द्वारा अपनी लज्जा जाते देख) सारे उपस्थित राजाओं की ओर सहायता की आशा से देखा था और किसी को भी अपनी रक्षा करने में समर्थ न पा तुमसे पुकार की थी कि हे कृष्ण ! मेरी लज्जा रखो, तब हे दैत्यों का वध करने वाले ! तुमने उसके वस्त्र (साड़ी) को इतना बढ़ा दिया था कि उसे खींचते-खींचते शत्रु दुःशासन थक गया था और इस प्रकार तुमने उसके घमण्ड को तोड़ डाला था और द्रौपदी पर बहुत भारी कृपा की थी। हे रघुवीर ! तुमने एक ही शत्रु द्वारा सताये गये प्रत्येक भक्त की रक्षा की थीं। अब मुझे तो अनेक शत्रु (काम, क्रोध आदि) असह्य दुख दे रहे हैं, फिर तुम मेरे इस संसार रूपी भय को दूर क्यों नहीं करते। मुझे लोभ रूपी मगर, क्रोध रूपी दैत्यराज हिरण्यकशिपु, और कामरूपी कौरव नरेश दुर्योधन का भाई दुष्ट दुःशासन आदि सता रहे हैं। तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु ! हे परम उदार राम ! मेरे भयंकर दुख को दूर करो।

टिप्पणी—(१) 'दिति सुत''''साखी'—दैत्यराज हिरण्यकशिपु राम का विरोध था और उसका पुत्र प्रह्लाद राम परम-भक्त था। पिता पुत्र को राम का नाम लेने पर कठोर यातनाएँ दिया करता था। एक बार वह प्रह्लाद को खम्भे से बाँध उसका वध करने को प्रस्तुत हो गया। भक्त को संकट में देख भगवान नरसिंह रूप धारण कर खम्भा फाड़कर प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध कर डाला।

(२) 'भूप-सदसि''''दनुजारी'—युधिष्ठिर जुए में अपने सम्पूर्ण राजपाट के साथ पत्नी द्रौपदी को भी कौरवों के हाथ हार गये। इस पर दुःशासन ने कौरवों की भरी सभा में द्रौपदी की साड़ी उतार उसे नंगा करने की कोशिश की। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि कोई भी द्रौपदी की रक्षा करने में जब असमर्थ रहे तो उसने कृष्ण को पुकारा। भगवान कृष्ण ने अपनी माया से द्रौपदी की साड़ी को इतना बढ़ा दिया कि दुःशासन उसे खींचते-खींचते थक गया परन्तु साड़ी समाप्त नहीं हुई। यहाँ महाभारत की इसी कथा की ओर संकेत है। इस प्रसंग से सम्बन्धित एक कवि का कवित्त द्रष्टव्य है—

पाय अनुशासन दुसासन कै कोप धायो, द्रुपद-सुता को चीर गहे भीर भारी है।
भीष्म, करन, द्रोन बैठे व्रतधारी तहँ, कामिनी की ओर काहू नेक न निहारी है॥
सुनिकै पुकार धाए द्वारका तें जदुराई, बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल हारी है।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है, कि सारी ही कि नारी है कि नारी ही कि सारी है॥

[९४]

काहे ते हरि ! मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥१॥
पतित-पुनीत दीनहित असरन-सरन कहत स्रुति चारो।
हौं नहि अधम सभीत दीन ? किधौं, बेदन मृषा पुकारो ?॥२॥
खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ, तहँ हौंहूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो॥३॥
जो कलिकाल प्रबल अति होतो, तुव निदेस तें न्यारो।
तौ हरि रोष भरोस दोष गुन, तेहि भजते तजि गारो॥४॥
मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम, करहु प्रभाउ तुम्हारो।
यह सामरथ अछत मोहि त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो॥५॥
नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो॥६॥

शब्दार्थ—काहे ते=किसलिए, क्यों। किधौं=अथवा। मृषा=झूठ। परसत परोसी हुई। पनवारो=पत्तल। निदेस=आदेश, आज्ञा। न्यारो=अलग, बाहर। गारो=झगड़ा-झंकट। मसक=मच्छर। विरंचि=ब्रह्मा। सामरथ=सामर्थ्य, शक्ति। अछत=रहते हुए। जारो=भस्म किया।

भावार्थ—हे हरि! तुमने मुझे किसलिए भुला दिया। हे नाथ! तुम अपनी महिमा (दीनों के उद्धारक होने की महिमा) और मेरे पाप जानते हो, फिर भी तुमने मुझे नहीं सम्हाला, मेरी रक्षा नहीं की। चारों वेद कहते हैं कि तुम पतितों को पवित्र वना देने वाले, दीनों के हितकारी, जिसको कहीं भी शरण न मिले उसे शरण देने वाले हो। तो हे नाथ! क्या मैं नीच, भयभीत और दीन नहीं हूँ? (कि तुमने मेरी रक्षा नहीं की) अथवा क्या वेदों ने तुम्हारे विषय में सब कुछ झूठ ही कहा है। जहाँ जटायु पक्षी पिंगला नामक गणिका, गजेन्द्र, वाल्मीकि व्याध आदि की पंक्ति वैठी है (जिनका तुमने उद्धार किया था), वहीं मुझे भी बैठाया गया है, अर्थात् मैं भी इन सवके समान नीच हूँ। परन्तु हे कृपा-निधान! अव तुम्हें (मेरा भी उद्धार करने में) किस बात की लज्जा आ रही है कि मेरे सामने परोसी हुई पत्तल को तुम फाड़ रहे हो; अर्थात् मुझे इन सब की पंगत से हटा रहे हो, मेरा उद्धार नहीं कर रहे हो।

यदि कलियुग अत्यन्त शक्तिशाली होता और तुम्हारा आदेश न मानता अर्थात् तुम्हारे कहने में न होता तो मुझ जैसे पापी तुम्हारी आशा करना छोड़ देते, तुम्हारे गुण न गाते और कलियुग के दोषों का कोई ध्यान न कर उसके प्रति क्रोध भी प्रकट नहीं करते तथा तुम्हारी भक्ति आदि करने के सारे झगड़े-टन्टों को छोड़ उसी का भजन करते। अर्थात् उसी का भरोसा कर, उसे गाली न दे, उसी का भजन करते जिससे वह हमें इतना तो न सताता। (इसका एक दूसरा अर्थ श्री देवनारायण द्विवेदी ने इस प्रकार किया है—'यदि कलिकाल आपसे अधिक वलवान होता और आपकी आज्ञा न मानता होता, तो हे हरि! मैं वदनामी को छोड़कर उसके क्रोध करने पर भी उसी का भरोसा रखकर तथा उसके दोषों को गुण समझ कर उसी को भजता।') हे प्रभु! तुम्हारा प्रताप ऐसा है कि तुम मच्छर को ब्रह्मा और ब्रह्मा को मच्छर के समान बना सकते हो। ऐसी सामर्थ्य (शक्ति) रखते हुए भी हे नाथ! तुम मुझे त्याग रहे हो अर्थात् मेरी रक्षा नहीं कर रहे हो। इसमें मेरा क्या चारा है, मैं कर ही क्या सकता हूँ, जैसी तुम्हारी मर्जी हो वही करो। यद्यपि मैं इस कलियुग से लड़ता-लड़ता वहुत थक गया हूँ और नरक में जाने का भी मुझे कोई भय नहीं रहा है परन्तु मुझे इस बात का भारी दुख है कि तुम्हारे नाम ने भी मेरे पापों को भस्म नहीं किया है। भाव यह है कि जो वेद यह कहते हैं कि तुम्हारा नाम लेने से ही पाप भस्म हो जाते हैं, वह सब झूठी बातें हैं। अर्थात् इसमें तुम्हारी ही वदनामी अधिक है। मेरा क्या, मैं तो नरक भी भोग लूँगा।

टिप्पणी—(१) जटायु और गजेन्द्र की कथा का उल्लेख पिछले पदों में किया जा चुका है। यहाँ गणिका और व्याध की कथा पर ही प्रकाश डाला जायेगा।

गणिका—पिंगला नामक एक गणिका (वेश्या) थी। एक दिन रात को वह सज-धजकर किसी ग्राहक के आने की प्रतीक्षा करने लगी। जब रात बीतने पर भी कोई ग्राहक नहीं आया तो उसे यह सोचकर बड़ी ग्लानि हुई कि यदि इतनी देर में भगवान का स्मरण करती तो मेरा इस नरक से उद्धार हो जाता। यह विचार कर उसने वेश्यावृत्ति त्याग दी और भगवान का भजन करती हुई मोक्ष को प्राप्त हुई।

व्याध—आदि कवि महर्षि वाल्मीकि पहले व्याध (बहेलिया) थे और लूटमार कर अपने कुटुम्ब का पालन किया करते थे। एक बार उन्होंने कुछ ऋषियों को लूटना चाहा। इस पर उन ऋषियों ने उनसे कहा कि हमें लूटने से पहले अपने कुटुम्बी-जनों से जाकर पूछ लो कि वे तुम्हारे द्वारा लूटे गये धन में ही केवल हिस्सा बँटाने वाले हैं अथवा तुम्हारे पापों में भी हिस्सा बँटायेंगे। वाल्मीकि ने जब अपने घर वालों से यह प्रश्न पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि हम तो केवल धन के साथी हैं, पाप के नहीं। यह सुन वाल्मीकि को बड़ी ग्लानि हुई और वे ऋषियों से धर्मोपदेश ग्रहण कर राम का उल्टा नाम 'मरा मरा' जपते हुए भगवान के दर्शन करने में सफल हुए। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है—

'उल्टा नाम जपत जग जाना, वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।'

(२) 'मसक····सम'—यही बात संस्कृत में इस प्रकार कही गयी है—

"कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थः हरिः।"

[६५]

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जौ जमराज लाज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं ॥१॥
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमञ्जस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार प्रभु सों, मेरी भूरि भलाई भनिहैं ॥२॥
हँसि करिहैं परतीति भक्त की, भक्त-सिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति, अपनायहि पर बनिहैं ॥३॥

शब्दार्थ—तऊ=तो भी। अघ=पाप। गनिहैं=गिन सकेंगे। अनिहैं=लायेंगे। पुञ्ज=झुण्ड। खलल=बाधा। भनिहैं=कहेंगे। परितीति=विश्वास। मनिहैं=मान लेंगे।

भावार्थ—जब तुलसीदास ने देखा कि भगवान इतनी प्रार्थना करने, इतना

गिड़गिड़ाने पर भी मेरी बात नहीं सुनते तो उन्होंने एक चाल चली । वे भगवान से कहने लगे कि—

यदि यमराज अपने अन्य सारे कामों को छोड़कर केवल मेरे ही सम्पूर्ण पापों और अवगुणों की गणना करने का मन में विचार ठान लेंगे तो भी उन्हें नहीं गिन पायेंगे क्योंकि मेरे पापों और अवगुणों की संख्या अनन्त है । (दूसरी बात यह होगी कि जब यमराज मेरे पापों—अवगुणों—का लेखा-जोखा करने में व्यस्त रहेंगे, उस समय मौका पाकर) पापियों के झुण्ड-के-झुण्ड नरक से छूटकर भाग खड़े होंगे । यह देखकर यमराज बड़े असमंजस में पड़ जायेंगे कि अब क्या करें । अपने अधिकारों (पापियों को नरक में रखने के अधिकारों) में बाधा पड़ते देख यमराज (अपना पद छिन जाने के भय से भयभीत हो तथा मुझसे अपना पिंड छुड़ाने के लिए) भगवान से मेरी बहुत प्रशंसा करेंगे (कि तुलसीदास बड़ा धर्मात्मा है) । यह सुनकर भगवान हँसकर इस बात का विश्वास कर लेंगे कि तुलसीदास मेरा भक्त है और फिर मुझे भक्त-शिरोमणि की पदवी प्रदान कर देंगे । हे कौशलपति ! (इस सब का निष्कर्ष यही है कि) तुम्हें जैसे-तैसे अन्त में मुझ तुलसीदास को मजबूर होकर अपनाना ही पड़ेगा ।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने शिष्ट हास्य द्वारा यह संकेत दिया है कि मैं सबसे बड़ा पापी हूँ और भगवान पापियों का सबसे पहले उद्धार करते आये हैं, इसलिए सर्वश्रेष्ठ पापी होने के कारण तुलसीदास को भक्त-शिरोमणि की पदवी प्राप्त होगी ।

(२) यह पद तत्कालीन इस सामाजिक दशा पर भी प्रकाश डालता है कि उस युग में भी झूठी सिफारिश से काम बना लिया जाता था ।

(३) इस पद में आये 'ख्याल' और 'खलल' शब्द फारसी के हैं । उस युग में विदेशी भाषाओं के उन शब्दों को उदारतापूर्वक साहित्य में स्वीकार कर लिया जाता था तो जनता में प्रचार पा जाते थे ।

[९६]

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जनके ।
तो क्यों कटत सुकृत-नखते मोपै, बिपुल बृन्द अघ-बनके ।।१।।
कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, कर्म बचन अरु मन के ।
हारहिं अमित सेष सारद स्रुति, गिनत एक इका छन के ।।२।।
जौ चित चढ़ै नाम-महिमा निज, गुनगन पावन पन के ।
तौ तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों, दसन तोरि जमगन के ।।३।।

शब्दार्थ—सुकृत-नख=पुण्यरूपी नख । मोपै=मुझ से । वृन्द=समूह । अघ-बन के=पाप रूपी वन के । कृत=किये गये । अमित=असंख्य । पन=प्रण ।

भावार्थ—हे राम ! यदि तुम अपने इस दास तुलसी के अवगुणों को अपने मन में लाओगे अर्थात् उन्हें महत्त्व दोगे तो फिर मुझसे अपने पुण्यरूपी नाखून से पापों के वन के विशाल समूहों को कैसे काटता बनेगा। अर्थात् मेरे पुण्य कर्म तो नाखून के समान बहुत ही थोड़े हैं और पाप-कर्म वनों के विशाल-समूहों के समान भयंकर और असंख्य हैं। फिर मेरे पुण्य मेरे पापों को कैसे दूर कर सकेंगे। मैंने मन, वचन और कर्म से जितने अधिक पाप किये हैं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा। यदि असंख्य शेषनाग, सरस्वती (शारदा) और वेद मेरे एक-एक क्षण में किये गये पापों की गणना करने का प्रयत्न करने लगेंगे तो वे भी हार जायेंगे। हाँ, यह दूसरी बात है कि यदि तुम्हारे मन में अपने नाम की महिमा (नाम लेने से पापियों का उद्धार हो जाता है) और पापियों को पवित्र करने वाले अपने गुणों को चरितार्थ करने की प्रतिज्ञा का ध्यान आ जायेगा तो तुम अजामिल ब्राह्मण के ही समान यम के दूतों के दाँत तोड़कर इस तुलसीदास का उद्धार कर दोगे।

टिप्पणी—(१) नाखूनों द्वारा वनों के समूह को काटने का प्रयत्न करने की कल्पना बड़ी मनोरम है।

(२) 'कहिहैं········मन के'—यहाँ तुलसी अपने लघुत्व के प्रति संकेत कर रहे हैं।

[९७]

जो पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों, कत हठि बैर बिसहते ॥१॥
जौ जप जाग जोग ब्रत बर्जित, केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय ब्रज गोप-गेह बसि रहते ॥२॥
जौ जहँ तहँ प्रन राखि भक्त को, भजन-प्रभाव न कहते।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते ॥३॥
जौ सुतहित लिय नाम अजामिल के अघ अमित न दहते।
तौ जमभट साँसति-हर हम-से, बृषभ खोजि खोजि नहते ॥४॥
जौ जगबिदित पतितपावन, अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहुकल्प कुटिल तुलसी-से, सपनेहुँ सुगति न लहते ॥५॥

शब्दार्थ—गहते=ग्रहण करते, मन में लाते। सुरपति=इन्द्र। कुरुराज=दुर्योधन। बिसहते=ठानते। वर्जित=वर्जना कर, छोड़कर। विहाय=त्यागकर करम-मारग=कर्मकांड, जप, तप आदि का मार्ग। दहते=जलाते। जमभट=यमदूत। साँसति-हर=यातना रूपी हल। वृषभ=बैल, मूर्ख। नहते=जोत देते। बाँकुर=बाँका, निराला। बिरद=यश। बहते=धारण करते।

भावार्थ—पिछले पद में गोस्वामीजी कह आये हैं कि यदि राम भक्तों के अवगुणों को मन में लाते तो कैसे काम चलता। इस पद में गोस्वामीजी उदाहरण सहित इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि भगवान भक्तों के अवगुणों की तरफ कभी ध्यान नहीं देते—

यदि भगवान भक्तों के अवगुणों को मन में लाते अर्थात् उन अवगुणों की तरफ ध्यान देते तो फिर इन्द्र, दुर्योधन और बालि से हठपूर्वक दुश्मनी क्यों बाँध बैठते। यदि भगवान जप, यज्ञ, योग, व्रत की वर्जना कर अर्थात् इन्हें न करने की बात कह केवल प्रेम ही न चाहते तो देवताओं और श्रेष्ठ मुनियों को त्यागकर व्रज में गोपों के घर अथवा नन्द गोप के घर आकर क्यों रहते। भाव यह है कि भगवान ने प्रेम के वश होकर ही व्रज में अवतार लिया था। यदि भगवान जहाँ-तहाँ अर्थात् विभिन्न स्थानों और अवसरों पर अपने भक्तों के प्राणों (प्रतिज्ञाओं) को न रखते अर्थात् पूरा न करते और इस प्रकार भगवान का भजन करने के महत्त्व की स्थापना न करते तो इस कलियुग में कठिन कर्ममार्ग पर हम जैसे मूर्ख कैसे चल सकते और अपना निर्वाह कर सकते। भाव यह है कि कलियुग में कर्ममार्ग का अनुसरण करना दुष्कर है, क्योंकि कलि साधकों के मार्ग में बराबर बाधाएँ उपस्थित करता रहता है इसलिए हम जैसे मूर्खों का निर्वाह होना कठिन था। केवल भजन ही इस युग में मुक्ति का प्रधान साधन है।

यदि भगवान अजामिल के, जिसने अपने पुत्र नारायण को पुकारने के लिए भगवान के नाम का उच्चारण किया था, अनेक असंख्य पापों को जलाकर भस्म न कर डालते तो यमराज के गण हम जैसे बैलों अर्थात् मूर्खों को ढूँढ़-ढूँढ़कर यातना रूपी हल में जोत देते अर्थात् अनेक प्रकार की यातनाएँ देते। (बैल मूर्ख का प्रतीक माना जाता है।) यदि भगवान के अत्यन्त निराले इस यश की संसार भर में प्रसिद्धि न होती कि वह पापियों का उद्धार करने वाले हैं तो अनेक कल्पों तक तुलसी जैसे दुष्ट स्वप्न में भी कभी मुक्ति के अधिकारी न बन पाते।

टिप्पणी—(१) 'सुरपति'—भगवान का इन्द्र से बैर यों बँधा कि एक बार नारद नन्दन-कानन से पारिजात का एक फूल लाकर कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी को दे गये। यह देख कृष्ण की दूसरी रानी सत्यभामा ने भी वैसा ही फूल पाने की हठ की। यद्यपि हठ अनुचित थी परन्तु कृष्ण उसे पूरा करने के लिए स्वर्ग गये और इन्द्र से युद्ध कर पारिजात का वृक्ष ही वहाँ से उखाड़ लाये।

(२) 'कुरुराज'—दुर्योधन। पांडव जुआरी थे और लोक-मर्यादा के विरुद्ध पाँचों पांडवों की एक ही पत्नी द्रौपदी थी। पांडवों में इतने अवगुण रहते हुए भी महाभारत के समय कृष्ण ने पांडवों का पक्ष लिया था और दुर्योधन से दुश्मनी मोल ले ली थी।

(३) 'बालि'—बालि के भाई सुग्रीव ने बालि की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी

तारा को अपनी पत्नी बना लिया था। यह पाप-कर्म था। परन्तु क्योंकि सुग्रीव भगवान की शरण में आ गया था, इसलिए उन्होंने निरपराध वालि का वध कर सुग्रीव का पक्ष लिया था।

(४) 'ब्रज गोप-गेह'—कृष्णावतार से अभिप्राय है।

[९८]

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस, होत सदा यह रीति ।।१।।
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर, प्रबल करम की डोरी।
सोई अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि, बाँध्यो सकत न छोरी ।।२।।
जाकी मायाबस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाय ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ।।३।।
बिस्वंभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति, बेद-बिदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता, बरु ह्वै द्विज माँगी भीख ।।४।।
जाको नाम लिये छूटत भव-जन्म-मरन दुख-भार।
अंबरीष-हित-लागि कृपानिधि, सोइ जनमें दस बार ।।५।।
जोग बिराग ध्यान जप तप करि, जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर भालु चपल पसु पामर, नाथ तहाँ रति मानी ।।६।।
लोकपाल, जम, काल, पवन, रबि, ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेत-कर धारी ।।७।।

शब्दार्थ—जसुमति=जशोदा माता। छोरी=छुड़ाना। लीख=रेखा। बरु=उलटे। पामर=नीच। रति=प्रेम। बेंत-कर धारी=हाथ में बेंत ले द्वार पर खड़े रहने वाले द्वारपाल। उग्रसेन=कंस के पिता।

भावार्थ—भगवान अपने भक्तों पर इतना स्नेह रखते हैं कि अपनी प्रभुता (बड़प्पन) को भूल भक्त के वश में हो जाते हैं। हमेशा से यही बात होती चली आयी है। जिन भगवान ने देवता, असुर, नाग, मनुष्य आदि सभी को कर्म की मजबूत रस्सी से बाँध रखा है, उन्हीं अखण्ड ब्रह्म को (ब्रह्म के अवतार कृष्ण को) यशोदा माता ने जबरदस्ती रस्सी से बाँध दिया था, जिसे वह स्वयं खोलकर मुक्त नहीं हो सके थे। जिसकी माया के बन्धन में पड़कर ब्रह्मा और शिव बराबर नाचते फिरे और फिर भी जिसका पार न पा सके उसी ब्रह्म को ब्रज की ग्वाल-युवतियों (गोपियों) ने हाथ से ताली बजा-बजाकर उसकी लय पर खूब नचाया था। वेदों में प्रसिद्ध यह लीक है अर्थात् वेदों में यह बात लिखी पायी जाती है कि भगवान विश्व का पालन

करने वाले, लक्ष्मी के पति और तीनों लोकों के स्वामी हैं। परन्तु उनकी यह प्रभुता (बड़प्पन) राजा बलि के सामने कुछ भी न चल सकी अर्थात् रंचमात्र भी काम न आ सकी, बल्कि उन्हें ब्राह्मण-वेष धारण कर बलि से भीख माँगनी पड़ी। (यहाँ वामनावतार की ओर संकेत है।)

जिनका नाम लेने से ही संसार के जन्म-मरण (आवागमन) के दुख का भार दूर हो जाता है अर्थात् जीव मुक्त हो जाता है, उन्हीं कृपानिधि भगवान ने अम्बरीष जैसे भक्त के हित के लिए दस बार जन्म धारण किया था अर्थात् दशावतार लिया था। मुनि और ज्ञानी योग, वैराग्य, ध्यान, जप, तप, आदि कर जिनकी हमेशा खोज करते रहते हैं उन्हीं भगवान ने वन्दर और भालुओं जैसे नीच पशुओं से प्रेम माना था। लोकपाल, यम, काल, पवन, सूर्य, चन्द्र आदि सब जिनके आज्ञाकारी दास हैं वही प्रभु महाराज उग्रसेन के द्वार पर हाथ में लकड़ी लिये चौकीदार के समान खड़े देखे गये थे।

टिप्पणी—(१) अम्बरीष—परम वैष्णव महाराज अम्बरीष एकादशी का व्रत किया करते थे। एक बार द्वादशी के दिन ऋषि दुर्वासा संयोग से वहाँ आ पहुंचे। अम्बरीष द्वादशी को ब्राह्मण भोजन करवाकर व्रत का पारण किया करते थे। दुर्वासा स्नान करने चले गये और बहुत देर तक नहीं आये। इधर द्वादशी की तिथि समाप्त होने को थी और पारण करना आवश्यक था। ब्राह्मणों की आज्ञा से अम्बरीष ने चरणोदक लेकर पारण कर लिया। यह जान दुर्वासा क्रुद्ध हो उठे और शाप दिया कि अभी तुझे विभिन्न योनियों में दस हजार बार जन्म धारण करना पड़ेगा तब तेरी मुक्ति हो सकेगी। साथ ही दुर्वासा ने अपने तपोबल से कृत्या नामक राक्षसी को उत्पन्न किया जो अम्बरीष को खाने दौड़ी। परन्तु भगवान ने अपने भक्त की रक्षा करने के लिए सुदर्शन चक्र को भेजा जिसने कृत्या का वध कर भक्त को दुख देने वाले दुर्वासा का पीछा किया। दुर्वासा त्रिलोक में भागते फिरे परन्तु कोई भी उन्हें शरण न दे सका। भयभीत हो वह लौटकर अम्बरीष की ही शरण में आये। अम्बरीष की आज्ञा मान चक्र शान्त हो गया। इधर भगवान विष्णु ने अम्बरीष को दिये गये शाप को पूर्ण करने के लिए उसे स्वयं अपने ऊपर ले लिया और जिसके फलस्वरूप उन्हें दस बार अवतार लेना पड़ा।

(१) 'उग्रसेन'—कंस के पिता और कृष्ण के नाना थे। कंस का वध कर कृष्ण ने इन्हें ही राज-सिंहासन पर बैठाया था और स्वयं उनके मन्त्री और द्वारपाल अर्थात् रक्षक बने थे।

(३) 'सोई····छोरी'—एक बार शैतानी करने पर माता यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से कसकर बाँध दिया। सूरदास ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसी समय वहाँ बलराम आ पहुँचे। सूर कहते हैं—

निरखि स्याम हलधर मुसकाने।
को बाँधे को छोरै इनको, यह महिमा एई पै जाने॥
× × ×
सूरदास प्रभु भाव भक्त के, अतिहित जसुमति हाथ बिकाने॥

(४) 'करतल''''नचायो'—सूर और रसखान की इससे सम्बन्धित दो पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

'चुटकिन दे-दे ग्वालि नवावति, नाचत कान्ह बाल-लीला धरि।'
—सूरदास

'जाहि हिए लखि आनन्द ह्वै जड़ मूढ़ हिए रसखानि कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥'
—रसखान

[९९]

बिरद गरीब निवाज राम को।
गावत बेद पुरान संभु सुक, प्रगट प्रभाव नाम को॥१॥
ध्रुव प्रहलाद बिभीषन कपिपति, जड़ पतंग पांडव सुदाम को।
लोक सुजस, परलोक सुगति इन्ह में को है राम काम को॥२॥
गनिका, कोल, किरात आदिकबि, इन्हते अधिक बाम को।
बाजिमेध कब कियो अजामिल, गज गायो कब साम को॥३॥
छली मलीन हीन सब ही अँग, तुलसी सो छीन छाम को।
नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग, जुग-जुग चालत चाम को॥४॥

शब्दार्थ—बिरद=यश। कपिपति=वानरराज सुग्रीव। जड़=यमलार्जुन नामक वृक्ष। पतंग=पक्षी। सुदाम=सुदामा। आदिकबि=वाल्मीकि। बाम=नीच, बुरा। बाजिमेध=अश्वमेध। साम=सामवेद। छीन छाम=दुबला-पतला। को=कौन। चालत चाम को=चमड़े का सिक्का चलता है।

भावार्थ—राम गरीब निवाज अर्थात् गरीबों को शरण देने वाले हैं, उनकी यह प्रसिद्धि विश्वव्यापी है। राम के नाम का प्रभाव स्पष्ट है अर्थात् राम-नाम लेने से मुक्ति मिल जाती है—इस बात को वेद, पुराण, शिव, शुकदेव आदि सभी गाते हैं, अर्थात् कहते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, वानरराज सुग्रीव, यमलार्जुन तथा पाषाणी अहिल्या जैसे जड़ पदार्थ, जटायु जैसे पक्षी, पांडव और सुदामा—इन सबको भगवान ने इस लोक में सुयश और परलोक में मोक्ष दिया था। परन्तु भला, इनमें से कोई भी राम के काम का था? वेश्या, पिंगला, कोल, किरात, आदि जंगली जातियाँ आदि कवि वाल्मीकि—इनसे अधिक नीच और कौन दूसरा था अर्थात् ये सब महानीच

थे। अजामिल ने कब अश्वमेध किया था ? गजेन्द्र ने कब सामवेद का गायन किया था ? भाव यह है कि इनमें से किसी ने भी न तो अश्वमेध जैसे यज्ञ किये थे और न सामवेद की ऋचाएँ गायी थीं, परन्तु भगवान् ने इन सबको मुक्ति प्रदान की थी। अर्थात् मुक्ति के लिए इन कार्यों का करना आवश्यक नहीं है। केवल राम-नाम लेने से ही मुक्ति मिल जाती है।

तुलसीदास के समान कपटी, मलिन, सारे अंगों से हीन और दुबला-पतला अन्य कौन है ? परन्तु संसार में यह रीति चली आयी है कि राजा के नाम के प्रताप के बल पर ही चमड़े का सिक्का भी युग-युग तक चलता रहता है। अर्थात् महत्त्व सिक्के का न होकर राजा के नाम के प्रताप का ही होता है। इसी प्रकार मैं भी राम-नाम के प्रताप से तर जाऊँगा।

टिप्पणी—इस पद में आये सम्पूर्ण भक्तों के नामों से सम्बन्धित कथाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, सुग्रीव, जटायु, सुदामा, वाल्मीकि, गजेन्द्र आदि की कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। पिंगला वेश्या और अजामिल की कथाएँ हम पिछले पदों में बता आये हैं।

[१००]

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुकिल नैन जल, सो नर खेहर खाउ ।।१।।
सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु, सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसौहैं, सुपनेहुँ लख्यो न काउ ।।२।।
खेलत संग अनुज बालक नित, जुगवत अनट अपाउ।
जीत हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ ।।३।।
सिला साप-संताप-बिगत भई, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरषि हिय, चरन छुए पछताउ ।।४।।
भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ ।।५।।
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गे राउ।
ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तनु मरमकुघाउ ।।६।।
कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ।
देबे को न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ ।।७।।
अपनाये सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ ।।८।।

निज करुना करतूति भक्त पर, चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिर गाउ ॥६॥
समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम-पसाउ ॥१०॥

शब्दार्थ—सुनि=सुनकर। मोद=प्रसन्नता। खेहर=धूल, राख। सचिव=मंत्री, सलाहकार। रिसौहैं=क्रुद्ध, कुपित। लख्यो=देखा। जुगवत=देखते थे। अनट=अन्याय, बेईमानी। अपाउ=नटखटपन। दाउ=दाँव। विगत=रहित, मुक्त। भव-धनु=शिव-धनुष। निदरि=अनादर कर। ताउ=ताव। इतौ=इतनी। समाउ=समाई, क्षमता। राउ=राजा दशरथ। मरम कुघाऊ=मर्मस्थान पर लगा बुरा घाव। कनौड़े=कृतज्ञ। रिनियाँ=ऋणी, कर्जदार। धनिक=धनी, साहूकार। छल-छाउ=छल-छद्म। अघाउ=तृप्ति। चपत=दबते हैं, झुक जाते हैं, सकृत=एक बार। पसाउ=प्रसाद।

भावार्थ—सीतापति राम के शील भरे स्वभाव का वर्णन सुन जिसके मन में आनन्द, शरीर में पुलक और नेत्रों में जल न भर आये वह व्यक्ति खेह अर्थात् धूल फाँकने वाले प्राणी के समान अधम और निस्सार है। उसके मानव-जीवन धारण करने का कोई महत्त्व नहीं है। राम के बचपन से ही उनके पिता, माता, बन्धु, गुरु, सेवक, मंत्री (सलाहकार) और मित्र यही बात कहते आये थे कि राम के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख पर क्रोध का भाव किसी ने कभी स्वप्न तक में नहीं देखा। अर्थात् राम कभी क्रोध नहीं करते। राम अपने छोटे भाइयों सहित अन्य बालकों के साथ नित्य खेलते समय उनकी बेईमानी और नटखटपन को देखते रहते थे, स्वयं जीतने पर भी हार स्वीकार कर उन्हें पुकारते हुए प्रेम करते थे और स्वयं दाव देते थे और दूसरों से भी दिलाते थे। (इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि जीतने या हारने पर न तो कभी प्रसन्न होते थे और न उदास, बल्कि समरस भाव से दोनों ही स्थितियों में साथी बालकों को पुचकार, स्नेह कर बराबर प्रसन्न मन से खेलते रहते थे।)

राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाते ही शिला रूपी अहिल्या अपने पति गौतम ऋषि द्वारा दिये गये शाप के दुःख से मुक्त हो पुनः नारी बन गयी थी। यह देख राम के मन में इस बात से हर्ष तो उत्पन्न नहीं हुआ कि उन्होंने उसका उद्धार कर दिया था, उल्टे उन्हें इस बात का पछतावा रहा कि उन्होंने अपने चरणों से ब्राह्मणी (अहिल्या ब्राह्मणी थी) का स्पर्श किया था। शिव-धनुष को तोड़ जब राम ने उपस्थित सभी राजाओं का मानमर्दन कर डाला था उस समय परशुराम यह देखकर ताव खा गये थे, क्रुद्ध हो उठे थे। उस समय राम ने उनका अपराध क्षमा कर स्वयं उनके पैरों में पड़ उनसे (लक्ष्मण द्वारा कहे गये दुर्वचनों के लिए) क्षमा माँगी थी। भला,

सहनशीलता की इतनी क्षमता अन्य किसी में कहाँ हो सकती है। अर्थात् राम असाधारण रूप से सहनशील और क्षमाशील थे।

राजा दशरथ ने राम को राज्य देने के लिए कह कर भी अपनी पत्नी कैकेयी के वश में पड़कर उन्हें वनवास दिया था और फिर इसी ग्लानि में गल-गलकर मर गये थे। परन्तु राम ने अपनी उस कुमाता (दुष्ट माता) कैकेयी के मन का भी सदैव उसी प्रकार ध्यान रखा था जिस प्रकार व्यक्ति अपने मर्म स्थान पर लगे भयंकर घाव का सदैव ध्यान रखता है कि कहीं उसमें ठेस न लग जाय। अर्थात् राम कभी भी कोई ऐसी बात नहीं करते, कहते थे जिससे कैकेयी के मन को ठेस पहुंचे। हनुमान द्वारा की गयी सेवा से वह उनसे इतने कृतज्ञ हो उठे थे कि उन्होंने हनुमान से कहा था कि—'हे पवन सुत ! यहाँ मेरे पास आओ। मेरे पास तुम्हें देने के लिए तो कुछ है नहीं परन्तु मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और तुम मेरे साहूकार हो। तुम इस बात का मुझसे दस्तावेज लिखवा लो। (और जब जरूरत हो तब उसे वसूल कर लेना।)'

यद्यपि सुग्रीव और विभीषण ने अपना छल-छद्म अर्थात् कपट करने का स्वभाव नहीं छोड़ा (सुग्रीव राज्य पाकर सीता की खोज में सहायता करने की अपनी प्रतिज्ञा को भूल गया था और विभीषण, जिसने राम से पहले यह कहा था कि—'उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सहित सो बही॥' राज्य पाकर माता समान अपनी भाभी मन्दोदरी को पत्नी बना भोग-विलास में डूब गया था) परन्तु राम ने इन दोनों को भी अपना लिया था। (राम को जिन भरत के कारण ही वनवास मिला था, उन्हीं) भरत का राम ने भरी सभा में सम्मान किया था और उनकी इतनी प्रशंसा की थी कि प्रशंसा करते-करते राम का मन ही नहीं तृप्त होता था। अथवा राम भरी सभा में विभीषण और सुग्रीव का सम्मान कर भरत से उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे।

भक्तों पर राम ने करुणा के वश होकर जो-जो अनुग्रह किये थे उनकी चर्चा चलने पर राम संकोच के मारे धरती में गढ़ से जाते हैं अर्थात् इतने विनयशील हैं कि अपनी ही प्रशंसा उन्हें अच्छी नहीं लगती। यदि किसी ने एक बार भी राम की शरण में आकर उन्हें प्रणाम कर लिया तो वह सदैव उसकी चर्चा करते और सुनते रहते हैं तथा एक बार सुनने पर सुनाने वाले से फिर कहते हैं कि उसी चर्चा को करो। अर्थात् भक्तों की चर्चा सुनने में उन्हें अपार सुख मिलता है। ऐसे राम के गुणों को समझकर हृदय में उनके प्रति अनुराग बढ़ता जाता है। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे राम के चरणों का प्रेम-प्रसाद अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—(१) इस पद में राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है।

(२) 'मोद न तन……नैन जल' से भाव सात्विक भावों के उदय होने से है।

[१०१]

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥१॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे ।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥२॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब, माया-बिबस बिचारे ।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे ॥३॥

भावार्थ—हे नाथ ! तुम्हारे चरणों को छोड़कर मैं और कहाँ जाऊँ ? इस संसार में 'पतित पावन' नाम और किस दूसरे का है ? और दीन जन और किसको इतने प्यारे हैं ? ऐसा कौनसा देवता है जिसने अपने यश की रक्षा करने के लिए हठपूर्वक चुन-चुनकर नीचों का उद्धार किया हो ? पक्षी (जटायु), मृग (स्वर्ण हिरण रूप धारी मारीच), व्याध (वाल्मीकि), पत्थर (अहिल्या), जड़ वृक्ष (यमलार्जुन), और म्लेच्छों को किस देवता ने तारा है ? देव, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि सभी बेचारे माया के वश में पड़े विवश रहते हैं । हे प्रभु ! तो यह तुलसीदास अपने को उनके हाथ में क्यों सौंप दे ? अर्थात् उनकी शरण क्यों जाय क्योंकि वे तो सभी स्वयं माया के वश में पड़े विवश हैं, मेरी क्या सहायता कर सकेंगे ?

टिप्पणी—(१) 'जवन'—यवन, म्लेच्छ । कहा जाता है कि एक मुसलमान ने एक सुअर द्वारा आक्रमण किये जाने पर उसके आघात से मरते समय 'हराम' शब्द का उच्चारण किया था क्योंकि मुसलमानों में सुअर हराम अर्थात् त्याज्य माना जाता है । 'हराम' में 'राम' शब्द आ जाने से ही उसकी मुक्ति हो गयी थी ।

(२) पंचम् पंक्ति का सारांश-सा 'मानस' की इस पंक्ति में मिल जाता है—
'उमा दारु-जोषित की नाईं । सबै नचावत राम गुसाईं ॥'

(३) इस पद में गहरी विनय-भावना दृष्टव्य है । तुलसीदास के ऐसे छोटे-छोटे पद जनता में बहुत लोकप्रिय हैं ।

[१०२]

हरि, तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ॥१॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार ॥२॥
बिषम-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक ॥३॥

> कृपा डोरि, बंसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
> एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥४॥
> हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै।
> तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु, जोई बाँध्यो सोइ छोरै ॥५॥

शब्दार्थ—विबुध-दुरलभ=देवताओं को भी दुर्लभ। पद-अंकुस=पैरों के तलवों में बना अंकुश का चिह्न। मृदु=मीठा। चारो=चारा। निहोरै=निहोरा, प्रार्थना करे। मोह-रजु=मोह की रस्सी।

भावार्थ—हे हरि ! तुमने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया कि मुझे कृपा करके देवताओं के लिए भी दुर्लभ, अनेक साधनों का मन्दिर यह मानव-शरीर दिया। हे प्रभु ! तुम्हारे द्वारा किये गये एक-एक उपकार का वर्णन करोड़ों मुखों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। फिर भी हे नाथ ! मैं तुमसे कुछ और माँगूँगा। तुम तो बड़े उदार दानी हो, कृपा कर मेरी उस माँग को अवश्य पूरी करना।

मेरी माँग यह है कि मेरी मन-रूपी मछली विषय रूपी जल से कभी क्षण भर के लिए भी अलग नहीं होती अर्थात् मेरा मन सदैव विषयों में ही लिप्त रहता है। इस कारण मैं बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेता हुआ बड़ा भयंकर दुख पाता रहता हूँ। इसलिए तुम ऐसा करो कि अपनी कृपा को डोरी, उसमें अपने चरणों में बने अंकुश को काँटा तथा अपने परम प्रेम को ही मीठा चारा बना, मेरी मन रूपी मछली को फँसा मेरा दुख दूर करो। ऐसा करना तो तुम्हारे लिए खेल ही होगा। भाव यह है कि तुम अपनी कृपा द्वारा, अपने प्रति परम प्रेम की भावना उत्पन्न कर मेरे मन को अपने चरणों में बाँध लो; अर्थात् मैं सदैव तुम्हारे चरणों का ही ध्यान रखूँ। वेदों में वैसे तो (जप, तप, यज्ञ, वैराग्य आदि) अनेक प्रकार के उपाय बताये गये हैं और अनेक देवता भी कहे गये है। अर्थात् इन उपायों के करने तथा अन्य देवताओं की उपासना करने से भी मुक्ति प्राप्ति की बात वेदों में कही गयी है, परन्तु मैं गरीब किस-किस देवता की खुशामद करता फिरूँ। तुलसीदास का तो कहना है कि जिसने इस जीव को मोह की रस्सी से बाँध रखा है, वही आकर इसे खोले। भाव यह है कि मायापति भगवान ने ही जीव को माया में उलझा रखा है और वही उस माया के बन्धन को दूर कर जीव को मुक्त करेंगे। अन्य कोई भी देवता इस कार्य को नहीं कर सकता।

टिप्पणी—(१) अलङ्कार—'कोटिहुँ.......उपकार' में विशेषोक्ति अलंकार तथा 'विषय बारि....एक' में सांगरूपक अलंकार माने जा सकते हैं।

(२) इस पद में तुलसी मन को वश में करने की शक्ति राम से ही प्राप्त करना चाहते हैं।

(३) 'साधन धाम....तनु'—मानव शरीर धारण करने के लिए देवता भी

ललचाते हैं, क्योंकि शास्त्रों के अनुसार मानव-योनि देव-योनि से अधिक महत्त्वपूर्ण है और मनुष्य-योनि हरि के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है।

(४) इस पद में विरक्ति और अनुरक्ति का सजीव सिद्धान्त है। मन मीन है और विषय-वासना जल है। मन मीन के समान चंचल होता है और विषय-वासना जल के समान अधोगामी अर्थात् पतित करने वाली। मन और विषयों का मीन और जल के सम्बन्ध के ही समान प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

(५) 'पद-अंकुस'—विष्णु के प्रत्येक अवतार में पैरों में चौबीस-चौबीस चिह्न होते हैं जिनमें से एक चिह्न अंकुश का भी होता है। यहाँ इसी अंकुश के चिह्न को मछली फँसाने वाला काँटा, जो वंशी की डोर में बाँधा जाता है, बनाया गया है। जिस प्रकार अंकुश से मतवाले हाथी को वश में किया जाता है उसी प्रकार भगवान के चरण में बने अंकुश का ध्यान करने से मनरूपी मतवाले हाथी को सहज ही वश में किया जा सकता है।

[१०३]

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस बिस्वास भरोसो, हरो जीव-जड़ताई ॥१॥
चहौं न सुगति, सुमति संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै, अनुदिन अधिकाई ॥२॥
कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये, कमठ-अण्ड की नाईं ॥३॥
या जग में जहँ लगि या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सौं होहिं सिमिटि इक ठाईं ॥४॥

शब्दार्थ—जड़ताई=जड़ता, मूर्खता। हेतु-रहित=कामना रहित, निष्काम भाव से। अनुदिन=दिन-दिन। बरिआई=जबरदस्ती, बलात्। छोह=प्रेम। कमठ अण्ड=कछुआ के अण्डे। ठाईं=स्थान।

भावार्थ—हे रघुवीर! हे स्वामी! मेरी तुमसे यही विनय है कि यह जीव जो दूसरों का अर्थात् अन्य जप, तप आदि साधनों तथा अन्य देवताओं की आशा, भरोसा और विश्वास करता है—सो इसकी इस मूर्खता को दूर कर दो। अर्थात् यह सबको छोड़ केवल एक तुम्हारे ऊपर ही निर्भर रहे। मैं मोक्ष, सुन्दर बुद्धि, सम्पत्ति, रिद्धि-सिद्धि तथा महान् यश आदि कुछ भी नहीं चाहता। मैं तो केवल यह चाहता हूँ कि राम के चरणों में मेरा निष्काम-प्रेम दिन-दिन अधिकाधिक बढ़ता चला जाय। मेरे खोटे कर्म मुझे जहाँ-जहाँ जबरदस्ती घसीट कर ले जायँ अर्थात् अपने बुरे कर्मों के

कारण मैं जिस-जिस योनि में जन्म लूँ, वहाँ तुम क्षण भर के लिए भी मेरे ऊपर उसी प्रकार कृपा करना मत छोड़ना जिस प्रकार कछुआ अण्डे देने के उपरान्त क्षण भर को भी उनकी चिन्ता करना बन्द नहीं करता। भाव यह है कि तुम सदैव मेरी खबर लेते रहना। इस संसार में जहाँ तक (स्त्री, पुत्र, धन आदि के प्रति) इस शरीर का प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध रहता है, वह सब एक स्थान पर सिमटकर (एकत्र होकर) केवल तुम्हारे ही प्रति एकाग्र हो जाय। अर्थात् मेरा सांसारिक सम्बन्धों के प्रति जितना प्रेम, विश्वास आदि है वह सब केवल तुम में ही केन्द्रित हो जाय।

टिप्पणी—(१) 'कुटिल····नाईं'—इसी भाव को गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

'जेहि-जेहि जोनि करम-बस भ्रमहीं। तहँ-तहँ ईस देहि यह हमहीं।
सेवक हम, स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥'

[१०४]

जानकी जीवन की बलि जैहौं!
चित कहै, रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥१॥
उपजी उर प्रतीति सुपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तनु के बासिन्ह, इहै सिखावन देहौं॥२॥
स्रवननि औरि कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥३॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥४॥

शब्दार्थ—बलि जैहौं=बलिहार जाऊँगा। परिहरि=छोड़कर। उपजी=उत्पन्न हुई। तनु के बासिन्ह=शरीर में रहने वाले, इन्द्रियाँ। सिखावन=शिक्षा। गैहौं=गाऊँगा। नैहौं=नवाऊँगा। बहैहौं=बहा दूँगा। छर भार=उत्तरदायित्व का बोझा, कामों की सम्हाल।

भावार्थ—मैं तो जानकी के जीवन अर्थात् जानकी के प्राणाधार राम की बलि जाऊँगा। अर्थात् उनके ऊपर अपना सब कुछ न्योछावर कर दूँगा। मेरा मन यह कहता है कि अब राम-सीता के चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं जाऊँगा। मन में अब यह विश्वास उत्पन्न हो गया है कि भगवान के चरणों से विमुख होने पर मैं स्वप्न में भी सुख प्राप्त न कर सकूँगा। मैं मन सहित अपने इस शरीर के अन्य सारे निवासियों अर्थात् इन्द्रियों को यही शिक्षा (सलाह) दूँगा (कि तुम भी सारी विषय-वासनाओं को छोड़ भगवान के चरणों में लगी रहो।)

मैं अपने कानों से अब किसी अन्य की कथा को न तो सुनूँगा ही और न जीभ से उसको गाऊँगा ही। मैं अपने नेत्रों को दूसरों का दर्शन करने से रोकूँगा और केवल भगवान के सामने ही अपना मस्तक झुकाऊँगा, उन्हें प्रणाम करूँगा। अब मैं अपने स्वामी राम से ही सारा प्रेम-सम्बन्ध जोड़कर प्रेम के अन्य सारे सम्बन्धों को दूर कर दूँगा। अर्थात् अब केवल राम से ही प्रेम करूँगा। तुलसीदास कहते हैं कि अब तो मैं अपने ऊपर पड़े उत्तरदायित्व के बोझे को अर्थात् काम-काज की सारी साज-सम्हाल करने की जिम्मेदारी उन्हीं भगवान पर छोड़ दूँगा जिनका कि मैं दास कहलाऊँगा। अर्थात् अब मेरे सारे कार्य भगवान स्वयं सम्हाल लेंगे, मैं तो केवल उनके प्रेम में रात-दिन डूबा रहूँगा, सांसारिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा।

टिप्पणी—(१) 'यह छर भार'—भगवान भक्त का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है—

'तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

(२) इससे पहले तक तुलसी मन को वश में करने का प्रयत्न करते रहते हैं परन्तु यहाँ आकर ऐसा प्रतीत होता है कि मन उनके वश में हो गया है और पूर्ण एकाग्र हो राम के चरणों में लग गया है ! इससे आगे के पदों में यही भाव दृढ़ होता चला गया है।

[१०५]

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं ।।१।।
पायो नाम चारुचिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ।।२।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।३।।

शब्दार्थ—नसानी=बर्बाद की। सिरानी=बीत गयी। डसैहौं=बिस्तर बिछाऊँगा। खसैहौं=गिराऊँगा। न हँसैहौं=अपनी हँसी नहीं उड़वाऊँगा। पन कै=प्रतिज्ञा करके। बसैहौं=बसा दूँगा।

भावार्थ—तुलसीदास अपने विगत-जीवन के प्रति पश्चाताप करते हुए कह रहे हैं कि—

अब तक अर्थात् इतनी आयु तो मैंने अपने जीवन को (भगवान का भजन किये बिना) बर्बाद किया था परन्तु अब उसे नहीं बिगड़ने दूँगा। अर्थात् अब अपने जीवन को सम्हाल लूँगा। राम की कृपा से मेरी संसार रूपी रात्रि बीत गयी है अर्थात् सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति मेरी आसक्ति समाप्त हो गई है। अब मैं जाग्रत

हो उठा हूँ इसलिए अब फिर कभी बिस्तर बिछाकर सोने की तैयारी नहीं करूँगा अर्थात् अब कभी भूलकर भी सांसारिक माया-मोह में लिप्त नहीं हूँगा। अब कभी प्रवृत्ति को जाग्रत नहीं होने दूँगा। अब मैंने राम-नाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि (मनोकामना पूरी करने वाली मणि) प्राप्त कर ली है। उसे अपने हृदय रूपी हाथ से अब कभी नहीं गिरने दूँगा। अर्थात् जिस प्रकार हाथ की मुट्ठी में बन्द चीज सुरक्षित रहती है उसी प्रकार अब मैं अपने हृदय में राम-नाम को सुरक्षित रखूँगा, सदैव उसी का जाप करता रहूँगा और उसे कभी अपने हृदय से अलग नहीं करूँगा। मैं भगवान के सुन्दर श्याम रूप को ही कसौटी बनाकर अपने चित्तरूपी स्वर्ण को उस पर कसूँगा अर्थात् उसकी परीक्षा लूँगा। भाव यह है कि जिस प्रकार कसौटी पर कसकर स्वर्ण की उत्तमता की परीक्षा ली जाती है, उसी प्रकार मैं अपने मन की यह परीक्षा लूँगा कि वह राम-नाम लेने में खरा उतरता है अथवा नहीं, राम का चिन्तन करने में एकाग्र रहता है अथवा नहीं।

जब मैं अपनी इन इन्द्रियों के वश में था, तब ये इन्द्रियाँ मुझे परवश जानकर मेरे ऊपर हँसा करती थीं कि इसे अच्छा नाच नचा रही हैं। परन्तु अब मैं इन इन्द्रियों को अपने वश में करके इन्हें और अधिक अपनी हँसी नहीं उड़ाने दूँगा। अर्थात् पूर्ण संयम रखूँगा, जितेन्द्रिय बनूँगा। अब मैं प्रतिज्ञा ठानकर अपने मन रूपी भ्रमर को राम के चरण कमलों में बसा दूँगा। अर्थात् अपने मन की इधर-उधर विषय-वासनाओं में भटकने वाली भ्रमर-वृत्ति को दूर कर उसे एकाग्रनिष्ठा के साथ राम के चरणों में लगा दूँगा।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'राम कृपा....डसैहौं' में रूपक है।

(२) कसौटी का रंग काला होता है। यहाँ राम भी श्याम वर्ण हैं। इसलिए यह उपमा अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

(३) इस समस्त पद में अभिव्यक्त आत्म-निवेदन, एकनिष्ठा और विरक्ति-भावना अनुपम और मार्मिक है। भक्त की निश्छलता और इष्टदेव के प्रति पूर्ण निर्भरता ऐसे पदों को अत्यन्त प्रभावशाली बना देती है। यद्यपि शुद्ध कला के ऐसे पदों में दर्शन नही होते परन्तु अपनी मार्मिकता में ये पद अद्वितीय होते हैं।

राग रामकली

[१०६]

महाराज रामादर्यो धन्य सोई।
गरुअ गुनरासि सर्वज्ञ सुकृति सूर, सील-निधि साधु तेहि सम न कोई ॥१॥
उपल-केवट-कीस-भालु-निसिचर-सबरि-गीध सम-दम-दया-दान-हीने।
नाम लिये राम किये परम पावन सकल,नर तरत तिनके गुन गान कीने ॥२॥

व्याध अपराध की साध राखी कहा, पिंगलै कौन मति भक्ति भेई।
कौन धौं सोमयाजी अजामिल अधम, कौन गजराज धौं बाजपेयी ॥३॥
पांडु-सुत गोपिका बिदुर कुबरी सबहिं, सुद्ध किये सुद्धता लेस कैसो।
प्रेम लखि कृष्ण किये आपने तिनहुँ को, सुजस हरिहर को जैसो ॥४॥
कोल, खस, भील जवनादि खल राम कहि, नीच ह्वै ऊँच पद को न पायो।
दीन-दुख-दमन श्रीरमन करुना-भवन, पतित-पावन बिरद बेद गायो ॥५॥
मंदमति कुटिल खल-तिलक तुलसी सरिस, भो न तिहुँ लोक तिहुँ काल कोऊ।
नाम की कानि पहिचानि जन आपनो,ग्रसित कलि-ब्याल राख्यो सरन दोऊ॥६।

शब्दार्थ—रामादर्‍यो=राम ने आदर किया। गरुअ=भारी। सुकृती=पुण्य कर्म करने वाला। उपल=पत्थर। कीस=बन्दर। सवरि=शबरी। सम=संयम। दम=नियम। तिनके=उनके। साध=इच्छा। भेई=सींची हुई, भीगी हुई। सोमयाजी=सोमयज्ञ करने वाला। बाजपेयी=अश्वमेघ यज्ञ करने वाला। पांडु-सुत=पांडव। बिरद=यश। खल-तिलक=दुष्ट-शिरोमणि। सरिस=समान। भो=हुआ। कानि=मर्यादा। कलि-व्याल=कलियुग रूपी सर्प।

भावार्थ—महाराज राम ने जिसका आदर किया (जिसे सम्मान दिया), वही धन्य है। उसके समान बड़े-बड़े गुणों का भण्डार (सर्वगुणसम्पन्न), सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला परम ज्ञानी), पुण्यात्मा, वीर, शील का सागर और साधु अन्य कोई भी दूसरा नहीं है। पत्थर (अहिल्या), केवट (निषादराज गुह), बन्दर (हनुमान आदि), भालू (जाम्बवान आदि), राक्षस (रावण, विभीषण), शबरी, गिद्ध (जटायु) जैसे संयम, नियम, दया, दान आदि से हीन जड़-चेतन सभी राम का नाम लेने से परम पवित्र बन गये, जिनके गुणों का गान करने से मनुष्य का उद्धार हो जाता है; अर्थात् ये गुणहीन भी ऐसे महान् बन गये कि उनके गुण गाने मात्र से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

व्याध वाल्मीकि ने कौन-से अपराध करने की साध बाकी रखी थी अर्थात् कौन-से अपराध नहीं किये थे ? पिंगला वेश्या ने अपनी बुद्धि कब राम की भक्ति के जल से सींची थी, भिगोयी थी ? नीच अजामिल ने कौन-सा सोमयज्ञ किया था ? गजेन्द्र कौन-सा अश्वमेध करने वाला था ? भाव यह है कि ये सब महान् पापी थे। युधिष्ठिर आदि पंच पांडव (जुआरी, पाँच पिताओं की सन्तानें, एक ही पत्नी के पाँच पति), गोपियाँ (पतियों को त्याग परकीया नायिका बनने वाली), विदुर (दासी-पुत्र), कुब्जा (दासी) आदि सभी (नीच और पापियों) को, जिनमें शुद्धता (पवित्रता) का लेशमात्र भी अंश नहीं था, भगवान ने शुद्ध (पवित्र) बना दिया था। इन सब के अपने प्रति प्रेम को देखकर कृष्ण ने इन्हें अपना बना लिया था। इनका सुन्दर यश इस संसार में वैसा ही महान् और व्यापक है, जैसे कि राम और शिव महान् और व्यापक हैं।

कोल, खस, भील (जंगली जातियाँ), यवन आदि दुष्ट नीच होते हुए भी राम का नाम लेने से उच्च पद (भक्त के पद) को प्राप्त थे। दीनों का दुख दूर करने वाले, लक्ष्मी पति, करुणा के भण्डार, पतित-पावन भगवान राम के यश को वेदों ने गाया है, वर्णन किया है। तीनों लोकों और तीनों कालों में तुलसीदास के समान मूर्ख और दुष्टों का शिरोमणि अन्य कोई भी दूसरा नहीं हुआ है, उसे भी भगवान ने अपना दास जानकर, अपने प्रण की मर्यादा की रक्षा (भक्तों का उद्धार करने का प्रण) करने के लिए कलियुग रूपी सर्प के चंगुल में फँसा हुआ देख अपनी शरण में ले लिया और रक्षा की।

टिप्पणी—(१) **'केवट'**—निषादराज गुह ने राम को वनवास के समय अपनी नाव में बैठा गंगा पार कराया था। राम उसे भाई और मित्र के समान मानते थे।

(२) **'शबरी'**—यह जाति की भीलनी थी। राम जब सीता के वियोग में व्यथित इसकी कुटिया पर पहुँचे तो इसने स्वयं चख-चखकर अपने जूठे मीठे बेर राम को खिलाये थे। राम ने इसे नवधा-भक्ति का उपदेश दिया था।

(३) **'विदुर'**—यह दासी पुत्र थे परन्तु भगवद्भक्त होने के कारण सब इनका सम्मान करते थे। ये राजनीति के महान् ज्ञाता माने जाते थे। इनकी 'विदुर-नीति' प्रसिद्ध है।

(अन्य अन्तर्कथाएँ पिछले पदों में दी जा चुकी हैं।)

(४) 'निसिचर'—इससे भाव उन सभी भक्तों से है जो राक्षस थे; जैसे—प्रह्लाद, राजा बलि, बाणासुर, वृत्तासुर, विभीषण आदि।

(५) इस पद में पतित-पावन राम के गुणों का वर्णन किया गया है। इसे 'महात्म्य-वर्णन' वाले पदों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

राग विलास

[१०७]

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन सुठि सुन्दर स्याम ॥१॥
सिय-समेत सोहत सदा छबि अमित अनंग।
भुज बिसाल सर धनु धरे, कटि चारु निषङ्ग ॥२॥
बलि पूजा चाहत नहीं, चाहत इक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति ॥३॥
देहि सकल सुख, दुख दहै, आरत-जन-बंधु।
गुन गहि,अघ-औगुन हरै,अस(प्रभु)करुनासिंधु ॥४॥

देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान।
सब को प्रभु, सब में बसै, सब की गति जान ॥५॥
को करि कोटिक कामना, पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ॥६॥

शब्दार्थ—नीको=अच्छा। सरोरुह=कमल। सुठि=अत्यन्त। अनंग=कामदेव। निषंग=तरकश। अघ=पाप। बद=कहते हैं। सेव=सेवा करते हैं।

भावार्थ—कोशलपति राम मेरे बड़े अच्छे देवता हैं। उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर और शरीर अत्यन्त सुन्दर और साँवला है। वे सदैव सीता-सहित शोभायमान रहते हैं। उनकी छवि असंख्य कामदेवों की छवि के समान सुन्दर है। वे अपनी विशाल भुजाओं में धनुष-बाण और कमर में सुन्दर तरकश धारण किये रहते हैं। वे न तो बलि चाहते हैं और न पूजा ही। वे तो केवल एक प्रेम के ही भूखे हैं। उनके नाम का स्मरण करते ही वह प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी सारी रीति अर्थात् कर्म अत्यन्त पवित्र हैं। भाव यह है कि वे बलि, पूजा आदि कर्मों को पसन्द न कर केवल भक्ति-भाव की पवित्र रीति को ही मानने वाले हैं।

वे सारे सुख देते हैं, दुखों को दूर करते हैं और दुखी जनों के बन्धु (सहायक) हैं। वे अपने भक्तों के गुणों को ग्रहण कर लेते हैं, पाप और अवगुणों को दूर कर देते हैं। ऐसे वे स्वामी राम करुणा के सागर हैं। वेद और पुराण यह कहते हैं कि वे सब देशों और सब कालों में विद्यमान रहते हैं अर्थात् सर्वव्यापी हैं। वे सब के हृदय की बात जानते हैं। वे सब के स्वामी हैं और सब में वास करते हैं। (इसलिए ऐसे स्वामी और देवता को छोड़कर) कौन करोड़ों प्रकार की अन्य इच्छाएँ करे और अनेक देवताओं को पूजता फिरे ? तुलसीदास कहते हैं कि उसी स्वामी की सेवा करो जिसकी सेवा शिव करते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में राम के माधुर्य, ऐश्वर्य और शील का समन्वय किया गया है।

(२) 'चाहत इक प्रीति'—राम केवल प्रेम के भूखे हैं, बाह्य उपासना के नहीं। 'मानस' में भी तुलसी ने यही बात कही है—

'रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहि जो जाननहारा॥'

[१०८]

वीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय ॥१॥
बेगि, बिलंब न कीजिए, लीजै उपदेस।
बीजमंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस ॥२॥

प्रेम-बारि तर्पन भलो, घृत सहज सनेहु ।
संसय समिध, अगिन छमा, ममता बलि देहु ॥३॥
अघ-उचाटि, मन बस करै, मारै मद-मार ।
आकरषै सुख - संपदा - संतोष - विचार ॥४॥
जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि ।
तुलसिदास प्रभुपथ चढ़्यौ, जो लेहु निबाहि ॥५॥

शब्दार्थ—अवराधिये=आराधना करना । वीजमंत्र=मूलमंत्र । समिध=हवन में जलाने की लकड़ी । उचाट=उच्चाटन मंत्र । मद-मार=अहंकार और काम । आकरषै=आर्कापित करना ।

भावार्थ—महावीर राम की आराधना करो । उनको साध लेने से सारी सिद्धियाँ अपने आप प्राप्त हो जाती हैं । वे सारे कामों (इच्छाओं) को पूरा कर देते हैं—इस बात को सब लोग जानते हैं । इसलिए तुरन्त ही किसी सद्गुरु से उपदेश ग्रहण करो । इस काम में तनिक भी विलम्ब न करो । और उपदेश लेकर उसी मूलमन्त्र अर्थात् राम-नाम का जाप करो जिसे शिव जपते हैं । (पद्धति यह है कि जाप करने के उपरान्त तर्पण, हवन और वलिदान किया जाता है, सो उसकी विधि यह है कि) प्रेम रूपी जल से तर्पण करना अच्छा है तथा सहज-स्वाभाविक स्नेह रूपी घृत बना अपने सारे संशयों को समिधा (हवन में जलाने वाली लकड़ी) बना, उन्हें क्षमा की अग्नि द्वारा भस्म कर ममता की बलि चढ़ानी चाहिए । भाव यह है कि राम के प्रति पूर्ण प्रेम-भावना रख, उनके प्रति स्नेह से अपने मन को स्निग्ध बना, क्षमा भावना को उद्बुद्ध कर अपने सारे सन्देहों को भस्म कर डालना चाहिए और ममता आदि को सर्वथा दूर कर देना चाहिए ।

(इस यज्ञ के करने से यह फल मिलेगा कि) पापों का उच्चाटन होगा अर्थात् पापों की ओर से मन विरक्त हो जायेगा, मन अपने वश में हो जायेगा, अहंकार और काम-भावना का विनाश होगा और यह सुख, सम्पदा, संतोष और शुभ विचारों को आर्कापित करेगा अर्थात् इनकी प्राप्ति हो जायेगी । (यहाँ उच्चाटन, वशीकरण, मारण, आकर्षण आदि विभिन्न तांन्त्रिक क्रियाओं का उल्लेख किया गया, है जो तांत्रिक साधना में आवश्यक मानी जाती हैं । इनके करने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।) जिन्होंने इस तरह से भजन किया उन्हें भगवान राम मिल गये । अब तुलसीदास भी इसी भजन के मार्ग पर चल पड़ा है । यदि भगवान ने निबाह लिया (तो उसे भी राम मिल जायेंगे ।)

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—इस पद में हवन का रूपक होने से 'सांगरूपक' अलंकार है ।

(२) लीजै उपदेस—गोस्वामीजी भवसागर से पार होने के लिए गुरु के उपदेश को अनिवार्य मानते हैं । उन्होंने 'मानस' में स्पष्ट कहा है—

'बिनु गुरु भव-निधि तरै न कोई । जौ बिरंचि संकर सम होई ।।'

(३) पं० रामेश्वर भट्ट ने इस पद के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"इस भजन का भाव यह है कि पहले राम-नाम जपे, फिर भगवान को संतुष्ट करने के लिए उनसे प्रेम करे और धीरे-धीरे स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि के सहज स्नेह और संशय (अर्थात् झूठे संसार की सत्यता) को त्यागकर क्षमा आदि गुणों को ग्रहण करे, फिर ममता को हटाकर भगवान के चरणों में मन लगाये । इस साधन से पाप नष्ट हो जायेंगे, मन वश में होगा, अहंकार और काम आदि भी भस्म हो जायेंगे तथा क्षमा, सन्तोष और आत्मज्ञान होने से अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, फिर उसमें रामजी के दर्शन होंगे ।"

[१०६]

कस न करहु करुना हरे, दुखहरन मुरारि ।
त्रिबिध ताप - संदेह - सोक - संसय - भय - हारि ।।१।।
इक कलिकाल-जनित मल मतिमंद मलिन मन ।
तेहि पर प्रभु नहिं कर सँभार, केहि भाँति जियै जन ।।२।।
सब प्रकार समरथ प्रभो, मैं सब बिधि दीन ।
यह जिय जानि द्रवौ नहीं, मैं करम बिहीन ।।३।।
भ्रमत अनेक जोनि रघुपति, पति आनि न मोरे ।
दुःख - सुख सहौं रहौं सदा सरनागत तोरे ।।४।।
तो सम देव न कोउ कृपालु, समुझौं मन माहीं ।
तुलसिदास हरि तोषिये, सो साधन नाहीं ।।५।।

शब्दार्थ—संदेह=अज्ञान । संशय=अनिश्चय । हारि=हरने वाले, दूर करने वाले । सँभार=देखभाल । द्रवौ=द्रवित होना । करम विहीन=भाग्यहीन, अभागा । पति=स्वामी । आन=अन्य । तोषिये=प्रसन्न ।

भावार्थ—हे मुरारी ! तुम तो सबके दुख दूर करने वाले हो, फिर मुझ पर दया क्यों नहीं करते । तुम तीनों प्रकार के ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक), अज्ञान, शोक, संशय, भय को दूर करने वाले हो । मैं एक तो कलियुग से उत्पन्न हुए पापों के कारण मन्दबुद्धि (मूर्ख) और मलिन मन वाला वैसे ही हो गया हूँ, उस पर हे प्रभु ! तुम मेरी देखभाल नहीं करते, मेरी रक्षा नहीं करते, तो फिर यह तुम्हारा दास आखिर कैसे जीवित रहे ? हे प्रभु ! तुम तो सब प्रकार से समर्थ हो और मैं सब

तरह से दीन हूँ—यह जानकर भी तुम मुझ पर द्रवित नहीं होते, करुणा नहीं करते क्योंकि मैं अभागा जो ठहरा। मैंने ऐसे कर्म ही नहीं किये कि तुम्हारी कृपा पा सकूँ।

हे रघुपति ! मैं अनेक योनियों में जन्म लेता-मरता भटकता फिर रहा हूँ; मेरा तो अन्य कोई भी दूसरा स्वामी (रक्षक) नहीं है। मैं दुख-सुख सहता रहता हूँ, परन्तु रहता सदा तुम्हारी ही शरण में हूँ। मैं मन में इस बात को समझता हूँ कि तुम्हारे समान कोई भी देवता इतना कृपालु नहीं है। परन्तु मेरे पास वह साधन नहीं हैं, जिससे मैं तुम्हें प्रसन्न कर सकूँ।

[११०] ३८५३

कहु केहि कहिये कृपानिधे ! भव-जनित बिपति अति।
इन्द्रिय सकल बिकल सदा, निज निज सुभाउ रति ॥१॥
जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी।
हरि ! परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी ॥२॥
मैं अति दीन, दयालु देव, सुनि मन अनुरागे।
जो न द्रवहु रघुबीर धीर काहे न दुख लागे ॥३॥
जद्यपि मैं अपराध-भवन, दुख - समन मुरारे।
तुलसिदास कहँ आस यहै बहु पतित उधारे ॥४॥

शब्दार्थ—केहि=किससे। भव जनति=संसार से उत्पन्न। संतत=निरन्तर कहूँ=को। अपराध-भवन=अपराधों का भण्डार।

भावार्थ—हे कृपानिधि ! यह बताइए कि मैं इस संसार से उत्पन्न हुई अर्थात् सांसारिक भयंकर विपत्ति की बात किससे कहूँ ? मेरी सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव में अनुरक्त रहने के कारण सदैव व्याकुल बनी रहती हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय अपनी-अपनी प्रिय वस्तु को प्राप्त करने के लिए सदैव व्याकुल रहती है। वे इन्द्रियाँ सदैव सुख, सम्पत्ति, स्वर्ग और नर्क की ही चिन्ता करने में निरन्तर लगी रहती हैं। हे हरि ! मेरा अभागा मन भी तुम्हें छोड़कर वही उपाय किया करता है, जिससे इन इन्द्रियों की सन्तुष्टि हो अर्थात् इन्द्रियों का शासक मन भी उन्हें ही बढ़ावा देने में लगा रहता है।

हे देव ! मैं अत्यन्त दीन हूँ। जब मैंने यह सुना कि तुम दयालु हो तो यह सुनकर मेरा मन तुम में अनुरक्त हुआ। अर्थात् तुमसे प्रेम किया। परन्तु फिर भी हे रघुवीर ! हे धैर्य धन ! तुम मुझ पर द्रवित नहीं हुए। अर्थात् तुमने मुझ पर कृपा नहीं की। यह देखकर आखिर मुझे दुख क्यों न हो। यद्यपि मैं अपराधों का भण्डार (भयंकर अपराधी) हूँ और हे मुरारे ! तुम सब का दुख दूर करने वाले हो। तुलसीदास

को तो यही आशा है कि तुमने अनेक पापियों का उद्धार किया है (इसलिए मेरा भी उद्धार अवश्य करोगे) ।

[१११]

केसब, कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये ।।१।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न, मरै भीति, दुख पाइय इहि तनु हेरे ।।२।।
रबिकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहिं माहीं ।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।।३।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ[1] मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ।।४।।

शब्दार्थ—तनु=शरीर । चितेरे=चित्रकार । भीति=भय । रबिकर नीर=सूर्य किरणों का जल अर्थात् मृगतृष्णा का जल । मकर=मगर । बदन=मुख । जुगल=युगल, दोनों अर्थात् सत्य और असत्य । आपन=आत्मा ।

भावार्थ—हे केशव ! कुछ कहा नहीं जाता, क्या कहूँ ? तुम्हारी इस अत्यन्त विचित्र रचना को देखकर मन ही मन समझकर अर्थात् विचार करता हुआ रह जाता हूँ, इसका कुछ भी वर्णन करने में स्वयं को असमर्थ पाता हूँ क्योंकि यह अनिर्वचनीय हैं । (यह रचना—सृष्टि—इतनी विचित्र है कि) किसी शरीरहीन (निराकार) चित्रकार ने बिना रंगों की सहायता लिये शून्य अथवा आकाश की दीवार पर चित्र बनाया है । (साधारणतः होता यह है कि कोई सशरीर चित्रकार रंगों द्वारा दीवार, कागज, कपड़ा आदि पर चित्र बनाता है । परन्तु यहाँ विचित्रता यह है कि न तो चित्रकार दिखाई पड़ता है, न रंग है और न कोई ऐसा आधार ही है जिस पर चित्र बनाया जा सके । भाव यह है कि निराकार ब्रह्म रूपी चित्रकार ने माया अथवा आकाश रूपी दीवार पर (माया, शून्य अथवा आकाश का कोई अस्तित्व नहीं होता, केवल ये भासमान हैं, अर्थात् प्रतीत होते हैं) ऐसा विचित्र सृष्टि रूपी चित्र बनाया है, जिसमें रंग आदि प्रत्यक्ष भौतिक उपकरणों का कहीं उपयोग ही किया गया नहीं प्रतीत होता फिर भी रंग-विरंगा मनोहर, विचित्र चित्र बन ही गया है । अर्थात् निराकार ब्रह्म ने शून्य के चित्रफलक पर असत् (मिथ्या, भ्रम) द्वारा इस पंच भौतिक सृष्टि का निर्माण किया है । इस रचना में प्रयुक्त सभी उपकरण—क्षिति, जल-पावक, गगन, समीर—सूक्ष्म और रंगहीन हैं (पंचभूतों का कोई रंग नहीं

---

१. **पाठान्तर**—'कोउ' के स्थान पर आचार्य शुक्ल और पं० रामेश्वर भट्ट ने 'करि' पाठ माना है ।

होता केवल भासित होता है) । (साधारण चित्र धोने से मिट जाते हैं परन्तु यह चित्र ऐसा विचित्र है कि) धोने से नहीं मिटता । अर्थात् कर्म रूपी जल से यह सांसारिक शरीर रूपी चित्र नष्ट नहीं होता । जीव कर्मों के बन्धन में पड़ा निरन्तर विभिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है । भाव यह है कि कर्म करने से यह पंचभौतिक रचना नष्ट न हो और अधिकाधिक पक्की होती जाती है । साधारण चित्र जड़ होते हैं इसलिए उन्हें मृत्यु का कोई भय नहीं सताता क्योंकि जड़ अनुभूति हीन होता है परन्तु इन चित्रों को अर्थात् सांसारिक प्राणियों को सदैव मृत्यु का भय सताता रहता है । इनकी एक और विशेषता है । साधारण चित्रों की ओर देखने से आनन्द प्राप्त होता है परन्तु इन चित्रों की ओर देखने से दुख होता है । अर्थात् ध्यान से देखने पर अर्थात् गम्भीर चिन्तन करने पर यह संसार असत्य प्रतीत होने लगता है और तब यह सोचकर बहुत दुख होता है कि हम अब तक जिसको सत्य समझने में लिप्त बने रहे थे । वह तो वास्तव में हमारा भ्रम था । यही सोचकर बहुत दुख होता है । भाव यह है कि इस सृष्टि में मोह-ममता आदि भावनाएँ भय की सृष्टि करती रहती हैं, प्राणी इसी कारण मरने से डरता रहता है । ज्ञान का उदय होने पर जब हमें अपने इस भ्रम का ज्ञान होता है कि यह सब तो मिथ्या था, तब बड़ा दुख होता है कि हम इसे अब तक सत्य समझ कर धोखे में पड़े हुए थे ।

(यदि इस चित्र को देखने से दुख होता है तो फिर हम इससे दूर क्यों नहीं रहते ? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है । तुलसीदास इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि) सूर्य की किरणों से उत्पन्न मृगतृष्णा के जल में एक भयानक मगर रहता है । वह मगर मुखहीन है, फिर भी सम्पूर्ण चरचार अर्थात् जड़-चैतन्य को, जो वहाँ जल पीने जाते हैं, खा जाता है । भाव यह है कि जिस प्रकार मृग मृगतृष्णा के भ्रम को वास्तविक जल समझ उसका पान करने के लालच में पड़ रेगिस्तान में दौड़ता-दौड़ता थककर मर जाता है परन्तु फिर भी उसे उल नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार मनुष्य सांसारिक माया-मोह के जाल में फँसा सच्चा सुख—तृप्ति—प्राप्त करने के प्रयत्न में भटकता-भटकता थक जाता है और कालरूपी मगर उसे पकड़कर अन्त में खा जाता है । (काल अव्यक्त होता है, इसलिए यहाँ मगर को बिना मुख वाला अर्थात् अदृश्य कहा गया है ।) यह संसार मिथ्या है, इसलिए इसके भोग-विलासों में कभी सच्ची तृप्ति—आत्मानन्द नहीं प्राप्त होता ।

कोई इस रचना (सृष्टि रूपी चित्र) को सत्य कहता है और कोई मिथ्या । परन्तु कुछ का मत यह है कि यह सत्य और मिथ्या दोनों ही है । भाव यह है कि पूर्व मीमांसा वाले अर्थात् द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी कर्म प्रधान होने के कारण जगत को सत्य मानते हैं । इसके विपरीत, अद्वैतवादी वेदान्ती (शंकराचार्य के मत को मानने वाले) इस जगत को मिथ्या (भ्रममात्र) कहते हैं । ये केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार कर जगत को उसी सत्ता में उसी प्रकार भासित मानते हैं—जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाना । इन दो मतों के अतिरिक्त एक तीसरा मत यह भी है कि

यह संसार सत्य और मिथ्या—दोनों ही है। पतंजलि आदि नैयायकों तथा सांख्य मत वालों का यही मत है। (निम्बार्काचार्य इसी मत को मानते थे।) परन्तु तुलसीदास कहते हैं कि ये तीनों ही मत भ्रमों पर आधारित हैं। इसलिए जो कोई इन तीनों प्रकार के मत-मतान्तरों के प्रभाव से मुक्त हो जायेगा अर्थात् इन पर आस्था नहीं रखेगा वही अपने आत्मस्वरूप को पहचान सकेगा। भाव यह है कि उपर्युक्त दार्शनिक मत-मतान्तरों से कोई लाभ सिद्ध नहीं हो सकता। आत्म-ज्ञान केवल राम की भक्ति करने से ही होगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'सून्य····चितेरे' में व्यतिरेक और विभावना तथा 'धोए····मिटै न' में विरोधाभास अलंकार माने जा सकते हैं।

(२) इस पद में तुलसीदास ने विभिन्न दार्शनिक मत-मतान्तरों का खंडन कर भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है। शंकर का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद तथा निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद आदि सिद्धान्त व्यक्ति को सही रास्ता नहीं दिखा पाते और उसे दार्शनिक ऊहापोह में डाल किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा बना देते हैं। सही रास्ता इन सबके प्रभाव से मुक्त हो भगवान का भजन करने का ही है।

(३) तुलसीदास के दार्शनिक पक्ष की दृष्टि से यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने उन्हें अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी आदि न जाने क्या-क्या सिद्ध करने प्रयत्न किया है। वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने भक्ति, ज्ञान, और कर्म की नींव पर अपना मत खड़ा किया है। उन्होंने इनमें परस्पर विरोध की स्थापना न कर समन्वय ही किया है। तुलसी-मत की यही विशेषता और मौलिकता है।

(४) भगवान की शरण में जाना ही मानव-जीवन की चरम सार्थकता है—तुलसीदास इसी सिद्धान्त को मानते हैं और कृष्ण ने गीता में यही कहा है :—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मां शुचः।'

[११२]

केसव, कारन कौन गुसाईं।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेहु अग्य की नाईं॥ १॥
परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र, ब्याध, गनिकहि तारेहु, कछु रही सगाई॥ २॥
काल करम, गति अगति जीव की, सब हरि हाथ तुम्हारे।
सोइ कछु करहु हरहु ममता मम, फिरहुँ, न तुमहिं बिसारे॥ ३॥

जौं तुम तजहु भजौं न आन प्रभु, यह प्रमान पन मोरे ।
मन बच करम नरक सुरपुर, जहँ तहँ रघुबीर निहोरे ।। ४ ।।
जद्यपि नाथ ! उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई ।
तुलसिदास सीदत निसिदिन, देखत तुम्हार निठुराई ।। ५ ।।

शब्दार्थ—गुसाईं=स्वामी । अन्य=अपरिचित, अनजान । बनि आई=बनती है, पटती है । सगाई=सम्बन्ध । गति-अगति=सुगति, कुगति । बिसारे=भूलकर । बच=वचन । निहोरे=प्रार्थना । सीदत=दुख पाता है ।

भावार्थ—हे केशव ! हे स्वामी ! मेरे किस अपराध के कारण तुमने मुझे दुष्ट समझकर अपरिचित की भाँति त्याग रखा है । मुझे इसका कारण बता दो । यदि यह बात है कि तुम्हारी उन्हीं लोगों से बनती है जो परम पवित्र, संत और कोमल चित्त वाले होते हैं तो तुमने ब्राह्मण (अजामिल), व्याध (वाल्मीकि) और वेश्या (पिंगला) का उद्धार क्यों किया था ? क्या उनसे तुम्हारी कुछ रिश्तेदारी थी ? अर्थात् ये सब भी तो नीच थे । (जब तुमने इन्हें तारा तो फिर मुझे क्यों नहीं तारते ?) हे हरि ! जीव का काल, कर्म, सुगति, कुगति आदि सब कुछ तुम्हारे ही हाथ में है, इसलिए अब कुछ ऐसा उपाय करो कि मेरी (इस संसार के प्रति) ममता दूर हो जाय और मैं तुम्हें भूलकर इधर-उधर भटकता न फिरता रहूँ ।

यदि तुम मुझे त्याग ही दोगे तो भी मैं किसी भी अन्य को स्वामी नहीं मानूँगा; केवल तुम्हारा ही नाम जपता रहूँगा, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है । तुम मुझे नर्क-स्वर्ग आदि जहाँ कहीं भी भेजोगे मैं वहीं मन, वचन और कर्म से केवल तुम्हारी ही प्रार्थना करता रहूँगा । हे नाथ ! यद्यपि यह उचित नहीं है कि मैं अपने प्रभु से अर्थात् तुमसे ढिठाई करूँ, परन्तु यह तुलसीदास रात-दिन तुम्हारी निष्ठुरता को (कि तुमने मुझे त्याग रखा है) देख-देख दुख पाता रहता है । भाव यह है कि इसी कारण मैं इतनी कहनी-अनकहनी बात कह गया हूँ ।

टिप्पणी—(१) 'परम''''''सगाई' में किंचित् व्यंग्य और उपालम्भ का भाव है ।

(२) 'जो तुम''''''मोरे'—इसी से मिलती-जुलती बात तुलसीदास ने अन्यत्र भी कही है—

'बने तो रघुबीर ते बनें जो बिगरे भरपूर ।
तुलसी औरन ते बनें ता बनिबे में धूर ।।'

[११३]

माधव अब न द्रवहु केहि लेखे ।
प्रनतपाल पन तोर मोर पन, जिअहुँ कमल-पद देखे ।। १ ।।

जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं, जद्यपि अन्तरजामी ॥ २ ॥
तू उदार, मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत श्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं, अब न तजे बनि आवै ॥ ३ ॥
जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति, सब प्रकार हितकारी।
द्वैतरूप तम-कूप परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारी ॥ ४ ॥
सुन अदभ्र करुना बारिजलोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकाश बिन, संसय टरत न टारी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—द्रवहु=पिघलते, द्रवित होते। केहि लेखे=किस कारण वश। प्रनतपाल=शरणागत की रक्षा करना। पन=प्रतिज्ञा। कृपन=कंजूस। श्रुति=वेद। नात=नाता, सम्बन्ध। द्वैतरूप=भेदबुद्धि। अदभ्र=बड़ी भारी, अमित। वारिजलोचन=कमलनयन। मोचन=दूर करने वाली।

भावार्थ—हे माधव! अब किस कारणवश तुम मुझ पर द्रवित नहीं होते; अर्थात् कृपा नहीं करते। तुम्हारी प्रतिज्ञा तो यह है कि तुम भक्तों पर सदैव कृपा करोगे, और मेरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं तुम्हारे चरण कमलों को देखता हुआ ही जीवित रहूँगा। जब तक मैं दीन और तुम दयालु, मैं दास और तुम स्वामी नहीं बने थे, तब तक मैंने बहुत दुख सहे थे परन्तु तुमसे कभी भी नहीं कहे—क्योंकि तुम तो अन्तर्यामी, घट-घट की जानने वाले हो। तुम उदार और मैं कंजूस, तुम पवित्र और मैं नीच हूँ। वेद इसी बात का गान कर रहे हैं। इसलिए हे रघुनाथ! अब तो तुम्हारे और मेरे बीच अनेक रिश्ते वन गये हैं, इसलिए अब तुम्हें मुझको छोड़ते नहीं बनेगा अर्थात् अब तो तुम्हें मेरा उद्धार करना ही पड़ेगा।

तुम मेरे पिता, माता, गुरु, बन्धु, मित्र, स्वामी और हर प्रकार से मेरा हित करने वाले हो। इसलिए अब कुछ ऐसा यत्न करो जिससे मैं भेदबुद्धि रूपी (अविद्यारूपी) अन्धेरे कुएँ में न गिरूँ। अर्थात् इस सांसारिक माया-मोह में पुनः ग्रस्त न हो जाऊँ। हे महान् करुणा करने वाले! कमलनयन! भारी भय को दूर करने वाले! मेरी बात सुनो! अब बिना तुम्हारे प्रकाश के अर्थात् बिना तुम्हारे द्वारा कृपा किये तुलसीदास का यह संशय टालने से भी नहीं टलेगा। अर्थात् संसार के प्रति मेरे मन में जो संशय उठते रहते हैं उनका निवारण केवल तुम्हीं कर सकोगे।

टिप्पणी—(१) 'प्रनतपाल पन तोर'—'वाल्मीकि रामायण' में राम ने कहा है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।'

अर्थात् मेरा यह प्रण है कि जो कोई एक बार भी यह कह देता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे मैं सारे प्राणियों से अभय कर देता हूँ।

(२) 'तुलसिदास''''टारी'—श्रीमद्भागवत में कृष्ण ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'तस्मान्मद् भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥'

(३) 'करुना वारिज लोचन'—यहाँ 'करुना' के साथ 'बारिज लोचन' का प्रयोग बहुत सार्थक हुआ है । 'करुना' जल और रस रूप है और 'वारिज' (कमल) की उत्पत्ति भी जल से ही होती है । करुना कमल के ही समान सुन्दर, आल्हादक और स्पृहणीय होती है ।

[११४]

माधव, मो समान जग माहीं ।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन-विषय कोउ नाहीं ॥ १ ॥
तुम सम हेतु-रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
मैं दुख-सोक-बिकल, कृपालु केहि कारन दया न लागी ॥ २ ॥
नाहिन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
ग्यान-भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥ ३ ॥
बेनु करील, श्रीखण्ड बसन्तहि दूषन मृषा लगावै ।
सार-रहित हत-भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै ॥ ४ ॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे ।
तुलसिदास प्रभु मोह-शृङ्खला, छूटिहि तुम्हरे छोरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हेतुरहित=कारण रहित, निष्काम । आरत-हित=दुखियों का हितैषी । ईस=स्वामी । बेनु=बाँस । श्रीखंड=चन्दन । दूषन=दोष । मृषा=झूठा, व्यर्थ । मोह-शृंखला=मोह की जंजीर ।

भावार्थ—हे माधव ! इस संसार में मेरे समान सब तरह से असह्य, मलीन, अत्यन्त दीन और विषय-वासनाओं में लीन अन्य कोई भी दूसरा प्राणी नहीं है । और तुम्हारे समान दुखी जनों की निष्काम भलाई करने वाला, कृपालु और त्यागी अन्य कोई भी दूसरा मालिक नहीं है । हे कृपालु ! मैं दुख और शोक से व्याकुल हो रहा हूँ, फिर भी तुम्हें किस कारणवश मुझ पर दया नहीं आयी । मैं मानता हूँ कि इसमें तुम्हारा तनिक-सा भी दोष नहीं बल्कि सारा अपराध मेरा ही है, कि हे नाथ ! तुमने मुझे ज्ञान का भंडार यह मनुष्य-शरीर दिया और इसे पाकर भी मैं प्रभु को (तुम्हें) नहीं जान सका । भाव यह है कि मानव-शरीर पाकर भी मैं तुम्हारे वास्तविक

रूप को नहीं जान सका और न तुम्हारा भजन ही कर सका, जिससे तुम्हारी कृपा पाने का अधिकारी बन जाता।

वाँस का वृक्ष चन्दन को और करील का वृक्ष वसन्त ऋतु को व्यर्थ ही झूठा दोष लगाते हैं कि चन्दन बाँस को अपनी सुगन्धि नहीं देता और वसन्त करील में नये पत्ते नहीं उगाता। वास्तविकता तो यह है कि बाँस सार रहित अर्थात् खोखला होता है। जब उसमें गूदा ही नहीं तो फिर चन्दन की सुगन्धि बसे किसमें। (विश्वास है कि चन्दन के आस-पास उगने वाले वृक्षों में चन्दन की सुगन्धि बस जाती है।) करील अभागा है। विधाता ने जब उसके भाग्य में ही पत्ते नहीं लिखे तो फिर वसन्त उसमें कहाँ से पत्ते उत्पन्न कर दे। (करील की झाड़ी पर पत्ते नहीं होते, केवल टेंटी नामक छोटे-छोटे कड़वे फल लगते हैं।) भाव यह है कि महापातकी व्यक्ति पर ईश्वर कैसे कृपा कर सकता है।

हे हरि ! मैं सब तरह कठोर हूँ परन्तु तुम तो हृदय के कोमल हो। यही विश्वास मेरे मन में दृढ़ता के साथ जमा हुआ है कि हे प्रभु ! तुलसीदास की मोह रूपी (अविद्या) की जंजीर तो केवल तुम्हारे छुड़ाने से ही छूट सकती है। अर्थात् तुम्हारी कृपा से ही तुलसी माया-मोह के बन्धनों से मुक्त हो सकेगा।

टिप्पणी—मानव शरीर को ज्ञान का भंडार माना गया है। सारी जीव-योनियों में इसी कारण मानव-योनि को सर्वश्रेष्ठ और ऐसा माना गया है कि देवता भी उसे प्राप्त करने को तरसते रहते हैं। इसी योनि में ज्ञान प्राप्त होता है और जीव आवागमन के जाल से मुक्ति पा सकता है।

[११५]

माधव, मोह-पास[1] क्यों टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ॥ १ ॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कल्पसत, औटत नास न पावै ॥ २ ॥
तरु-कोटर महँ बस बिहँग तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय विचार-हीन मन, सुद्ध होइ नहि तैसे ॥ ३ ॥
अंतर मलिन, विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध बिधि मारे ॥ ४ ॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु, बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई ॥ ५ ॥

---

१. पाठान्तर—'मोह-फाँस'।

शब्दार्थ—मोह-पास=मोह का बन्धन । अभ्यन्तर=भीतर की, अन्तःकरण की । ग्रन्थि=गाँठ । घृत-पूरन=घी से भरा हुआ । कराह=कड़ाह । अन्तरगत=में, भीतर । अनल=अग्नि । औटत=उबालते । तरु-कोटर=वृक्ष का खोखला । पखारे=धोकर । उरग=सर्प । बलमीकि=बाँबी, साँप का बिल ।

भावार्थ—हे माधव ! मेरा मोह का यह बन्धन कैसे टूटे, कैसे दूर हो ? करोड़ों बाहरी (स्नान, पूजा, पाठ आदि बाह्याचार) उपाय करने पर भी अन्तःकरण के भीतर पड़ी (अविद्या की) गाँठ नहीं छूट सकती । अर्थात् जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, तब तक कर्मकाण्ड आदि असंख्य बाह्याचार भी अविद्या को दूर करने में सफल नहीं हो सकते । भाव यह है कि मोह का बन्धन मन में होता है, मन को शुद्ध किये बिना केवल शरीर की साधना से ही यह बन्धन दूर नहीं हो सकता । जैसे कि घृत से लबालब भरे कड़ाह में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । उसके नीचे ईंधन रख और उसमें आग लगा यदि उसे सौ कल्पों तक भी औटाया जाय तो भी वह प्रतिबिम्ब नष्ट नहीं होता । जब तक कड़ाह में घी शेष रहेगा तब तक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई पड़ता रहेगा । (दूसरा दृष्टान्त यह है कि) जिस प्रकार वृक्ष के खोखले में रहने वाला पक्षी उस वृक्ष को काटने से नहीं मरता उसी प्रकार यह विचार हीन (अविवेकी) मन अनेक साधन (पंचाग्नि, योग—मार्ग की साधना आदि) करने पर भी शुद्ध अर्थात् विवेकी नहीं बन पाता । भाव यह है कि इस शरीर रूपी कोटर के भीतर रहने वाला मन रूपी पक्षी, शरीर को काट देने से न तो मरता है और न वश में ही आता है । अतः ये सब वाह्य साधनाएँ व्यर्थ हैं ।

मन विषयों में लिप्त रहने के कारण भीतर से बड़ा मलीन रहता है । शरीर को धोकर साफ कर उसे (मन को) पवित्र बनाने का प्रयत्न करना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार बाँबी को ऊपर से अनेक प्रकार से मारने पर भी अर्थात् नष्ट कर देने पर भी उसके भीतर बैठा हुआ सर्प नहीं मरता । अर्थात् मन सर्प के समान है । उसके निवास-स्थान शरीर को नानाविधि बाह्यचारों द्वारा स्वच्छ करने या कष्ट देने से मन को पवित्र नहीं किया जा सकता । तुलसीदास कहते हैं कि भगवान और गुरु की दया के बिना निर्मल ज्ञान (विवेक) कभी नहीं प्राप्त होता । और बिना विवेक के कोई भी संसार रूपी भयानक समुद्र को पार नहीं कर पाता । भाव यह है कि आत्मज्ञान द्वारा ही मोह का बन्धन छूटता है और भगवान और गुरु की कृपा से प्राप्त विवेक-द्वारा भव-बन्धन से मुक्ति मिलती है ।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—इस पद में दृष्टान्त, उदाहरण और सांगरूपक अलंकार हैं ।

(२) इस पद में प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

मोह-पास=जड़ और चेतन की गाँठ, माया की ओर संकेत । **घृत**=मन । **कराह**=शरीर । **ससि**=माया, अविद्या । **प्रतिबिम्ब**=मिथ्याज्ञान, जीवबुद्धि । **ईंधन**

अनल=जप, तप, योग आदि । **तरु-कोटर**=शरीर । **बिहंग**=मन । **साधन**=योग-मार्ग की पंचाग्नि आदि साधनाएँ । **उरग**=प्रवृत्ति । **बलमीकि**=शरीर ।

(३) इस पद के अन्त में तुलसीदास ने भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है । चन्द्रमा का प्रतिविम्ब, पक्षी, सर्प आदि अद्वैतवादी दृष्टान्त देकर जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध किया गया है ।

(४) इसमें कवि ने वाह्याचारों का खंडन किया है । कबीर प्रत्येक प्रकार के वाह्याचर के विरुद्ध हैं, परन्तु तुलसी केवल विचारहीन वाह्याचार के ही विरुद्ध हैं ।

(५) दार्शनिक दृष्टि से यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

(६) इस पद में तुलसीदास ने मानसिक साधना पर अधिक वल दिया है, परन्तु साथ में यह भी कहा है कि भगवान की कृपा के विना कुछ भी नहीं हो सकता । विना सत्संग के विवेक जाग्रत नहीं होता और राम की कृपा विना सत्संग प्राप्त नहीं हो पाता । अतः राम की कृपा ही मूलाधार है । यही भक्ति-सिद्धान्त का भी मूलाधर माना गया है ।

(७) राम-कृपा के विना विवेक की प्राप्ति असम्भव है । 'मानस' में भी यही बात कही गयी है—

'बिनु सत्संग बिबेक न होइ । राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥'

[११६]

माधव ! असि तुम्हारि यह माया ।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥१॥
सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै ।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित भव, दारुन बिपति सतावै ॥२॥
ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै ।
तौ कत मृगजल-रूप विषय कारन निसिबासर धावै ॥३॥
जेहिके भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै ।
सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै ॥४॥
ग्यानि भक्ति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं ।
तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—असि=ऐसी । दाया=दया, कृपा । दसा=गति=ब्रह्म-पियूष=ब्रह्म रूपी अमृत । निहोरै=प्रार्थना करे । भ्रम=अज्ञान ।

भावार्थ—हे माधव ! तुम्हारी यह माया ऐसी है कि चाहे कितने ही उपाय कर-कर पच मरो, परन्तु जब तक तुम कृपा नहीं करते तब तक इसके बन्धन से

उद्धार नहीं होता। अर्थात् विना भगवान की कृपा के असंख्य साधनों द्वारा भी माया का वन्धन नहीं कट सकता। मैं इसके विपय में सुनता हूँ, विचार करता हूँ, समझता हूँ, औरों को समझाता हूँ परन्तु फिर भी इस माया की गति पूरी तरह से हृदय में स्पष्ट नहीं हो पाती। यह ऐसी ही अनिर्वचनीय है। तर्क द्वारा इसे समझ तो लेते हैं परन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते। इसी कारण इस माया के वास्तविक अनुभव के विना मोह के कारण उत्पन्न यह संसार और इसकी भयंकर विपत्तियाँ सदैव सताती रहती हैं। (यहाँ संसार को मोहजनित इसलिए कहा गया है कि माया मोह उत्पन्न करती है और उसी के कारण यह संसार मिथ्या होते हुए भी सत्य प्रतीत होता है अर्थात् मोह ही इस संसार को सत्य के भ्रमात्मक रूप में उत्पन्न करने वाला है।)

यदि इस मन को ब्रह्मरूपी मधुर और शीतल अमृत मिल जाय और यह उसका रस (आनन्द) प्राप्त कर ले तो फिर यह मृग-जल के समान मिथ्या संसार अर्थात् विषय-वासनाओं के पीछे रात-दिन क्यों भागता फिरे। अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेने पर यह स्वतः ही विषय-वासनाओं के झूठे आकर्षणों मुक्त हो जायेगा। (मृग-जल के समान मन को संसार सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है।) जिसके घर में निर्मल चिन्तामणि (मनोकामना पूर्ण करने वाली मणि) हो, वह काँच क्यों बटोरता फिरेगा। अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया हो, वह तुच्छ विपयानन्दों के पीछे क्यों भागता फिरेगा। जैसे कोई स्वप्न में किसी दूसरे के वश में हो जाय और छूटने के लिए उससे गिड़गिड़ाता रहे परन्तु जब उसकी आँखें खुल जायँ तो फिर वह किसके सामने गिड़गिड़ायेगा। अर्थात् यह जीव जब तक माया के वश में पड़ा मोह-निद्रा में सोता रहता है तो उसके प्रभाव से मिथ्या संसार को स्वप्न के समान सच्चा समझ उसके सम्मुख गिड़गिड़ाता रहता है परन्तु जब उसकी मोह निद्रा टूट जाती है और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है तव उसे यह संसार स्वप्न के समान असत्य दिखाई देने लगता है और वह आत्मानन्द में डूब आत्मविभोर हो उठता है। फिर उसे किसी के सामने नहीं गिड़गिड़ाना पड़ता।

वैसे तो ज्ञान, भक्ति आदि अनेक साधन सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए बताये गये हैं और ये सब साधन सत्य हैं, इनमें से एक भी असत्य नहीं है परन्तु जीव का सांसारिक भ्रम केवल भगवान की कृपा से ही दूर होता है—मेरे मन में एक इसी बात का भरोसा है। अर्थात् ज्ञान, भक्ति आदि साधन एक तो बहुत कठिन हैं, और दूसरी बात यह है कि बिना भगवान की कृपा हुए जीव को कभी आत्मबोध (ज्ञानोदय) हो ही नहीं सकता। यह आत्मबोध केवल भगवान की कृपा से ही होता है, इसलिए भगवान की कृपा ही अविद्या से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन है।

टिप्पणी—(१) इस पद में भी तुलसीदास पिछले पद की विचारधारा को

ही दुहरा रहे हैं कि मानसिक साधना सर्वश्रेष्ठ है परन्तु यह भी राम की कृपा बिना नहीं हो सकती।

(२) 'जेहि·······सतावै' का भाव है कि माया मिथ्या है और ब्रह्म सत्य, इसलिए जगत भी मिथ्या है।

(३) 'भ्रम'—से तात्पर्य यह है कि जीव की समझ में ही नहीं आता कि जगत सत्य है अथवा मिथ्या। अद्वैत-सिद्धान्त इसकी यही व्याख्या करता है।

(४) सिद्धान्त रूप से माया के विनाश का मुख्य साधन भगवद्-कृपा को ही माना गया है।

[११७]

हे हरि, कवन दोष तोहि दीजै।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसिबासर कीजै।। १ ।।
जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब यहि लागे।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत बिषय अनुरागे।। २ ।।
भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न बिचारो।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो।। ३ ।।
वेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगव्यापी।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी।। ४ ।।
मैं अपराध-सिंधु, करुनाकर ! जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी।। ५ ।।

शब्दार्थ—कवन=क्या, क्यों। अर्थ=इन्द्रियों के विषय। परव=पड़ूँगा। अज=बकरा। खर=गधा। भूत=जीव, प्राणी। मत्सर=द्वेष। अपारो=और अधिक। श्रीखण्ड=चन्दन। वेनु=बाँस। इव=समान। उरग-रिपु-गामी=सर्प के शत्रु गरुड़ पर सवारी करने वाले।

भावार्थ—हे हरि ! मैं तुम्हें क्यों दोष दूँ। अर्थात् सारा दोष तो मेरा ही हैं, क्योंकि जिन उपायों (कार्यों) के करने से मोक्ष प्राप्त करना स्वप्न में भी असम्भव है वही कार्य मैं रात-दिन करता रहता हूँ। मैं यह जानते हुए भी कि इन्द्रियों के विषय अनर्थ रूप होते हैं अर्थात् सदैव दुख देते हैं परन्तु फिर भी मैं इन्हीं में आसक्त होकर अँधेरे कुएँ में गिर पड़ा हूँ। अथवा विषयों में अनुरक्ति रखना अंधे कुएँ में गिरने के समान है। यह जानते हुए भी मैं इन्हें नहीं छोड़ता और उसी प्रकार इनमें डूबा रहता हूँ जिस प्रकार कुत्ते, बकरे, गधे आदि विषय-वासना में डूबे भटकते फिरते रहते हैं। इन्हीं विषय-वासनाओं के चक्कर में पड़कर मैंने सारे प्राणियों से दुश्मनी ठान

ली और मोह के वेश में पड़कर अपना हित नहीं समझा। अर्थात् इन्हीं के कारण सबसे लड़ता-झगड़ता रहा। अहंकार, द्वेष, अभिमान ज्ञान के शत्रु हैं, यह जानते हुए भी मैं इन्हीं में और अधिक अनुरक्त बना रहा।

वेद-पुराणों को सुनकर मैं यह समझता रहा हूँ कि राम सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं परन्तु फिर भी मेरे पापी सारहीन (ज्ञानहीन) मन में यह बात उसी प्रकार नहीं समा पाती जिस प्रकार चन्दन की सुगन्धि बाँस में नहीं घुस पाती। (चन्दन का वृक्ष अपने आस-पास उगे सम्पूर्ण वृक्षों में अपनी सुगन्धि भर देता है परन्तु बाँस खोखला होने के कारण, उस पर इस सुगन्धि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।) हे करुणा के भंडार ! तुम जानते हो कि मैं अपराधों का सागर अर्थात् भयंकर अपराधी हूँ। तुम तो अन्तर्यामी हो, इसलिए तुमसे कोई बात नहीं छिपी रह सकती। इस तुलसीदास को संसार रूपी सर्प निगले जा रहा है। हे सर्पों के शत्रु गरुड़ पर सवारी करने वाले ! मैं तुम्हारी शरण में हूँ। अर्थात् तुम अपने गरुड़ को भेजकर इस संसार रूपी सर्प से मेरी रक्षा करो—मुझे सांसारिक आवागमन से मुक्ति दिला दो।

टिप्पणी—(१) 'उरग रिपु गामी'—से भाव यह है कि यह संसार सर्प के समान है जिसने जीव को अपने विषयानन्दों में जकड़ रखा है। माया का यह आवरण ज्ञान द्वारा ही दूर हो सकता है। यहाँ गरुड़ ही ज्ञान का प्रतीक है। परन्तु ज्ञान बिना भगवान की कृपा के नहीं आ सकता, क्योंकि ज्ञान के स्वामी भगवान स्वयं हैं। अर्थात् जब भगवान की कृपा होगी तभी गरुड़ रूपी ज्ञान माया रूपी सर्प का भक्षण करेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ भी भगवान की कृपा को ही भक्ति का मूलाधार माना गया है।

[११८]

हे हरि, कवन जतन सुख मानहुँ।
ज्यों गज-दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु ॥ १ ॥
जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय बत्सपद जैसे।
रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद-सुख पाइय कैसे ॥ २ ॥
देखत चारु मयूर बैन सुभ बोल सुधा इव सानी।
सविष, उरग-आहार निठुर अस, यह करनी वह बानी ॥ ३ ॥
अखिल-जीव-बत्सल निरमत्सर, चरन-कमल-अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुबीर धीरमति, अतिसय निज-पर-त्यागी ॥ ४ ॥
जद्यपि मम औगुन अपार संसार-जोग्य रघुराया।
तुलसिदास निजगुन बिचारि करुनानिधान करु दाया ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—गज-दसन=हाथी के दाँत। मम=मेरी। वत्सपद=बछड़े के खुर

के समान। हरिपद-सुख=भगवान के चरणों का सुख। सविष=जहरीला। उरग=सर्प। रहनि=आचरण। वत्सल=प्रेम करने वाले। निरमत्सर=ईर्ष्यारहित। निज-पर-त्यागी=अपना-पराया का भेद त्याग देने वाले।

भावार्थ—हे हरि! मैं किस उपाय से सुख मानूँ, सुख प्राप्त करूँ। जैसे हाथी के दाँत केवल दिखाने के ही होते हैं, वैसी ही मेरी करनी है। अर्थात् मेरा वश तथा सारा आचार-व्यवहार दिखावटी है। इस बात को तुम सब तरह से जानते ही हो कि मेरी कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि मैं जो कुछ कहता हूँ, उसी के अनुसार स्वयं आचरण भी करने लगूँ अर्थात् मेरी कथनी और करनी में किसी भी प्रकार का विरोध न रहे तो मैं इस संसार-सागर को गाय के बछड़े के खुर के समान अनायास ही पार कर जाऊँगा। भाव यह है कि मैं उपदेश तो बड़े-बड़े देता हूँ, ज्ञान की बातें करता हूँ परन्तु स्वयं उन पर आचरण कभी नहीं करता। मेरा रहन-सहन दूसरी तरह का है, मुख से मैं इसके नितान्त विपरीत बातें करता हूँ, फिर भला मुझे भगवान के चरणों का सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा। अर्थात् मेरा मन भगवान की भक्ति में कैसे रम सकेगा।

मोर देखने में सुन्दर, उसकी बोली इतनी सुरीली और मीठी कि मानो अमृत में सनी हुई हो, परन्तु वह निष्ठुर इतना कि जहरीले सर्पों को खा जाता है। उसकी करनी तो ऐसी निष्ठुर तथा वाणी अमृत के समान मधुर होती है। यही हालत मेरी है। मेरी कथनी और करनी में कहीं भी, किसी भी प्रकार का साम्य, तारतम्य नहीं है। हे रघुवीर! हे धीरमति! तुम्हें तो वही लोग प्रिय हैं जो संसार के समस्त जीवों से प्रेम करने वाले, ईर्ष्यारहित, तुम्हारे चरण-कमलों के अनुरागी, तथा अपने-पराये की भेद बुद्धि से पूर्णतः मुक्त होते हैं। (और मुझ में इनमें से एक भी गुण नहीं है, फिर भला मैं तुम्हारा प्रिय बन सकता हूँ।) हे रघुनाथ! यद्यपि मेरे अवगुण अपार हैं और मैं इस संसार में ही रहने के योग्य हूँ। अर्थात् मैं इसी लायक हूँ कि संसार के बन्धन में ही सदैव पड़ा रहूँ परन्तु हे। करुणानिधान! तुम अपने गुणों का विचार कर (कि तुम पतित-पावन हो) मेरे ऊपर दया करो।

टिप्पणी—(१) 'अतिसय निज-पर-त्यागी'—अपने-पराये की भावना से मुक्त—समदृष्टा।

(२) कथनी और करनी के अन्तर को कबीर ने इस प्रकार बताया है—

'कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमरत होय॥'

(३) इस पद का भाव यह है कि हमारी कथनी और करनी में सामरस्य रहना चाहिए।

[११९]

हे हरि, कवन जतन भ्रम भागै ।
देखत सुनत बिचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥ १ ॥
भक्ति, ग्यान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई ।
कोउ भल कहउ, देउ कछु कोऊ, असि बासना हृदय ते न जाई ॥२॥
जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै ।
निज करनी बिपरीत देखि मोहि, समुझि महाभय लागै ॥ ३ ॥
जद्यपि भग्न मनोरथ बिधिबस, सुख इच्छत दुःख पावै ।
चित्रकार करहीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥ ४ ॥
हृषीकेस सुनि नाम जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
तुलसिदास इन्द्रिय-संभव दुख, हरे बनिहिं प्रभु तोरे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उपाई=उपाय, यत्न । भल=अच्छा, भला । असि=ऐसी । वासना=इच्छा । सूतहिं=सोते हैं । इच्छत=इच्छा करते हुए । हृषीकेस=हृषीक+ईस=इन्द्रियों के स्वामी । बनिहिं=बनेगा ।

भावार्थ—हे हरि ! मैं कौन-सा यत्न करूँ, जिससे मेरा यह अविद्या रूपी संशय दूर हो । मेरा यह मन देखता है (कि यह शरीर क्षणभंगुर है), सुनता है (कि बड़े-बड़े महाबली नष्ट हो गये), सोचता है (कि एक दिन मैं भी नष्ट हो जाऊँगा) परन्तु फिर भी (विषय-वासनाओं में रत रहने के) अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता । भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि सभी साधन इस मन को काबू में करने के लिए ही बताये गये हैं परन्तु फिर भी मेरे मन से यह इच्छा कभी दूर नहीं होती कि कोई मुझे अच्छा कहे कि गोस्वामीजी बड़े भले आदमी हैं, या कोई मुझे कुछ दे दे । जिस मोह रूपी रात्रि में सम्पूर्ण प्राणी सोते रहते हैं, उसी रात्रि में तुम्हारे कृपापात्र भक्तजन अर्थात् ज्ञानी जागते रहते है । अर्थात् साधारण जीव सांसारिक माया-मोह में लिप्त हो अज्ञानी बने अचेत पड़े रहते हैं, परन्तु ज्ञानी-जन सदैव इस माया-मोह से मुक्त रह ज्ञान की साधना में लीन रहते हैं । परन्तु मैं देख रहा हूँ कि मेरी करनी इन ज्ञानी जनों की करनी से नितान्त विपरीत है; अर्थात् मैं भी सांसारिक माया-मोह में पड़ा अज्ञान के अन्धकार में अचेत बना रहता हूँ । यही देख-समझकर मुझे बड़ा भय लग रहा है कि मेरा उद्धार कैसे होगा ।

यद्यपि विधाता के वश में होने के कारण अर्थात् विधाता के अपने प्रतिकूल रहने के कारण मेरी सारी इच्छाओं का नाश हो चुका है अर्थात् मेरी एक भी इच्छा पूरी नहीं होती, परन्तु फिर भी मैं बराबर नयी-नयी इच्छाएँ मन में सँजोये रखता हूँ और उनके पूरी न होने पर दुख पाता रहता हूँ । मेरी यह स्थिति वैसी ही है जैसे

कि कोई चित्रकार बिना अपने हाथों से चित्र बनाये मन-ही-मन काल्पनिक चित्रों को बनाता हुआ अपने स्वार्थ को सिद्ध करने का प्रयत्न करे। अर्थात् चित्र बनाने का परिश्रम तो न करे परन्तु चित्रों से लाभ उठाना ही चाहे। भाव यह है कि मैं कोई अच्छे काम तो करता नहीं परन्तु सदैव अच्छे कामों से प्राप्त सुखों की कामना करता ही रहता हूँ।

परन्तु तुम्हारा नाम हृषीकेश (इन्द्रियों का स्वामी) है, यह सुनकर मैं तुम्हारे ऊपर बलि जाता हूँ और मेरे मन में बड़ा भरोसा उत्पन्न हो गया है (कि तुम मेरी इन्द्रियों को आज्ञा देकर उन्हें विषय-वासनाओं से दूर रखोगे)। इसलिए हे प्रभु ! अब तो तुम्हें तुलसीदास के इस इन्द्रिय-जन्य दुख को दूर करते ही बनेगा। अर्थात् अवश्य दूर करना पड़ेगा। (यदि नहीं करोगे तो तुम्हारा 'हृषीकेश' नाम कैसे सार्थक होगा ?)

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'हृषीकेश' में परिकरांकुर अलंकार है।

(२) 'जोहि·······जागैं'—गीता में भी यही बात कही गयी है—

'या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

यह पंक्ति इसी श्लोक का अनुवाद है।

(३) 'कोउ भल·······जाईं'—में मात्रा दोष है। इस पंक्ति में पाँच मात्राएँ बढ़ गयी हैं।

[१२०]

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गुसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीर की नाईं ॥२॥
सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥३॥
स्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य सदा दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥४॥
बहु उपाय संसार-तरन कहँ बिमल गिरा स्रुति गावै।
तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै ॥५॥

शब्दार्थ—कस=क्यों। मृषा=असत्य, मिथ्या। अर्थ=इन्द्रियों के विषय। अविद्यमान=नाशवान। संसृति=संसार। कीर=तोता, माया। ब्याधि=रोग।

दृश्य=दृश्यमान जगत, दिखाई देने वाला संसार। कहँ=के। गिरा=वाणी। मैं-मोर=अहंभाव।

भावार्थ—हे हरि ! तुम मेरे इस भारी भ्रम (अविद्याजनित संशय) को दूर क्यों नहीं करते ! यद्यपि यह संसार, जब तक तुम्हारी कृपा नहीं होती तब तक मिथ्या (असत्) होते हुए भी सत्य भासित होता है। अर्थात् तुम्हारी कृपा होने पर ही संसार का मिथ्यात्व स्पष्ट होता है। मैं जानता हूँ कि इन्द्रियों के सारे विषय नाशवान और क्षणिक होते हैं। परन्तु हे स्वामी ! फिर भी मुझसे यह संसार नहीं छूट पाता अर्थात् मैं सांसारिक माया-मोह से मुक्त नहीं हो पाता। यद्यपि मुझे किसी ने भी विषयों के इस बन्धन में नहीं बाँध रखा है, परन्तु फिर भी क्योंकि मैं मूर्ख हूँ इसलिए अपने हठ के कारण ही उसी प्रकार पराये वश में (माया के वश में) पड़ा हुआ हूँ जिस प्रकार तोता दाने के लालच में बहेलिये के जाल में फँस जाता है।

स्वप्न में जैसे अनेक भयंकर रोगों तथा बाधाओं से घिरकर प्राणी यह समझने लगता है कि अब मृत्यु आ गयी। इस स्थिति में वैद्य चाहे कितना ही उपाय क्यों न करे परन्तु स्वप्न के उन रोगों से मुक्ति तो जागने पर ही हो सकती है अर्थात् संसार स्वप्न के समान मिथ्या (मायात्मक) है। अन्य अनेक प्रयत्न करने पर भी इसके कष्टों से मुक्ति नहीं मिल सकती। ज्ञान प्राप्त होने पर ही माया का नाश होता है और जीव मुक्त हो जाता है। वेद, गुरु, साधु, स्मृति-ग्रन्थ आदि सभी का यही कहना है कि यह दिखाई देने वाला संसार सदैव दुख देता रहता है। बिना इसका मोह त्यागे, बिना राम की भक्ति किये, संसार रूपी इस विपत्ति को कोई दूर नहीं कर सकता। वेद अपनी निर्मल (शुद्ध) वाणी द्वारा यह बताते हैं कि संसार से पार होने के (यज्ञ, व्रत, जप आदि) अनेक उपाय हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि बिना 'मैं और मेरा' की भावना (अहंभाव) के दूर हुए जीव कभी सुख नहीं पाता। भाव यह है कि जब तक जीव अहंकार में डूबा अपने को कर्त्ता और स्वामी समझता रहता है तब तक निरन्तर दुख उठाता रहता है। इस मोह से मुक्त होने पर ही संसार के बन्धनों से मुक्ति सम्भव है।

टिप्पणी—(१) **'अर्थ'**—से अभिप्राय सांसारिक स्त्री-पुत्र-धन आदि से है।

(२) **'कीर'**—किसान तोतों से खेती की रक्षा करने के लिए खेत में दो सीधी लकड़ियाँ गाढ़ उनके ऊपर एक घूम जाने वाली लकड़ी लगा देते हैं। तोता जैसे ही इस लकड़ी पर बैठता है, लकड़ी नीचे की ओर घूम जाती है और तोता पंजों से उसे पकड़े उल्टा लटका रहता है। वह नीचे गिर जाने के भय के मारे उस लकड़ी को छोड़ता नहीं। किसान आकर उसे पकड़ लेता है। इसी प्रकार माया सांसारिक प्रलोभन देकर जीव को अपने जाल में फँसा लेती है।

(३) **'मैं-मोर'**—'रामचरितमानस' में यही बात इस प्रकार कही गयी है—

'मैं अरु मोर, तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥'

(४) यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसे पदों में मुख्य संकेत मन की शङ्का दूर करने के प्रति है। साथ ही भगवत्कृपा से ही ज्ञान-प्राप्ति पर बल दिया गया है। अन्य सारे साधन भगवत्कृपा के बिना व्यर्थ हैं।

[१२१]

हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संयम सन्देह न जाई॥ १॥
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ बिसेखे॥ २॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥ ३॥
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम-सन्तोष-दया-बिबेक तें, व्यवहारी सुखकारी॥ ४॥
तुलसीदास सबबिधि प्रपंचजग, जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भक्ति संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै॥ ५॥

शब्दार्थ—मृषा=असत्य, मिथ्या। केहि लेखे=किस कारण, कैसे। बिसेखे=अधिक। अनबिचार=अज्ञान।

भावार्थ—हे हरि! यह भ्रम (अज्ञान) की अधिकता ही है कि देखते, सुनते, कहते, समझते हुए भी संशय (असत्य संसार को सत्य मान लेना) और सन्देह (संसार सत्य है अथवा असत्य—इस तर्क-वितर्क में पड़ जाना) दूर ही नहीं होता। भाव यह है कि एक तरफ तो मैं असत्य संसार को सत्य माने बैठा हूँ, और दूसरी तरफ मन में यह तर्क-वितर्क चलता रहता है कि संसार वास्तव में असत्य है अथवा सत्य। मैं इस बात का निर्णय ही नहीं कर पाता हूँ। यदि संसार असत्य है तो बताओ कि सांसारिक तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) का अनुभव जीव किस कारण करता है। अर्थात् असत्य का तो कोई अस्तित्व ही नहीं होता फिर उसका अनुभव क्यों होता है। जब त्रिताप का अनुभव होता है तो संसार को सत्य ही मानना चाहिए। दूसरी स्थिति यह है कि मृगजल (मृग-मरीचिका) को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका कोई अस्तित्व न होकर वह भ्रम के कारण ही सत्य प्रतीत होता है और उसी भ्रम को सत्य मानकर मृग बहुत अधिक दुख उठाता है। इसी प्रकार इस संसार को भी सत्य मानना कोरा मन का भ्रममात्र है और इसी भ्रम के कारण जीव अधिक दुख उठाता रहता है। भाव यह है कि हमारा भ्रम अर्थात् अज्ञान ही हमारे सारे दुखों का मूल कारण है।

(इस संसार के असत्य होने का एक और उदाहरण है) जैसे कोई व्यक्ति सुन्दर शय्या पर सोता हुआ स्वप्न देख रहा हो कि वह समुद्र में डूब रहा है और यह देखकर

भयभीत हो रहा हो। उसकी ऐसी स्थिति में चाहे करोड़ों नाव क्यों न उपलब्ध हो जायँ परन्तु इस भय से उसे तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती जब तक कि वह स्वयं नींद से जाग न उठे। अर्थात् नींद टूटने पर स्वप्न समाप्त हो जायेगा और उसका भय स्वतः ही दूर हो जायेगा। उसी प्रकार जब तक यह जीव अज्ञानावस्था में पड़ा रहेगा तब तक नाना प्रकार के दुख उठाता रहेगा। इन दुःखों से उसे तभी मुक्ति मिलेगी जब उसके हृदय में ज्ञान (विवेक) जाग्रत होगा और वह यह समझने लगेगा कि यह संसार असत्य है, इसलिए इसके मोह में नहीं पड़ना चाहिए। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही उसमें यह विवेक उत्पन्न होगा।

अज्ञान के कारण ही यह संसार सदैव रमणीय (सुन्दर-आकर्षक) प्रतीत होता है और ज्ञान होते ही भयंकर प्रतीत होने लगता है। अर्थात् अज्ञानी के लिए यह संसार वस्तुतः भयंकर सिद्ध होता है और जो सम, सन्तोष, दया और विवेक के साथ व्यवहार करते हैं उनके लिए यह संसार सुखमय बन जाता है। क्योंकि इन शुभ कर्मों द्वारा संसार के प्रति उनके मन में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं रह जाता। वे सारे कार्य निष्काम भाव से करते हैं। और निष्काम भाव से कार्य करने पर उन्हें कभी दुख नहीं सताता, इसलिए संसार उन्हें सुखमय प्रतीत होता है क्योंकि जीव को दुख तभी होता है जब उसकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती।

तुलसीदास कहते हैं कि यद्यपि वेद यह कह रहे हैं कि यह सांसारिक प्रपंच सब तरह से झूठा (असत्य) है (और वेदों में इससे मुक्ति पाने के लिए जप, तप आदि अनेक साधन बताये गये हैं) परन्तु राम की भक्ति और संतों का सत्संग—इन दोनों के बिना अन्य कोई भी साधन इस सांसारिक दुख को दूर नहीं कर सकता। अर्थात् इन्हीं दोनों के द्वारा ही सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पायी जा सकती है।

टिप्पणी—(१) 'अनविचार····सदा'—वेदान्त के अनुसार अज्ञान के कारण जगत रमणीय प्रतीत होता है क्योंकि मन जगत के उपकरणों में रमकर आनन्द प्राप्त करता है जबकि उसका यह आनन्द क्षणिक होता है क्योंकि इसका आधार बाह्य सौन्दर्य रहता है। आत्मबोध हो जाने पर भी यह संसार रमणीय प्रतीत होता है, परन्तु यह रमणीयता क्षणिक न होकर स्थायी होती है क्योंकि इसका आधार बाह्य जगत न होकर अन्तर्जगत का सौन्दर्य होता है। अन्तर्जगत के इस सौन्दर्य का अनुभव कर लेने पर बाह्य जगत निस्सार प्रतीत होने लगता है और जीव संशय और सन्देह के जाल से मुक्त हो परमानन्द में लीन हो जाता है। उसका सत्-असत् सम्बन्धी भ्रम दूर हो जाता है।

(२) इस पद में मुख्य संकेत मन की शंका दूर करने का है।

(३) ज्ञान की प्राप्ति राम-भक्ति और सत्संग द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी भी साधन द्वारा नहीं। इनके द्वारा तुलसी लोकपक्ष का समर्थन कर रहे हैं।

[१२२]

मैं हरि, साधन करइ न जानी।
अस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी ॥१॥
सपने नृप कहँ घटै बिप्र-बध, बिकल फिरै अघ लागे।
बाजिमेध सत कोटि करैं नहिं सुद्ध होइ बिनु जागे ॥२॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अबिचारे।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि हारहि मरइ न मारे ॥३॥
निज भ्रम ते रबिकर-संभव सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहुँ पार न पावै ॥४॥
तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय, तरिय नहिं भाई ॥५॥

शब्दार्थ—आमय=रोग। भेषज=औषधि, दवाई, इलाज। दिरमानी=हकीम, वैद्य, यह अरबी का शब्द है। विप्र-वध=ब्रह्म हत्या। अघ=पाप। वाजि-मेध=अश्वमेध। स्रग=माला, रस्सी। अविचारे=अज्ञान से। आयुध=हथियार, अस्त्र-शस्त्र। रविकर-सम्भव=सूर्य-किरणों से उत्पन्न। अवगाहत=डूबते हुए। बोहित=जहाज। आपु सहित=अहं के भाव सहित, अहंकार सहित। कलप=कल्प।

भावार्थ—हे हरि! (मैंने इस संसार से मुक्त होने के लिए उचित) साधन करना ही नहीं सीखा। अर्थात् मैं यह नहीं जान सका कि किस साधन द्वारा संसार से मुक्ति हो सकती है। जिस प्रकार जैसा रोग था, उसका अब वैसा ही इलाज नहीं किया तो फिर वैद्य को दोष देने से क्या लाभ। अर्थात् मैं संसार से मुक्ति पाने के लिए जप-तप आदि अनेक साधनों को तो अपनाता रहा, परन्तु जो असली साधन था—आत्मज्ञान द्वारा मन की शुद्धि, उसे नहीं अपनाया। फिर यदि मेरी मुक्ति नहीं हो सकी तो इसके लिए ईश्वर को क्यों दोष दूँ? यह तो मेरे ही अज्ञान का दोष था। जैसे स्वप्न में किसी राजा को ब्राह्मण का वध करने का दोष लग जाय अर्थात् वह स्वप्न में किसी ब्राह्मण की हत्या कर डाले और फिर उस पाप के कारण व्याकुल होता रहे, तो वह सौ करोड़ अश्वमेध करने पर भी इस ब्रह्म-हत्या के पाप से तब तक शुद्ध (मुक्त) नहीं हो पायेगा जब तक स्वयं नींद से जाग न उठे। इसी प्रकार बिना आत्मज्ञान के अन्तःकरण की शुद्धि होना असम्भव है।

अज्ञान के ही कारण रस्सी में भयानक भय देने वाला सर्प प्रकट हो जाता है। अर्थात् भ्रम के कारण हम रस्सी को ही सर्प समझ भय से व्याकुल हो उठते हैं। उस सर्प को अनेक हथियारों द्वारा तथा अत्यधिक बल-प्रयोग करते-करते हार जाने पर भी नहीं मारा जा सकता। (इसी प्रकार भ्रम के कारण सत्यभासित इस

असत्य संसार के भय से राम भक्ति के विना अन्य साधनों द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। जैसे अपने भ्रम के कारण ही हम सूर्य-किरणों द्वारा उत्पन्न समुद्र (मृगजल) को देख अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं (रेगिस्तान में गर्मियों में दूर पर समुद्र लहराता सा प्रतीत होता है, इसे ही मृग-मरीचिका कहते हैं) और उसमें डूबते हुए हम जहाज और नाव पर चढ़कर भी कभी उसे पार नहीं कर पाते क्योंकि वह तो वास्तविक न होकर भ्रममात्र होता है। (इसी प्रकार हम मृगजल के समान इस असत्य संसार को सत्य मान उसमें डूबते हुए दुख पाते रहते हैं।)

तुलसीदास कहते हैं कि जब तक अहंभाव सहित इस संसार का पूर्ण रूप से नाश नहीं हो जाता, तब तक सौ करोड़ उपाय करते-करते मर जाने पर भी इस संसार को पार नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही इस संसार का मिथ्यात्व प्रमाणित होगा और तभी उससे मुक्ति भी सम्भव होगी।

टिप्पणी—(१) इस पद में भी विभिन्न दृष्टान्त देकर ज्ञान द्वारा ही सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने की बात कही गयी है।

(२) नवीं पंक्ति में आया 'आयु' शब्द आत्मवाची न होकर अहंभाव का ही द्योतक है।

[१२३]

अस कछु समुझि परत रघुराया !

बिनु तव कृपा दयालु दास-हित, मोह न छूटै माया ॥ १ ॥
वाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
निसि गृहें मध्य दीप की बातन, तम निवृत्त नहिं होइ ॥ २ ॥
जैसे कोइ इक दीन दुखित अति असनहीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह, लिखे न बिपति नसावै ॥ ३ ॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै।
बिनु बोले संतोष-जनित सुख, खाइ सोइ पै जानै ॥ ४ ॥
जबलगि नहिं निज हृदि प्रकाश, अरु विषय-आस मनमाहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत, सपनेहुँ सुख नाहीं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—दास-हित=भक्त-हितकारी। वाक्य-ज्ञान=शास्त्रीय ज्ञान। बातन=बातें करने से। निवृत्त=नष्ट, दूर। असन=भोजन। लिखे=बनाने से। बखानै=वर्णन करे। हृदि=हृदय में। जग-जोनि=सांसारिक योनियाँ।

भावार्थ—हे रघुनाथ! हे दयालु! हे भक्त-हितकारी! मुझे कुछ ऐसा जान पड़ता है कि बिना तुम्हारी कृपा के न तो मोह ही छूटता है और न माया ही। कोई व्यक्ति शास्त्रीय ज्ञान में चाहे कितना ही पारंगत क्यों न हो परन्तु संसार से मुक्त

नहीं हो सकता। अर्थात् कोरा शास्त्रीय ज्ञान बिना आत्मज्ञान के संसार से मुक्ति नहीं दिला सकता। रात में घर के भीतर दीपक की बातें करने से (दीपक न जलाने से और केवल दीपक जलाने की बातें करने से) अन्धकार दूर नहीं होता, वैसे ही कोरी शास्त्रीय ज्ञान की बातें करने से अज्ञान दूर नहीं होता। जैसे कोई एक अत्यन्त दीन और दुखी व्यक्ति बिना भोजन के दुख पा रहा हो तो उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु के चित्र बना देने से ही उसका संकट दूर नहीं होगा। अर्थात् जब तक कल्प-वृक्ष और कामधेनु साक्षात् रूप में उसके सामने नहीं आयेंगे तब तक वह केवल उनके चित्रों द्वारा अपनी भूख और दरिद्रता को दूर नहीं कर सकेगा। भाव यह है कि केवल वाक्य-ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) से ही सांसारिक दुख दूर नहीं हो सकेंगे।

कोई व्यक्ति रात-दिन अनेक प्रकार के षट्रस भोजनों की बात करता रहे, परन्तु इससे क्या उसकी भूख शान्त हो सकेगी? इसके विपरीत, जो व्यक्ति इन व्यंजनों का बिना नाम लिए ही भोजन करता है वही संतोष से उत्पन्न उस तृप्ति का आनन्द जानता है। अर्थात् जो कोरे ज्ञान की चर्चा न कर भावना का मानसिक चिन्तन (भजन) करता है, उससे जो तृप्ति मिलती है उसका आनन्द केवल वही जानता है। जब तक हृदय में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता और मन में विषय-वासना की आशा भरी रहती है तब तक यह जीव सांसारिक विभिन्न योनियों में जन्म धारण करता हुआ भटकता रहता है और उसे स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त हो पाता।

टिप्पणी—(१) कथनी और करनी में अन्तर रहने से जीव सदैव दुख पाता रहता है। कोरा शास्त्रीय ज्ञान अर्थात् तर्क-वितर्क सच्चा सन्तोष नहीं प्रदान करता। केवल आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही सांसारिक कष्टों से मुक्ति सम्भव है, और यह आत्मज्ञान तभी प्राप्त होता है जब माया-मोह से मुक्ति मिल जाती है। और माया-मोह से मुक्ति भगवत्कृपा होने पर ही सम्भव है। इसलिए संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भगवत्कृपा ही मूल है। इस पद का यही सारांश है। कोरा शास्त्रीय ज्ञान कभी सच्चा आनन्द नहीं दे पाता।

(२) मानसिक उपासना द्वारा ही मन के सारे तर्क-वितर्कों से मुक्ति होती है। तुलसीदास ने सर्वत्र बाह्य साधना की अपेक्षा मानसिक साधना को ही श्रेष्ठ माना है। 'बिनु""""जानै'—पंक्ति इसी तथ्य के प्रति संकेत कर रही है।

(३) कबीर ने भी शास्त्रीय ज्ञान की निस्सारता के सम्बन्ध में कहा है कि—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥'

[१२४]

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा॥ १॥

सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें बरिआई ।
त्यागन गहन उपेच्छनीय, अहि हाटक तृन की नाईं ॥ २ ॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे ।
सरग-नरक, चर-अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥ ३ ॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये ।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥ ४ ॥
रघुपति-भक्ति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चिद्-बिलास जग बूझत-बूझत बूझै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—परिहरै=छोड़ दे । द्वैत=राग-द्वेष आदि परस्पर विरोधी भावना। बरिआई=हठपूर्वक, जबरदस्ती । मध्यस्थ=उदासीन, न मित्र न शत्रु । अहि=सर्प । हाटक=स्वर्ण । असन=भोजन । बसन=वस्त्र । मनि=मणि । पुतरिका=पुत्तलिका, पुतली । कंचुकि=वस्त्र । तथा=उसी प्रकार । तनु=शरीर । छालित=प्रक्षालित, धोया हुआ । सूझै=दिखाई पड़ने लगता है । चिद-विलास=चैतन्य आनन्द ।

भावार्थ—यदि मन अपने विकारों (विषयादि की इच्छा) को छोड़ दे तो फिर उसे रागद्वेप आदि परस्पर विरोधी भावों के कारण उत्पन्न अपार सांसारिक दुख, संशय और शोक क्यों सतायें ? भाव यह है कि मन यदि अपने विकारों को छोड़ दे तो उसे आत्मज्ञान (तत्त्व वस्तु) प्राप्त हो जायेगा और वह सांसारिक दुख, शोक, संशय आदि से मुक्त हो जायेगा (विकार ही मन में भेदबुद्धि—रागद्वेषादि—उत्पन्न करते हैं, इनके दूर हो जाने से मन समरस हो आत्मानन्द में निमग्न हो जाता है। यही मुक्ति है।) मन ने ही जबरदस्ती व्यक्तियों के शत्रु, मित्र और उदासीन—तीन वर्ग मान रखे हैं। अर्थात् मन अपने आप ही किसी को शत्रु, किसी को मित्र और किसी को न शत्रु और न मित्र—उदासीन—मान बैठता है। वह शत्रु को सर्प के समान त्याग देता है, उससे बचकर निकल जाता है, मित्र को स्वर्ण के समान ग्रहण कर लेता है और उदासीन की तिनके समान उपेक्षा कर आगे बढ़ जाता है। ये सब मन की अपनी ही कल्पनाओं के परिणाम होते हैं।

जैसा एक मणि के भीतर भोजन, वस्त्र, पशु, अनेक प्रकार की विभिन्न वस्तुएँ मौजूद रहती हैं अर्थात् मणि को वेचकर इन सारी वस्तुओं को खरीदा जा सकता है, उसी प्रकार स्वर्ग, नरक तथा चर-अचर, अनेक लोक आदि इसी मन के भीतर बसते हैं। भाव यह है कि मन मणि के समान मूल्यवान है। शुभ कर्म करने पर स्वर्ग और बुरे कर्म करने पर नर्क तथा विभिन्न योनियों में जन्म लेना आदि इसी मन के कारण ही होता है। अर्थात् शुभ-अशुभ की प्राप्ति का मूल कारण यह मन ही है। जैसे बिना बनाये ही पेड़ की लकड़ी में पुतली और सूत में वस्त्र छिपे रहते हैं, उसी

प्रकार इस मन के भीतर भी (सुर, नर, कीट, पतंग आदि के) शरीर छिपे रहते हैं जो अवसर पाकर अर्थात् कर्मानुसार प्रकट हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार लकड़ी से पुतली और सूत से वस्त्र बना लिये जाते हैं, उसी प्रकार यह मन अपने शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा देवता, मनुष्य, कीड़े-पतंगे आदि की योनि प्राप्त करता रहता है।

(मन के इस विकार को दूर करने का उपाय यही है कि) राम की भक्ति रूपी जल से इसे धो डाला जाय। ऐसा हो जाने पर मन निर्मल हो जायेगा और फिर बिना प्रयास के ही उसे सत्य ज्ञान उपलब्ध हो जायेगा। अर्थात् वह यह समझने लगेगा कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। (परन्तु ऐसा अनायास ही और एकदम नहीं हो जाता) तुलसीदास कहते हैं कि चैतन्य आनन्द (अखंड आत्मानन्द) को यह मन समझते-समझते ही समझ पायेगा। अर्थात् एकदम न समझ कर विषय-वासनादि से मन की मुक्ति होने और राम-भक्ति में लीन होने पर ही धीरे-धीरे उसे आत्मानन्द की प्राप्त हो सकेगी।

टिप्पणी—(१) इस पद का भाव यह है कि हम मन के अनुसार ही सारे कर्म करते हैं और उन कर्मों के अनुसार ही हमें उनके फल मिलते हैं। अतः सब कुछ मन में ही स्थित रहता है। कर्म में पाप नहीं होता, पाप दृष्टिकोण में होता है। यदि मन विकारों को छोड़ दे तो उसे तत्त्ववस्तु—आत्मज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

(२) 'शत्रु, मित्र·······नाईं'—में यथाक्रम अलंकार है।

(३) 'पसु' का एक पाठान्तर 'वसु' भी मिलता है जिसका अर्थ है 'धन', परन्तु यहाँ मणि ही धन है, इसलिए 'वसु' पाठ उचित नहीं प्रतीत होता।

(४) 'मन महँ लीन'—में सर्वात्मवाद और अद्वैत भावना का समावेश है।

(५) 'बिटप·······बनाए'—ये उदाहरण सांख्य के हैं।

(६) 'द्वैत जनित'—से भाव—राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन से है।

(७) 'बूझत बूझत बूझै'—विभिन्न साधनाओं द्वारा क्रमानुसार शरीर और मन की शुद्धि होने के उपरान्त ही अन्त में परमज्ञान अर्थात् भक्ति-भावना का उदय होता है।

(८) दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है।

[१२५]

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी ॥ १ ॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥ २ ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥ ३ ॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु, मारा ॥ ४ ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥ ५ ॥

मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥ ६ ॥
भागेहु नहिं नाथ, उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा ॥ ७ ॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा ॥ ८ ॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होई तुम्हारा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—वरजोरा=जबरदस्ती। तम=अविद्या, अज्ञान। बोध-रिपु=ज्ञान का शत्रु। मारा=कामदेव। मरदहिं=मर्दन करते हैं, कुचलते हैं। बटपारा=डाकू। उबारा=बचाव, उद्धार। सँभारा=रक्षा। तसकर=चोर।

भावार्थ—हे रघुवीर ! मैं अपनी बड़ी भारी मुसीबत की बात और किससे कहूँ। तुम्हीं भक्तों का कल्याण करने वाले और उन्हें धैर्य बँधाने वाले हो। हे प्रभु ! मेरा हृदय तुम्हारा निवास स्थान है, उसमें आकर अनेक चोर बस गये हैं। वे जबर-दस्ती मेरे ऊपर निर्दय अत्याचार करते हैं और प्रार्थना करने और गिड़गिड़ाने से भी नहीं मानते। हे नाथ ! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध, काम आदि ज्ञान के शत्रु (इनसे ज्ञान नष्ट हो जाता है) मेरे हृदय में अत्यन्त उपद्रव मचाते रहते हैं और मुझे अनाथ जानकर बहुत सताते हैं। मैं तो अकेला हूँ और ये डाकू बहुत से हैं। जब मैं सहायता के लिए पुकारता हूँ तो कोई भी मेरी पुकार नहीं सुनता। अर्थात् सब इनसे डरते हैं। हे नाथ ! इनसे दूर भागने से ही मेरी रक्षा नहीं हो सकती, इसलिए हे रघुनाथ ! अब तुम्हीं आकर मेरी रक्षा करो। तुलसीदास कहते हैं कि हे राम ! सुनो ! ये डाकू तुम्हारे घर को लूटे लिये जा रहे हैं (क्योंकि मेरा हृदय तुम्हारा घर है)। यह देखकर मुझे यही सबसे बड़ी चिन्ता हो रही है कि कहीं तुम्हारी बद-नामी न हो जाय कि चोर भगवान के घर को भी लूट ले गये। इसलिये तुम मेरी इनसे रक्षा कर अपने यश की—भक्तों का रक्षा होने के अपने यश की—रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) 'बोध-रिपु'—को काम का भी विशेषण माना जा सकता है, और मोह, अज्ञान, लोभ आदि का भी।

(२) शंकराचार्य ने भी इन मानवीय दुष्प्रवृत्तियों को डाकू कहा है, जो ज्ञान-रूपी रत्न को लूटती रहती हैं—

'कामः क्रोधश्च लोभश्च, देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञान रत्नापहाराय तस्माज्जागृत, जागृत ॥'

कबीर भी इन डाकुओं से जीव को सावधान रहने को कहते हैं—

'तोरी गठरी में लागे चोर, बटोहिया का रे सोवै।
पाँच-पचीस-तीन हैं चोखा, यह सब कीन्हा सोर ॥

[१२६]

मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निज भक्ति चहैं हरि केरी ॥१॥
उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते ॥२॥
दुख-सुख अरु अपमान बड़ाई। सब सम लेखहिं बिपति बिहाई ॥३॥
सुनु सठ काल ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही ॥४॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट लौ लाये ॥५॥

शब्दार्थ—केरी=की। आनहि=ला। कृत=किये हुए। तजे=छोड़कर। अपनपौ=अभिमान। चेते=सावधानी से, चैतन्य होकर। विहाई=दूर होगी। जनि=मत। विदूषहि=निन्दा कर। केही=किसी की।

भावार्थ—हे मेरे मन! यदि तू अपने हृदय में भगवान की भक्ति चाहता है तो मेरी इस शिक्षा को मान ले। पहला काम तो तू यह कर कि भगवान ने तेरे साथ जितने उपकार किये हैं—शरीर दिया, पाला-पोसा—उनका अपने हृदय में स्मरण कर और फिर अपने सारे अहंकार को त्याग चैतन्य हो भगवान की सेवा कर। दूसरी बात यह है कि सुख-दुख, अपमान और प्रशंसा इनको एक समान देख। अर्थात् दुख और अपमान से दुखी मत हो और सुख और प्रशंसा पा गर्व से मत भर उठ अर्थात् सदैव समरस रह। ऐसा होने पर तेरी सारी विपत्ति दूर हो जायेगी।

हे दुष्ट! सुन! यह तेरा शरीर काल का ग्रास है, एक दिन नष्ट हो जायेगा, इसलिए तू इसके कारण किसी की भी निन्दा मत कर। तुलसीदास कहते हैं कि हे मन! जब तक तुझ में ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी तब तक कपट की लौ लगने से राम प्राप्त नहीं होंगे। अर्थात् कपट की साधना द्वारा राम को प्राप्त करना असम्भव है। वे तो सच्ची प्रेम-लगन द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

[१२७]

मैं जानी हरिपद-रति नाहीं। सपनेहु नहिं बिराग मन माहीं ॥१॥
जो रघुबीर चरन-अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे ॥२॥
काम-भुजंग डसत जब जाही। विषय-नींब कटु लगत न ताही ॥३॥
असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित नूतन भारी ॥४॥
जब कब राम-कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥५॥

शब्दार्थ—हरिपद-रति=भगवान के चरणों में प्रेम। नींब=नीम।

भावार्थ—तुलसीदास कहते हैं कि मैंने यह जान लिया कि भगवान के चरणों में मेरी प्रीति नहीं है, क्योंकि स्वप्न में भी मेरे मन में वैराग्य-भावना नहीं उत्पन्न

होती। अर्थात् जब मेरे मन में संसार से विरक्ति उत्पन्न नहीं होती तो फिर भगवान से प्रेम कैसे हो सकता है। जो राम के चरणों से प्रेम करते हैं उन्होंने संसार के सारे भोग-विलासों को रोग के समान त्याग दिया है। जब किसी को काम रूपी सर्प डसता है तो उसे विषय रूपी नीम कड़वा नहीं लगता। (सर्प दंश का विष चढ़ने पर नीम पत्ते खाते समय कड़वे नहीं लगते।) भाव यह है कि काम उत्पन्न होने पर विषय-वासना जैसी बुरी चीज भी कामी व्यक्ति को बुरी नहीं लगती। यही सोच-सोचकर मेरे मन में सदैव यही दुविधा बनी रहती है कि मैं क्या करूँ, क्या न करूँ। और इस दुविधा के कारण नित्य नयी-नयी चिन्ताएँ मुझे सताती रहती हैं। (अब तो केवल यही आशा है कि) जब कभी राम कृपा करेंगे तभी मेरा यह दुख दूर होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरे दुख को दूर करने वाला उपाय नहीं है। भाव यह है कि मैं काम-वासना में लिप्त रहूँ अथवा राम-भजन करूँ, मेरी यह दुविधा तभी मिटेगी जब राम कृपा कर मुझे अपनी शरण में ले लेंगे।

टिप्पणी—इस पद में भी राम-कृपा को ही सारे दुखों को दूर करने वाला बताया गया है। अन्य जप, तप आदि किसी भी साधन द्वारा मन का असमंजस दूर नहीं हो सकता। जिस पर राम कृपा करते हैं वही सम्पूर्ण सन्देहों से मुक्त हो वीतराग बन जाता है।

[१२८]

सुमिरु सनेह-सहित सीतापति। राम चरन तजि नहिंन आन गति ॥१॥
जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलिमति बिकल, न कछु निरुपाधी ॥२॥
करतहूँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥३॥
हरति एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु-कृपा-कालिका ॥४॥

शब्दार्थ—निरुपाधि=उपाधि से रहित, उपद्रव से रहित। सुकृत=पुण्य। सिराहीं=शान्त होते। अघ-असुर-जालिका=पापरूपी राक्षसों का समूह। प्रभु-कृपा-कालिका=भगवान की कृपारूपी काली।

भावार्थ—हे भाई प्रेम के साथ सीतापति राम का स्मरण कर। राम के चरणों के अतिरिक्त इस जीव की अन्य कोई भी दूसरी गति नहीं है। अर्थात् अन्य किसी भी साधन द्वारा यह जीव संसार-सागर से पार नहीं जा पाता, मुक्त नहीं हो पाता। जप, तप, तीर्थ-यात्रा, योग, समाधि आदि में से कोई भी साधन कलियुग के घातक प्रभाव के कारण, बुद्धि ठिकाने न रहने से, नहीं अपनाया जा सकता। अर्थात् कलियुग में मन की अतिशय चंचलता के कारण इन साधनों को नहीं अपनाया जा सकता। इनमें से एक भी साधन ऐसा नहीं जिसे करने में कोई-न-कोई बाधा न उठ खड़ी होती हो।

पुण्य कर्म करते हुए भी पाप शान्त नहीं होते हैं। वे रक्तबीज के समान निरन्तर बढ़ते ही जाते हैं। अर्थात् जितना-जितना उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, वे रक्तबीज के समान और अधिक बढ़ते चले जाते हैं। इन पापरूपी राक्षसों के समूह को दूर करने वाली तो केवल प्रभु की कृपारूपी काली ही है। अर्थात् जिस प्रकार काली ने राक्षसों या वध किया था, वैसे ही राम की कृपा पापों को नष्ट कर देने वाली है।

टिप्पणी—(१) यहाँ भी राम की कृपा को पाप-नाश का एकमात्र साधन माना गया है।

(२) रक्तबीज नामक एक राक्षस था जिसे यह वरदान मिला था कि उसके शरीर से गिरी रक्त की प्रत्येक बूँद से रक्तबीज के समान एक नया राक्षस पैदा हो जायेगा। इसी कारण इसे मारने में सब असमर्थ रहे। अन्त में काली से इसका युद्ध हुआ। काली ने यह किया कि अपनी जीभ इतनी लम्बी बढ़ा दी कि जब उसके प्रहार से इसके शरीर से रक्त गिरता था तो वह उसे पृथ्वी पर न गिरने देकर ऊपर-ही-ऊपर चाट लेती थी। इस प्रकार अन्त में काली उसका वध करने में समर्थ रही।

[१२६]

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख सुकृति बढ़त अघ अमंगल घटत।।१।।
बिनु स्रम कलि-कलुष-जाल कटु कराल कटत।
दिनकर के उदय जैसे-तिमिर-तोम फटत।२।।
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत।
बाँधिवेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत।।३।।
परिहरि सुरमनि सुन गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहिं हटत।।४।।

शब्दार्थ—रसना=जीभ। सुकृति=पुण्य। अघ=पाप। स्रम=परिश्रम। तोम=समूह। अटत=घूमना। भव-गयन्द=संसार रूपी हाथी। रेनु=धूल। रजु=रस्सी। बटत=बनाना। सुरमनि=चिन्तामणि। लटत=ललचाता है। हटत=हटकता है, मना करता है।

भावार्थ—हे सुन्दर जीभ! तू राम-राम क्यों नहीं रटती। राम का स्मरण करने से सुख और पुण्य बढ़ते हैं तथा पाप और दुख कम हो जाते हैं। राम का नाम लेने से बिना परिश्रम किये ही कलियुग के पापों का कड़वा और भयंकर जाल उसी प्रकार नष्ट हो जाता है अर्थात् सारे पाप दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार का समूह (रात्रि का सघन अन्धकार) फट जाता है, नष्ट हो

जाता है। योग, यज्ञ, जप, वैराग्य, तपस्या, तीर्थों में भटकते फिरना आदि सभी साधन इस संसार रूपी हाथी को वश में करने के लिए वैसे ही व्यर्थ हैं, जिस प्रकार धूल की रस्सी वटकर उससे हाथी को बाँधने का प्रयत्न करना। अर्थात् इन साधनों द्वारा संसाररूपी हाथी को वश में नहीं किया जा सकता।

तेरी स्थिति तो यह है कि तू राम-नाम रूपी चिन्तामणि को छोड़ गुंजा को देख ललचा उठती है। अर्थात् राम-नाम, जो चिन्तामणि के समान सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है, उसे त्याग तू गुंजा रूपी सांसारिक निस्सार विषय-वासनाओं के प्रति आकर्षित होती है। तुलसीदास तेरे इसी तुच्छ लोभ को देख तुझे ऐसा करने से मना करता है, रोकता है।

टिप्पणी—(१) 'जोग……वटत'—यह उपमा बहुत ही सुन्दर है। यहाँ योग आदि से अभिप्राय व्यर्थ के कर्मकाण्ड से है। राम की भक्ति के विना ये सब वेकार हैं।

(२) इस छन्द में प्रवाह की तीव्रता दर्शनीय है।

(३) 'रुचिर रसना'—यहाँ 'रुचिर' को 'रसना' का विशेषण माना जा सकता है और 'राम-नाम' का भी। जिसके अनुसार अर्थ होगा—हे जीभ ! तू सुन्दर राम-नाम क्यों नहीं रटती।

[१३०]

राम राम, राम राम, राम राम, जपत।
मंगल मुद उदित होत, कलि-मल-छल छपत ॥१॥
कहु के लहे फल रसाल, बबुर-बीज बपत।
हारहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत ॥२॥
काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत।
राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत ॥३॥
साधन बिनु सिद्ध सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत ॥४॥
नाम-सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किये रावन-रिपु तुलसिहु से अपत ॥५॥

शब्दार्थ—मुद=प्रसन्नता। छपत=छिप जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। कहु=कहो। के=किसने। रसाल=आम। बबुर-बीज=बबूल के बीज। बपत=बोकर। जनि=मत। गाल-गूल गपत=गाल बजाते, वेकार की गप्पें लड़ाते हैं। चपत=दब जाते हैं। लपत=लपकते हैं। बर बनिज=श्रेष्ठ व्यापार। खपत=खिप जाते हैं, बिक जाते हैं। थपत=स्थापित होता है। अपत=पति-हीन; गये-बीते।

भावार्थ--राम नाम जपते रहने से आनन्द-मंगल उत्पन्न होता है और कलियुग के पाप और कपट छिप जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। यह बताओ कि आज तक किसने बबूल के बीज बोकर उनसे आम के फल प्राप्त किये हैं। अर्थात् दुष्कर्म कर किसने सुख पाया है। व्यर्थ का अनर्गल प्रलाप करते हुए, गप्पें लड़ाते हुए बेकार ही अपने इस जीवन को नष्ट मत कर। काल, कर्म, गुण और स्वभाव–ये सबके मस्तकों को जलाते रहते हैं अर्थात् इनके कारण सभी सदैव दुख पाते रहते हैं। (काल नष्ट कर देता है, अच्छे-बुरे कर्म कर्म-जाल में बाँधे रहते हैं, राजसिक, तामसिक गुण संसार में लिप्त रखते हैं और स्वभाव विषयों के प्रति आकर्षित करता रहता है।) परन्तु राम नाम की महिमा की चर्चा चलते ही ये सब दब जाते हैं। अर्थात् इनका सारा प्रभाव नष्ट हो जाता है।

सब लोग बिना साधन किये सिद्धि प्राप्त करने के लिए व्याकुल बने ललचाते रहते हैं। अर्थात् साधन तो नहीं करना चाहते और सिद्धि की आकांक्षा किया ही करते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि राम नाम के नगर में कलियुग का सारा, अपार सुन्दर व्यापार (व्यापार की वस्तुएँ) खिप जाती हैं, बिक जाती हैं। अर्थात् राम-नाम लेने से कलियुग के सारे पापों से मुक्ति मिल जाती है और बदले में राम-भक्ति रूपी अथाह धन प्राप्त होता है। राम-नाम में विश्वास और प्रेम करने से मन अपनी चंचलता त्याग स्थिर (एकाग्र) हो जाता है। रावण के शत्रु राम के इस नाम का ऐसा प्रभाव है कि इसने तुलसी जैसे हीन, गये-बीते प्राणी को भी पवित्र बना दिया है।

टिप्पणी—(१) पहली पंक्ति में 'राम' शब्द छः बार आया है। विनय-पत्रिका के टीकाकार बैजनाथ जी ने इसके तीन कारण बताये हैं—

(i) राम-तारक मंत्र में ॐकार की छः मात्राएँ विद्यमान हैं, अतः 'प्रणव' राम में सन्निहित है, यह दिखाया गया है।

(ii) राम-नाम शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मैथुन—इन छहों विषयों का नाश करने वाला है। अतः छः बार स्मरण किया गया है।

(iii) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए छः बार 'राम' का स्मरण किया गया है।

(२) अन्तिम पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि रावण से शत्रु और तुलसी जैसे हीन व्यक्ति को भी जिस राम ने पवित्र कर दिया।

[१३१]

पावन प्रेम रामचरनकमल जनम लाहु परम।
रामनाम लेत होत, सुलभ सकल धरम॥१॥

जोग मख बिबेक बिरति, बेद-बिदित करम।
करिबे कहँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम ।।२।।
तुलसी सुनि, जानि बूझि, भूलहि जनि भरम।
तेहि प्रभु की तू सरन होहि, जेहि सबकी सरम ।।३।।

शब्दार्थ—लाहु=लाभ। मख=यज्ञ। बिरति=वैराग्य। नरम=सरल। सरम=लज्जा।

भावार्थ—इस मानव-जीवन धारण करने का परम लाभ (चरम उपलब्धि) राम के चरण कमलों से पवित्र प्रेम करने में ही है। राम-नाम लेते ही सारे धर्म सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् राम-नाम लेने से ही सम्पूर्ण धर्मों का फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। वेदों में योग, यज्ञ, ज्ञान, वैराग्य आदि जितने भी कर्मों का वर्णन किया गया है वे सुनने में तो बड़े मधुर और सरल प्रतीत होते हैं परन्तु करने में उतने ही कड़वे और कठोर होते हैं। अर्थात् इन कर्मों का करना बड़ा कष्टसाध्य और कठिन है, इसलिए तुलसीदास कहते हैं कि जान-बूझकर भ्रम में पड़ भटकना नहीं चाहिए। हे मन! तू उसी प्रभु की शरण में जा जिनके हाथ में सब की लाज रहती है। अर्थात् जो सब की लज्जा (मर्यादा) की रक्षा करने वाले हैं।

[१३२]

राम से प्रीतम की प्रीति-रहित जीव जाय जियत।
जेहि सुख सुख मानि लेत, सुख सो समुझ कियत ।।१।।
जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत।
तहँ तहँ तू विषय-सुखहि, चहत लहत नियत ।।२।।
कत बिमोह लट्यो-फट्यो, गगन मगन सियत।
तुलसी प्रभु-सुजस गाइ, क्यों न सुधा पियत ।।३।।

शब्दार्थ—जाय=व्यर्थ ही। जियत=जीवित रहता है। कियत=कितना है। जोनि=योनि। बियत=आकाश। लहत=प्राप्त करता है। नियत=प्रारब्ध, भाग्य। बिमोह=अज्ञान। लट्यो-फट्यो=दुबला और क्षत-विक्षत। सियत=सींता है।

भावार्थ—राम जैसे प्रियतम से प्रेम न कर यह जीव व्यर्थ ही जीवन-यापन करता है अर्थात् उसका जीवित रहना व्यर्थ है। यह जीव जिस सुख को सुख मानता है, समझ तो सही कि वह सुख कितना है। अर्थात् विषयानन्द का सुख क्षणिक होता है परन्तु उसके फलस्वरूप जीव विभिन्न योनियों में पड़ कष्ट पाता रहता है अतः यह सुख न होकर दुख देने वाला ही होता है। जहाँ-जहाँ पृथ्वी, पाताल और आकाश में जिस-जिस योनि में तू जन्म लेता रहता है वहाँ तू सदैव विषयों

से प्राप्त होने वाले सुख की कामना करता रहता है और भाग्य में लिखा होने के कारण तुझे वे ही सुख प्राप्त होते रहते हैं। अर्थात् तेरा आवागमन का चक्कर नहीं छूट पाता। इसलिए तू विषय-वासना की उपासना में थका हुआ, आनन्द में मग्न बना फटे आकाश को सींता रहता है अर्थात् असम्भव कार्य करने का प्रयत्न किया करता है। भाव यह है कि ऐसा करने से तुझे कभी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः तू भगवान के सुन्दर यश का गान कर अमृत का पान क्यों नहीं करता जिससे कि अमर हो जाय।

टिप्पणी—(१) 'गगन मगन सियत'—मुहावरा है, आकाश में थेगली लगाना अर्थात् असम्भव कार्य करने का प्रयत्न करना।

(२) भगवान के नाम का कीर्तन अमृत के समान है। सूरदास ने भी यही बात कही है—

'सुआ, चलु ता बन को रसु लीजै।
जा बन कृष्ण-नाम अमरत-रसु, स्रवन-पात्र भरि पीजै।'

[१३३]

तोसो हौं फिरि फिरि हित प्रिय पुनीत सत्य बचन कहत।
सुनि मन, गुनि समुझि क्यों न सुगम सुमग गहत॥१॥
छोटो बड़ो, खोटो खरो जग जो जहँ रहत।
अपने-अपने को भलो कहहु को न चहत॥२॥
बिधि लगि लघु कीट अवधि सुख सुखी, दुख दहत।
पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत॥३॥
विषय मुद निहार भार सिर को काँधे ज्यों बहत।
योंहीं जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत॥४॥
पायो केहि घृत बिचार हरिन-बारि महत।
तुलसी तकु ताहि सरन, जाते सब लहत॥५॥

शब्दार्थ—गुनि=मन में विचारकर। सुगम=सुन्दर मार्ग, सीधा मार्ग। बिधि=ब्रह्मा। लगि=लेकर। अवधि=तक। पसुपाल=ग्वाला। नहत=जोतता है। मुद=आनन्द। निहार=देख। बहत=ढोता है। हरिन-बारि=मृगतृष्णा का जल। महत=मथते, बिलोते। तकु=ताक। लहत=लाभ।

भावार्थ—हे मन! मैं तुझसे बार-बार हितकारी, मधुर, पवित्र और सत्य वचन कहता हूँ। तू इन वचनों को सुन, मन में विचार और समझकर सरल और सीधा मार्ग क्यों नहीं पकड़ता। छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे आदि जो संसार में जहाँ भी रहते हैं,

भला बता कि उनमें से ऐसा कौन है जो अपना भला नहीं चाहता। अर्थात् प्रत्येक अपना-अपना भला चाहता है। ब्रह्मा से लेकर छोटे कीड़े तक सभी सुख में सुखी और दुख में व्याकुल रहते हैं। अर्थात् सुख-दुख का प्रभाव सभी पर पड़ता है। क्योंकि ग्वाला पशुओं को बाँधता, छोड़ता और जोतता रहता है उसी प्रकार ईश्वर प्रत्येक जीव को (प्रवृत्ति रूपी रस्सी से) बाँधता, (निवृत्ति की भावना उत्पन्न कर) खोलता और (कर्मरूपी हल में) जोतता है, अर्थात् जीव ईश्वर की ही प्रेरणा से अज्ञान के मोह में बँधता, वैराग्य प्राप्त करता और कर्मकांड में लिप्त रहता है। उसके जीवन का एकमात्र संचालक ईश्वर ही रहता है।

विषयों से प्राप्त होने वाले सुख को जरा देख कि वे कैसे हैं। यह सुख वैसा ही क्षणिक है जैसे कोई व्यक्ति अपने सिर रखे बोझ से थककर उसे थोड़ी देर के लिए सिर पर से उतार कर कन्धे पर रख लेता है और थोड़ा चैन मिलने के उपरान्त पुनः सिर पर ही रखकर चलने लगता है। इस क्रिया से उसे क्षणिक विश्राम मिल जाता है और वह सुखी हो लेता है, उसी प्रकार जीव एक विषय से थककर दूसरे विषयों से लग जाता है। परन्तु ऐसा करने से उसे क्षणिक सुख ही प्राप्त होता है। अर्थात् विषयानन्द का सुख स्थायी न होकर क्षणिक ही रहता है। हे मूर्ख मन! तू इसी बात को अपने हृदय में अच्छी तरह से जान ले। क्यों व्यर्थ में दुख उठाता रहता है।

आज तक किसने मृगतृष्णा के जल को मथकर घी प्राप्त कर पाया है। अर्थात् किसी ने भी नहीं। इसी प्रकार मृगतृष्णा के समान असत्य इस संसार के विषयानन्दों में कोई भी चिरस्थायी आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए ये सब व्यर्थ हैं। तुलसीदास कहते हैं कि हे मन! इसलिए तू उसी प्रभु की शरण ताक अर्थात् उसी प्रभु की शरण में जा, जहाँ जाने से सारे लाभ प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् परमानन्द प्रदान करने वाली मुक्ति मिल जाती है।

[१३४]

ताते हौं बार-बार देव! द्वार परि पुकार करत।
आरति नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत ॥१॥
लोकपाल सोक-बिकल रावन-डर डरत।
का सुनि सकुचे कृपालु नर—सरीर धरत ॥२॥
कौसिक, मुनि-तीय, जनक सोच-अनल जरत।
साधन केहि सीतल भये, सो न समुझि परत ॥३॥
केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत।
सनमुख तोहिं होत नाथ! कुतरु सुफरु फरत ॥४॥

बंधु-बैर कपि-बिभीषन गुरु गलानि गरत।
सेवा केहि रीझि राम, किये सरिस भरत ॥५॥
सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।
ताको लिये नाम राम, सब को सुढर ढरत ॥६॥
जाने बिनु राम-रीति पचि-पचि जग मरत।
परिहरि छल सरन गये तुलसिहु से तरत ॥७॥

शब्दार्थ—आरति=दुखी, आर्त्त। नति=नवकर, विनम्र होकर। का=क्या। कौसिक=विश्वामित्र। मुनि-तिय=मुनि की पत्नी अहिल्या। अनल=अग्नि। खग=जटायु पक्षी। कुतरु=बुरा वृक्ष। सुफरु=सुन्दर फल। फरत=फलते हैं, लगते हैं। कपि=सुग्रीव। गुरु=भारी, भयानक। अनुहरत=समान। साहिब=स्वामी। सुढर=भली प्रकार ढल जाते हो, कृपा करते हो।

भावार्थ—हे देव ! मैं इसलिए तुम्हारे द्वार पर पड़ा बार-बार तुम्हें पुकार रहा हूँ कि हे प्रभु ! तुम दुखियों द्वारा विनम्र होकर अपने दुखों का वर्णन करते ही उनके संकटों को दूर कर देते हो। (इसका प्रमाण मुझे यह मिला है कि) जब इन्द्र, कुबेर आदि लोकपाल रावण के डर से दुखी और व्याकुल हो रहे थे, उस समय क्या तुमने नर-शरीर धारण करने (अवतार लेने) में किसी प्रकार का संकोच किया था। अर्थात् उनकी करुण पुकार सुनकर ही तुमने अवतार लिया था। ऋषि विश्वामित्र (अपने यज्ञ की रक्षा की), गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या (पति द्वारा दिये गये शाप की) और राजा जनक (सीता के विवाह की) चिन्ता की अग्नि में दग्ध हो रहे थे, तो उनकी यह चिन्ता की अग्नि किस साधन द्वारा शीतल हुई थी, यह बात समझ में नहीं आती। अर्थात् तुमने उन्हें व्यथित जानकर स्वयं ही उनकी चिन्ताओं को दूर किया था। (इनमें से किसी ने भी तुमसे स्पष्ट रूप से प्रार्थना नहीं की थी केवल मन-ही-मन तुम्हारा स्मरण किया था।)

केवट (निषादराज गुह), पक्षी (जटायु), शवरी (भीलनी)—इनमें से किसी की भी तुम्हारे चरण-कमलों में सहज अनुरक्ति नहीं थी अर्थात् कोई भी तुमसे पहले से प्रेम नहीं करता था। परन्तु हे नाथ ! तुम्हारा प्रभाव तो ऐसा है कि तुम्हारे सामने आते ही बुरे वृक्षों पर भी उसी प्रकार सुन्दर अच्छे फल लगने लगते हैं जिस प्रकार केवट, जटायु और शवरी जैसे तुच्छ प्राणी भी तुम्हारे सामने आते ही भक्त-शिरोमणि बन गये। अपने भाइयों के बैर के कारण सुग्रीव और विभीषण ग्लानि में गले जा रहे थे अर्थात् अत्यन्त अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे थे। हे राम ! आखिर, यह बताओ कि तुमने उनकी किस सेवा पर रीझकर उहें भरत के समान अपना भाई बना लिया था। अर्थात् इन दोनों ने तो पहले से तुम्हारी कोई सेवा नहीं की थी। भाव यह है कि तुम्हारी शरण में आने मात्र से ही उन्हें यह पद प्राप्त हो गया था।

(सुग्रीव और विभीषण तो स्वार्थवश तुम्हारी शरण में आये थे परन्तु) पवनपुत्र हनुमान तो तुम्हारे सेवक बनकर तुम्हारे ही समान महान् बन गये। अर्थात् उन्होंने सर्वथा निःस्वार्थ भाव से तुम्हारी सेवा की। इसी कारण तुमने उन्हें इतना महान् गौरव दिया कि उनका नाम लेने मात्र से ही हे राम ! तुम सब पर अत्यन्त कृपालु हो उठते हो। हे राम ! बिना तुम्हारी रीति जाने सारा संसार प्रयत्न कर-करके मरा जा रहा है। अर्थात् संसार यह नहीं जानता कि तुम कितने दीन-वत्सल हो, इसी कारण भटकता फिर रहा है। तुम्हारी महिमा तो इतनी महान् है कि कपट छोड़कर तुम्हारी शरण में जाने से तुलसी जैसे अधम जीव भी तर जाते हैं।

टिप्पणी—(१) 'सेवक''''''अनुहरत'—हनुमान शिव के अवतार और एकादश रुद्र माने जाते हैं। राम भक्तों में से केवल हनुमान की ही पूजा होती है और उन्हीं के मन्दिर पाये जाते हैं। तत्त्वतः राम और शिव में कोई अन्तर नहीं है अतः शिव के अवतार हनुमान और राम में भी कोई अन्तर नहीं रह जाता। हनुमान को यह महत्त्व इसी कारण प्राप्त हुआ है क्योंकि उन्होंने निःस्वार्थ भाव से राम की सेवा की थी।

(२) 'परिहरि छल सरन गये'—सिद्धान्त-वाक्य है।

राग सूहो बिलावल

[१३५]

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं दियो॥
दियो सुकुल जन्म, सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चार को।
जो पाइ पण्डित परमपद, पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखण्ड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति बिष फल फली॥१॥

अजहूँ-समुझि चित्त दै सुनु परमारथ।
है हित सो जगहूँ जाहि ते स्वारथ॥
स्वारथहि प्रिय, स्वारथ सो का ते, कौन बेद बखानई।
देखु खल, अहि-खेल परिहरि, सो प्रभुहि पहचानई॥
पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ, तिय तनय सेवक सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेम सों, बिनु हेतु हित ते नहिं लखा॥२॥

दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।
छलहिं छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है।।
किये छोह छाया कमल कर की भक्त पर भजतहि भजै।
जगदीस जीवन जीव को जो साज सब-सब को सजै।।
हरिहि हरिता, विधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई ।।३।।

× × × ×

ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि।
ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यो केवट उठि।।
भरि अंक भेट्यो सजल नैन सनेह, सिथिल सरीर सो।
सुर सिद्ध मुनि कबि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुबीर सो।।
खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु ते बंदित बड़े।
तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचित गड़े ।।४।।

× × × ×

स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहैं।
सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मन मानिहैं।।
भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै।।
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहि धरि हिये।
बिचरहि अवनि अवनीस-चरनसरोज मन-मधुकर किये ।।५।।

शब्दार्थ—अमरनि=देवताओं। हूँ=को। सुकुल=अच्छा कुल, वंश। हेतु =कारण। पंडित=ज्ञानी। पुरारि=शिव। मुरारि=विष्णु। समीप=पास में। कलपवल्ली=कल्पवेलि, कल्पलता। परमारथ=परम भलाई। का=क्या। ते= वह। अहि-खेल=साँप का खेल खिलाना। तनय=पुत्र। लखा=देखा। हेरु= देख। छोह=कृपा। सुठि=अधिक। बंदित=बन्दना किये जाने योग्य। अवनीस =पृथ्वी के स्वामी।

भावार्थ—हे मन! राम जैसे स्नेही से तूने स्नेह नहीं किया जिन्होंने तुझे यह दुर्लभ मानव-शरीर दिया है, जिसे प्राप्त करना देवताओं के लिए भी असम्भव है। (देवता मानव-शरीर प्राप्त करने के लिए ललचाते रहते हैं।) उन राम ने तुझे उच्च कुल में जन्म दिया, सुन्दर शरीर दिया जिसे प्राप्त कर लेने से चारों फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति होती है। जिस मानव-शरीर को पाकर ज्ञानी

शिव और विष्णु का परमपद अर्थात् कैलास और वैकुण्ठ प्राप्त कर लेते हैं। फिर यह भरतखंड (भारत) जैसा सुन्दर देश है, समीप ही देव नदी गंगा प्रवाहित हो रही है, स्थान भी अच्छा है और यहाँ की संगति भी भले लोगों की है। परन्तु रे कायर ! तेरी दुर्बुद्धि रूपी कल्पलता विष के फल उत्पन्न करना चाहती है। अर्थात् तेरी बुद्धि कल्पलता के समान है जो सारी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली है परन्तु तेरी यह बुद्धि इतनी दुष्ट हो गयी है कि अपने सहज शुभ स्वभाव को त्याग सांसारिक विषयानन्द रूपी विष के फलों को ही उत्पन्न करने का प्रयत्न करती रहती है, इन्हीं में फँसी रहती है। (कल्पलता में अमृत-फल लगते हैं।) भाव यह है कि तू इस बुद्धि द्वारा मुक्ति पा सकता है परन्तु पथभ्रष्ट हो पाप करता फिरता है।

हे मन ! देख अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तू आज भी मन लगाकर अपने परमार्थ (परम कल्याण) की बात सुन। यही बात इस लोक में कल्याण करने वाली है और इसी से अपना स्वार्थ सिद्ध होता है अर्थात् मुक्ति मिल जाती है। यदि तुझे स्वार्थ ही प्रिय है, तो तेरा वह स्वार्थ क्या है, वेदों ने किस स्वर्ग का वर्णन किया है। (अर्थात् वेदों ने मुक्ति को ही परम स्वार्थ माना है।) हे दुष्ट ! तू साँप के साथ खेलना छोड़कर उस प्रभु को पहचान ले (जो इस स्वार्थ की सिद्धि करने वाले हैं) अर्थात् विषयों को त्याग भगवान को पहचान ले। तभी तेरा यह स्वार्थ पूर्ण होगा क्योंकि भगवान ही मुक्तिदाता है। जिसके प्रेम के कारण पिता, माता, गुरु, स्वामी, अपना आत्मस्वरूप, स्त्री, पुत्र, सेवक, मित्र आदि सब प्रिय लगते हैं, बिना कारण के ही सबका हित करने वाले ऐसे उस राम को तूने नहीं देखा।

तेरा वह हितैषी तुझ से दूर न होकर तेरे हृदय में ही विराजमान है। कपट त्याग उसका स्मरण करने से वह तुझ पर अवश्य कृपा करेगा। वह अपने भक्त पर सदैव अपने कर-कमल की छाया कर उस पर कृपा किया करता है। जो उसका भजन करता है वह भी अपने उस भक्त का भजन करता है। वह जगत का स्वामी, जीवों को जीवन देने वाला, सब के लिए सब तरह की सामग्री, भोजन, वस्त्र आदि जुटाने वाला है। जिसने विष्णु को विष्णुत्व (पालन करने की शक्ति), ब्रह्मा को ब्रह्मत्व सृष्टि करने की शक्ति) और शिव को शिवत्व (संहार करने की शक्ति) प्रदान की है, वह सीतापति राम की ही आनन्द मंगल से परिपूर्ण मधुर मूर्ति है।

वह बहुत बड़ा (शक्तिशाली) स्वामी है परन्तु फिर भी अत्यन्त शीलवान और सरल (कृपालु) है। जिसको ध्यान में लाना शिव के लिए भी अगम्य है; अर्थात् जो शिव के ध्यान में भी नहीं आता उसने उठकर केवट से भेंट की थी। वह उसके गले से लगकर मिला और स्नेह के कारण उसके नेत्रों में जल भर आया और शरीर शिथिल (रोमांचित) हो उठा। देवता, सिद्ध, मुनि, कवि आदि सभी कहते हैं कि रघुवीर राम के समान प्रेम-प्रिय (अपने से प्रेम करने वालों से प्रेम करने वाला) अन्य कोई भी दूसरा नहीं है। उन्होंने पक्षी (जटायु), शबरी (भीलनी), राक्षस (विभीषण)

तथा रीछ और बन्दरों को अपने से भी अधिक वन्दनीय (पूज्य) बना दिया। (फिर भी उनका शील इतना अधिक है कि) जब कभी वे इन लोगों द्वारा की गयी अपनी सेवा का स्मरण करते हैं तो संकोच के मारे जमीन में गढ़ से जाते हैं। स्वयं को सदैव इनका शाश्वत ऋणी मानते रहते हैं।

स्वामी राम के स्वभाव का जो मैंने वर्णन किया, उसे जब तू अपने हृदय में उतार लेगा अर्थात् राम पर पूरा भरोसा करने लगेगा तो तेरी सारी चिन्ताएँ मिट जायेंगी और राम भी तुझ पर प्रसन्न हो जायेंगे। यदि तू हाथ जोड़कर उनके सामने मस्तक झुकायेगा तो राम प्रसन्न हो जायेंगे। और तुरन्त तुझे इस जीवन का फल (मुक्ति) प्राप्त हो जायेगा, तेरा जीवन सार्थक हो जायेगा। तू राम-नाम का स्मरण कर उन्हें प्रणाम कर, उनके गुणों का गान कर और हृदय में सदैव उनका स्मरण करता रह। तू पृथ्वी के स्वामी राम के चरण-कमलों में अपने मन को भ्रमर के समान बसा अर्थात् रात-दिन उन्हीं का स्मरण करता हुआ निर्भय होकर पृथ्वी पर विचरण कर। फिर कोई भी तेरा कुछ भी अहित नहीं कर सकेगा। सांसारिक विषय-वासनादि रूपी बाधाएँ दूर हो जायेंगी। तू जीवन्मुक्त हो जायेगा।

टिप्पणी—(१) तुलसी ने अब तक साधनावस्था की ओर ही अधिक संकेत किया था परन्तु यहाँ साधनावस्था समाप्त सी हो जाती है और परिपाक की दृष्टि से निर्वेद की चरम सीमा आ जाती है।

(२) 'दियो.......सुन्दर' शब्द तुलसी के विषय में संकेत करते प्रतीत होते हैं। तुलसी ब्राह्मण और अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति थे। यहाँ इसी बात की ओर संकेत है।

[१३६]

(१)

जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख लेस सपनेहुँ नहि मिल्यो॥
भव-सूल सोग अनेक जेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।
बहु जोनि जनम जरा बिपति, मतिमंद हरि जान्यो नहीं॥
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचार लखि पायो कहीं॥१॥

(२)

आनँद-सिन्धु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।
तहँ मगन मज्जसि पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव, खल भूलि अब आयो तहाँ॥

निर्मल निरंजन निर्बिकार उदार सुख तैं परिहर्यो।
निःकाज राज बिहाइ नृप इव सपन कारागृह पर्यो ॥२॥

(३)

तैं निज कर्म-डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं ॥
तातें परबस पर्यो अभागे। ता फल गरभ-बास-दुख आगे ॥
आगे अनेक समूह संसृति, उदरगत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवई।
कोमल सरीर, गँभीर बेदन, सीस धुनि धुनि रोवई ॥३॥

(४)

तू निज करम-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।
बहुबिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों ॥
तोहि दियो ग्यान बिबेक जनम अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस को हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई ॥
जेहि किये जीव-निकाय बस रसहीन दिन दिन अति नई।
सो करौ बेगि सँभारि श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई ॥४॥

(५)

पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ॥
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी ॥
प्रेर्यो परम जो प्रचंड मारुत नष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान ध्यान बिराग अनुभव जातना-पावक दह्यो ॥
अति खेद ब्याकुल अल्प बल जिन एक बोलि न आवई।
तव तीब्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हरषित गावई ॥५॥

(६)

बाल दसा जेते दुख पाये। अति असीम नहिं जाहिं गनाये ॥
छुधा ब्याधि बाधा भइ भारी। बेदन नहिं जानै महतारी ॥
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सोई करै बिबिध उपाय जातें अधिक तुव छाती जरै ॥
कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
ब्यतिरेक तोहि निरदय महाखल आन कहु को सहि सकै ॥६॥

(७)

जोबन युवती सँग रँग राच्यो। तब तू महा मोद मद मात्यो ॥
ताते तजी धरम मरजादा। बिसारे तब सब प्रथम विषादा ॥
बिसरे बिषाद निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत-आवर्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार परधन द्रोहपर, संसार बाढ़ै नित नयो ॥७॥

(८)

देखत ही आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहि बुलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रकट देखु तनु माहीं ॥
सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि मूल सतावई।
सिरकंप इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई।
गृहपाल हू तें अति निरादर खान-पान न पावई।
ऐसिहु दशा न बिराग तहँ तृस्ना तरंग बढ़ावई ॥८॥

(९)

कहि को सकै महाभव तेरे। जनम एक के कछुक गनेरे ॥
चारि खानि संतत अबगाहीं। अजहु न करु बिचार मन माहीं ॥
अजहूँ बिचार बिकार तजि भजु राम जन सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं, भजु चक्रधर सुरनायकं ॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार-माया-तारनं।
कैवल्य-पति, जगपति, रमापति, प्रानपति गतिकारनं ॥९॥

(१०)

रघुपति-भक्ति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप-शोक-भयहारी ॥
बिनु सतसंग भक्ति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई।
जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये।
जेहि दरस-परस समागमादिक पापरासि नसाइये ॥
जिनके मिले दुख-सुख समान, अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये ॥१०॥

(११)

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन-लौ लागै ॥
देह-जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै ॥

अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥
निरमल निरामय एकरस तेहि हर्ष-सोक न ब्यापई।
त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥११॥

(१२)

जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग श्रुति साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥
पावै सदा सुख हरि-कृपा संसार-आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दरसन, बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु, संसार-पार न पाइये।
यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये॥१२॥

शब्दार्थ—(१) बिलगान्यो=अलग हुआ। जरा=बुढ़ापा। बिश्राम=शान्ति। (२) बासा=निवासस्थान। कस=क्यों। मंज्जसि=स्नान कर रहा है। निरंजन=अविनाशी। निःकाज=व्यर्थ ही। बिहाइ=छोड़कर। इव=समान। (३) करनि=हाथों से। संसृति=संसार। उदरगत=गर्भ में। हेठ=नीचे। सोनित=रक्त, शोणित। पुरीष=विष्ठा। कृमि=कीड़ों। कर्दमावृत्त=कर्दम+आवृत्त=कीचड़ में सना हुआ। सोवई=सो रहा है। वेदन=वेदना। (४) गुनमयी=त्रिगुणात्मक। निकाय=समूह। (५) चक्रपानी=हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले भगवान। प्रसव-पवन=जन्म की हवा। प्रेरेउ=प्रेरित किया। मारुत=वायु। जातना-पावक=यातना की अग्नि। अल्प=कम। (६) ब्याधि=रोग। हेतु=कारण। कौमार=कौमार्यावस्था। अघ=पाप। व्यतिरेक=सिवाय, अतिरिक्त। आन=अन्य। (७) रात्यो=अनुरक्त रहा। मात्यो=मतवाला। प्रथम=पहले। गर्भगत-आवर्त=गर्भ का भँवर। कृमि=कीड़े। भस्म=राख। विट=विष्ठा। परदार=पराई स्त्री। (८) बिरुधाई=वृद्धावस्था। जराबस=वृद्धावस्था के वश में। प्रतिहत=नष्ट। गृहपाल=कुत्ता। भावई=अच्छे लगते। (९) महाभव=महान् जन्म। गनेरे=गिनाये हैं। चारि खानि=अंडज, स्वेदज, पिंडज, उद्भिज। संतत=निरन्तर। जलरथ=नाव। कैवल्य=स्वर्ग। गतिकारनं=मुक्ति के कारण। (१०) समागमादिक=समागम+आदिक=मिलने-जुलने आदि से, सत्संग से। अमानतादिक=अमानता+आदिक=अपमान आदि। (११) द्वैत-भय=भेदबुद्धि का भय। लौ=लगन। दम=शान्ति। देहवंत=इन्द्रियों के साधन, शरीर के धर्म। निरामय=नीरोग, रोगरहित। (१२) द्वैत दरसन=द्वैत भाव।

(१)

भावार्थ—यह जीव जब से भगवान से अलग हुआ, तभी से इसने अपने इस शरीर को ही अपना घर समझ लिया है। माया के बन्धन में पड़कर यह अपने आत्म-

स्वरूप को भूल गया है और इसी भ्रम के कारण इसने अत्यन्त भयङ्कर दुख भोगे हैं। इसने इतने भयङ्कर और असह्य दुख भोगे हैं कि सुख तो इसे स्वप्न तक में रंचमात्र भी नहीं मिल सका है। अर्थात् यह सोते-जागते बराबर दुख उठाता रहा है। यह जीव उसी मार्ग पर अर्थात् विषय-वासनादि के मार्ग पर बार-बार हठपूर्वक चलता रहा जिसमें अनेक सांसारिक दुख-शोक आदि होते हैं। फलस्वरूप इसे अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ा, वृद्धावस्था की विपत्ति भोगनी पड़ी परन्तु फिर भी यह मूर्ख भगवान को नही जान सका। इतने दुख उठाने पर भी भगवान के स्वरूप को नहीं पहचान सका। रे मूर्ख ! तनिक देख तो सही, क्या श्रीराम को छोड़कर तुझे कहीं अन्यत्र भी शान्ति मिल सकी। अर्थात् राम को छोड़कर जीव को कहीं भी शान्ति नहीं मिल सकती।

(२)

हे जीव ! आनन्द के समुद्र के मध्य तेरा निवास स्थान है। अर्थात् तू आनन्द-स्वरूप ब्रह्म का अंश होने के कारण आनन्द प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी है। परन्तु तू उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को न जानकर क्यों प्यासा मरता है। अर्थात् आत्मस्वरूप को भूल सांसारिक विषयों में लिप्त रह अतृप्ति के कारण क्यों व्याकुल बना रहना है। तूने मृगतृष्णा के जल को (मृग-मरीचिका को) अपने मन में सच्चा समझ रखा है और तू उसी में सुख मानकर मगन रहता है। अर्थात् विषय वाषनादि को ही सच्चा सुख मान मस्त बना रहता है। तू वहीं मगन बना उस जल में स्नान करता है और उसे पीता है जबकि वहाँ तीनों कालों में भी जल जैसी कोई वस्तु नही होती। मृगजल तो भ्रममात्र है। तू अपने सहज-स्वाभाविक अनुभवगम्य (सच्चिदानन्द) स्वरूप को भूलकर वहाँ जा पड़ा है।' अर्थात् सांसारिक विषय-भोगों में फँस गया है। तूने इस भ्रमजाल में पड़कर उस विशुद्ध, अविनाशी, निर्विकार आनन्द को त्याग दिया है। ऐसा करके व्यर्थ ही राजा के समान अपने राज्य को त्याग स्वप्न रूपी वन्दीगृह में जा पड़ा है। अर्थात् जिस प्रकार कोई राजा अपने राज्य को त्याग स्वतः ही वन्दीगृह में जा पड़े उसी प्रकार तू उस आनन्दस्वरूप को भूल स्वप्न के समान असत्य सांसारिक वासनाओं के जाल में फँस गया है। अर्थात् अपने अज्ञान के कारण आत्मानन्द त्याग विषयानन्दों में सुख खोजता फिरता है।

(३)

तूने स्वयं ही अपनी कर्मरूपी रस्सी को मजबूत कर उसमें अपने ही हाथों से कसकर गाँठ लगा दी। अर्थात् तू कर्म के बन्धन में पूरी तरह से जकड़ गया है। इसी कारण रे अभागे ! तू पराये वश (माया के वश) में पड़ा हुआ है, जिसका फल यह होगा कि तू भविष्य में गर्भ में रहने का दुख उठायेगा अर्थात् बार-बार जन्म धारण करेगा। भविष्य में संसार में जो दुखों का समूह अर्थात् असंख्य दुख भोगने पड़ते हैं उन्हें वही जानता है, जिसने माँ के गर्भ में दुख भोगे हैं। गर्भ में यह स्थिति होती है

कि सिर नीचे रहता है और पैर ऊपर। उस संकट के समय कोई भी उसकी बात नहीं पूछता। वह रक्त, मल, मूत्र, विष्ठा, कीड़ों और गन्दगी से घिरा वहीं सोता रहता है। उसका शरीर तो कोमल होता है (बच्चे का शरीर होने के कारण) परन्तु उसकी वेदना भयङ्कर होती है। उस वेदना से व्याकुल हो वह सिर धुन-धुनकर रोता है। भाव यह है कि गर्भ में जीव को भयङ्कर कष्ट भोगने पड़ते हैं।

(४)

तेरे कर्मरूपी जाल ने तुझे जहाँ-जहाँ घेरा वहाँ-वहाँ भी भगवान ने तेरा साथ नहीं छोड़ा। भगवान ने अनेक प्रकार से तेरा पालन-पोषण किया और उस परम कृपालु ने तुझे ज्ञान (बुद्धि) भी दिया। जब तुझे ज्ञान और विवेक (सत्-असत् का ज्ञान) मिला तब तुझे अनेक जन्मों की याद आयी और तू कहने लगा कि मैं उस ईश्वर की शरण में हूँ जिसकी महा कठिन माया त्रिगुणात्मक(सत, रज, तम—तीनों गुणों वाली) है अर्थात् संसार में माया ने तीनों गुणों का जाल फैला रखा है। इस माया ने जीवों के समूहों को अपने वश में कर, उन्हें परतन्त्र बना नीरस अर्थात् दुखी कर रखा है और स्वयं नित्य नवीन बनी रहती है। इसलिए हे लक्ष्मीपति ! (श्री माया है इसलिए मायापति) शीघ्र मेरी रक्षा करो क्योंकि तुमने ही मुझे इस विपत्ति में बुद्धि दी है। अर्थात् मुझे यह बुद्धि आयी है कि इस संकट से केवल भगवान ही मेरी रक्षा कर सकते हैं।

(५)

फिर अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने पर मेरे मन में अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई (कि तूने पिछला जन्म व्यर्थ ही गँवा दिया था) और तूने यह प्रतिज्ञा की कि इस बार संसार में जन्म लेने पर मैं चक्रपाणि भगवान का भजन करूँगा। ऐसा विचार कर तू मौन साध गया अर्थात् निष्क्रिय हो बैठ गया। यह देख प्रसव-काल की पवन ने (भगवान की आज्ञा से) तुझ अपराधी को पुनः पाप करने के लिए प्रेरित किया। यह पवन बड़ी प्रचण्ड है। इसने तुझे अनेक कष्ट दिये और तूने उन्हें सहा। भाव यह है कि माया ने तुझे अपने जाल में फँसा पुनः पाप करने के लिए प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप तूने अनेक कष्ट भोगे। इससे पूर्व तुझे जो ज्ञान, ध्यान, वैराग्य, आत्मानुभव आदि प्राप्त हुए थे, वे सब कष्ट की इस अग्नि में जलकर भस्म हो गये अर्थात् तू इन्हें भूल गया। अत्यन्त दुख के कारण तू व्याकुल हो उठा और थोड़ी-सी शक्ति रहने के कारण तुझसे क्षण भर भी बोला तक न गया। अर्थात् जन्म के समय निर्बल रहने के कारण तू कष्ट उठाता रहता और बोल भी न सका। कोई भी तेरे उस भयानक कष्ट को न जान सका और सब लोग तेरे जन्म पर प्रसन्न हो बधाई के गीत गाने लगे।

(६)

तूने बचपन में जितने कष्ट उठाये, वे इतने असीम थे कि उनकी गणना नहीं

की जा सकती । तुझे भूख, रोग और अनेक प्रकार की बड़ी-बड़ी बाधाएँ झेलनी पड़ीं परन्तु तेरे उन कष्टों को तेरी माता भी नहीं जान सकी, नहीं समझ सकी । माता उस पीड़ा को नहीं जानती कि बालक किस कारणवश रोता है । उसने तेरी पीड़ा को दूर करने के लिए तरह-तरह के उपाय किये जिनसे तेरी छाती और अधिक जलने लगी । अर्थात् माता के अज्ञान के कारण तुझे और भी अधिक कष्ट उठाने पड़े । (बालक स्वयं तो अपना कष्ट बता नहीं पाता, माता अन्दाज से उसका उपचार करती है जो कभी-कभी कष्ट को और भी बढ़ा देता है ।) कौमार्यावस्था, शैशवावस्था और किशोरावस्था में तूने इतने असंख्य पाप किये कि उनका वर्णन कौन कर सकता है । हे निर्दय ! हे महादुष्ट ! तेरे सिवाय उन कष्टों को और कौन सह सकता है ।

(७)

यौवन आते ही तू युवती के साथ रंगरेलियाँ करने में मस्त हो गया । उस समय तू अत्यन्त भारी मोह में पड़कर मतवाला हो उठा । इसलिए तूने धर्म की मर्यादा त्याग दी और अपने पिछले कष्टों की सारी बात को भूल गया । तू सम्पूर्ण विषाद और संकटों के समूह को भूल गया (कि अगले जन्म में तुझे फिर वही सारे दुख उठाने पड़ेंगे) यह समझकर भी तेरी छाती नहीं फटी । तू फिर वही कर्म करने लगा जिनके फलस्वरूप तुझे फिर गर्भ के भँवर में पड़ना और संचार-चक्र में आना पड़ेगा । जो शरीर अन्त में कीड़े, राख और विष्ठा में परिणत हो जाता है उसी के लिए तू सारे संसार का दुश्मन बन गया (शरीर गाड़ देने से कीड़े पड़ जाते हैं, किसी जन्तु द्वारा खा लेने पर विष्ठा बन जाता है और जला देने से राख हो जाता है) परायी स्त्री, पराया धन और दूसरों से दुश्मनी—संसार में इन्हीं के प्रति तेरा नित्य नवीन मोह बढ़ता चला गया । अर्थात् तू नित्य इन्हीं की आकांक्षा में व्यस्त रहने लगा ।

(८)

और देखते-देखते ही बुढ़ापा आ पहुँचा, जिसे तूने स्वप्न में भी नहीं बुलाया था अर्थात् स्वप्न में भी जिसकी आकांक्षा नहीं की थी । (तू सदा जवान बना रहना चाहता था ।) इस बुढ़ापे के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता । इसके जो गुण हैं उन्हें अब अपने शरीर में प्रत्यक्ष देख ले । वे गुण प्रत्यक्ष हैं—बुढ़ापे के कारण शरीर जर्जर हो गया है, रोग और पीड़ा सताने लगी हैं । सिर काँपने लगा है, इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो चुकी है, तेरी बात किसी को भी अच्छी नहीं लगती । तेरा घुर के कुत्ते से भी अधिक निरादर होने लगा है । (कुत्ते को तो समय पर खिला-पिला देते हैं परन्तु) तुझे भोजन और पानी तक नहीं मिलता । ऐसी दशा होने पर भी तेरे हृदय में वैराग्य नहीं उत्पन्न होता और तेरी तृष्णा लहरों के समान बढ़ती चली जा रही है । तू तृष्णा के जाल में और भी अधिक उलझता चला जा रहा है ।

(९)

तेरे अनेक बड़े-बड़े जन्मों की कथा कौन कह सकता है कि तूने उनमें क्या-

क्या किया और भोगा है)। यह तो तेरे एक जन्म के ही कुछ कर्म गिनाये गये हैं। जीव चार खानों अर्थात् चार प्रकार के रूपों में विभिन्न योनियों में घूमा करता है। ये हैं—स्वेदज, अंडज, पिंडज और उद्भिज। (यह जानकर तू) अब भी मन में विचार नहीं करता (कि तुझे ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जिनसे इन रूपों में भटकना पड़े।) तू आज भी विचार कर और (विषय-वासनादि रूपी) विकारों को त्याग भक्तों को सुख देने वाले राम का भजन कर। वे राम इस अगम्य अपार संसार-सागर को पार कराने वाली नाव हैं। तू ऐसे सुदर्शन चक्रधारी, देवताओं के स्वामी, राम का भजन कर। वे बिना कारण ही करुणा करने वाले, उदार और अपार माया के बन्धन से मुक्ति दिलाने वाले हैं। वे स्वर्ग के स्वामी, संसार के मालिक, लक्ष्मी के पति, जीव के स्वामी और उसे मुक्ति प्रदान करने वाले हैं।

(१०)

राम की भक्ति सुलभ और सुख देने वाली है। वह संसार के तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक), शोक और भय को दूर करने वाली है। परन्तु बिना संतों का सत्संग किये भक्ति प्राप्त नहीं होती और सन्त तभी मिलते हैं जब भगवान कृपालु होते हैं। जब दीनदयाल राम कृपालु हो उठते है तभी साधुओं का सत्संग प्राप्त होता है जिनके दर्शन करने से, स्पर्श करने से (सेवा करने से) और साथ उठने-बैठने से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं जिनके मिलने से सुख-दुख एक से जान पड़ने लगते हैं और निरहंकार (मान-अपमान की भावना से रहित होना) आदि गुण प्राप्त होते हैं। ज्ञान प्राप्त हो जाने से मद, मोह, लोभ, विषाद, क्रोध आदि दुर्गुण आसानी से दूर भाग जाते हैं; अर्थात् व्यक्ति 'वीतराग' बन जाता है।

(११)

साधुओं की सेवा करने से भेदबुद्धि (राग-द्वेषादि) का भय दूर हो जाता है और रघुवीर राम के चरणों में लौ लग जाती है, शरीर में उत्पन्न होने वाले सारे विकार नष्ट हो जाते हैं और फिर आत्मस्वरूप के प्रति अनुरक्ति बढ़ जाती है। 'आत्मस्वरूप' के प्रति अनुरक्ति बढ़ जाने से यह संसार कुछ विलक्षण सा प्रतीत होने लगता है। अर्थात् संसार के प्रति भक्त का दृष्टिकोण विलक्षण सा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर भक्त के हृदय में सन्तोष, समता और शान्ति की भावना छाई रहती है और वह शारीरिक धर्म—इन्द्रियों के आकर्षणों आदि—से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। अर्थात् उसे सांसारिक आकर्षण अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहते हैं—वह पूर्ण जितेन्द्रिय बन जाता है। वह निर्मल, रोग रहित, समरस हो जाता है और फिर उस पर दुख-सुख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है वह तीनों लोकों को पवित्र करने वाला हो जाता है, अथवा तीनों लोकों में उसे सदा पवित्र माना जाता है।

(१२)

जो व्यक्ति उस मार्ग पर मन लगाकर चलता है तो फिर भगवान उसके

सहायक क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य उसकी सहायता करेंगे । वेद और साधुओं द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने से उसे सारे सुख प्राप्त हो जाते हैं । वह भगवान की कृपा से सदा सुख पाता है और संसार से किसी भी प्रकार की आशा नहीं करता । उसे स्वप्न में भी द्वैत-भाव नहीं सताता । वैसे तो कहने के लिए करोड़ों बातें हैं, परन्तु उन्हें कौन कहे । भाव यह है कि संसार से मुक्त होने का यही मूलमंत्र है । अन्य सारी बातें या साधन व्यर्थ हैं । ब्राह्मण, देवता, गुरु, भगवान और सन्तों की सहायता के बिना इस संसार से पार नहीं पाया जा सकता । यही समझकर तुलसीदास दुख दूर करने वाले लक्ष्मीपति भगवान के गुण गाता है ।

टिप्पणी—(१) यह पद 'विनय-पत्रिका' का सबसे लम्बा पद है । इसमें तुलसीदास ने अपने भक्ति-सिद्धान्त का पूरा निचोड़ प्रस्तुत कर दिया है । इसके साथ ही 'विनय-पत्रिका' का पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है । यहाँ यह तथ्य दृष्टव्य है कि पं० रामेश्वर भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने 'विनय-पत्रिका' के वियोगी हरि के समान पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध–दो भाग नहीं माने हैं । यह विभाजन सम्भवत: वियोगी हरि ने स्वयं किया है ।

(२) इस पद में जीव के सम्पूर्ण इतिहास का—गर्भावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक का—संकेत है ।

राग बिलावल

[१३७]

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै ।
होइ न बाँको बार भक्त को, जो कोउ कोटि उपाय करै ॥१॥
तकै नीच जो मीच साधु की, सो पामर तेहि मीच मरै ।
बेद-बिदित प्रहलाद-कथा सुनि, को न भक्ति-पथ पाउँ धरै ॥२॥
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै ।
अंबरीष की साप सुरति करि, अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै ॥३॥
सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै ।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य, बिजय-जस, पांडु-तनै बरिआइ बरै ॥४॥
जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै ।
सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहुँ, सुरतरु सोउ बिष-फरनि फरै ॥५॥
हैं काके द्वै सीस ईस के, जो हठि जन की सींव चरै ।
तुलसिदास रघुबीर-बाँहुबल, सदा अभय, काहू न डरै ॥६॥

शब्दार्थ—सरै=पूरा पड़े । बार=बाल । मीच=मृत्यु । थप्यो=स्थापित किया । महामुनि=दुर्वासा ऋषि । सुजोधन=दुर्योधन । अबुध=मूर्ख । मान=अहं-

कार । जस=यश । पांडु-तनै=पांडु के पुत्र पाण्डव । बरिआई=जबरदस्ती । बरै=वरण किया, प्राप्त किया । खनैगो=खोदेगा । पर=दूसरे के लिए । सुरतरु=कल्पवृक्ष । सींव=सीमा ।

भावार्थ—यदि किसी पर कृपालु रघुपति राम की कृपा है तो औरों द्वारा उससे बैर करने से क्या पूरा पड़ता है अर्थात् उसकी क्या हानि हो सकती है । भक्त का बाल भी बाँका नहीं होता भले ही ऐसा करने के लिए करोड़ों उपाय क्यों न करे। जो नीच व्यक्ति साधु की मौत चाहता है, वह दुष्ट स्वयं उसी मौत से मरता है । वेदों में प्रसिद्ध प्रह्लाद की कथा को सुनकर ऐसा कौन है जो भक्ति-मार्ग पर चलने न लगेगा । (हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को मारना चाहा था परन्तु नृसिंह के हाथों स्वयं मारा गया था ।) भगवान ने गज (हाथी) का (ग्राह के मुख से) उद्धार किया, विभीषण को राज्य-सिंहासन पर बैठाया और ध्रुव को ऐसा अचल पद दे दिया कि वह कभी अपने स्थान से रंचमात्र भी नहीं हटता । अम्बरीष को दिये गये शाप का स्मरण कर महामुनि दुर्वासा आज भी ग्लानि से गले जा रहे हैं । ऐसा कौन-सा कुकर्म था जो दुर्योधन ने नहीं किया था परन्तु वह मूर्ख अपने अहंकार में ही जला जा रहा था । भगवान की कृपा से सौभाग्य और विजय प्राप्त करने का यश पाँडवों ने ही जबरदस्ती प्राप्त किया ।

जो दूसरों के लिए कुँआ खोदेगा वह दुष्ट स्वयं उसी कुएँ में गिर पड़ेगा । सन्तों के साथ द्रोह करने वाले को कभी स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता । उसके लिए तो कल्पवृक्ष में भी जहरीले फल लगने लगेंगे । अर्थात् उसकी कोई भी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी । ऐसा कौन है जिसके कि दो सिर हों और जबरदस्ती भक्तों की सीमा में विचरण कर सके । तुलसीदास कहते हैं कि जिसे रघुवीर राम के भुजबल का भरोसा रहता है वह सदैव निर्भय रहता है और किसी से भी नहीं डरता ।

टिप्पणी—(१) 'हैं काके·······सींव चरै' का भाव यह है कि साधारणतः प्राणी के एक ही सिर होता है । यदि किसी के दो सिर हों तो लड़ते समय यदि एक सिर कट जायेगा तो दूसरा तो बचा रह जायेगा । परन्तु ऐसा होना असम्भव है । यहाँ भाव यह है कि किसमें इतना साहस है कि भक्त के पास जाकर उपद्रव मचा उसे सता सके । दूसरे की सीमा में चरना; अर्थात् दूसरे के खेत में अपने पशु चराना अर्थात् दूसरे के अधिकारों का उल्लंघन करना ।

(२) इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाला एक पद सूरदास का भी मिलता है :—

> **जाकौ मनमोहन अंग करै ।**
> **ताकौ केस खसै नहिं सिर तें, जो जग बैर परै ॥**
> **हिरनकसिपु परहारि थक्यौ प्रहलाद न नैकु टरै ।**
> **अजहूँ तौ उत्तानपाद-सुत, राज करत न मरै ॥**

राखी लाज द्रुपद-तनया की, कोपित चीर हरै।
दुर्योधन कौ मान भंग करि, वसन प्रवाह धरै॥
× × ×
जाकौ विरद है गर्व-प्रहारी सो कैसे बिसरै।
सूरदास भगवन्त भजन करि, सरन गहे उधरै॥

[१३८]

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ, सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे॥१॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु, भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेंट्यो॥२॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निज धाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित, कपिकुल-पति सुग्रीव कियो॥३॥
आयो सरन सभीत विभीषन, जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभयदान देवन्ह दीन्हों॥४॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप माया।
निसि बासर तिहि कर सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया॥५॥

शब्दार्थ—सो=वह। आरत=दुखी। वारक=एक बार। बिदारि=विदीर्ण कर, मारकर। सभीत=भयभीत। सर=वाण। चाप=धनुष। हति=मार कर।

भावार्थ—हे राम! हे नाथ! कभी तो अपने उस कर-कमल को मेरे सिर पर रखोगे, जिस हाथ से तुमने अपने उन दुखी भक्तों को अभय दान दिया था जिन्होंने विवश होकर केवल एक बार ही तुम्हारा नाम लेकर तुम्हें पुकारा था। (यहाँ गज, अजामिल आदि के अभिप्राय है।) अपने जिस कमल से कोमल हाथ से तुमने शिव-धनुष को तोड़कर राजा जनक की दुविधा को दूर किया था और जिस कर-कमल से अत्यन्त प्रेम से साथ केवट को उठाकर उससे भाई के समान गले मिले थे। हे कृपालु! जिस कर-कमल से तुमने गिद्ध जटायु को पिंडदान दे (उसका अन्तिम क्रिया-कर्म कर) उसे अपने लोक वैकुण्ठ को भेज दिया था। अपने जिस हाथ से तुमने बालि का वध कर सुग्रीव को वन्दरों का राजा वना दिया था। जब रावण से भयभीत विभीषण तुम्हारी शरण में आया था, तब जिस कर-कमल से तुमने उसका राजतिलक किया था। अपने जिस हाथ में धनुष-वाण धारण कर राक्षसों को मार देवताओं को अभयदान किया था। जिस हाथ की सुखद और शीतल छाया पाप, कष्ट और माया का नाश कर देती है, तुलसीदास रात-दिन तुम्हारे उसी कर-कमल की छाया चाहता रहता है।

[१३६]

दीनदयालु, दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव, दुवार पुकारत आरत, सब की सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव मई है।
तिनकी मति रिस राग मोह मोद लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेर हई है ॥३॥
आस्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।
प्रजापतित पाखंड पापरत, अपने-अपने रंग रई है ॥४॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसति खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं, सिद्धि सई है।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर, बिबस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि-करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि नातौ बलि, मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम-राज भयो काज सकुन सुभ, राजा राम जगत-बिजई है ॥१०॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत-सैन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास साँसति बितई है ॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर, अभयबाँह केहि-केहि न दई है ॥१२॥

शब्दार्थ—दुरति=पाप। दुनी=दुनिया। दुबार=द्वार। बुध=विद्वान्। महिदेव=भूदेव, ब्राह्मण। कुसाज=अत्याचारी। कलपित=कल्पना कर के। कलुष=पाप। नई=नवीन। परमित=परम्परा की रीति, सीमा, मर्यादा। पति= मर्यादा। हेतुबाद=तर्क। हई है=नष्ट कर दिया है। बिरहित=हीन। रई है= रंगी है, अनुरक्त है। सीदत=दुख पाते हैं। खलई=दुष्टता। सई=समृद्धि, सार।

गोमर=कसाई। जामति=जमता, उत्पन्न होता। बई=बोया हुआ बीज। बिनु टहल टई=बिना काम के काम। ठई है=ठान रखा है। ढील=छूट। सरुप=क्रोध सहित, सरोष। तरजिए=डाँट दीजिए। जई=छोटा फल। दादि=न्याय। नातौ बलि=बलि के सम्बन्ध से। रितई=खाली। अबध=अवाध्य, बाधा रहित। भिजई=भिगोई। सुकृत सैन=पुण्यों की सेना। साँसति=कष्ट। बितई=बीत गई। उथपे=उखड़े हुए। थपन=स्थापित किये, जमाये। उजारि=उजड़े हुए। बसावन=बसाना। बहोरि=लौटा देना। बिरद=यश, बाना। सदई=सदैव।

भावार्थ—हे दीनदयालु ! यह दुनिया पाप, दरिद्रता और दुख—इन तीनों असह्य तापों से जली जा रही है। हे देव ! यह दुखी (तुलसीदास) तुम्हारे द्वार पर खड़ा तुम्हें पुकार रहा है क्योंकि सभी का सब प्रकार का सुख जाता रहा है, नष्ट हो गया है। प्रभु ने स्वयं यह कहा है कि ब्राह्मण स्वयं मेरी ही मूर्ति है। वेद और पंडितों का भी यही मत है कि ब्राह्मण 'ब्रह्ममय' होने के कारण ब्रह्म की ही मूर्ति हैं। परन्तु इस कलियुग में इन ब्राह्मणों का यह हाल है कि इनकी बुद्धि को क्रोध, राग, मोह, मद, लोभ और लालच ने निगल लिया है। अर्थात् इनमें ये सारे दुर्गुण आ गये हैं। (ब्राह्मणों के उपरान्त समाज में क्षत्रियों का स्थान आता है तो इनकी यह दशा है कि) राज-समाज (राजा और उसके अधिकारी लोग) अत्याचरी हो गया है। यह नित्य कल्पना कर करके करोड़ों प्रकार के कठोर पाप करता रहता है और नई-नई कुचालें चला करता है। अर्थात् यह क्षत्रिय-समाज प्रजा को सताने के लिए नित्य नये-नये ढङ्ग सोचता और अपनाता हुआ पाप करने में जुटा रहता है। तर्कवाद ने अर्थात् नास्तिकता ने नीति, विश्वास, प्रेम, धर्म-मर्यादा, और कुल-मर्यादा आदि सारी अच्छी बातों को ढूँढ़-ढूँढ़कर जबरदस्ती नष्ट कर डाला है।

संसार में आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास), वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र) तथा धर्म, लोक, वेद आदि सभी की मर्यादाएँ नष्ट हो गयी हैं। अर्थात् अब इनकी मर्यादाओं का कोई भी पालन नहीं करता। (इस सबका परिणाम यह हुआ है कि प्रजा पतित हो गयी है। वह पाखण्ड और पाप में डूबी रहती है। सभी अपने-अपने रंग में मस्त हो रहे हैं। शान्ति, सत्य और अच्छी रीतियाँ घट गयी हैं और बुरी रीतियों तथा कपट की कलई सब पर चढ़ रही है। अर्थात् सब दुराचारी और कपटी हो गये हैं। साधु-संत दुखी हैं, सज्जनता सदैव चिन्ता में डूबी रहती है, दुष्ट आनन्द कर रहे हैं और दुष्टता अत्यन्त प्रसन्न हो रही है। परमार्थ स्वार्थ में परिणत हो गया है अर्थात् धर्म को लोगों ने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने का साधन बना लिया है, (जन्त्र, मन्त्र, योग, साधना आदि) सारे साधन प्रभावहीन हो गये हैं। सिद्धि और सार प्राप्त नहीं होते। अर्थात् सिद्धियाँ सारहीन हो गयी हैं, उन्हें सिद्ध करने से भी कुछ भी काम नही बनता। कामधेनु रूपी पृथ्वी कलियुग रूपी कसाई के हाथ से पड़ी विवश और व्याकुल हो रही है। उसमें जो कुछ बोया जाता है वह जमता ही नहीं; अर्थात् खेती-बारी सब चौपट हो रही है।

मैं इस कलियुग की करतूतों का कहाँ तक वर्णन करूँ। यह तो विना काम के काम; अर्थात् वेकार के काम करता फिरता है। इस पर भी इसे सन्तोष नहीं होता और क्रोध से दाँत पीसकर सदैव हाथ मलता रहता है। कौन जानता है कि इसने मन में क्या ठान रखा है। हे प्रभु! तुम अपने शील स्वभाव के कारण जैसे-जैसे इसे ढील देते जा रहे हो, वैसे-वैसे यह नीच और अधिक सिर पर चढ़ता चला जाता है। इसलिए तुम क्रोध में भरकर इसे उँगली दिखाकर थोड़ा-सा डाँट दो। यह उँगली दिखाते ही कद्दू (कुम्हड़ा) के फल के अंकुर के समान तुरन्त मुरझा जायेगा, फिर ऊधम नहीं मचायेगा। (विश्वास है कि उँगली दिखाने से किसी भी फल का अंकुर मुरझा जाता है।) वलि के नाते इस पृथ्वी से तुम्हारा सम्बन्ध है। इसकी दशा को देखकर न्याय कर दो, नहीं तो यह पृथ्वी आनन्द और मंगल से खाली हुई जा रही है। अर्थात् पृथ्वी का सारा आनन्द-मंगल नष्ट हुआ जा रहा है। तुम्हारे ऐसा कर देने से लोग सौभाग्यशाली वन प्रेम के साथ यह कह उठेंगे कि राम ने अब हमारी ओर पूर्व कृपादृष्टि से देखा है। अर्थात् पूर्ण कृपा की है।

मेरी इस प्रार्थना को सुनकर भगवान आनन्द में भरकर हँस दिये और उन्होंने करुणा के जल से सारी पृथ्वी को भिगो दिया, आप्लावित कर दिया। सारे संसार में रामराज्य छा गया, शुभ शकुन होने लगे क्योंकि राजा रामचन्द्र जगत विजयी हैं। भाव यह है कि जगत-विजयी राम के सम्मुख कलियुग परास्त हो गया और सारी पृथ्वी आनन्द-मंगख से भर उठी। ऐसा करके समर्थ, चतुर, सज्जन स्वामी राम ने पुण्यों की हारती हुई सेना को जिता दिया। पापों का नाश हुआ और पुण्य विजयी हुए। अच्छे भक्त-जन अपने स्वभाव के अनुसार बड़े आदर के साथ राम की सराहना करने लगे कि उन्होंने अनायास ही अर्थात् बिना विशेष परिश्रम किये ही सारे संकटों को दूर कर दिया।

हे राम! तुम्हारा यह यश हमेशा से चला आता है कि तुम उखड़े हुओं को फिर से जमा देते हो (विभीषण और सुग्रीव को राज्य दिलाया था), उजड़े हुओं को फिर से बसा देते हो और गयी वस्तु को फिर से उसके स्वामी को दिला देते हो। तुलसीदास कहते हैं कि दुखियों के दुख को दूर करने वाले भगवान ने किस-किस को अभय देकर अपनी शरण में नहीं लिया। अर्थात् जो भी उनकी शरण में गया, उन्होंने उसकी रक्षा कर उसे अभयदान दिया।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने लोकपक्ष का वर्णन किया है। इससे पहले तुलसी केवल अपनी ही बात कहते रहे थे परन्तु यहाँ उन्होंने लोकदशा का मार्मिक चित्रण कर लोक-कल्याण की भावना का प्रदर्शन किया है। इस पद में भारत की तुलसीकालीन दशा का यथार्थ चित्र मिल जाता है।

(२) 'नातौ बलि'=इसका अर्थ कुछ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—'आपकी वलैया लेता हूँ, देखकर न्याय कर दीजिए, नहीं तो यह पृथ्वी आनन्द-मंगल

से खाली होने वाली है।' परन्तु यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। इसका उचित अर्थ यही है कि भगवान ने राजा बलि से पृथ्वी को दान में लिया था, इसलिए उस नाते उनका कर्त्तव्य है कि वह पृथ्वी की रक्षा करें। यहाँ 'नातौ' शब्द नाते, सम्बन्ध के लिए तथा 'बलि' शब्द राजा बलि के लिए आया है।

(३) तुलसी ने 'कवित्त रामायण' में भी तत्कालीन दशा का वर्णन करते हुए कहा है—

खेती न किसान को, भिखारी न भीख बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविकाविहीन लोग, सीद्यमान सोचबस,
कहै एक-एकन सों, कहाँ जाई, का करी॥
बेदहु पुरान कही, लोकहूं बिलोकियतु,
साँकरे समय के राम, रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु,
दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी॥

[१४०]

ते नर नरकरूप जीवत भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन, खलमति मलिन निगमपथ त्यागी॥१॥
नहिं सतसंग, भजन नहिं हरिको, स्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन–ममता–निसि, सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ, हठि पियत विषय-बिष माँगी।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन, जनतम जगत जननि-दुख लागी॥३॥

शब्दार्थ—भव-भंजन=संसार के जाल का नाश करने वाले। असुचि=अपवित्र। खलमति=दुष्टबुद्धि। निगमपथ=वेदों द्वारा निर्धारित मार्ग। वित=धन। दार=दारा, स्त्री।

भावार्थ—वे अभागे मनुष्य इस संसार में नरक रूप होकर जी रहे हैं अर्थात् नरक की सी यातनाएँ पाते रहते हैं जो संसार के आवागमन से मुक्ति दिलाने वाले भगवान के चरणों से विमुख रहते हैं। अर्थात् भगवान के चरणों से प्रेम नहीं करते। उनका अपवित्र मन रात-दिन पाप-कर्म करने में लगा रहता है। ऐसे लोग दुष्ट बुद्धि वाले, मलिन और वेदों द्वारा बताये गये मार्ग को त्यागकर पाप-मार्ग पर चलने वाले होते हैं। वे लोग न तो सत्संग करते हैं, न भगवान का भजन करते हैं, और न राम-कथा सुनने में ही रुचि रखते हैं। वे पुत्र, धन, स्त्री, घर आदि की ममता रूपी रात्रि में पड़ सोते रहते हैं। अर्थात् सदैव इन्हीं के मोह में ग्रस्त अज्ञानी बने रहते हैं। उनकी

बुद्धि इस ममता से कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाती। वे सदैव इसी में फँसे रहते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता। तुलसीदास कहते हैं कि ये दुष्ट भगवान के नाम रूपी अमृत को त्याग, हठपूर्वक विषय रूपी जहर माँग-माँगकर पीते रहते हैं। अर्थात् विषयों में लिप्त रहते हैं जो विष के समान घातक हैं। ऐसे मनुष्य सुअर, कुत्ते और गीदड़ों के समान केवल अपनी माता को प्रसवकाल का दुख देने के लिए ही जन्म लेते हैं। अर्थात् इनके जन्म लेने से इनकी माता को दुख ही होता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन का कुछ भी महत्त्व नहीं होता।

[१४१]

रामचन्द्र रघुनायक तुम सों हौं, बिनती केहि भाँति करौं।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमान डरौं ॥१॥
पर-दुख दुखी, सुखी पर-सुख ते, संत-सील नहिं हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥२॥
भक्ति बिराग ग्यान साधन कहि,बहु विधि डहँकत लोग फिरौं।
सिब-सरबस सुखधाम नाम तव, बेंचि नरकप्रद उदर भरौं ॥३॥
जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं।
रज-सम पर-अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रजतें निदरौं ॥४॥
नाना बेष बनाय दिवस निसि, परबित जेहि तेहि जुगुति हरौं।
एकौ पल न कबहुँ अलोल चित, हित दै पद-सरोज सुमिरौं ॥५॥
जो आचरन न विचारहु मेरो, कलप कोटि लागि औटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि, गोपद-ज्यों भवसिंधु तरौं ॥६॥

शब्दार्थ—अनघ=पापरहित। डहँकत=ठगता। नरकप्रद=नर्क भेजने वाला। सुमेरु=पर्वत। निदरौं=अनादर करता हूँ। पर बित=दूसरों का धन। जुगुति=युक्ति। अलोल=शान्त, स्थिर। हित दै=प्रेम के साथ। गोपद=गाय का खुर।

भावार्थ—हे रघुवंश के नायक रामचन्द्र! मैं तुमसे किस तरह से प्रार्थना करूँ? अपने अनेक पापों को देखकर और तुम्हारा नाम पाप-रहित है, यह अनुमान कर भयभीत हो उठता हूँ। अर्थात् जिसका पाप से कोई सम्बन्ध ही नहीं है वह मुझ जैसे पापी का उद्धार तो करना दूर रहा, उसे दंड और देगा, यही सोचकर भयभीत हो उठता हूँ। पराये दुख को देख दुखी तथा पराये सुख को देख सुखी होना—सन्तों के से इस शील स्वभाव को मैं अपने हृदय में धारण नहीं करता। मेरा स्वभाव तो यह है कि दूसरे की विपत्ति देखकर मुझे परम सुख होता है और दूसरे की सम्पत्ति (समृद्धि) की बात सुन बिना अग्नि के ही ईर्ष्या के कारण मैं जल (कुढ़) उठता हूँ।

भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आदि साधनों का उपदेश दे-देकर मैं अनेक प्रकार से लोगों को ठगता फिरता हूँ। तुम्हारा नाम, जो शिव का सर्वस्व और सुख का धाम है, उसे बेच-बेचकर मैं अपने पेट को, जो नर्क में ले जाने वाला है, भरता रहता हूँ। अर्थात् मैं तुम्हारे पवित्र नाम की ओट में संसार को धोखा देकर अपना पापी पेट भरता हूँ। मैं तुम्हारा सच्चा भक्त न होकर पाखण्डी हूँ। मैं मन में यह जानता हूँ कि मेरे पाप समुद्र के समान अनन्त और भयंकर हैं, परन्तु यदि कोई एक बूँद के समान तुच्छ मात्रा में भी अर्थात् किंचित् मात्र भी मेरे पापों का उल्लेख कर देता है तो मैं सुनते ही कहने वाले से लड़ मरता हूँ। परन्तु दूसरे के धूल के कण के समान छोटे और तुच्छ से अवगुण को भी पहाड़ के समान विशाल बनाकर वर्णन करता हूँ और उसके पर्वत के समान विशाल गुणों को भी धूल के कण से भी तुच्छ सिद्ध कर उनका निरादर करता हूँ। अर्थात् मैं दूसरों के गुणों को अत्यन्त तुच्छ और अवगुणों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताता हूँ।

मैं नाना प्रकार के वेश बनाकर अर्थात् नाना प्रकार के ढोंग रच-रचकर रात-दिन, जैसे वश चलता है वैसे, दूसरों का धन हड़पता रहता हूँ। परन्तु कभी एक क्षण के लिए भी मन को स्थिर (शान्त) कर प्रेम से भगवान के चरण-कमलों का स्मरण नहीं करता। हे भगवान! यदि तुम मेरे इन आचरणों की ओर ध्यान दोगे तो मुझे करोड़ों कल्प तक नरक की आग में उबल-उबलकर मरना पड़ेगा, भयंकर नारकीय यंत्रणाएँ सहनी पड़ेंगी क्योंकि मेरा आचरण भयंकर रूप से पापपूर्ण है। परन्तु हे प्रभु! यदि तुम मुझे एक बार भी कृपा की दृष्टि से देख लोगे तो मैं इस संसार रूपी समुद्र को गाय के खुर के चिह्न के समान बिना परिश्रम के ही पार कर जाऊँगा। अर्थात् बिना प्रयास के ही मेरी मुक्ति हो जायेगी।

टिप्पणी—(१) इस पद में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का विवेचन कर राम-कृपा की याचना की गयी है।

(२) इसमें सन्त और दुष्ट—दोनों की तुलना कर राम-भक्तों को सन्त, और जो राम-भक्त नहीं हैं उन्हें दुष्ट सिद्ध किया गया है।

(३) 'भक्ति'''''''फिरौं'—में उपलक्षणा पद्धति द्वारा सामान्य लोगों की विशेषताओं का वर्णन हुआ है।

(४) 'सिव सरबस'—शिव राम-नाम को अपना सर्वस्व मानते हैं। इस बात को शिव ने 'कर्म पुराण' में पार्वती से स्पष्ट कहा है—

'गोप्याद गोप्यतमं भद्रे सर्वस्वं जीवनं मम।
रामनामे परंब्रह्म कारणानां च कारणम्॥'

(५) पाखण्डी लोग राम-नाम की ओट में संसार को ठगते फिरते हैं। इस पद में तुलसी ने इन पाखण्डी लोगों के सारे दोषों का अपने ऊपर आरोप कर उन पाखण्डों की ओर संकेत किया है।

[१४२]

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि, क्यों करि बिनय सुनावौं ।
सकल धरम बिपरीत करत, केहि भाँति नाथ मन भावौं ।।१।।
जानत हौं हरि रूप चराचर, मैं हठि नैन न लावौं ।
अंजन केस सिखा जुवती तहँ, लोचन सलभ पठावौं ।।२।।
स्रवननि को फल कथा तुम्हारी, यह समुझौं समुझावौं ।
तिन्ह स्रवननि परदोष निरन्तर, सुनि-सुनि भरि-भरि तावौं ।।३।।
जेहि रसना गुन गाइ तिहारे, बिनु प्रयास सुख पावौं ।
तेहि मुख पर-अपवाद भेक ज्यों, रटि-रटि जनम नसावौं ।।४।।
'करहु हृदय अति विमल बसहिं हरि', कहि-कहि सबहिं सिखावौं ।
हौं निज उर अभिमान - मोह - मद, खल - मंडली बसावौं ।।५।।
जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन, सो बिनु काज गँवावौं ।
हाटक-घट भरि धर्‌यो सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं ।।६।।
मन क्रम बचन लाइ कीन्हें अघ, ते करि जतन दुरावौं ।
पर-प्रेरित इरषा बस कबहुँक, किय कछु सुभ जो जनावौं ।।७।।
बिप्र-द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि, सब सों बैर बढ़ावौं ।
ताहू पर निज मति-बिलास सब, संतन माँझ गनावौं ।।८।।
निगम सेस सारद निहोरि जो, अपने दोष कहावौं ।
तौं न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु, कहा एक मुख गावौं ।।९।।
जो करनी आपनी बिचारौं, तौ कि सरन हौं आवौं ।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल सनहिं दिखावौं ।।१०।।
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं, जेहि सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं ।
नाथ-कृपा भवसिंधु धेनु पद सम, जो जानि सिरावौं ।।११।।

शब्दार्थ—भावौं=अच्छा लगूँगा । अंजन केस=दीपक । सिखा=लौ । सलभ=शलभ, पतिंगा, । तावौं=बन्द करके यत्न से रखता हूँ । भेक=मेंढक । हाटक-घट=सोने का घड़ा । खनावौं=खोदता फिरता हूँ । दुरावौं=छिपाता हूँ । जनावौं=कहता फिरता हूँ । बाँट पर्‌यो=मेरे हिस्से में आया है । मति-विलास=बुद्धि चातुर्य द्वारा । गनावौं=गिनती कराता हूँ । निगर=वेद । निहोरि=खुशामद करके । सिराहिं=समाप्त होंगे । धेनुपद=गाय का खुर । सिरावौं=सन्तोष कर लेता हूँ ।

भावार्थ—हे कृपा के सागर राम ! मुझे अत्यन्त संकोच होता है कि मैं किस प्रकार तुम्हें अपनी प्रार्थना सुनाऊँ । मैं सारे कार्य धर्म के विरुद्ध करता हूँ फिर हे नाथ ! तुम्हें मैं कैसे अच्छा लगूँगा । मैं जानता हूँ कि भगवान जड़ और चेतन (चर और अचर) सब में व्याप्त हैं, सर्वव्यापी हैं फिर भी मैं हठपूर्दक उनकी ओर आँख तक उठाकर नहीं देखता । मैं तो अपने नेत्ररूपी पतिंगों को युवती रूपी दीप-शिखा की अग्नि में जलने को भेजता हूँ । अर्थात् मेरे नेत्र पतिंगों के समान तथा युवतियाँ दीप-शिखा के समान हैं । जैसे पतिंगे अग्नि शिखा की ओर आर्कषित हो उसमें जल मरते हैं इसी प्रकार मेरे नेत्र युवतियों के सौन्दर्य की ओर आर्कषित हो उन्हीं की ओर उठते रहते हैं । भाव यह है कि मैं सदैव सुन्दरियों के ही दर्शन करता रहता हूँ, भगवान की ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखता । मैं स्वयं भी समझता हूँ और दूसरों को भी समझाता रहता हूँ कि हमारे इन कानों की पूर्ण सार्थकता राम-कथा सुनने में ही है । परन्तु अपने इन्हीं कानों से मैं बराबर दूसरों के दोषों का वर्णन सुनता रहता हूँ और यह सुनना मुझे इतना अच्छा लगता है कि उन्हें सुन-सुनकर, दृढ़ता से कानों के भीतर बन्द कर लेता हूँ । भाव यह है कि दूसरों के दोषों के वर्णन सुनना मुझे बहुत ही अच्छा लगता है । मैं बार-बार उन्हें सुनना चाहता हूँ ।

अपनी जिस जीभ द्वारा तुम्हारे गुण गाकर बिना परिश्रम किये ही सुख प्राप्त कर सकता हूँ, मैं अपने उसी मुख से मेंढक के समान दूसरों की बराबर निन्दा करता रहता हूँ और उन्हीं की रट लगा-लगाकर अपने जीवन को नष्ट करता रहता हूँ । मैं सबको यही कह-कहकर शिक्षा देता रहता हूँ कि 'अपने हृदय को पूर्ण शुद्ध कर लो, तभी भगवान उसमें निवास करेंगे; परन्तु मैं स्वयं अपने हृदय में अभिमान, मोह, मद आदि दुष्टों की मण्डली को बसाए रहता हूँ । अर्थात् मेरी कथनी और करनी में महान् अन्तर है, मैं कहता तो उपदेश की बातें हूँ और स्वयं करता सदैव पाप कर्म हूँ । जिस मानव शरीर को धारण कर भक्त जन भगवान के चरणों की साधना करते हैं, उसे पाकर भी मैं व्यर्थ ही खोए दे रहा हूं । घर में तो सोने के घड़े में भरा अमृत रखा हुआ है परन्तु मैं उसे त्यागकर आकाश में कुआँ खोदता फिरता हूँ । अर्थात् इस सोने के घड़े के समान सुन्दर मानव शरीर में आत्मस्वरूप (सच्चिदानन्द स्वरूप) अमृत भरा हुआ है परन्तु उसे त्यागकर मैं सांसारिक विषय-वासनाओं में अपनी तृप्ति के साधन खोजता फिरता हूँ । मेरा इस प्रकार तृप्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना उसी प्रकार व्यर्थ और असम्भव है जैसे आकाश में कुआँ खोदने का प्रयत्न करना ।

मैंने मन, कर्म और वचन से अनेक पाप किये हैं, उन्हें मैं यत्नपूर्वक दूसरों से छिपाता रहता हूँ और दूसरों से प्रेरित होकर ईर्ष्यावश स्वयं कभी यदि थोड़ा-सा भला कार्य किया है तो उसके ढोल पीटता फिरता हूँ । अर्थात् अपने पाप तो छिपा लेता हूँ परन्तु यदि दूसरों को शुभ कर्म करते देख ईर्ष्यावश (उनसे भी श्रेष्ठ बनने की ईर्ष्या के कारण) कोई साधारण-सा अच्छा कार्य कर देता हूँ तो उसे सबके सामने

गाता फिरता हूँ। ब्राह्मणों के साथ द्वेष करना तो मानो मेरे हिस्से में ही आ गया है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त भी मैं जबरदस्ती सबके साथ बैर ठानता रहता हूँ। इस पर भी अपने बुद्धि चातुर्य द्वारा सारे सन्तों के बीच अपनी गिनती करवाता हूँ। अर्थात् अपनी चतुरता द्वारा यह सिद्ध कर देता हूँ कि मैं भी बहुत बड़ा सन्त हूँ। हे प्रभु ! यदि मैं शेषनाग, सरस्वती आदि की खुशामद कर उनसे अपने दोषों का वर्णन करवाऊँगा तो वे सौ कल्पों तक भी मेरे दोषों का पूरा-पूरा वर्णन नहीं कर सकेंगे। अर्थात् मेरे दोष असंख्य और अनन्त हैं। फिर भला मैं अपने एक मुख से अपने उन दोषों का कैसे वर्णन कर सकता हूँ।

यदि मैं कहीं अपनी करनी पर विचार करने लगूँ तो क्या कभी तुम्हारी शरण प्राप्त कर सकूँगा ? अर्थात् कभी नहीं प्राप्त कर सकूँगा। भाव यह है कि मैं इतना भारी पापी हूँ कि कभी भी भगवान की शरण प्राप्त करने के योग्य नहीं बन सकता। मैं अपने मन को सदैव यही भरोसा दिलाता रहता हूँ कि राम का स्वभाव और उनका शील अपरिमित है। अर्थात् राम अपने इस स्वभाव और शील के कारण मुझ पर कभी-न-कभी अवश्य कृपा करेंगे। तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु ! मुझ में वे गुण नहीं हैं जिनके द्वारा मैं स्वप्न में भी अर्थात् कभी भी तुम्हें रिझाने में सफल हो सकूँगा। परन्तु यह सोच-सोचकर अपने मन को तसल्ली देता रहता हूँ कि भगवान की कृपा होने पर यह संसार रूपी समुद्र गाय के खुर के निशान के समान तुच्छ बन जाता है। अर्थात् भगवान की कृपा प्राप्त होने पर इस संसार सागर को बड़ी आसानी से पार किया जा सकता है।

टिप्पणी—(१) तुलसीदास ने असज्जन पुरुषों के गुण-दोषों का बड़ा मार्मिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

(२) 'हरि रूप चराचर'—भगवान विश्व के कण-कण में व्याप्त हैं—'सियाराममय सब जग जानी' वाली भावना की यहाँ पुनरावृत्ति हुई है।

(३) 'विप्रद्रोह''''''''गनावौं—में उपलक्षणा पद्धति द्वारा संक्षेप में दुष्टों के सारे अवगुणों का सारांश प्रस्तुत कर दिया गया है।

(४) 'अंजन केस सिखा'—वियोगी हरि ने इसके दो अर्थ किये हैं—

(क) नेत्रों में अंजन लगाये, सटकारे काले केशवाली, दीपक की ज्योति के समान कामिनी।

(ख) काजल के समान केश ही जिस स्त्रीरूपी अग्नि की धूम्रशिखा है। साधारणतः नेत्रों और केशों की मोहकता पर ही कामियों का ध्यान जाता है।

इन अर्थों में खींचतान अधिक है। 'अंजन-केस' का अर्थ है 'दीपक' और 'सिखा' का अर्थ है 'लौ'। इस प्रकार इसका सरल अर्थ हुआ 'दीपक की लौ' जिसके प्रति आकर्षित हो पतिंगे उसमें जल मरते हैं।

[१४३]

सुनहुँ राम रघुबीर गुसाईं, मन अनीति-रत मेरो।
चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो ॥१॥
मानत नाहिं निगम-अनुसासन, त्रास न काहू केरो।
भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ॥२॥
जहँ सतसंग, कथा माधव की, सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्ह सों प्रेम घनेरो ॥३॥
पर-गुन सुनत दाह, पर-दूषन सुनत हरख बहुतेरो।
आप पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ॥४॥
साधन-फल स्रुति-सार नाम तव, भव-सरिता कहँ बेरो।
सो पर-कर काँकिनी लागि सठ, बेंचि होत हठ चेरो ॥५॥
कबहुँक हौं संगति सुभाव तें, जाऊँ सुमारग नेरो।
तब तरि क्रोध संग कुमनोरथ, देत कठिन भटभेरो ॥६॥
इक हौं दीन मलीन हीनमति, बिपति जाल अति घेरो।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मन को दुसह दरेरो ॥७॥
हारि पर्यो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो ॥८॥

शब्दार्थ—अनीति=अन्याय, बुरे कर्म। अनेरा=अन्यत्र, व्यर्थ। त्रास=भय। केरो=का। सूल=कष्ट। घनेरो=अधिक। दाह=जलन। खेरो=खेड़ा, गाँव। स्रुतिसार=वेदों का सार, तत्त्व। बेरो=बेड़ा, नाव। काँकिनी=कौड़ी। पर-कर=दूसरे के हाथ में। चेरो=गुलाम। नेरो=पास। भटभेरो=अड़चन, वाधा। दरेरो=धक्का। सबेरो=पहले से ही। डेरो=निवास, डेरा डालना।

भावार्थ—हे राम ! हे रघुवीर ! हे स्वामी ! सुनो, मेरा मन सदैव अनीति-पूर्ण कार्यों के करने में ही लगा रहता है। यह तुम्हारे चरण-कमलों को भूल रात-दिन इधर-उधर व्यर्थ भटकता रहता है। यह न तो वेदों की आज्ञा को मानता है और न किसी से भयभीत ही होता है। अर्थात् न तो यह वेदमार्ग पर ही चलता है और न पाप-कर्म करते दण्ड के भय से डरता ही है। यह कई वार कर्मरूपी कोल्हू में तिल की तरह पेरा जा चुका है परन्तु अब उस तकलीफ को भूल गया है। भाव यह है कि मन बुरे कर्म करने से वार-वार विभिन्न योनियों में जन्म धारण करता और कष्ट भोगता फिरा है परन्तु अब सांसारिक विपय-वासनाओं के मोह में पड़ उन कष्टों को भूल गया है। जहाँ सत्संग होता है, भगवान की कथा होती है, वहाँ यह भूल

कर स्वप्न में भी नहीं जाता। अर्थात् इन पुनीत कार्यों से सदैव दूर रहता है। जो लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध आदि दुर्भावनाओं में डूबे रहते हैं, ऐसे लोगों से यह खूब प्रेम करता है अर्थात् उन्हीं की संगति में रहता है।

दूसरों के गुण सुनकर यह जलन के मारे कुढ़ जाता है और दूसरों के दोष सुनकर बहुत प्रसन्न होता है। यह स्वयं तो पाप का नगर बसाता है अर्थात् अनेक भयानक पाप करता है परन्तु दूसरे के गाँव को अर्थात् साधारण से पाप को भी नहीं सह सकता। अर्थात् यदि कोई साधारण सा पाप कर बैठता है तो यह उसके पीछे पड़ उसकी चारों ओर बुराई करता फिरता है जबकि स्वयं महाभयंकर पापी है। तुम्हारा नाम जो सारे साधनों का फल देने वाला, वेदों के ज्ञान का सार और इस संसार रूपी नदी को पार करने के लिए नाव के समान है, उसे यह दुष्ट दूसरे के हाथों एक-एक कौड़ी के लिए हठपूर्वक बेचता फिरता है और (धन का) गुलाम बना रहता है। अर्थात् धन के लालच से चारों ओर राम-नाम लेता हुआ पैसा माँगता फिरता है। यदि मैं कभी सत्संग के प्रभाव से अथवा अपने सहज स्वभाववश सुमार्ग के पास जा फटकता हूँ अर्थात् शुभ कर्म करने की इच्छा करता हूँ तो कुमनोरथ अर्थात् इन्द्रियासक्त बुरी भावनाएँ क्रुद्ध होकर मेरे मार्ग में भयंकर बाधाएँ खड़ी कर मुझे वहाँ से भगा देती हैं, पुनः सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसा देती हैं।

एक तो मैं वैसे ही दीन, मलिन, मूर्ख और भयंकर विपत्ति-जाल से घिरा हुआ हूँ, उस पर हे करुणानिधि! मन का यह भयंकर धक्का मुझ से सहा नहीं जाता। अर्थात् यह मेरा मन इतना प्रबल है कि मुझे अच्छे रास्ते पर कभी जाने ही नहीं देता और बहुत दुख देता है। मैं इस मन को वश में करने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करता-करता थक गया हूँ इसलिए तुमसे पहले से ही कहे दे रहा हूँ कि तुलसीदास का यह दुख तभी दूर होगा जब तुम मेरे हृदय में अपना डेरा लगा दोगे। अर्थात् जब तुम्हीं इस मन को वश में करके उसे अपने चरणों में लगा दोगे।

टिप्पणी—'खेरा'—खेड़ा, नगला या छोटा सा गाँव। 'खेड़ा' शब्द प्रायः उन गाँवों के लिए प्रयुक्त होता है जो किसी युग में बड़े गाँव रहे हों और फिर काल-प्रवाह में पड़ ध्वस्त हो गये हों। उन ध्वस्त गाँवों के स्थान पर टीले से बन जाते हैं और बाद में इन्हीं टीलों पर नये छोटे से गाँव आबाद हो जाते हैं। इन्हीं को गाँवों में 'खेड़ा' या 'खेरा' कहा जाता है। पुरातत्त्वज्ञ ऐसे स्थानों को ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु तुलसीदास ने 'खेड़ा' शब्द छोटे से गाँव या 'नगले' के लिए ही प्रयुक्त किया है।

[१४४]

सो धौं को जो नाम-लाज तें, नहिं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरहिं सकल भव-भीर ॥१॥

बेद-बिदित जगबिदित अजामिल, बिप्रबंधु अघ-धाम ।
घोर जमालय जात निवार्यो सुत-हित सुमिरत नाम ।।२।।
पसु पामर अभिमान-सिन्धु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु, हर्यो दुसह उर-दाह ।।३।।
ब्याध निषाध गीध गनिकादिक, अगनित-औगुन-मूल ।
नाम-ओट तें राम सबनि को, दूर कर्यो सब सूल ।।४।।
केहि आचरन घाटि हौं तिन तें, रघुकुल-भूषन भूप ।
सीदत तुलसिदास निसिबासर, पर्यो भीम तम-कूप ।।५।।

शब्दार्थ—कारुनीक=करुणा करने वाले । अघ-धाम=पापों के घर, महा-पापी । जमालय=यमालय, यमलोक । निवार्यो=रोक लिया । विप्रबन्धु=अजामिल । सकृत=तुरन्त, शीघ्र । सपदि=पैंदल । सीदत=दुख पा रहा है । भीम=भयंकर ।

भावार्थ—हे रघुवीर ! ऐसा कौन है जिसे तुमने अपने नाम की लज्जा (पतित-पावन नाम की लज्जा) रखने के लिए अपनी शरण में नहीं रखा । हे भगवान ! तुम तो विना ही किसी कारण के करुणा करने वाले और सारी सांसारिक बाधाओं को दूर करने वाले हो । वेद भी यही कहते हैं और सारा संसार भी यही कहता है कि अजामिल नीच ब्राह्मण और पाप का भण्डार; अर्थात् महापापी था । लेकिन जब यमदूतों द्वारा यम-यातना देते समय उसने अपने बेटे के बहाने (उसके बेटे का नाम नारायण था) तुम्हारे नाम का स्मरण किया तो तुमने उसे भयंकर यमलोक में जाने से बचा लिया था । जब पशु, नीच और अभिमान के समुद्र (अपने बल का अत्यधिक अभिमान करने वाले) हाथी को मगर ने पकड़ लिया था तो उसके द्वारा तुम्हारा नाम लिये जाते ही तुम तुरन्त (गरुड़ की सवारी छोड़) पैंदल ही उसकी सहायता करने दौड़े आये थे और उसके हृदय की भयंकर मर्मान्तक पीड़ा को तुमने दूर किया था ।

व्याध (वाल्मीकि), निषाद (निषादराज गुह), गिद्ध (जटायु), गणिका (पिंगला नामक वेश्या) आदि सभी अगणित अवगुणों के मूल अर्थात् भयंकर पापी थे, परन्तु हे राम ! तुमने केवल अपने नाम की ओट ले उन सबके दुखों को दूर कर दिया था । भाव यह है कि इन सबने केवल राम का नाम ही लिया था, अन्य कोई भी शुभ कर्म नहीं किये थे, परन्तु नाम के प्रताप से ही इन सबका उद्धार हो गया था । हे रघुकुल के राजाओं में भूषण के समान राम ! यह बताओ कि मैं अपने किस आचरण (कर्म) के कारण इन लोगों से घटकर हूँ, अर्थात् मैं भी इन्हीं के समान भयंकर पापी हूँ, फिर भी मैं (तुलसी) रात-दिन अज्ञान रूपी भीषण अन्धकार से भरे कुएँ में पड़ा कष्ट पाता रहता हूँ । भाव यह है कि जब तुमने अनेक भयंकर

पापियों को केवल तुम्हारा नाम लेने मात्र से ही तार दिया था तो मैं भी उनसे कम पापी नहीं हूँ और तुम्हारा नाम भी लेता रहता हूँ। फिर तुम मेरे अज्ञान को दूर कर मेरी मुक्ति क्यों नहीं करते।

टिप्पणी—(१) इस पद का सम्बन्ध पिछले पद से जोड़ा जा सकता है। पिछले पद में राम से प्रार्थना की गयी है कि वह तुलसी के हृदय में डेरा जमाएँ परन्तु तुलसी पापी है, इसलिए राम पापी के हृदय में कैसे आ सकते हैं ? इस पद में इसी शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि राम का नाम लेने से बड़े-बड़े पापी तर गये तो तुलसी क्यों नहीं तर सकता।

(२) 'तम कूप'—से भाव अज्ञान रूपी कुएँ से है; अर्थात् सत् को असत् और असत् को सत् मान लेना ही अज्ञान है।

[१४५]

कृपासिन्धु, जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे।
जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तब तिन्हके दुख दाहे ॥१॥
गज, प्रहलाद, पांडसुत, कपि, सब को रिपु-संकट मेट्यो।
प्रनत बंधु-भय-बिकल बिभीषण, उठि सो भरत ज्यौं भेंट्यो ॥२॥
मैं तुम्हरो लेइ नाम ग्राम इक उर आपने बसावौं।
भजन, बिबेक, बिराग, लोग भले, मैं क्रम-क्रम करि ल्यावौं ॥३॥
सुन रिस भरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआई।
तिन्हहिं उजारि नारि अरि धन पुर राखहिं राम गुसाईं ॥४॥
सम-सेवा-छल-दान-दंड हौं, रचि उपाय पचि हार्यो।
बिनु कारन को कलह बड़ो दुख, प्रभु सौं प्रगटि पुकार्यो ॥५॥
सुर स्वारथी, अनीस, अलायक, निठुर, दया चित नाहीं।
जाउँ कहाँ को बिपति-निवारक, भवतारक जग माहीं ? ॥६॥
तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो, और न काहू केरो।
दीजै भक्ति-बाँह बारक[1] ज्यों सुबस बसै अब खेरो ॥७॥

शब्दार्थ—दादि=न्याय। आरत=दुखी, आर्त्त। प्रनत=प्रणाम करते। क्रम-क्रम=एक-एक कर, धीरे-धीरे। बरिआई=जबरदस्ती। अरि=शत्रु। सेवा=खुशामद। रचि उपाय=उपाय कर-कर। अनीस=बुरे स्वामी, असमर्थ, निर्बल। अलायक=नालायक। पोच=नीच, कायर। केरो=का। बारक=एक बार। सुबस=स्वतन्त्रतापूर्वक, अच्छी तरह से। खेरो=खेड़ा, छोटा सा गाँव।

---

१. पाठान्तर—बैरक।

भावार्थ—हे कृपासिन्धु ! यह दीन तुम्हारे द्वार पर न्याय क्यों नहीं पा रहा है ? (तुम्हारी प्रसिद्धि तो यह है कि) जब और जहाँ किसी दुखी ने तुम्हें पुकारा है, तुमने उसके दुखों को दूर कर दिया है । गज, प्रह्लाद, पांडव, वन्दर (सुग्रीव) आदि सभी के शत्रु रूपी संकट को तुमने मिटा दिया था । अर्थात् इनके शत्रुओं को नष्ट कर इनके दुख दूर किये थे । जब अपने भाई रावण के भय से व्याकुल हो विभीषण ने आकर तुम्हें प्रणाम किया था (तुम्हारी शरण में आया था), उस समय तुमने उठ कर उसे भाई भरत के समान हृदय से लगा लिया था । मैं तुम्हारा नाम लेकर अपने हृदय में एक गाँव वसाने का प्रयत्न कर रहा हूँ और उसमें एक-एक कर धीरे-धीरे भजन, विवेक, वैराग्य, भले लोग आदि को ला-लाकर वसा रहा हूँ । यह सुनकर दुष्ट काम आदि क्रुद्ध हो उठे हैं और आकर उनके साथ जबरदस्ती करने लगे हैं । हे स्वामी राम ! ये लोग उन्हें उजाड़ कर वहाँ स्त्री, शत्रु, धन आदि को बसाने का प्रयत्न करते रहते हैं । भाव यह है कि मैं प्रयत्न करके शुभ भावनाओं को अपने हृदय में लाने का तथा भले लोगों के साथ रहने का धीरे-धीरे अभ्यास करता हूँ परन्तु काम आदि दुष्ट भावनाएँ बलात् मेरे मन को स्त्री, धन, शत्रुता आदि की ओर मोड़ती रहती हैं । इनका आकर्षण मेरी शुभ भावनाओं को स्थिर नहीं रहने देता ।

मैं साम, दाम, दंड, भेद, सेवा आदि अनेक प्रकार के उपाय करते-करते हार गया हूँ (परन्तु ये दुष्ट नहीं मानते) । विना कारण ही कलह करके मुझे बड़ा दुख देते रहते हैं अर्थात् विना वात मुझे सताते रहते हैं । इसलिए मैं स्पष्ट रूप से तुमसे न्याय करने की पुकार कर रहा हूँ । (अब यदि यह कहा जाय कि मैं तुमसे ही न्याय क्यों माँग रहा हूँ, अन्य देवी-देवताओं से फरियाद क्यों नहीं करता, तो उसका कारण यह है कि) सारे देवता स्वार्थी, असमर्थ, अयोग्य, निष्ठुर और दयाहीन हैं । इसलिए हे राम ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? इस संसार में विपत्ति को दूर करने वाला, संसार-सागर से पार उतार देने वाला और दूसरा कौन है ? तुलसीदास कहते हैं कि हे राम ! यद्यपि मैं नीच हूँ परन्तु फिर भी केवल तुम्हारा ही हूँ, अन्य किसी का भी (भक्त) नहीं हूँ । केवल एक वार मुझे अपनी भक्ति रूपी वाँह पकड़ा दो जिससे मेरा यह गाँव विना किसी विघ्न-वांधा के अच्छी तरह से बस जाय । भाव यह है कि भगवान की भक्ति द्वारा ही हृदय में ज्ञान, विवेक, वैराग्य आदि शुभ भावनाओं की स्थापना और काम-क्रोधादि दुर्भावनाओं का विनाश सम्भव है । अन्य कोई दूसरा साधन नहीं है ।

टिप्पणी—(१) 'प्रनत……भेंट्यो'—में राम के शील की ओर संकेत है । तुलसी ने सर्वत्र भाई भरत के समान भेंट की बात कही है । राम ने चित्रकूट में जिस निश्छलता, आत्मीयता और स्नेह के साथ भरत को अपने हृदय से लगा लिया था, वह घटना एक आदर्श घटना थी । इसी कारण तुलसी ने 'भाई भरत के समान' भेंट की सर्वत्र उपमा दी है ।

(२) ऐसे पद 'विनय-पत्रिका' के इस महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं कि विनय-पत्रिका में मन की विभिन्न अवस्थाओं तथा भावनाओं का जैसा शान्तरसात्मक विवेचन हुआ है वैसा हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। 'कामायनी' में भी मन की विभिन्न दशाओं का चित्रण हुआ है, परन्तु वह 'विनय-पत्रिका' के ऐसे चित्रणों से विल्कुल उल्टा है।

(३) तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में भी राम-विभीषण-भेंट का बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है—

'अस कहि करत दंडवत देखी। तुरत उठे प्रभु हर्ष बिसेखी।
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥'

(४) 'बैरक'—आचार्य शुक्ल ने 'बैरक' का अर्थ–झंडा, पताका माना है। यह अरवी भापा का शव्द है। इसे स्वीकार कर लेने से इसका अर्थ यह होगा—अपनी भक्ति रूपी भुजा की पताका मुझे दे दो, जिससे मैं निर्भय हो इस गाँव को वसा सकूँ। क्योंकि तुम्हारी भक्ति रूपी पताका को देख कामादि दुष्ट स्वतः ही भयभीत हो भाग जायेंगे।

यह अर्थ अधिक सुन्दर और संगत प्रतीत होता है। परन्तु वियोगी हरि ने 'बैरक' के स्थान पर 'वारक' पाठ माना है। 'वारक' का अर्थ भी 'बैरक' के ही समान 'पताका' हो सकता है।

[१४६]

हौं सब बिधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो।
ठौर ठौर साहिबी होत है, ख्याल काल कलि केरो॥१॥
काल-कर्म-इंद्रिय-विषय गाहकगन घेरो।
हौं न कबूलत बाँधि कै मोल करत करेरो॥२॥
बन्दि-छोर तेरो नाम है बिरुदैत बड़ेरो।
मैं कह्यो तब छल-प्रीति कै माँगें उर डेरो॥३॥
नाम-ओट अब लगि बच्यो मलजुग जग जेरो।
अब गरीब जन पोषिये पायबो न हेरो॥४॥
जेहि कौतुक बक स्वान को प्रभु न्याव निबेरो।
तेहि कौतुक कहिये कृपालु 'तुलसी है मेरो'॥५॥

शब्दार्थ—रावरो=तुम्हारा। चेरो=दास। साहिबी=मालिकी। ख्याल=कौतुक, तमाशा। केरो=का। कबूलत=स्वीकार करता। करेरो=कड़ा। बन्दि-

छोर=बन्धन से छुड़ाने वाला। विरुदैत=यश। मलजुग=कलियुग। जेरो=परेशान, अपमानित। पायबो=पाओगे। हेरो=ढूँढ़ने पर भी। निवेरो=किया था।

भावार्थ—हे राम ! मैं सब तरह से तुम्हारा दास बनना चाहता हूँ। कारण यह है कि यहाँ (इस संसार में) तो स्थान-स्थान पर सब अपनी-अपनी मालकियत जमाते रहते हैं और यह सब कौतुक (तमाशा) कलियुग ने ही कर रखा है। भाव यह है कि कलियुग के विषाक्त प्रभाव के कारण मेरी इन्द्रियाँ मुझे अपना-अपना गुलाम बनाने के प्रयत्न में लगी रहती हैं, मुझे सांसारिक विषय-वासनाओं में उलझाये रखती हैं। इसलिए परेशान होकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।

मुझे काल (कलियुग), कर्म और इन्द्रियों के विभिन्न विषयों रूपी ग्राहकों ने घेर रखा है। अर्थात् ये सब मुझे अपना-अपना गुलाम बनाना चाहते हैं और जब मैं इनके हाथों बिकना स्वीकार नहीं करता तो मुझे जबरदस्ती बाँधकर मेरी खूब ऊँची कीमत लगाते हैं, अर्थात् मुझे बहुत लालच देते हैं। हे राम ! तुम्हारा नाम बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला है और तुम्हारा यश बहुत बड़ा है। इसलिए जब मैंने इनसे कहा कि (मैं तो राम का दास होना चाहता हूँ) तो ये लोग मेरे प्रति कपट भरा प्रेम दिखाते हुए मुझसे स्वयं को अपने हृदय में निवास करने की आज्ञा देने का आग्रह करने अगे। भाव यह है कि यदि मैं इनके हाथ बिकने को प्रस्तुत नहीं हूँ तो कम-से-कम इन्हें अपने हृदय में ही स्थान दे दूँ। (परन्तु मुझे इनसे भय लगता है कि ये एक बार हृदय में घुस आने पर फिर नहीं निकलेंगे क्योंकि ये कपटी हैं।)

अब तक तो मैं तुम्हारे नाम की ओट (सहारा) लेकर इनसे बचा रहा; अर्थात् ये मुझ पर अधिकार न जमा सके परन्तु अब कलियुग मुझे बहुत सता रहा है। इसलिए अब तुम इस गरीब भक्त की रक्षा करो वरना फिर ढूँढ़ने से भी इसका कहीं पता नहीं चलेगा, अर्थात् कलियुग मुझे खा जायेगा। हे कृपालु प्रभु ! अपने जिस कौतुक द्वारा तुमने बगुले और कुत्ते का न्याय किया था, अब उसी कौतुक से काम लेकर यह कह दो कि 'तुलसी मेरा है।' ऐसा कह देने पर मेरा इनसे पिंड छूट जायेगा।

टिप्पणी—(१) 'बक और स्वान'—इनसे सम्बन्धित दो अन्तर्कथाएँ पायी जाती हैं। वाल्मीकि-रामायण में 'बक' का प्रसंग तो नहीं आया है परन्तु उल्लू का आया है जो इस प्रकार है :—

'बक'—एक वृक्ष पर एक उल्लू और गिद्ध एक ही घर में रहते थे। एक दिन गिद्ध की नीयत बिगड़ी और उसने घर पर अपना ही अधिकार जमाने की इच्छा से उल्लू को वह घर खाली कर देने के लिए कहा। उल्लू के इन्कार करने पर दोनों न्याय के लिए राम के दरबार में चहुँचे। दोनों की बातें सुनकर राम ने दोनों से पूछा कि वे कब से इस वृक्ष पर रह रहे हैं। गिद्ध ने उत्तर दिया कि जब से मनुष्य की सृष्टि हुई, तभी से मैं इस घर में रह रहा हूँ। उल्लू ने कहा कि जब से वृक्षों की

सृष्टि हुई है तव से यह घर मेरा है। यह सुन राम ने निर्णय दिया कि क्योंकि वृक्ष मनुष्यों से पहले उत्पन्न हुए थे, इसलिए उल्लू का ही इस घर पर अधिकार है।

'स्वान'—एक बार एक कुत्ता राम के दरबार में आ, फरियाद करने लगा कि तीर्थसिद्ध नामक ब्राह्मण ने अकारण ही उसे मारा है। राम ने ब्राह्मण को बुलाकर मारने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने कहा कि मैं मार्ग में जा रहा था और यह कुत्ता मार्ग में पड़ा था। मैंने इससे हट जाने के लिए कहा और जव यह नहीं हटा तो मैंने इसे मार दिया। राम चिन्ता में पड़ गये कि यह ब्राह्मण अपराधी है, परन्तु ब्राह्मण को दण्ड देने का शास्त्रों में विधान नहीं है। फिर क्या करें? कुत्ते ने राम की इस चिन्ता को समझकर दण्ड सुझाया कि इसे कालिंजर मठ का महन्त बना दीजिए। यह विचित्र दण्ड सुनकर राम ने कुत्ते से इसका कारण पूछा तो कुत्ते ने वताया कि वह स्वयं पूर्व जन्म में उसी मठ का महन्त था और इसी कारण उसे इस जन्म में कुत्ते की योनि धारण करनी पड़ी। राम ने ब्राह्मण को वही दण्ड दे दिया।

यह कथा महन्तों के पाप-कर्मों पर अच्छा प्रकाश डालती है।

(२) इस पद में कवि ने जनता में वहु प्रचलित सरल विदेशी शब्दों का प्रयोग कर एक अद्भुत सौन्दर्य, सरलता और प्रभविष्णुता उत्पन्न कर दी है। कबूलत, साहवी, ख्याल, करेरा आदि ऐसे ही विदेशी शब्द हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि उस समय विदेशी शब्दों को अंत्यजों के समान ठुकराया नहीं जाता था। भाषा के क्षेत्र में पूर्ण सहिष्णुता से काम लिया जाता है। हिन्दी भाषा के वर्तमान शुद्धीकरण के समर्थक इससे अच्छा सवक ले सकते हैं। शब्दों का महत्त्व जनता ही निर्धारित करती है, न कि भेदबुद्धि रखने वाले विद्वान्।

[१४७]

कृपासिंधु, ताते रहौं निसदिन मन मारे।
महाराज, लाज आपुही निज जाँघ उघारे ॥१॥
मिले रहैं, मार्यो चहैं कामादि सँघाती।
मो बिनु रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती ॥२॥
बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
कियो कथिक को दंड हौं जड़ करम कुचाली ॥३॥
देखी सुनी न आज लौं अपनायत ऐसी।
करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परैं अनैसी ॥४॥
बड़े अलेखी लखि परैं परिहरे न जाहीं।
असमंजस में मगन हौं, लीजै गहि बाहीं ॥५॥

बारक बलि अवलोकिये, कौतुक जन जी को।
अनायास मिटि जाइगो, संकट तुलसी को ॥६॥

शब्दार्थ—संघाती=साथी । जारें=जलाते हैं। कथिक=कथा वाचक । दंड=लकड़ी । अपनायत=आपाधापी । अनैसी=अनिष्ट, बुराई । अलेखी=अन्यायी, विचित्र । परिहरे=छोड़े ।

भावार्थ—हे कृपासिन्धु ! मैं इसीलिए दिन-रात मन-मारे चुप बना रहता हूँ अर्थात् अपने पाप-कर्मों की बात किसी से भी नहीं कहता क्योंकि अपनी जाँघ उघाड़ने से अपनी ही लाज नष्ट होती है, अपनी बात कहने से स्वयं ही लज्जित होना पड़ता है। ये मेरे काम आदि साथी एक तरफ से तो मुझसे मिले रहते हैं, मीठी-मीठी बातें करते हैं और दूसरी तरफ मुझे मारना भी चाहते हैं। अर्थात् कपटी मित्र हैं। मेरे बिना रह भी नहीं सकते, और साथ ही मेरे साथ छल कर-कर मेरे हृदय को जलाया करते हैं। ये मेरे हृदय में बसते हैं और मेरा हित चाहने वाले हैं, यह जान कर मैंने इन सब की रुचियों (इच्छाओं) को पूरा किया, अर्थात् इनके कहने से सारे सांसारिक विषय-भोगों में अपने को अनुरक्त रखा ! परन्तु फिर भी इन दुष्ट, कुकर्मी और कपटियों ने मुझे कत्थक (गाने वाले) की लकड़ी बना रखा है। अर्थात् जिस प्रकार गाने वाला एक लकड़ी में घुँघरू बाँध अपने साथी लड़के को उस लकड़ी की ताल पर नचाता रहता है उसी प्रकार ये लोग मुझे लकड़ी बना मेरे मन को नचाते रहते हैं। अर्थात् मेरा मन मेरी इन्द्रियों के इशारों पर नाचता रहता है।

इन लोगों ने ऐसी आपाधापी (मनमानी) मचा रखी है कि आज तक मैंने ऐसी न तो कहीं सुनी और न कहीं देखी। कर्म तो सारे ये करते हैं और उसकी सारी बुराई मेरे सिरें पड़ती है। अर्थात् काम-क्रोध आदि मेरे मन को वश में कर उनसे बुरे कर्म कराते हैं और उनका फल भोगना पड़ता है जीव को। वह बार-बार जन्म मरण की यातनाएँ सहता रहता है। ये सब बड़े अन्यायी हैं अथवा ये सब अज्ञान के कारण दिखाई नहीं पड़ते (भावनाएँ अशरीरी होती हैं), परन्तु फिर भी इनको छोड़ते नहीं बनता। हे प्रभु ! मैं इसी दुविधा में पड़ा रहता हूँ कि इन्हें छोड़ूँ या न छोड़ूँ ? इसलिए इस दुविधा से मुक्त होने का एक ही उपाय है कि तुम मेरी बाँह पकड़ लो, मेरी सहायता करो। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, तुम एक बार अपने इस दास के जीव का तमाशा तो देख लो कि इसकी कैसी दुर्दशा हो रही है। तुम्हारे एक बार देख लेने मात्र से ही तुलसी का संकट दूर हो जायेगा।

टिप्पणी—(१) इस पद में अशरीरी भावनाओं का मानवीकरण किया गया है।

(२) इन्द्रियों के वश में पड़े जीव की दुर्दशा का ऐसा मार्मिक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी इस कला में पारंगत हैं।

[१४८]

कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं ।
सकुचत समुझत आपनी सब साइँ दुहाई ॥१॥
सेवत बस, सुमिरत सखा, सरनागत सो हौं ।
गुनगन सीतानाथ के चित करत न हौं हौं ॥२॥
कृपासिन्धु बन्धु दीन के आरत-हितकारी ।
प्रनत-पाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी ॥३॥
सेइ न धेइ न सुमिरि कै पद-प्रीति सुधारी ।
पाइ सुसाहिब राम सों भरि पेट बिगारी ॥४॥
नाथ गरीबनिवाज हैं, मैं गही न गरीबी ।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ॥५॥

शब्दार्थ—आपनी=अपनी । सो हौं=सामने । हौं हौं=मैं हूँ । जानि=जान कर भी । सेइ=सेवा । धेइ=ध्याइ, ध्यान करके । सुधारी=सुन्दर रूप से धारण की । भरि पेट=पेट भर के, खूब मन भर के । गही=ग्रहण की । कीबी=करो ।

भावार्थ—हे रघुवीर ! हे स्वामी ! मैं क्या मुँह लेकर तुमसे कहूँ । हे नाथ ! तुम्हारी दुहाई है । मैं अपनी करनी को खूब समझता हूँ और संकोच से मरा जाता हूँ । अर्थात् मैंने एक भी करनी ऐसी नहीं की, जिसके आधार पर तुमसे अपना उद्धार करने की प्रार्थना करूँ । तुम सेवा करने में वश में हो जाते हो, स्मरण करने से सखा बन जाते हो, और शरण में जाने से प्रत्यक्ष प्रकट हो दर्शन देते हो । परन्तु हे राम ! मैं तुम्हारे इन असंख्य गुणों का कभी स्मरण नहीं करता; अर्थात् इनकी तरफ कभी ध्यान तक नहीं देता । तुम कृपा के सागर, दीनों के बन्धु तथा दुखियों का कल्याण करने वाले हो । तुम्हारी यह कीर्ति (यश) है कि तुम शरण में आये हुए की रक्षा करते हो । मैंने तुम्हारी इस कीर्ति को सुन और जान कर भी तुम्हें भुला दिया है ।

मैंने न तो तुम्हारी सेवा की, न तुम्हारा ध्यान किया और न स्मरण करके तुम्हारे चरणों में सुन्दर प्रीति को ही धारण किया बल्कि राम जैसे अच्छे स्वामी पाकर भी अपनी शक्ति भर पूरा बिगाड़ किया अर्थात् बुरे कर्म कर अपने जीवन को बिगाड़ा । हे नाथ ! तुम गरीबों पर कृपा करने वाले हो परन्तु फिर भी मैंने कभी गरीबों को नहीं अपनाया; अर्थात् अपने अहंकार में कभी भी अपने को गरीब नहीं समझा । अर्थात् यदि मैं अपने को गरीब (अकिंचन) मान लेता तो भगवान् राम अवश्य मेरा उद्धार कर देते क्योंकि यह तो उनका स्वभाव ही ठहरा परन्तु मैंने अपनी अकड़ में अपने को कभी गरीब नहीं माना । इसलिए हे प्रभु ! अब तुमसे अपनी तरफ से जो बन सके; वही करो । अर्थात् जैसे समझो वैसे मेरा उद्धार कर दो ।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने 'मैं गही न गरीवी' कहकर अपने अहं-कार और दम्भ के प्रति बड़ा मनोवैज्ञानिक संकेत किया है। संसार के प्रति पूरी तरह से अनुरक्त व्यक्ति अपने को कभी भी दीन या गरीब नहीं समझता। यहाँ तुलसी ने इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन किया है।

तुलसी के वर्णन की यह विशेषता है कि वह जहाँ कहीं मानव-स्वभाव का वर्णन कर लोकपक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ स्वयं को लोक का प्रतीक मानकर ही चलते हैं। बुराइयों का वर्णन करने में उन्होंने इसी पद्धति को अपनाया है। ऐसे वर्णनों को देखकर हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि तुलसी के चरित्र में ये सारी बुराइयाँ थीं।

(२) 'भरि पेट बिगारी'—का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि मैंने अपना पेट भरने में ही सारा जीवन व्यतीत कर दिया, राम की भक्ति नहीं की। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं है। पंक्ति के पूर्वार्द्ध से इसका सम्बन्ध नहीं बैठता।

[१४६]

कहाँ जाउँ, कासौं कहौं, और ठौर न मेरो।
जनम गँवायो तेरेहि द्वार मैं किंकर तेरो ॥१॥
मैं तो बिगारी नाथ सों आरति के लीन्हें।
तोहि कृपानिधि क्यों बनै मेरी सी कीन्हें ॥२॥
दिन दुरदिन, दिन दुरदसा, दिन दुख, दिन दूषन।
जब लौं तू न बिलोकिहै रघुबंस-बिभूषन ॥३॥
दई पीठ बिनु डीठ मैं तुम बिस्व-बिलोचन।
तो सों तुही न दूसरो नत-सोच-बिमोचन ॥४॥
पराधीन देव ! दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनय कि झाईं ॥५॥
आपु देखि मोहि देखिये जन मानिय साँचो।
बड़ी ओट रामनाम की जेहि लेई सो बाँचो ॥६॥
रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों भावै त्यौं करु कृपा तेरो तुलसी है ॥७॥

शब्दार्थ—किंकर=दास, सेवक। लीन्हें=कारण, लिए। दूषन=दोष। डीठ=दृष्टि। नत=प्रणत, शरणागत। बोलनिहारे=बोलने वाले, चैतन्य रूप। कि=क्या। झाईं=परछाहीं, जड़ रूप। जन=भक्त। बाँचो=बच गया। रावरी=तुम्हारी।

भावार्थ—हे राम ! मैं कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, मेरा तो और कोई भी ठिकाना (आश्रय) नहीं है। मैंने तो अपना सारा जन्म तुम्हारे ही द्वार पर बिता दिया है, मैं तो तुम्हारा ही दास हूँ। हे नाथ ! मैंने तो अपने स्वामी से अर्थात् तुमसे अत्यधिक दुख पाने के कारण ही बिगाड़ किया था। अर्थात् दुख में मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और वह अपना भला-बुरा नहीं सोच पाता। मैंने भी दुख से पीड़ित होकर ही तुमसे मुँह मोड़ लिया था। परन्तु हे कृपानिधि ! तुमसे मेरा जैसा करते कैसे बनेगा। अर्थात् तुम तो कृपा के समुद्र हो, सब पर कृपा करते हो, इसलिए तुम मुझे दुखी देख मुझसे मुँह नहीं मोड़ सकोगे, अपने कृपा करने वाले सहज-स्वभाव को नहीं त्याग सकोगे। मेरी क्या है, मैं नीच जो ठहरा। रघुवंश के भूषण ! जब तक तुम मेरी ओर नहीं देखोगे, तब तक दिन-दिन अर्थात् मेरा प्रत्येक दिन बुरा होता रहेगा, नित्य मेरी दुर्दशा होती रहेगी और हर रोज मुझे दोष लगते रहेंगे।

मैंने तो तुम्हें इसलिए पीठ दी अर्थात् तुम से इसलिए विमुख हुआ क्योंकि मेरे दृष्टि ही नहीं थी। अर्थात् मैं अज्ञान के अन्धकार में अन्धा बना भटकता फिर रहा था परन्तु तुम तो विश्व के लोचन अर्थात् दृष्टि हो, विश्व को ज्ञान देने वाले हो, सब कुछ देखने वाले हो। भाव यह है कि तुम मेरी असली दशा जानते हो। हे राम ! तुम्हारे समान केवल स्वयं तुम्हीं हो। इस संसार में शरणागत की चिन्ता को दूर करने वाला तुम्हारे सिवाय अन्य कोई भी दूसरा नहीं है। हे देव ! मैं तो पराधीन और दीन हूँ। अर्थात् इन्द्रियों के वश में पड़ा पराधीन होने के कारण दीन हूँ परन्तु तुम तो स्वतन्त्र हो। 'गोपाल' (इन्द्रियों के स्वामी) होने के कारण इन्द्रियों के बन्धन से स्वतन्त्र हो और सबके स्वामी हो। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। क्या बोलने वाले से कभी उसकी परछाहीं विनय कर सकती है ? अर्थात् क्या चैतन्य से जड़ रूप कभी प्रार्थना कर सकता है ? भाव यह है कि जीव जड़ रूप है और ईश्वर चैतन्य रूप। फिर यह जड़ जीव चैतन्य ईश्वर से कैसे प्रार्थना कर सकता है ? जड़ परछाहीं तो वही करती है जो चैतन्य जीव उससे कराता है। अर्थात् मेरे कर्मों का सारा उत्तरदायित्व तुम्हारे ही ऊपर है। मेरे द्वारा तुम्हीं उनके कर्त्ता हो।

इसलिए हे नाथ ! तुम पहले अपनी ओर देखो और फिर मेरी ओर देखो। तब तुम्हें इस दास की बात को सच्चा मानना ही पड़ेगा। राम नाम का सहारा बहुत बड़ा है, जिसने भी इसका सहारा लिया वही इस संसार के जाल से बच गया है। हे राम ! तुम्हारी रीति और स्वभाव मेरे हृदय में नित्य प्रफुल्लित रहता है। अर्थात् मेरा हृदय इन्हें स्मरण कर नित्य आनन्द से भरा रहता है, यह सोचकर कि राम मुझ पर अवश्य कृपा करेंगे और उनका स्वभाव ही ऐसा है। इसलिए हे राम ! अब जैसे तुम्हें अच्छा लगे वैसे मुझ (तुलसी) पर कृपा करो, क्योंकि यह तुलसी तुम्हारा ही है।

टिप्पणी—(१) 'पराधीन·······गोसाईं'—वियोगी हरि के अनुसार इस पंक्ति

में तुलसी ने सांख्य तत्त्व का प्रतिपादन किया है, न कि अद्वैत वेदान्त का। 'पराधीन' शब्द से ब्रह्म और माया—दोनों ही को पराधीनता सिद्ध होती है। तुलसी ने 'मानस' में भी यही बात कही है—

'परबस जीव, स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक, एक श्रीकन्ता॥'

(२) इस पद में तुलसी की आर्त्त-भावना चरम-सीमा पर पहुँच गयी है। इसमें इतनी करुणा, दीनता और राम-निर्भरता है कि मन विचलित हो उठता है। सच्ची भक्ति का प्रधान लक्षण यही है कि उसकी अभिव्यक्ति निश्छल, सकरुण और पूर्ण मार्मिक हो। 'मानस' के उपदेशक तुलसी 'विनय-पत्रिका' में आकर एकान्त भक्त के रूप में प्रकट होते हैं।

[१५०]

रामभद्र ! मोहिं आपनो सोच है अरु नाहीं।
जीव सकल संताप के भाजन जग माहीं॥१॥
नातो बड़े समर्थ सों इक ओर किधौं हूँ।
तोको मोसे अति घने मोको एकै तू॥२॥
बड़ी गलानि हिय हानि है सर्बग्य गुसाईं।
कूर कुसेवक कहत हौं सेबक की नाईं॥३॥
भलो पोच राम को कहैं मोहि सब नरनारी।
बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब-सिर गारी॥४॥
असमंजस मन को मिटै सो उपाय न सूझै।
दीनबन्धु, कीजै सोई बनि परै जो बूझै॥५॥
बिरुदावली विलोकिये तिन्ह मैं कोउ हौं हौं।
तुलसी प्रभु को परिहर्‌यो सरनागत सो हौं॥६॥

शब्दार्थ—भद्र=कल्याण। भाजन=पात्र। मोसे=मेरे जैसे। एकै=एक ही। कूर=कुटिल। नाईं=तरह। पोच=नीच, कायर। मोहि=मुझे। साहिब=मालिक। बूझै=समझ में आये।

भावार्थ—हे कल्याण स्वरूप राम ! मुझे अपने विषय में चिन्ता है भी और नहीं भी है। क्योंकि इस संसार में सारे जीव दुख के पात्र हैं, सभी दुख भोगते हैं। भाव यह है कि चिन्ता इस बात से नहीं है कि जब सभी को दुख उठाना पड़ता है तो फिर मुझे भी भोगना ही पड़ेगा। चिन्ता इस बात को सोचकर होती है कि तुम्हारा सेवक होकर भी संसार से मुक्त नहीं हो सका और इस कारण तुम्हारी बदनामी होगी कि इनका भक्त होकर भी संसार में पड़ा कष्ट भोग रहा है। क्या बड़े लोगों से नाता

एक ही तरफ का होता है ? छोटे उन्हें अपना मानते हैं परन्तु क्या वे छोटों को अपना नहीं मानते ? अर्थात् जब मैं तुम्हें अपना मानता हूँ तो क्या तुम मुझे अपना नहीं मानते ? मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरे जैसे तुम्हारे लिए बहुत हैं परन्तु मेरे लिए तो केवल एक तुम्हीं हो। भाव यह है कि तुम मुझे छोड़ सकते हो परन्तु मैं तो तुम्हें नहीं छोड़ सकता।

हे स्वामी ! यह जानकर कि तुम सर्वज्ञ हो, मेरे मन में बड़ी ग्लानि होती है और मैं हृदय में अपनी हानि की सम्भावना से विचलित हो उठता हूँ। बात यह है कि मैं दरअसल हूँ तो कुटिल और दुष्ट सेवक, पर बातें ऐसी करता हूँ—मानो तुम्हारा सच्चा सेवक हूँ। तुम सर्वज्ञ हो, इसलिए सब असलियत जानते हो। मैं इसी कारण भयभीत हूँ। मैं अच्छा हूँ या नीच, परन्तु और नर-नारी यही कहते हैं कि मैं राम का सेवक हूँ। और संसार की रीति यह है कि बिगड़े हुए नौकर और कुत्ते के अपराधों के लिए गाली उनके मालिक को सुननी पड़ती है कि यह उसका नौकर अथवा कुत्ता है। अर्थात् दोष तो ये करते हैं और गाली मालिक को सुननी पड़ती है। इसी प्रकार अपराधी तो मैं हूँ परन्तु चूँकि संसार मुझे तुम्हारा सेवक समझता है, इसलिए मेरा उद्धार न करने के कारण गाली तुम्हे सुननी पड़ेगी।

मैं इसी दुविधा में पड़ा हूँ और मुझे वह उपाय नहीं सूझता जिससे मेरी यह दुविधा मिट सके। हे दीनबन्धु ! अब तुम वही करो जो समझ-बूझकर तुमसे करते बन पड़े। तुम तनिक अपनी विरुदावली (यश) की ओर तो देखो। कहीं उसमें मेरा भी स्थान है क्या (मेरा स्थान होगा अवश्य) ? यदि फिर भी हे प्रभु ! तुम मुझे त्याग दोगे तो भी मैं तुम्हारी ही शरण में पड़ा रहूँगा। भाव यह है कि तुम भक्तवत्सल, शरणागत रक्षक, दीन-उद्धारक, पतित-पावन आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध हो और मैं भक्त, शरणागत, दीन, पतित आदि में से कोई-न-कोई अवश्य हूँ। इसी सम्बन्ध के कारण तुम्हें मेरा उद्धार करना ही पड़ेगा। नहीं करोगे तो मैं तुम्हारे द्वार पर धरना दिये पड़ा रहूँगा। कभी-न-कभी तो तुम्हें दया आयेगी ही।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी का वाक्चातुर्य सराहनीय है। वह राम को हर तरह से अपना उद्धार करने के लिए मजबूर कर रहे हैं और अपने सारे कुकर्मों के कारण राम की ही बदनामी होने का भय दिखा रहे हैं। यह उक्ति-चातुर्य होते हुए भी तुलसी अपनी करुण भावना को बड़े सशक्त और प्रभावशाली ढङ्ग से अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। स्वयं को नीच समझने के कारण तुलसी की दीन-भावना बड़े मनोरंजक ढङ्ग से प्रकट हुई है।

(२) 'बड़ी गलानि·········नाई'—का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि 'मेरे हृदय में इस बात की बड़ी ग्लानि है कि (मेरे कारण) सर्वज्ञ स्वामी राम की हानि हो रही है।' अर्थात् कुत्ते और सेवक द्वारा बुरा काम किये जाने पर उनके मालिक को ही गालियाँ सुननी पड़ती हैं। और मैं राम का सेवक कहलाता हूँ।

[१५१]

जो पै चेराई राम की करतो न लजातो ।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो ॥१॥
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो ।
बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥२॥
जौ तू मन, मेरे कहे राम-नाम कमातो ।
सीतापति सनमुख सुखी सब ठाँव समातो ॥३॥
राम सोहाते तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो ।
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥४॥
राम-नाम अनुरागही जिय तो रति आतो ।
स्वारथ-परमारथ-पथी तोहिं सब पतिआतो ॥५॥
सेइ साधु सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो ।
जनम कोटिको काँदलो ह्रद-हृदय थिरातो ॥६॥
भव मग अगम अनन्त है, बिनु स्रमहि सिरातो ।
महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ॥७॥
अमर-अगम तनु पाइ सो जड़ जाय न जातो ।
होतो मंगल-मूल तू, अनुकूल बिधातो ॥८॥
जो मन, प्रीति-प्रतीति सो राम-नामहिं रातो ।
तुलसी रामप्रसाद सो तिहुँताप न तातो ॥९॥

शब्दार्थ—चेराई=गुलामी, चाकरी । दाम=खरा सिक्का । कुदाम=खोटा सिक्का । कर-कर=हाथ-हाथ में । जीह=जीभ । सूम=कंजूस का प्रतीक काठ का पुतला । खेह=धूल । सोहातो=अच्छा लगता । कुल कारनी=सब के कारण । कोहातो=क्रोध करता । रति आतो=प्रेम करता । पतिआतो=विश्वास करते । पिरातो=दुखी होता । काँदलो=कीचड़, गन्दगी । ह्रद-हृदय=हृदय रूपी सरोवर । थिरातो=नीचे बैठ जाता । सिरातो=पार कर जाता । किरातो=किरात, एक जंगली जाति । अमर=देवता । बिधातो=बिधाता, ब्रह्मा । रातो=लौ लगाता । तातो=दग्ध होता, जलना ।

भावार्थ—रे मन ! यदि तू राम की चाकरी करने में नहीं लजाता तो खरा सिक्का होकर भी खोटे सिक्के की भाँति विभिन्न लोगों के हाथों में न बिकता फिरता । अर्थात् यदि तू राम की सेवा करता तो सब लोग खरे सिक्के की भाँति तेरा आदर करते और तू खोटे सिक्के की तरह दर-दर मारा न फिरता । यदि तू

जीभ से राम का नाम लेने में आलस्य न करता तो हे दुष्ट ! तुझे बाजीगर के कंजूस के प्रतीक काठ के पुतले के समान धूल न फाँकनी पड़ती। अर्थात् दर-दर मारा न फिरता और सबके सामने अपमानित न होना पड़ता।

हे मन ! यदि तू मेरे कहने से राम-नाम की कमाई करता अर्थात्; निरन्तर राम-नाम का जाप करता तो सीतापति राम तुझे अपने पास रखते, तू सुखी रहता और लोक-परलोक सब जगह तेरी गति होती। अर्थात् तेरे लोक-परलोक, दोनों बन जाते। यदि तुझे राम अच्छे लगते तो तू भी सबको अच्छा लगता, सब तुझसे प्रेम करते और काल, कर्म आदि सब जो सारे कार्यों के कारण अर्थात् प्रेरणा देने वाले हैं, इनमें से कोई भी तुझ पर क्रोध न कर पाता। सभी तेरे अनुकूल हो जाते। यदि तू अपने हृदय में राम-नाम से प्रीति करता तो स्वार्थ (इस लोक के) तथा परमार्थ (परलोक के) बटोही (पथिक) सभी तेरा विश्वास करते अर्थात् तेरे स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध हो जाते। इस लोक में तू सुखी रहता और परलोक में तुझे वैकुण्ठ प्राप्त होता।

यदि तू साधुओं की सेवा करता, दूसरों की पीड़ा को सुन और समझ उससे स्वयं दुखी होता तो तेरे हृदय रूपी सरोवर में करोड़ों जन्मों की कर्मरूपी जो कीचड़ जमा है वह नीचे बैठ जाती और तेरा हृदय निर्मल हो जाता। (तालाब का गन्दा जल स्थिर हो जाने पर कीचड़ नीचे बैठ जाती है और जल शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार मन की चंचलता स्थिर हो जाने पर मन शुद्ध हो जाता है।) यह संसार का मार्ग अगम्य (दुष्कर) और कभी न समाप्त होने वाला है (किन्तु यदि तू उपर्युक्त कार्य करता तो) तू बिना परिश्रम किये ही इस मार्ग को पार कर जाता। तेरी संसार से मुक्ति हो जाती। भगवान का उल्टा नाम (मरा-मरा) लेने की भी महिमा इतनी बड़ी है कि वाल्मीकि किरात से मुनि बन गये थे। (किरात एक जंगली जाति होती है। वाल्मीकि इसी जाति के थे।) भाव यह है कि जब वाल्मीकि राम का उल्टा नाम जपने से ही किरात से मुनि बन गये तो तू सीधा नाम जप कर क्या नहीं बन सकेगा ? अर्थात् सब कुछ बन जायेगा। तेरी मुक्ति हो जायेगी।

(यदि तू राम का नाम लेता तो) हे मूर्ख ! देवताओं के लिए दुर्लभ इस मानव-शरीर को प्राप्त कर इसे इस प्रकार व्यर्थ ही न गवाँ देता, बर्बाद कर देता। राम का नाम लेने से तू मंगल का मूल (कल्याण का आदि कारण) बन जाता, ब्रह्म-स्वरूप हो जाता और विधाता भी तेरे अनुकूल हो तुझ पर प्रसन्न हो जाता। हे मन ! यदि तू प्रेम और विश्वास के साथ राम-नाम में प्रीति लगाता तो राम की कृपा से तीनों प्रकार के तापों (दैविक, दैहिक, भौतिक) से न दग्ध होता रहता। अर्थात् सांसारिक विघ्न-बाधाएँ तुझे न सताती रहतीं।

टिप्पणी—(१) 'बाजीगर·······खातो'—बाजीगरों के पास एक काठ का पुतला रहता है। जब कोई व्यक्ति कंजूसी कर बाजीगर को कुछ नहीं देता तब

बाजीगर उस पुतले को कंजूस कहकर उसके मुँह में धूल डालता है और उसे गालियाँ देता है। ऐसा करके वह अप्रत्यक्ष रूप से उस कंजूस व्यक्ति का अपमान करता है और उसे गालियाँ देता है। अर्थात् दोप किसी का होता है और उसका दण्ड किसी और को भुगतना पड़ता है। यह एक मुहावरा है।

(२) 'राम सोहाते·········सोहातो'—'मानस' में भी तुलसी ने यही बात इस प्रकार कही है—

'जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करहिं सब कोई ॥'

(३) 'महिमा उल्टे नाम की'—

'उल्टा नाम जपत जग जाना। वाल्मीक भे ब्रह्म समाना ॥'

[१५२]

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग-जुग जानकिनाथ को जग जागत साको ॥१॥
ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधा को।
रबिकुल कैरव-चन्द्र भो आनन्द-सुधा को ॥२॥
कौशिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को।
प्रभु अनहित हित को दिय फल कोप कृपा को ॥३॥
हर्‌यो पाप आप जाइकै संताप सिला को।
सोच-मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को ॥४॥
रोष-रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को।
चितवत भजान करि लियो उपसम समता को ॥५॥
मुदित मानि आयसु चले बन मातु-पिता को।
धरम-धुरन्धर धीरधुर गुन-सील जिता को ॥६॥
गुह गरीब गतग्याति हू जेहि जिउ न भखा को।
पायो पावन प्रेम तें सनमान सखा को ॥७॥
सदगति सबरी गिद्ध की सादर करता को।
सोच-सींव सुग्रीव के संकट-हरता को ॥८॥
राखि बिभीषन को सकै अस काल-गहा को।
आज बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥९॥
बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको।
सो पाँबर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको ॥१०॥

गति न लहैं राम-नाम सों बिधि सो सिरजा को।
सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभ गिरिजा को ॥११॥
अकनि अजामिल को कथा सानन्द न भा को।
नाम लेत कलिकाल हू हरिपुरहिं न गा को ॥१२॥
राम-नाम-महिमा करै काम-भुरुह आको।
साखी बेद पुरान हैं तुलसी-तन ताको ॥१३॥

शब्दार्थ—जाग्रत=प्रसिद्ध। साको=कीर्त्ति, यश। वसुधा=पृथ्वी। कैरव =कुमोदिनी। भो=हुआ। कौसिक=कौशिक, विश्वामित्र। गरत=गले जाते थे। तुषार=ओले। तिया=स्त्री, ताड़का। सिला=शिला, अहिल्या। सही=जीता-जागता। साहिव=स्वामी, राजा। अहमिति=अहंकार। उपसम=शान्ति। भाजन =पात्र। जिता=जीतने वाला। गुह=निषादराज गुह। गतग्याति=जाति हीन, नीच जाति का। भखा=खाया। काल-गहा=कालग्रस्त, काल का ग्रास। बालिस= मूर्ख। बूझिए=समझ। खाको=खाक बराबर भी। पाँवर=पामर, दुष्ट। सिरजा =बनाया। प्रचार कै=प्रचार करके। अकनि=सुनकर (संस्कृत 'आकर्ण्य' का अपभ्रंश रूप)। काम-भुरुह=कल्प वृक्ष। आको=आक, अकौआ, मदार। ताको= देखा।

भावार्थ—राम ने अपने भले स्वभाव के कारण किसकी भलाई नहीं की, अर्थात् सबकी भलाई की। सीतापति राम का यह यश युग-युगान्तर से संसार में प्रसिद्ध है। ब्रह्मा आदि देवताओं ने पृथ्वी के दुखों का वर्णन कर भगवान से प्रार्थना की थी (कि पृथ्वी की रक्षा करने को अवतार धारण करो) इसलिए सूर्यवंश रूपी कुमुदिनियों को प्रफुल्लित करने वाले और आनन्द के अमृत की वर्षा करने वाले चन्द्रमा के समान राम ने अवतार लिया था। ऋषि विश्वामित्र स्त्री ताड़का के तेज (शक्ति) को देख ओले के समान गले जा रहे थे अर्थात् अपने यज्ञ की रक्षा की चिन्ता में बहुत व्याकुल हो रहे थे। उस समय प्रभु राम ने ताड़का का बध कर (यज्ञ की रक्षा की) और शत्रु ताड़का को मित्र का सा फल दिया तथा उस पर क्रोध करते हुए भी कृपा की। अर्थात् ताड़का को नर्क न भेजकर स्वर्ग भेजा।

राम ने स्वयं जाकर पाषाणी अहिल्या के पाप और दुख को दूर किया अर्थात् उसे पुनः मानवी बना पति-लोक भेज दिया। अपनी पुत्री सीता के विवाह की चिन्ता में डूबे हुए मिथिला-नरेश जनक को उन्होंने सही-सलामत उस चिन्ता से मुक्त कर दिया (धनुष तोड़ उनकी चिन्ता मिटायी)। भार्गव परशुराम क्रोध के पुंज और अहंकार तथा ममत्व भावना में डूबे रहते थे। (वे स्वयं को अद्वितीय योद्धा और माता-पिता के अनन्य भक्त मान गर्व में भरे रहते थे।) राम ने उनकी ओर केवल देखकर ही

शान्ति और समता का पात्र बना दिया था। अर्थात् उनके क्रोध को शान्त कर उन्हें समदृष्टा वना दिया था। ऐसे राम माता-पिता की आज्ञा मान प्रसन्न मन से वन को चले गये। ऐसे राम के समान धर्म-धुरन्धर, धैर्य धारण करने में अद्वितीय, गुण और शील का भंडार, अद्वितीय विजेता और दूसरा कौन है ?

जिस गरीव निषादराज गुह की जाति का पता नहीं था अर्थात् जो नीच जाति का था, जिसने ऐसा कौन-सा जीव है जिसका भक्षण न किया हो, ऐसे उस गुह ने राम से पवित्र प्रेम कर राम से सखा का-सा सम्मान प्राप्त किया था। शवरी और गिद्ध जटायु को मुक्ति देने वाला कौन था ? शोक की सीमा अर्थात् अत्यधिक चिन्तित और दुखी सुग्रीव के संकटों को किसने दूर किया था ? काल का ग्रास बने हुए विभीषण की कौन रक्षा कर सकता था ? आज वही विभीषण उस स्थान पर (लंका में) राज्य कर रहा है जहाँ रावण राज्य करता था। अयोध्यावासी मूर्ख धोवी, जिसमें खाक वरावर भी वुद्धि न थी, वह दुष्ट भी उस परम धाम को पहुँच गया जहाँ तक पहुँचने में मुनियों का मन भी थक जाता है। अर्थात् मुनि जिस धाम की कल्पना भी नहीं कर पाते।

विधाता ने ऐसा कौन वनाया है जो राम-नाम लेने से मुक्ति न प्राप्त कर सका हो। पार्वती के पति शिव स्वयं राम-नाम का स्मरण करते और उसका प्रचार करते हैं। अजामिल की कथा को सुनकर किसे आनन्द नहीं मिलता। कलियुग में राम का नाम लेते ही कौन भगवान के लोक वैकुण्ठ को न चला गया। राम-नाम का महत्त्व ऐसा है कि उसे लेने मे आक का पौधा भी कल्पवृक्ष वन जाता है, इस वात की साक्षी (गवाही) वेद और पुराण दे रहे हैं। (यदि इस वात पर विश्वास न हो तो) तुलसी की ओर देख लो (कि तुलसी ऐसा नीच था कि मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता-पिता तक ने उसे त्याग दिया था और अव वही तुलसी राम-भक्त के रूप में प्रसिद्ध है।)

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसीदास ने, संक्षेप में, राम जन्म से लेकर अन्त तक रामायण की पूरी कथा कह दी है। इसमें आये प्रत्येक वर्णन में राम की सांकेतिक कथा मिल जाती है। वियोगी हरि इस पद को 'विनय रामायण' कहना अधिक अच्छा समझते हैं।

(२) **अलंकार**—'रविकुल........को' में परम्परित रूपक अलंकार है।

(३) 'सुमिरत........गिरिजा को'—इस सम्वन्ध में पं० रामेश्वर भट्ट ने 'अध्यात्म रामायण' से शिव द्वारा कहा गया एक श्लोक उद्धृत किया है—

'अहो भवन्नाम जपन्कृतार्थो बसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तएऽहं दिशामि मंत्रं तव राम नाम॥'

अर्थात् मैं तुम्हारा नाम जपता-जपता कृतार्थ होकर पार्वती सहित काशी में

रहता हूँ और मरते हुए प्राणी की मुक्ति के लिए हे राम ! तुम्हारे नाम मंत्र का उपदेश करता हूँ ।

(४) 'खाको'—इसका अर्थ भट्टजी ने खा+क=रज+क=अर्थात् धोबी किया है । और वियोगी हरि ने 'जिसमें खाक बराबर भी' यह अर्थ माना है । दोनों ही अर्थ स्वीकार किये जा सकते हैं ।

[१५३]

मेरे रावरिये गति रघुपति है बलि जाउँ ।
निलज नीच निर्गुन निर्धन कहँ, दूसरो न ठाकुर ठाउँ ॥ १ ॥
हैं घर-घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाउँ ।
बानर-बन्धु बिभीषन-हितु बिनु, कोसलपाल कहूँ न समाउँ ॥ २ ॥
प्रनतारति-भंजन जन-रंजन, सरनागत पबि-पंजर नाउँ ।
कीजै दासतुलसी अब, कृपासिंधु, बिनु मोल बिकाउँ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रावरिये=तुम्हारी ही । ठाकुर=स्वामी, मालिक । ठाउँ=स्थान । दाउँ=दाँव, स्वार्थ । प्रनतारति=प्रनत+आरति=शरणागत के दुख । पबि-पंजर= वज्र का पिंजड़ा ।

भावार्थ—हे रघुपति ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, मेरी गति तो केवल तुम्हीं हो अर्थात् तुम्हारी ही शरण में जाने से मेरा उद्धार हो सकता है । मुझ जैसे निर्लज्ज, नीच, गुणहीन, निर्धन के लिए इस संसार में न तो तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा स्वामी ही है और न उसे कहीं और शरण ही मिल सकती है । वैसे तो इस संसार में घर-घर में अच्छे मालिक भरे पड़े हैं (अनेक देवी-देवता हैं) परन्तु उन सबको हमेशा अपना ही स्वार्थ दिखाई देता रहता है । अर्थात् ये सब पहले पूजा लेते हैं फिर थोड़ा सा फल देकर टरका देते हैं । हे बन्दर सुग्रीव के मित्र ! हे विभीषण के हितैषी ! हे कोशल के स्वामी राम ! तुम्हें छोड़कर मैं अन्यत्र कहीं नहीं समा मकता अर्थात् शरण पा सकता । हे शरणागतों के दुखों को दूर करने वाले, भक्तों का कल्याण करने वाले ! शरणागतों के लिए तुम्हारा नाम वज्र के पिंजड़े के समान है । अर्थात् जिस प्रकार वज्र के बने पिंजड़े में पक्षी बाहरी भयों से मुक्त रहता है, सुरक्षित रहता है उसी प्रकार तुम्हारा नाम लेने से भक्त सम्पूर्ण सांसारिक विघ्न-बाधाओं के भय से मुक्त हो जाता है । हे कृपासिन्धु ! अब तुलसी को अपना दास बना लो । मैं बिना मोल के ही तुम्हारे हाथों बिकने को प्रस्तुत हूँ । अर्थात् बिना अपने किसी स्वार्थ के—सर्वथा निष्काम भाव से—तुम्हारा सेवक बनने को तैयार हूँ ।

टिप्पणी—(१) 'पबि पंजर'—वियोगी हरि के अनुसार विश्वामित्र ने 'वज्र-

पंजर' नामक एक कवच बनाया है । इसे राम-रक्षा-स्तोत्र भी कहा जाता है । यह इस प्रकार है—

'वज्र पंजर नामेदं यो राम-कवचं स्मरेत् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम् ॥'

(२) इस पद में अनन्यता की ओर संकेत है । साथ ही निष्काम भक्ति भी है ।

[१५४]

देव, दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सीलनिधान सुजान-सिरोमनि, सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ॥ १ ॥
को समरथ सबग्य सकल प्रभु, सिव-सनेह-मानस-मरालु ।
को साहिब किये मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ॥ २ ॥
नाथ, हाथ माया-प्रपंच सब, जीव-दोष-गुन-करम-कालु ।
तुलसी भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिय निहालु ॥३॥

शब्दार्थ—मरालु=हंस । पोच=नीच । रावरो=तुम्हारा । नेकु=तनिक ।

भावार्थ—हे देव ! तुम्हारे समान दीनों पर दया करने वाला दूसरा और कौन है । केवल एक तुम ही शील के भण्डार, सुजान अर्थात् ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, शरणागतों के प्रिय और भक्तों का पालन करने वाले हो । हे प्रभु ! तुम्हारे समान समर्थ, सर्वान्तिर्यामी, सब का स्वामी और कौन है । तुम शिव के प्रेम रूपी मान सरोवर में विचरण करने वाले हंस हो । अर्थात् शिव सदैव तुम्हारा ध्यान किया करते हैं । किस स्वामी ने तुम्हारे समान पक्षी (जटायु), राक्षस (विभीषण), वन्दर (हनुमान, सुग्रीव), रीछ (जाम्बवान), भील (शवरी) को उनके प्रेम के वश में होकर अपना मित्र बनाया था । हे नाथ ! माया का सारा प्रपंच, जीव के दोष, गुण, कर्म और काल तुम्हारे ही हाथ में है । अर्थात् तुम्हीं इन सबके स्वामी, नियन्ता और कर्त्ता हो । यह तुलसीदास भला अथवा बुरा है, केवल तुम्हारा ही है । तनिक इसकी ओर देखकर इसे निहाल कर दो ।

टिप्पणी—'माया-प्रपंच'—माया का प्रपंच दो प्रकार का होता है—सृजनात्मक और मायात्मक । सृजनात्मक रूप में माया 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा'—इन पाँच तत्त्वों से भौतिक सृष्टि का सृजन करती है । मायात्मक रूप में अविद्या, विद्या, सन्धिनी, सन्दीपनी और आल्हादिनी—इन पाँच रूपों में सृष्टि में अपना प्रसार फैलाये रहती है ।

राग सारंग

[१५५]

बिस्वास एक राम-नाम को ।
मानत नहिं परितीति अनत ऐसोई सुभाव मन बाम को ।।१।।
पढ़िबो पर्‌यो न छठी, छ मत रिगु जजुर, अथर्वन साम को ।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को ।।२।।
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।
ग्यान बिराग जोग जप भय लोभ मोह कोह काम को ।।३।।
सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन-ग्राम को ।
बैठे नाम - कामतरु - तर डर कौन घोर घन घाम को ।।४।।
को जानै को जैहैं जमपुर, को सुरपुर परधाम को ।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को ।।५।।

शब्दार्थ--परितीति=विश्वास । अनत=अन्य का । बाम=कुटिल । पर्‌यो न छठी=भाग्य में नहीं लिखा गया । छ मत=वैशेपिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा—छः शास्त्र । रिगु=ऋग्वेद । जजुर=यजुर्वेद । अथर्वन=अथर्वण । साम=सामवेद । सहमत=सहम जाता है । छाम=क्षीण, दुर्बल । सुसाधित=उचित साधन करना । दाम=धन । कोह=क्रोध । भव=शिव । तर=तले, नीचे । परधाम=ब्रह्मलोक ।

भावार्थ—मुझे एक राम-नाम का ही विश्वास है । मेरे इस कुटिल मन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह अन्य किसी का विश्वास ही नहीं करता । मेरे भाग्य में छः शास्त्रों (वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा) तथा चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामदेव का पढ़ना ही नहीं लिखा है । अर्थात् मैं इन सब के ज्ञान से पूर्णतः वंचित रहा हूँ । इसके अतिरिक्त मेरा मन व्रत, तीर्थ, तप आदि विभिन्न साधनों का नाम सुनते ही सहम जाता है और सोचता है कि इन साधनों को करने में कौन परिश्रम कर-कर मरे और अपने शरीर को सुखाये ।

इस कलियुग में कर्म जाल (यज्ञादि कर्मकाण्ड) अत्यन्त कठिन है और इनकी साधना करना धन पर निर्भर है । अर्थात् बिना धन के इन कर्मकाण्डों को नहीं किया जा सकता (और धन मेरे पास है नहीं, फिर इन्हें कैसे पूरा किया जाय) । इसके अतिरिक्त ज्ञान, वैराग्य, योग, तप, जप आदि के करने में लोभ, मोह, क्रोध, काम आदि का भय लगा रहता है । अर्थात् इन बुरी वासनाओं के कारण उक्त साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त करना दुष्कर रहता है । राम के गुणों के समूहों का गान करने

वाले शिव इस संसार में सदैव से सब तरह से योग्य माने जाते हैं (यहाँ यदि 'भव' का अर्थ 'संसार' मानें तो अर्थ इस प्रकार होगा—राम की गुणावली के गायक ही सदैव सब प्रकार से योग्य होते हैं) जो राम-नाम रूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हैं, उन्हें (संसार रूपी) घनघोर बादल और (सन्ताप रूपी) तेज धूप सता क्या सकती है। अर्थात् राम का नाम इन सबसे भक्त की रक्षा कर लेता है।

कौन जानता है कि कौन यमपुर (नर्क) जायेगा और कौन स्वर्ग और ब्रह्मलोक (बैकुण्ठ) जायेगा। तुलसी को तो इस संसार में राम का गुलाम बनकर जीवन बिताना ही बहुत अच्छा लगता है।

टिप्पणी—(१) इस पद में आत्म तत्त्व की ओर संकेत है।

(२) तुलसी स्वर्ग-नर्क आदि की चिन्ता या अपेक्षा न कर राममय इस संसार में रहना ही अधिक पसन्द करते हैं। हिन्दी के मुसलमान कवि अहमद ने भी लगभग इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

'कहा करौं बैकुण्ठ लै, कलप वृक्ष की छाँह।
'अहमद' ढाक सराहिए, जो प्रीतम गल-बाँह॥'

(३) छः शास्त्र या मत, उनके प्रवर्त्तक और उनकी विशेषताएँ विद्वानों ने इस प्रकार बतायी हैं—

मत	प्रतिपादक	विशेषता
१. वैशेषिक	कणाद	परमाणु प्रधान
२. न्याय	गौतम	द्रव्य प्रधान
३. सांख्य	कपिल	पुरुष प्रकृति प्रधान
४. योग	पतंजलि	ईश्वर प्रधान
५. पूर्व मीमांसा	जैमिनी	कर्म प्रधान
६. उत्तर मीमांसा	व्यास	ब्रह्म प्रधान

[१५६]

कलि नाम कामतरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को॥१॥
नाम लेत दाहिनो होत मन, बाम बिधाता बाम को।
कहत मुनीस महेश महातम, उलटे सूधे नाम को॥२॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललाम को।
तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकाम को॥३॥

शब्दार्थ—कामतरु=कामनाओं को पूरा करने वाला वृक्ष, कल्प वृक्ष। दल-

निहार=नाश करने वाला। दुकाल=अकाल। घोर घन=अतिवृष्टि। घाम=तात्पर्य धूप की तेजी से सूखा का है। वाम=प्रतिकूल, विरुद्ध। वाम=अधम, नीच। मुनीस=महर्षि वाल्मीकि। माहातम=महात्म्य। ललित-ललाम=अत्यन्त सुन्दर राम। कूच=मृत्यु। मुकाम=गन्तव्य स्थान, स्वर्ग, नर्क आदि।

भावार्थ—इस कलियुग में राम का नाम कल्पवृक्ष के समान सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। यह दरिद्रता, अकाल, दुख-दोष अतिवृष्टि और अनावृष्टि (सूखा) आदि सारी सांसारिक आपदाओं का विनाश करने वाला है। राम-नाम लेते ही प्रतिकूल विधाता का अधमों के प्रति प्रतिकूल मन तुरन्त अनुकूल हो जाता है। अर्थात् भाग्य में दुख लिखने वाला ब्रह्मा राम-नाम लेते ही उन दुखों को मिटा सुख लिख देता है। भाव यह है कि राम-नाम भाग्य की लिपि को वदल देता है। महर्षि वाल्मीकि और शिव दोनों ने इस नाम के उल्टे और सीधे रूपों का माहात्म्य बताया है। अर्थात् वाल्मीकि उल्टा राम नाम—'मरा-मरा'—जपते डाकू से महर्षि बन गये और शिव सीधा नाम 'राम-राम' जपते हलाहल विष को पी गये तथा स्वयं ब्रह्मरूप माने गये। भाव यह है कि राम का नाम उल्टा-सीधा चाहे जैसे भी लो परन्तु यदि सच्चे भाव से लिया जाय तो नाम लेने वाला महान् बन जाता है।

जिसे इस अत्यन्त सुन्दर राम-नाम का वल भरोसा है उसके लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं; अर्थात् इस लोक में वह सुखी रहता है और परलोक में वैकुण्ठ प्राप्त करता है। तुलसीदास कहते हैं कि सारा संसार इस बात को जानता है कि राम-नाम से न तो मृत्यु की चिन्ता रह जाती है और न इस बात की कि मरने के बाद कहाँ जायेंगे—पुन: जन्म लेना पड़ेगा या मुक्ति मिलेगी। अर्थात् मुक्ति निश्चित है, फिर चिन्ता किस बात की।

टिप्पणी—तुलसी ने कलियुग में एकमात्र राम-नाम को ही मुक्ति का साधन माना है। यह बात वे 'विनय-पत्रिका' के पिछले अनेक पदों में बार-बार कह आये हैं। 'मानस' में भी उन्होंने यही बात कही है—

'कलियुग जोग जग्य नहिं ग्याना। एक अधार राम-गुन गाना॥'

[१५७]

सेइये सुसाहिब राम सो।

सुखद सुसील सुजान सूर सुचि, सुन्दर कोटिक काम सो॥१॥
सारद सेस साधु महिमा कहैं, गुनगन-गायक साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति, चाहत चन्द्र-ललाम सो॥२॥
गमन बिदेस न लेह कलेस को, सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको बिदित बिभीषन, बैठी है अबिचल धाम सो॥३॥

टहल-सहज जन महल-महल जागत चारो जुग जाम सो।
देखत दोष न खीजत, रीजत सुनि सेवक गुन-ग्राम सो ॥४॥
जाके भजे तिलोक-तिलक भये, त्रिजग जोनि तनु तामसो।
तुलसी ऐसे प्रभुहिं भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो ॥५॥

शब्दार्थ—सूर=शूर, वीर। साम=सामवेद। चन्द्र ललाम=चद्र भूषण शिव। सकृत=एक बार। साखी=साक्षी, गवाही। विदित=प्रसिद्ध। जुग=युग। जाम=याम, प्रहर। त्रिजग=तिर्यक योनि वाले, पशु-पक्षी। तामसो=तमोगुणी राक्षस।

भावार्थ—राम जैसे अच्छे स्वामी की ही सेवा करनी चाहिए। वह सुख देने वाले, शीलवान, सुजान (ज्ञानी), वीर, पवित्र और करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर हैं। सरस्वती, शेषनाग और साधु गण उनकी महिमा का वर्णन करते रहते हैं; साम-वेद जैसे उनकी गुणावली का गान किया करते हैं। चन्द्रमा को भूषण के समान धारण करने वाले शिव, प्रेम सहित जिनके नाम का स्मरण कर उनसे लगन लगाना चाहते रहते हैं।

उनका नाम लेने से तीर्थयात्रा के लिए विदेश नहीं जाना पड़ता। अर्थात् सारे तीर्थों का फल राम-नाम लेने से ही मिल जाता है। दुख का लेश भी नहीं रहता। ऐसे नाम वाले राम को कोई एक बार भी प्रणाम करता है तो वह संकोच से भर उठते हैं। अर्थात् वे इतने शीलवान हैं कि नाम लेते ही इस संकोच से भर उठते हैं कि इसे क्या दूँ, क्या न दूँ। इस बात का साक्षी विभीषण प्रसिद्ध है जो अब भी अपने स्थान (लंका) में बैठा अखंड राज्य कर रहा है। (विभीषण को अमर माना गया है। विश्वास प्रचलित है कि अब भी लंका में राज्य कर रहा है।)

ऐसे राम को सेवा करना बड़ा सहल है। वे भक्तों के हृदय रूपी महलों में स्थित चारों युगों से प्रत्येक पहर बराबर जागते रहते हैं। अर्थात् कुवासनाओं से सदैव उनकी रक्षा किया करते हैं। वह भक्तों के दोष देखकर नाराज नहीं होते अपितु अपने सेवक के गुणों का गान होता हुआ सुन बड़े प्रसन्न होते है। जिनका भजन करने से तिर्यक् योनि वाले पशु-पक्षी (बन्दर, रीछ) तथा तमोगुणी शरीर वाले राक्षस (विभी-षण) आदि सब तीनों लोकों के शिरोमणि बन गये, अर्थात् श्रेष्ठ भक्तों के रूप में तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गये। तुलसीदास कहते हैं कि जो ऐसे प्रभु का भजन नहीं करता, विधाता ही उसके विरुद्ध होता है। अर्थात् यही समझना चाहिए कि उसके भाग्य में ही विधाता ने राम का भजन करना नहीं लिखा है।

टिप्पणी—(१) 'ताहि बिधाता बाम सों'—यह पंक्ति पिछले पद की तृतीय पंक्ति—'नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बाम को' के भाव का खंडन करने वाली है। वहाँ तो तुलसी नाम लेने से विधाता को ही अनुकूल बना देते हैं परन्तु यहाँ

विधाता की प्रतिकूलता को ही राम-भजन में बाधक मानते है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।

(२) 'गमन बिदेश न लेह कलेस को'—इनका अर्थ भट्टजी और वियोगी हरि—दोनों ने ही यह माना है—'उन्हें विदेश जाते समय तनिक भी दुख नहीं हुआ।' परन्तु यह अर्थ संदर्भ के अनुसार संगत नहीं बैठ पाता। खींचतान करने पर इसे स्वीकार किया जा सकता है।

राग नट

[१५८]

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि ॥ १ ॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि ॥ २ ॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥ ३ ॥
करौं जो कछु धरौं सचिपचि सुकृत-सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि, दंभ लेत अँजोरि ॥ ४ ॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा-डोरि।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ॥ ५ ॥
एतहूँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, तुलसिहिं छोरि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खोरि=दोष। परिहरि=छोड़का। पुजाइबे=अपनी पूजा कराने में, सम्मान कराने में। थोरि=थोड़ी। निहोरि=निहोरा, खुशामद कर-कर। सचिपचि=यत्नपूर्वक। सिला=खेत में पड़े अनाज के दाने। लेत अँजोरि=खोज लेता है। निचोरि=निचोड़, तत्त्व। अँचई घोरि=घोलकर पी गया।

भावार्थ—मैं अपने स्वामी राम को दोष कैसे दूँ। हे भगवान! यह मेरा काम-लोलुप मन तुम्हारी भक्ति को त्याग इधर-उधर भटकता फिरता है, काम-पिपासा को शान्त करने की खोज में लगा रहता है। यह मेरा मन दूसरों से अपनी पूजा कराने का अर्थात् दूसरों द्वारा सम्मानित किये जाने का तो अत्यन्त इच्छुक बना रहता है परन्तु तुम्हारी पूजा करने में बहुत ही कम अनुरक्त होता है। अर्थात् यह चाहता है कि दूसरे लोग इसका सम्मान करें परन्तु स्वयं तुम्हारी पूजा चलाताऊ ढंग से कभी-कभी कर लेता है। यह दूसरों को शिक्षा (उपदेश) देता है परन्तु स्वयं किसी की शिक्षा को नहीं मानता। इस मन की यह ऐसी ही मूर्खता है।

इसने अत्यन्त रुचि के साथ जिन पापों को किया है उन्हें तो छिपाकर हृदय में रखे रहता है अर्थात् किसी से भी नहीं कहता परन्तु सत्संग के प्रभाव के कारण एकाध जो शुभ कर्म किये हैं, उन्हें खुशामद कर-कर सारे संसार को सुनाता फिरता है। मैं कभी जो कुछ अच्छे कर्म करता हूँ तो उन्हें खेत में से बीने गये अनाज के दानों के समान बटोर कर बड़ी सावधानी के साथ हृदय में रख लेता हूँ अर्थात् किसी से भी नहीं कहता परन्तु यह दम्भ (पाखण्ड) जबरदस्ती मेरे हृदय में घुस उन्हें खोजकर बाहर निकाल लाता है। भाव यह है कि पाखण्ड करने से मेरे वे थोड़े से पुण्य कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि दम्भ में आकर मैं सारे संसार को उन्हें सुनाता फिरता हूँ।

लोभ मेरे मन के गले में आशा की रस्सी बाँध मुझे बन्दर की तरह नचाता रहता है। अर्थात् आशा के कारण मैं लोभ से मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता। परन्तु दूसरों को मैं श्रेष्ठ वैराग्य (त्याग) के तत्त्व की बातें विद्वान् के समान बना-बनाकर अर्थात् लच्छेदार भाषा में सुनाया करता हूँ। अर्थात् स्वयं लोभ में पड़ा रहता हूँ और दूसरों को त्याग का उपदेश देता रहता हूँ। इतने पर भी मैं तुम्हारा (भक्त) कहलाता हूँ। मैं सारी लज्जा को घोलकर पी गया हूँ। हे रघुवीर! तुम अब मेरी निर्लज्जता पर ही रीझ कर मुझे छोड़ दो। अर्थात् माया के सांसारिक बन्धनों से मुझे मुक्त कर दो।

टिप्पणी—(१) अन्तिम पंक्ति बड़ी मजेदार है। तुलसी का राम से अपनी निर्लज्जता पर प्रसन्न होने की बात कहना–हास्य की सृष्टि करते हुए भी बड़ा मार्मिक और हृदयद्रावक है। तुलसी हर प्रकार से, भाँति-भाँति के प्रयत्न कर राम को प्रसन्न करने का उपाय करते हैं।

(२) शास्त्र-वचन है कि पाप और पुण्य—दोनों का ही कहने से महत्त्व नष्ट हो जाता है। इसलिए हमें अपने पाप तो सबसे कहने चाहिए और पुण्य कभी न कहने चाहिए।

(३) संत के मार्ग में अहंकार और पाखण्ड—सबसे बड़ी बाधाएँ हैं।

(४) 'सिला'—जब खेत कट जाते हैं तो खेत में अनाज के कुछ दाने पड़े रह जाते हैं। बाद में लोग इन्हें बीन लेते हैं। इसी क्रिया को 'सिला बीनना' कहा जाता है।

[१५९]

है प्रभु मेरोई सब दोसु।
सीलसिन्धु, कृपालु, नाथ अनाथ, आरत-पोसु॥ १॥
बेष बचन बिराग मन अघ अबगुननि को कोसु।
राम, प्रीति-प्रतीति पोली, कपट-करतब ठोस॥ २॥

राग-रंग कुसंग ही सों, साधु-संगति रोसु।
चहत केहरि-जसहिं सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु ॥३॥
संभु-सिखवन रसन हूँ नित राम-नामहिं घोसु।
दंभहू कलि नाम कुम्भज सोच-सागर-सोसु ॥ ४ ॥
मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम-प्रभाव सुनि तुलसिहूँ परम संतोसु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—आरत-पोसु=दुखियों का पालन करने वाले। कोसु=कोष, खजाना। प्रतीति=विश्वास। मृगाल=गीदड़। रसन=जीभ। हूँ=को। घोसु=घोप, उच्चारण। दंभहू=पाखंड के साथ भी। कुम्भज=अगस्त्य ऋषि। सोसु=सोखना। निरजोसु=निष्कर्ष।

भावार्थ—हे प्रभु! सारा दोप मेरा ही है। तुम तो शील के समूह, कृपालु, अनाथों के नाथ और दुखियों का दुख दूर करने वाले हो। मेरी वेश-भूषा तथा वचनों द्वारा तो यह प्रतीत होता है कि मैं वैराग्य धारण किये हूँ परन्तु मेरा मन पाप और अवगुणों का खजाना है। राम के प्रति मेरा प्रेम और विश्वास तो पोला अर्थात् खोखला (झूठा) है परन्तु मेरे छल से भरे हुए कर्म ठोस अर्थात् वास्तविक हैं। अर्थात् मैं राम से प्रेम न कर सदैव छल भरे कर्म करता रहता हूँ। मैं कुसंगति में रहना तो बहुत पसन्द करता हूँ परन्तु साधुओं का सत्संग होने पर क्रुद्ध हो उठता हूँ। अर्थात् मुझे कुसंगति से रुचि और सत्संग से घृणा है। मेरी यह दशा वैसी ही है जैसे खरगोश गीदड़ की सेवा कर सिंह का यश प्राप्त करना चाहता हो। अर्थात् जैसे खरगोश गीदड़ की सहायता से हाथी को मारकर सिंह का सा यश पाना चाहता हो। परन्तु यह असम्भव है क्योंकि गीदड़ तो कपट मित्र है, वह खरगोश को खा जाता है। इसी प्रकार यह मन (खरगोश) विषय-वासनाओं (गीदड़) द्वारा महान् प्रतापी (सिंह के समान) बनना चाहता है परन्तु परिणाम यह निकलता है कि ये विपय-वासनाएँ इस को खा जाती हैं, नष्ट कर देती हैं।

शिवजी जीभ को यही शिक्षा देते रहते हैं कि तू नित्य राम-नाम का उच्चारण किया कर। यह नाम कलियुग में पाखण्ड के साथ लेने पर भी चिन्ता रूपी समुद्र को अगस्त्य मुनि के समान सोख लेता है, नष्ट कर देता है। भाव यह है कि कलियुग में यदि पाखण्ड के साथ अर्थात् ऊपरी मन से, दिखावे के लिए भी राम का नाम लिया जाय तो सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। यह राम का नाम आनन्द और मंगल का मूल (प्रधान कारण) है। मैं पूर्णरूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मेरे लिए एकमात्र रामनाम ही सबसे अधिक अनुकूल अर्थात् सहायक है। राम-नाम के ऐसे प्रभाव को सुन तुलसी को परम सन्तोष होता है। क्योंकि तुलसी राम का नाम लेता है, इसलिए उसका उद्धार अवश्य हो जायेगा।

टिप्पणी—(१) 'दम्भहू·······सोसु'—राम-नाम का उच्चारण चाहे किसी भी भाव से क्यों न किया जाय, वह अवश्य उद्धार कर देता है। तुलसी का यह दृढ़ विश्वास है। 'मानस' में भी उन्होंने यही कहा है—

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। राम जपत मंगल दिस दसहूँ।'

(२) 'निरजोस'—यह 'निर्यूप' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ 'निष्कर्ष' होता है।

(३) ऐसे पद इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि तुलसी जैसे-जैसे राम के निकट आते जा रहे हैं, वैसे-वैसे अपने लघुत्व का अधिकाधिक प्रदर्शन कर रहे हैं। भक्त की यह लघुत्व भावना ही दास्य-भक्ति का मूलाधार है।

[१६०]

मैं हरि, पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने ॥ १ ॥
ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥ २ ॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।
दासतुलसी सरन आयो, राखिये अपने ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बानक=काम बन जाना, व्यापारी। साखि=साक्षी, गवाही। भने=कहते हैं। कापै=किससे। मने=मनाई होना, ले जाना से मना किया गया। अपने=अपना बनाकर।

भावार्थ—हे हरि! मैंने सुना है कि तुम पापियों को पवित्र करने वाले हो। मैं पापी हूँ और तुम पतित-पावन हो—बस, अब दोनों का काम बन गया। अर्थात् मुझे पतित-पावन की जरूरत थी और तुम्हें पतित की। (अब मेरा अपने आप ही उद्धार हो जायेगा। दोनों की इच्छाएँ पूरी हो जायेंगी।) वेद इस बात की साक्षी (गवाही) देते हुए कह रहे हैं कि तुमने व्याध (वाल्मीकि), गणिका (पिंगला वेश्या), गज (हाथी), अजामिल (नीच ब्राह्मण) और अनेक अन्य इतने पापियों को तारा है कि उनकी गणना कौन कर सकता है। अर्थात् तुमने अगणित पापियों का उद्धार किया है। जिन्होंने जानकर या अनजाने ही तुम्हारा नाम लिया, उन्हें नरक और यमपुर जाने से रोक दिया गया। अर्थात् वे सब स्वर्ग चले गये। (यह सुनकर ही) तुलसीदास तुम्हारी शरण में आया है। अब इसे भी अपना लीजिए।

टिप्पणी—(१) यह पद छोटा होते हुए भी बहुत सुन्दर और भाव-गर्भित है। ऐसे ही छोटे पदों में तुलसी अपने विस्तृत ज्ञान का आवरण दूर फेंक सहज-सरल भक्त के रूप में सामने आते हैं। ऐसे पदों में वह अपने लघुत्व और राम के महत्त्व को अधिक प्रभावशाली ढंग के उपस्थित करने में सफल हुए हैं।

(२) भक्तों में यह भावना सर्वत्र व्यापक मिलती है। एक कृष्ण-भक्त ने भी इसी भावना को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

'मैं तौ हूँ पतित, आप पावन पतितनाथ
पावन पतित हौ तौ पातक हरोईगे।'—आदि।

(३) 'व्याध—श्री देवनारायण द्विवेदी 'व्याध' का वाल्मीकि से अभिप्राय न मान 'धर्म' नामक व्याध से मानते हैं। इसको भी अजामिल, गनिका आदि के ही समान सफलतापूर्वक मुक्ति मिल गयी थी। परन्तु वाल्मीकि को घोर तपस्या करनी पड़ी थी।

राग मलार

[१६१]

तो सों प्रभु जो पै कहुँ कोउ होतो।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो ॥१॥
कृपा - सुधा - जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो।
स्वाति - सनेह - सलिल - सुख चाहत चित-चातक को पोतो ॥२॥
काल - करम - बस मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु भो तो।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो ॥३॥
जितो दुराव दासतुलसी उर, क्यों कहि आवत ओतो।
तेरे राज राय दशरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ॥४॥

शब्दार्थ—निपट=बड़ा भारी। रटि=रटते हुए। लटि=दुर्बल। घटि=क्षुद्र, नीच। को=कौन। निसोतो=खरा, सच्चा, निराला। साँच=सचमुच। पोतो=बच्चा। भो=हुआ। मुदमय=सुखी, प्रसन्न। भभरि=भड़भड़ा कर, घबड़ा कर। जितो=जितना। दुराव=छिपाव, छल-कपट। ओतो=उतना। राय=राजा। लयो=लवाई, खेत काटना। बयो=बोना। जोतो=जोतना।

भावार्थ—हे राम! यदि तुम जैसा मालिक कहीं कोई दूसरा होता तो भला ऐसा कौन क्षुद्र प्राणी है जो इतना बड़ा अपमान सहकर भी रात-दिन तुम्हारा नाम रट-रट कर दुवला हो जाता। अर्थात् जब मुझे तुम्हारे समान समर्थ अन्य कोई स्वामी नहीं मिला तभी तो मैं तुम्हारे द्वार पर पड़ा तुम्हारा नाम रट-रट कर सूखता जा रहा हूँ और इतना भारी अपमान भी सह रहा हूँ क्योंकि तुम मेरे इतने गिड़गिड़ाने पर भी मेरी ओर ध्यान तक नहीं देते। मैं तुमसे तुम्हारी कृपा रूपी अमृत के जल का जो दान माँग रहा हूँ वह सचमुच ही निराला है। मेरे चित्त रूपी चातक का बच्चा तुम्हारे स्नेह रूपी स्वाँति नक्षत्र के जल की कामना कर रहा है। अर्थात् मेरा मन बच्चे के समान अधीर हो रहा है, नासमझ जो ठहरा। यदि बड़ों की तरह

समझदार होता तो धैर्य से काम लेता परन्तु यह तो अब बच्चे की तरह मचल रहा है। सम्भव है इधर-उधर भटक जाय।

कला और कर्म के वश में पकड़कर अर्थात् परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर यदि कभी मेरे मन में बुरी वासनाएँ आ जाती हैं तो वह उन्हें त्याग कर, व्याकुल हो तुम्हारे पास उसी प्रकार दौड़ पड़ता है जैसे जल में सुख से रहने वाली मछली कभी-कभी जल को छोड़ ऊपर उछल पड़ती है परन्तु फिर तुरन्त ही घबड़ा कर जल में गोता लगा जाती है। भाव यह है कि मेरा मन वासनाओं के प्रति क्षण भर के लिए आकर्षित तो हो उठता है परन्तु फिर भयभीत हो तुरन्त ही तुम्हारे चरणों में दौड़ कर पहुँच जाता है क्योंकि वह वासनाओं का घातक परिणाम भुगत चुका है।

मुझ तुलसीदास के हृदय में जितना छल-कपट भरा हुआ है उसे पूरी तरह से कैसे कहा जा सकता है। अर्थात् उसका वर्णन करना असम्भव है। भाव यह है कि तुलसी भयानक रूप से कपटी है। (परन्तु फिर भी मन में यह पक्का भरोसा है कि) हे राजा दशरथ के पुत्र राम ! तुम्हारे राज्य में लोग बिना खेत को जोते-बोये ही फसल काट लेते हैं। अर्थात् राम-राज्य में बिना सत्कर्म किये ही अनेक पतितों ने मुक्ति-लाभ कर लिया था, उनका उद्धार हो गया था। (इसी प्रकार मुझ जैसे पापी का भी उद्धार हो जायेगा, यह विश्वास है।)

टिप्पणी—(१) इस पद से यह सिद्ध होता है कि तुलसी को राम-भक्ति की उपलब्धि हो चुकी है। उनका मन थोड़ा-सा शान्त और स्थिर है। यही आनन्द की सिद्धावस्था कहलाती है। परन्तु अभी मन पूर्ण रूप से स्थिर नहीं हो पाया है। कभी-कभी मन में वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं—स्वभाव के कारण। काल और कर्म ही मन को अस्थिर कर देते हैं। भक्ति करते हुए भी विषय-वासनाएँ कभी-कभी सिर उठाने लगती हैं परन्तु तुरन्त दूर हो जाती हैं। अर्थात् मन संयमित हो चुका होता है।

(२) 'चित-चातक को पोतो'—मन बच्चे के समान अस्थिर और हठी है। उसे जहाँ भी सन्तोष मिलेगा, उधर ही चल देगा। सम्भवतः पुनः विषय-वासनाओं में फँस जाय। अभी उसमें चातक जैसी अनन्यता की भावना नहीं आ पायी है। इसीलिए मन को चातक का बच्चा कहा है।

(३) इस पद में पुनः भक्त की हीनत्व भावना का संकेत मिलता है और राम के महत्व का। राम सर्वशक्तिमान हैं।

(४) भक्त के मन में अहंकार का होना अच्छा नहीं होता। उसमें अहम्मन्यता कभी नहीं आनी चाहिए। इसी कारण तुलसी विनय को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।

(५) 'ज्यों····गोतो'—सूरदास ने भी मन की क्षणिक अस्थिरता का वर्णन करते हुए कहा है—

'मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै ॥'

(६) 'लयो' का अर्थ—'लिया या प्राप्त किया' भी माना जा सकता है ।

राग सोरठ

[१६२]

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोऊ नाहीं ॥ १ ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥ २ ॥
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं ॥ ३ ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—द्रवै=द्रवित हो, कृपा करे। सरिस=समान। अरपि करि=अपर्ण कर।

भावार्थ—इस संसार में ऐसा कौन उदार दानी है जो दीनों द्वारा बिना सेवा किये ही उन पर कृपा करे। राम के समान ऐसा उदार दानी और कोई भी दूसरा नहीं है। जिस गति को (मोक्ष को) बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि भी योग, वैराग्य आदि विभिन्न साधनों द्वारा नहीं प्राप्त कर पाते उसी गति को प्रभु राम ने गिद्ध (जटायु) और शबरी (भीलनी) को दे डाला था और फिर भी मन में यही समझा कि मैंने इन्हें बहुत थोड़ा दिया है अर्थात् कुछ भी नहीं दिया है। जिस सम्पत्ति को रावण ने अपने दस सिर अर्पण कर शिव से प्राप्त किया था, वही सम्पत्ति राम ने विभीषण को अत्यन्त संकोच के साथ दे डाली थी। (राम को संकोच इस बात का हुआ कि मैं अपने भक्त को कुछ भी नहीं दे सका, क्योंकि लंका का राज्य तो ब्रह्मा ने इसके भाग्य में लिख ही दिया था, मैंने इस पर कौन-सा अहसान कर दिया।)

तुलसीदास कहते हैं कि हे मेरे मन ! यदि तू सब तरह से सुखी होना चाहता है तो राम का भजन कर। कृपानिधि राम तेरी सारी मनोकामनाओं को पूरा कर देंगे।

टिप्पणी—(१) 'जो संपति.......दीन्हीं'—'मानस' में भी तुलसी ने बिल्कुल यही बात कही है—

'जो संपति सिव रावनहिं, दीन्ह दिए दस माथ ।
सो संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥'

(२) रावण शिव-भक्त था। उसने शिव को प्रसन्न करने के लिए एक-एक कर अपने दसों सिर उन पर चढ़ा दिये थे। तब शिव ने प्रसन्न हो उसे वरदान दिया था कि तेरे सिर कट जाने पर भी पुनः उत्पन्न हो आयेंगे। साथ ही उन्होंने उसे लंका का राज्य और अथाह सम्पत्ति भी दी थी।

(३) इस पद में राम के शील का मनोहारी चित्रण हुआ है।

(४) 'जो गति''''जिय जानी'—'मानस' में भी राम शबरी से यही बात कहते हैं—

'जोगि बृन्द दुरलभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥'

[१६३]

एकै दानि-सिरोमनि साँचो।
जेइ जाँच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाच्यो॥ १॥
सब स्वारथी असुर-सुर नर मुनि, कोउ न देत बिनु पाये।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये॥ २॥
हरिहु और अवतार आपने, राखी बेद-बड़ाई।
लै चिउरा निधि दई सुदामहिं, जद्यपि बाल मिताई॥ ३॥
कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन, को नहिं कियो अजाची।
अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि, दारुन आस-पिसाची॥ ४॥

शब्दार्थ—जाँच्यो=माँगा, याचना की। जाचकता बस=माँगने के लिए। सकृत=एक बार। चिउरा=चिउड़ा, चावल। मिताई=मित्र। अजाची=याचना-रहित। आस-पिसाची=आशा रूपी राक्षसी।

भावार्थ— इस संसार में सच्चा दान-शिरोमणि (सर्वश्रेष्ठ दानी) एक ही (राम) है। उनसे जिसने भी एक बार याचना की, उसे फिर दुबारा याचना करने (माँगने) के लिए बहुत नाच नहीं नाचना पड़ा। अर्थात् राम एक बार के माँगने पर ही भक्त की सारी मनोकामनाओं को पूरा कर देते हैं। उसे फिर किसी से भी माँगने के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। असुर, देवता, मनुष्य, मुनि आदि सब स्वार्थी हैं। इनमें से कोई भी विना पहले लिये कुछ भी नहीं देता। अर्थात् बिना भेंट-पूजा लिये कोई भी किसी को कुछ भी नहीं देता। परन्तु कोशल-नरेश कृपालु राम कल्पवृक्ष के समान हैं जो एक बार ही प्रणाम करने पर कल्पवृक्ष के समान भक्त की कामना पूरी कर देते हैं और प्रतिदान में कुछ भी नहीं चाहते। अर्थात् राम निःस्वार्थ मित्र हैं।

भगवान ने और भी अनेक अवतार धारण किये हैं और वेदों द्वारा निर्धारित

मर्यादाओं की रक्षा की है। सुदामा यद्यपि कृष्ण के बचपन के मित्र थे परन्तु कृष्ण ने उनसे भी पहले चावल ले लिये थे तब उन्हें सम्पत्ति दी थी। अर्थात् बिना पहले लिये कुछ भी नहीं दिया था। परन्तु राम ने बिना कुछ भी लिये बन्दर, शबरी, सुग्रीव, विभीषण में से किसको याचना रहित नहीं बना दिया था ? अर्थात् इनके सारे मनोरथ पूरे कर दिये थे। हे दयानिधि ! यह तुम्हारी शरण पाने की आशा रूपी भयंकर पिशाचिनी मुझे दुख दे रही है। अर्थात् तुम तुलसी की भी इस आशा को पूरा कर इस पिशाचिनी से इसकी रक्षा करो। तुलसी को अपनी शरण में ले लो।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने रामावतार को भगवान के अन्य सभी अवतारों से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। विष्णु सर्वश्रेष्ठ देव हैं, उनके अवतारों में राम सर्वश्रेष्ठ हैं। विनय पत्रिका में तुलसी का सर्वत्र यही दृष्टिकोण रहा है।

(२) 'लै चिउरा''''''''मिताई'—में तुलसी ने कृष्ण के ऊपर बड़ा प्यारा व्यंग्य किया है। इस पंक्ति के आधार पर यह कहना सर्वथा निरर्थक है कि तुलसीदास ने राम की तुलना में कृष्ण को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह तो उपालम्भ और व्यंग्य का एक सुन्दर रूप मात्र है। आगे चलकर पद संख्या २१४ में तुलसी ने कृष्ण की विशाल उदारता का मोहक वर्णन किया है।

(३) 'आस-पिसाची'—में तुलसी का अद्भुत वाक् चातुर्य दर्शनीय है। तुलसी की आशा यही है कि उन्हें राम अपनी शरण में ले लें। परन्तु यहाँ तुलसी बड़े कौशल के साथ इस आशा को पिशाचिनी कहकर इससे उद्धार करने की राम से प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ 'आशा' के लिए पिशाचिनी विशेषण बहुत ही कौशल-पूर्ण है।

(४) 'कोसलपाल''''''''नाए'—महर्षि वाल्मीकि ने राम के मुँह से इसी भाव को इस प्रकार कहलाया है—

सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

[१६४]

जानत प्रीति - रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह - सगाई ॥१॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पित तें अधिक गीधपर, ममता गुन गरुआई ॥२॥
तिय - बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।
रन पर्यो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥३॥
घर गुरुगृह प्रिय-सदन सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥४॥

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥५॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
'तेरो रिनी' कह्यौ हौ कपि सों ऐसी मानहि को सेवकाई ॥६॥
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई ॥७॥

शब्दार्थ—हाते करि राखत=अलग रखते हैं, दूर रखते हैं। सगाई=सम्बन्ध, नाता। गरुआई=बड़प्पन। तिय-बिरही=पत्नी के वियोग में विरही। बन्धु=लक्ष्मण। प्रिय-सदन=प्रिय मित्रों के घर। कनौड़ो=अहसानमन्द, कृतज्ञ। जाय=व्यर्थ। जनमि=जन्म देकर।

भावार्थ—राम केवल प्रेम की रीति (पद्धति) जानते हैं। वह अन्य सारे नातों (सम्बन्धों) को अलग करके केवल एक प्रेम के सम्बन्ध को ही मानते हैं। राजा दशरथ ने (राम के) प्रेम का निर्वाह कर (उनके वियोग में) अपना शरीर त्याग दिया और इस प्रकार अमर यश के अधिकारी बने। परन्तु राम ने ऐसा स्नेह करने वाले अपने पिता से भी अधिक गिद्ध जटायु पर ममता दिखायी थी और अपने गुण द्वारा यश पाया था। अर्थात् राम ने अपने पिता को तो पिण्डदान नहीं दिया परन्तु जटायु की अंत्येष्टि-क्रिया कर उसे पिण्डदान दिया था। (यहाँ राम ने पिता-पुत्र के सम्बन्ध से अधिक जटायु के प्रेम-सम्बन्ध को माना था।)

राम ने पत्नी तारा के वियोग में विरही बने मित्र सुग्रीव को देख अपनी प्राण-प्रिया सीता को भी भुला दिया था। (राम ने वालि का वध कर सुग्रीव को उसकी पत्नी दिलवा दी थी और फिर चार महीने तक प्रतीक्षा कर सुग्रीव से सीता की खोज में सहायता करने के लिए कहा था। अर्थात् पहले उन्होंने मित्र के दुख को दूर किया, तब सीता की चिन्ता की। पति-पत्नी के सम्बन्ध से अधिक उन्होंने मित्र के प्रेम-सम्बन्ध को महत्त्व दिया था।) जब युद्धक्षेत्र में भाई लक्ष्मण मूर्च्छित पड़े थे उस समय राम को विभीषण की ही चिन्ता अधिक सता रही थी कि इसे लंका का राज्य कैसे मिलेगा। अर्थात् उनके लिए लक्ष्मण जैसे भाई से भी अधिक मित्र विभीषण का महत्त्व था।

अपने घर, गुरु विश्वामित्र के घर, मित्रों के घर, ससुराल आदि में जब जहाँ भी राम की खातिरदारी की गयी थी तब उसके उपरान्त राम ने सदैव यही कहा था कि मुझे शबरी के फलों की सी मिठास और आनन्द कहीं नहीं मिला। अर्थात् प्रेम के साथ दिये गये जूठे बेरों को राम ने सारे व्यंजनों से श्रेष्ठ माना था। जब मुनि लोग राम के सहज-स्वरूप (सच्चिदानन्द परब्रह्म) का वर्णन करते हैं तो राम संकोच के मारे सिर झुकाये खड़े रह जाते हैं अर्थात् प्रसन्न न होकर संकुचित हो उठते हैं। परन्तु

जब उन्हें 'केवट का मित्र' कहा जाता है तो उन्हें बड़ा सुख मिलता है और जब 'बन्दरों का भाई' कहा जाता है तो वे इसमें अपनी बड़ाई मानते हैं।

हे भाई ! तीनों लोकों में प्रेम का अहसान मानने वाला राम के समान दूसरा कोई भी नहीं है। उन्होंने हनुमान की सेवा से कृतज्ञ हो उनसे कहा था कि 'मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।' सेवक द्वारा की गयी सेवा के लिए इतनी कृतज्ञता प्रकट करने वाला राम के समान कोई भी नहीं है। तुलसीदास कहते हैं कि राम के स्नेह और शील (विनय) को देखकर भी यदि हृदय में उनके प्रति भक्ति-भावना उत्पन्न न हुई तो हे मूर्ख ! तेरा जन्म व्यर्थ ही गया, तेरी माँ ने तुझे जन्म देकर व्यर्थ ही अपने यौवन और शरीर को बर्बाद किया।

टिप्पणी—(१) तुलसी राम के शील का उद्घाटन कर यह सिद्ध कर रहे हैं कि राम प्रेम-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक सम्बन्ध को महत्त्व नहीं देते।

(२) 'रन·······अधिकाई'—कवितावली में तुलसी ने विस्तार के साथ राम की मानसिक दशा का वर्णन किया है—

तात को सोच न मात को सोच अरु सोच नहिं मोहिं औध-तजे को।
सोच नहीं बनवास भयो, किन सोच नहीं मोहिं सीय-हरे को॥
लछिमन भूमि पर्‌यो नहिं सोच, न सोच कछू मोहि लंक जरे को।
सोच भयो तुलसी इक मोकहँ, भक्त-विभीषन बाँह गहे को॥

(३) 'तेरो रिनी·······सेवकाई'—तुलसी विनय-पत्रिका में पीछे पद संख्या १०० में इसी बात का इस प्रकार उल्लेख कर आये हैं—

'कपि-सेवा-बस भए कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ।
देबे को न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ॥'

'मानस' में भी राम हनुमान के प्रति ऐसी ही कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुन-नर-मुनि तनुधारी॥
प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकै मन मोरा॥
सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं॥'

[१६५]

रघुबर, रावरि यहै बड़ाई।
निदर गनी आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई॥१॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवल कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई॥२॥

मिलि मुनिबृन्द फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई ।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई ॥३॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर, जती गयंद चढ़ाई ।
तिय-निन्दक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई ॥४॥
यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई ।
दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई ॥५॥

शब्दार्थ—रावरी=तुम्हारी । गनी=बड़ा, अभिमानी, धनी । निदरि=उपेक्षा कर । कौनप—पातकी, पापी । जती=यती, संन्यासी । गयंद=हाथी । तिय-निन्दक=पत्नी सीता की निन्दा करने वाले । रज=रजक, धोवी । काहु न=किसी ने भी नहीं । सुरति=याद, स्मरण । नय=नीति ।

भावार्थ—हे रघुवर ! तुम्हारा यही वड़प्पन है कि तुम धनी अथवा अभिमानी व्यक्तियों की उपेक्षा करते हो तथा गरीव का सम्मान कर उस पर वड़ी कृपा करते हो । देवतागण प्रयत्न कर-कर हार गये परन्तु तुम उन्हें स्वप्न में भी दर्शन नहीं देते परन्तु तुमने केवट (निषादराज गुह), कपटी स्वभाव वाले रीछ तथा वन्दरों जैसे पातकियों को अपना साथी वना उनके साथ भाई का सा व्यवहार किया । तुम दंडकवन में विचरण करते हुए अनेक मुनियों से मिले परन्तु तुमने इस वात की कभी चर्चा तक न चलायी (किसी से भी नहीं कहा कि तुम मुनियों से मिले थे) परन्तु तुम गिद्ध जटायु और भीलनी शबरी के सुन्दर प्रेम की चर्चा सवसे वार-वार करते रहे । अर्थात् तपस्वी, ज्ञानी मुनियों को तो तुमने कोई महत्त्व अथवा सम्मान नहीं दिया परन्तु जटायु और शवरी को अपना परम आत्मीय घोषित करते रहे । भाव यह है कि तुमने अभिमानियों तथा वड़े लोगों की उपेक्षा कर सदैव दीन-दलितों का ही सम्मान किया ।

तुमने कुत्ते के कहने से संन्यासी को हाथी पर चढ़ा नगर से वाहर कर दिया । उसे मठ का महन्त बना दिया । अर्थात् संन्यासी की तुलना में कुत्ते की बात मानी । इसके विपरीत, पत्नी सीता की निन्दा करने वाले मूर्ख धोबी को अपनी प्रजा जान, नीति का पालन करते हुए (प्रजा की रक्षा करना—राजा का कर्त्तव्य है) अपने नगर अयोध्या में बसा दिया । अतः यह सिद्ध है कि तुम्हारे इस दरबार में सदा से यही रीति चली आयी है कि यहाँ गरीब का सदैव सम्मान किया जाता है । परन्तु हे दीनदयाल ! मुझ दीन तुलसी की तुम्हें किसी ने भी याद नहीं दिलायी । यही आश्चर्य है ।

टिप्पणी—(१) इस पद का भाव यह है कि राम के दरबार में वड़े, अभिमानी तथा धनी लोगों की अपेक्षा सदैव गरीव, दीन और दुखी का ही आदर होता आया है । अर्थात् राम इन्हीं से प्रेम करते हैं ।

(२) 'कौनप'—इस शब्द के अर्थ के सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद है। भट्टजी ने इसका अर्थ 'राक्षस', वियोगी हरि ने 'राजा' तथा आचार्य शुक्ल ने 'पातकी' माना है।

(३) 'स्वान''''चढ़ाई'—इसकी अन्तर्कथा पदसंख्या १४६ की टिप्पणी में दी जा चुकी है। वहाँ संन्यासी का न होकर ब्राह्मण का उल्लेख है। अभिप्राय उसी कथा से है।

(४) 'तिय निन्दक'—सीता की निन्दा करने वाले धोबी की कथा लोक-प्रसिद्ध है।

(५) 'यहि दरवार दीन को आदर'—कवीर ने भी यही वात कही है—

> 'लघुता तै प्रभुता मिलै, प्रभुता से प्रभु दूरि।
> चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि॥'

[१६६]

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन, पर-उपकारी ॥१॥
साधन-हीन दीन निज-अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृह तें गवनि परसि पद पावन, घोर साप तें तारी ॥२॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी ॥३॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥४॥
बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥५॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥६॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय-ब्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जन के, हत्यो बालि सहि गारी ॥७॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों, भेंट्यो भुजा पसारी ॥८॥
असुभ होइ जिनके सुमिरे तें, बानर रीछ बिकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ, तुम्हारी ॥९॥

कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी ।।१०।।

शब्दार्थ—सिला=शिला, पत्थर। परसि=स्पर्श कर। गवनि=जाकर। बपु=शरीर। वनचारी=जंगली। सुरपति-सुत=इन्द का पुत्र जयन्त। सोकहत=दुख से व्याकुल हो। आमिष=माँसाहारी। जनक=पिता। जोषित=योषित, स्त्री। हत्यो=मारा। निवारी=दूर की।

भावार्थ—राम ऐसे दीनों का भला करने वाले हैं। वह अत्यन्त कोमल स्वभाव और करुणा के भण्डार है। (उनकी सबसे वड़ी विशेपता यह है कि) वह विना किसी कारण अर्थात् स्वार्थ के ही दूसरों का उपकार करते रहते हैं। साधनों से हीन और दीन गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या (अपने पति के) शाप के कारण पत्थर वन गयी थी। राम ने अपने घर से चलकर, अपने पवित्र चरणों से उसका स्पर्श कर उस भयंकर शाप से उसका उद्धार किया था। निषादराज गुह सदैव हिंसा किया करता था। उसका शरीर तामसिक वृत्ति वाला था और वह वन में पशुओं के समान विचरण करता रहता था। राम ने उसके प्रेम के वश से हो, उसके कुल और जाति का कोई विचार न कर अपने हृदय से लगाकर उससे भेंट की थी।

यद्यपि इन्द्र के पुत्र जयन्त ने राम के प्रति (सीता के पैरों में चोंच मारकर) ऐसा भयंकर अपराध किया था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। और जब वह व्याकुल हो सारे लोकों में शरण पाने के लिए भटकता रहा और कहीं भी शरण न पा, जब अन्त में राम की शरण में आया तो उन्होंने उसे अभयदान दे उसका भय दूर कर दिया था। जटायु गिद्ध पक्षी योनि में उत्पन्न हुआ था, दूसरों का माँस भक्षण किया करता था, और ऐसा कौनसा बड़ा भारी व्रत करने वाला था कि राम ने अपने हाथों से पिता के समान उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया कर सब तरह से उसके जीवन को सफल बना दिया था।

शवरी नीच जाति की मूर्ख स्त्री थी जिसकी लोक और वेद–दोनों उपेक्षा करते थे। अर्थात् लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा में जिसे कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था। वह दोनों द्वारा त्याज्य घोषित थी। परन्तु कृपानिधि राम ने उसके प्रेम को जान उसे दर्शन दिये और उसका भी उद्धार कर दिया। जब अपने भाई बालि के भय से व्याकुल हो सुग्रीव ने राम की शरण में आ, उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की थी तो राम अपने भक्त के उस भयंकर दुख को सहन नहीं कर सके थे और उन्होंने बालि की गाली खाकर भी उसका वध कर सुग्रीव का दुख दूर किया था।

शत्रु रावण का छोटा भाई विभीषण राक्षस था और कौन से भजन का अधिकारी था ? परन्तु जब वह राम की शरण में आया तो राम ने स्वयं आगे बढ़कर बाँहें फैलाकर उसका स्वागत किया था। बन्दर और रीछ ऐसे पापी होते हैं कि

उनका स्मरण तक करने से अमंगल होता है। हे नाथ ! तुम्हारी महिमा ऐसी है कि तुमने उन्हें भी पवित्र बना दिया था। वेद इसके साक्षी हैं।

हे राम ! मैं कहाँ तक गिनाऊँ ? जिन दीनों के संकटों को तुमने दूर किया था, उनकी संख्या अगणित है। पर न जाने क्या बात है कि कलियुग के पापों में जकड़े हुए इस तुलसी पर कृपा करना तुम भूल गये हो। अर्थात् तुलसी पर कृपा क्यों नहीं करते ?

टिप्पणी—(१) 'गृह तें गवनि'—का भाव यह है कि राम को दीन-दुखियों की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे स्वयं उनके पास जा-जाकर उनके दुख दूर करते थे, न कि यह कि उन दीन-दुखियों को राम के पास आना पड़ता था।

(२) 'असुभ''''विकारी'—बन्दर, रीछ आदि पापी पशुओं का नाम लेना तक अशुभ माना गया है। हनुमान ने स्वयं कहा है—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तादिन ताहि न मिलै अहारा ॥'

(३) 'कहँ लगि''''निवारी—तुलना कीजिए—

'एते जन तारे जेते नभ में न तारे हैं।'

[१६७]

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ॥१॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल-प्रबाह सुरसरी बहै गज भारी ॥२॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ॥३॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी ॥४॥
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संशय निरमूल न जाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—करनी=करने में। सफरी=मछली। सुरसरी=गंगा। सर्करा=शक्कर। सिकता=बालू। बिलगावै=दूर करे, अलग करे। पिपीलिका=चींटी। मेलि=रखकर, बन्द कर। द्वैत-वियोगी=भेद-बुद्धि, भेदात्मक ज्ञान से रहित।

भावार्थ—राम की भक्ति करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वह कहने में तो बड़ी आसान परन्तु करने से अपार अर्थात् अत्यन्त दुष्कर है। इसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। इसे तो वही जानता है जिससे यह करते बन

पड़ी है। अर्थात् जो राम की भक्ति करता है वही जानता है कि यह कितनी कठिन और रहस्यमय है। जो जिस कला में कुशल (प्रवीण) होता है उसी के लिए वह कला सरल और सुख देने वाली होती है, दूसरों के लिए नहीं। गंगा की धारा में मछली तो जल-प्रवाह को काट उसके विपरीत सरलता से चली जाती है परन्तु हाथी जैसा भारी प्राणी उस धारा में बह जाता है। अर्थात् मछली जल की धारा को काटने की कला जानती है इसलिए उसके लिए यह कार्य सरल है परन्तु हाथी इस कला से अनभिज्ञ होता है इसलिए मारा जाता है। इसी प्रकार जो राम की भक्ति के रहस्य को जानता है वही उसे कर पाता है और आनन्द प्राप्त करता है परन्तु अनाड़ी के लिए यह अगम्य है।

(तुलसी एक दूसरे उदाहरण द्वारा इसे समझाते हैं) जैसे वालू में मिली हुई शक्कर को वल द्वारा अर्थात् भयंकर परिश्रम करने पर भी कोई वालू से अलग नहीं कर सकता परन्तु इस शक्कर के रस को जानने वाली नन्हीं-सी चींटी बिना प्रयत्न किये ही उस शक्कर को वालू से अलग कर उसका आनन्द उठाती है। यही बात राम-भक्ति पर भी लागू होती है। जो उसका आनन्द जानता है उसके लिए वह अत्यन्त सरल है। (अब, राम-भक्ति कौन कर सकता है, तुलसी यह बताते हैं) जो योगी संसार के समस्त दीख पड़ने वाले दृश्यों (सम्पूर्ण पंचभूतात्मक प्रपंच) को अपने पेट (हृदय) में रखकर अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध द्वारा सारे संसार को अपने मन में समेट कर, निद्रा को अर्थात् अज्ञान रूपी निद्रा को त्याग कर सोता है, अर्थात् अविद्या का नाश कर आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाता है, ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त कर लेता है, और भेद-बुद्धि (भेदात्मक ज्ञान) का पूर्ण त्याग कर देता है, वही हरिपद (वैष्णव पद) के परम सुख का अनुभव करता है। भाव यह है कि जो सांसारिक वस्तुओं, सम्बन्धों के माया-मोह से मुक्त हो, सम्पूर्ण विश्व का अपने हृदय में ही आत्म-दर्शन कर, अपने-पराये की भावना से मुक्त हो जाता है—वही आत्मज्ञानी ब्रह्मानन्द का पूर्ण अधिकारी और भोक्ता होता है।

इस ब्रह्मानन्द अर्थात् ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त कर लेने पर वह साधक शोक, मोह, भय, हर्ष, रात, दिन, देश और काल की सीमाओं से परे पूर्ण आत्मज्ञानी बन जाता है। अर्थात् इन सबका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तुलसीदास कहते हैं कि इस दशा को बिना प्राप्त किये संशय (असत् को सत् मानना) पूरी तरह से दूर नहीं होता।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'सफरी····भारी' तथा 'ज्यों सर्करा'····बिलगावै' में अन्योक्ति अलंकार और 'सोवे निद्रा तजि जोगी' में विरोधाभास है।

(२) इस पद में तुलसी ने राम की भक्ति की प्रशंसा करते हुए उसे सुगम और अगम—दोनों ही बताया है। तुलसी के इस भक्ति मार्ग में सगुण के तथा निर्गुण के तत्त्वचिन्तन का समन्वय है। इसमें हमें सूर और कबीर—दोनों की भक्ति-पद्धतियों का समन्वय मिलता है।

(३) 'ज्यों सर्करा.......बिलगावै'—यहाँ चींटी भक्ति के रस आनन्द की प्रतीक है तथा बालू जगत की वासनाओं की। उसे चींटी जैसा रसज्ञ ही अर्थात् चींटी के समान शक्कर और बालू का भेद पहचानने वाला विवेकी ही अलग कर सकता है। अर्थात् वासनाओं को त्याग भक्ति के रस का आनन्द पा सकता है। यहाँ विवेक प्रधान कारण है। चींटी के समान स्वयं को लघु बनाकर ही अहं का नाश किया जा सकता है। अहं का त्याग कर निरन्तर प्रयास करने से ही ब्रह्मानन्द की उपलब्धि सम्भव होती है।

(४) 'सोक.......नाहीं'—यह 'भूमा' की अवस्था कहलाती है। देश, काल तथा गुणों के परे जो सत्ता होती है, वह 'भूमा' कहलाती है।

(५) 'सकल.......जोगी'—यह समाधि की अवस्था होती है, जिसे तुरीयावस्था कहते हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति इसी अवस्था में होती है। इसके तीन सोपान होते हैं—

(i) जागृति, (ii) सुषुप्ति, तथा (iii) स्वप्न।

[१६८]

जो पै राम-चरन-रति होती।
तौ कत त्रिबिध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती ।।१।।
जो संतोष - सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै ।।२।।
जो श्रीपति - महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार - द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ।।३।।
जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे।
प्रभु - बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ।।४।।
नहिं एकौ आचरन भजन को, बिनय करत हौं ताते।
कीजै कृपा दासतुलसी पर, नाथ नाम के नाते ।।५।।

शब्दार्थ—रति=प्रीति, प्रेम। त्रिबिध सूल=तीन प्रकार के दुख—दैहिक, दैविक, भौतिक। निसोती=शुद्ध, खालिस, प्रवाह। कुरंग=हरिण। खलाए=खाली, भूखे। केरे=के। आचरन=साधन।

भावार्थ—यदि राम के चरणों में प्रीति होती तो रात-दिन तीनों प्रकार के कष्टों और विपत्तियों के प्रवाह को क्यों सहना पड़ता ? अथवा विपत्ति के प्रवाह में क्यों पड़ना पड़ता अर्थात् निरन्तर विपत्तियाँ क्यों झेलनी पड़तीं ? जो रात-दिन में कभी स्वप्न मे भी सन्तोष रूपी अमृत प्राप्त कर लेता तो यह मन मृगतृष्णा के समान

असत्य इन सांसारिक विषय-वासनाओं को सत्य समझ इनके पीछे हरिण के समान क्यों भटक-भटक कर अपने प्राण खोता, अर्थात् सांसारिक विषय-वासनाएँ मृगतृष्णा के जल के समान असत्य होती हैं, इसलिए उनके पीछे पड़ना व्यर्थ है। सन्तोष ही एकमात्र सत्य और सुख देने वाला है। यदि लक्ष्मीपति भगवान की महिमा को हृदय में विचार कर भक्ति-भाव से यह मन उनका भजन करता तो इसे भूखे, पेट पिचकाये कुत्ते के समान दर-दर क्यों मारा फिरना पड़ता ?

जो लालची अपनी आशा के दास हैं—वे सभी के दास बन गये हैं, क्योंकि अपनी आशाओं की पूर्ति के लिए उन्हें गुलाम की तरह सबकी खुशामद करनी पड़ती है। परन्तु जिन्होंने प्रभु में विश्वास कर अपनी आशाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वे केवल भगवान् के ही सेवक हैं। अर्थात् भगवान् के अपने जन हैं। हे राम ! मैं तुमसे केवल इसलिए प्रार्थना कर रहा हूँ कि मेरे पास भजन का एक भी साधन नहीं है। अर्थात् मैं श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन आदि नवधा भक्ति में से एक भी साधन को नहीं जानता। इसलिए हे नाथ ! मुझ तुलसीदास पर केवल अपने नाम के नाते ही कृपा करो। अर्थात् मैं तो केवल तुम्हारा नाम ही लेता रहता हूँ। मेरा तुम्हारा यही नाता है।

टिप्पणी—(१) 'निसोती'—का अर्थ पं० रामेश्वर भट्ट ने 'प्रवाह' माना है तथा आचार्य शुक्ल और वियोगी हरि ने 'शुद्ध', 'खालिस'। 'खालिस विपत्ति' यह शब्द जँचता नहीं। 'विपत्ति का प्रवाह' अधिक संगत है। इसलिए यहाँ 'प्रवाह' अर्थ ही स्वीकार करना चाहिए।

(२) 'जे लोलुप''''''''चेरे'—कबीर ने भी यही बात कही है—

'कबीरा जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै, जगत गुरू वह दास॥'

[१६९]

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस, षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥१॥
बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभवे, सुने अरु डीठे।
यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीठे॥२॥
तुलसिदास प्रभु सों एकहि बल बचन कहत अति ढीठे।
नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे॥३॥

शब्दार्थ—अनरस=नीरस। सीठे=फीके, स्वाद रहित। बंचक=ठग, धूर्त। अनुभवे=अनुभव किया। डीठे=देखे। उबीठे=ऊबे। ढीठे=ढीठता से, धृष्टता के साथ। चीठे=परवाना, चिट्ठी।

शब्दार्थ—जो मुझे राम मीठे (प्रिय) लगते तो (साहित्यिक) नवरस और (व्यंजन सम्बन्धी) छः रस आदि सभी रस मेरे लिए नीरस और फीके बन जाते। अर्थात् मुझे अच्छे न लगते। मुझे साहित्य में आनन्द आता और न सुस्वादु भोजनों में। मैंने भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर धारण कर अर्थात् विभिन्न योनियों में जन्म लेकर यह अनुभव किया, दूसरों से सुना और स्वयं देखा कि ये विषय (सांसारिक विषय-वासनाएँ) सब ठग अर्थात् झूठे हैं। (ये अपने आकर्षण जाल में फँसा जीव के ज्ञान को लूट लेते हैं, उसे अज्ञानी बना अपने जाल में फँसाये रहते हैं।) मैं अपने हृदय में इस बात को जानता हूँ कि (इनका आकर्षण इतना प्रबल होता है कि) स्वप्न में भी इनसे मन नहीं ऊबता। मैं तुलसीदास केवल एक ही बल के भरोसे पर भगवान से धृष्टता भरे यह शब्द कह रहा हूँ। (मेरा वह बल यह है कि) हे नाथ! तुमने अपने नाम की लज्जा रखने के लिए करुणा कर किस-किसको (भव-बन्धन से छूटने के) परवाने नहीं दिये। अर्थात् जिसने भी तुम्हारा नाम लिया, तुमने उसी का उद्धार कर दिया क्योंकि तुम दीनबन्धु, पतित-पावन आदि के रूप में प्रसिद्ध हो और यदि ऐसा न करते तो तुम्हारी बदनामी होती। इसी भय से तुमने सबका उद्धार किया, अतः मेरा भी उद्धार करो।

टिप्पणी—(१) इस पद का भाव यह है कि राम के अच्छे लगने पर उनके प्रति यह भावना स्वतः ही आ जाती है।

(२) 'नवरस'—नौ साहित्यिक रस माने गये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त।

(३) 'षटरस'—व्यंजनों के छः रस माने गये हैं—कटु, तीखा, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण।

(४) इस पद की अन्तिम पंक्ति से मिलता-जुलता भाव एक अन्य कवि का भी मिलता है—

'एहो मुरारि पुकारि कहौं अब, मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है।'

[१७०]

यों मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो।
ज्यौं छल छाँड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुराग्यो ॥१॥
ज्यौं चितई परनारि, सुने पातक - प्रपंच घर घर के।
त्यौं न साधु, सुरसरि-तरंग-निर्मल गुनगन रघुबर के ॥२॥
ज्यौं नासा सुगंधरस - बस, रसना षटरस - रति मानी।
राम-प्रसाद-माल जूँठनि लगि त्यौं न ललकि ललचानी ॥३॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यौं चह पाँवर परस्यो।
त्यौं रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥४॥

ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बरन हिये हूँ।
त्यों न राम सकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥५॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार - द्वार जग बागे।
राम - सीय-आस्रमनि, चलत त्यों भये न स्रमित अभागे ॥६॥
सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नाम को ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु - मूरति कृपामई है ॥७॥

शब्दार्थ—नासा=नाक। रसना=जीभ। रति=प्रेम। लगि=के लिए। ललकि=उमंग में भर कर। चन्द्रवदनि=चन्द्रमुखी सुन्दरी। पट=वस्त्र। पाँवरे=नीच। परस्यो=स्पर्श। पदुम=पद्म, कमल। कुठाकुर=बुरे स्वामी। वपु=शरीर। सुकृतग्य=कृतज्ञ। सकृत=एक बार। बागे=भटकता फिरता है। आस्रमनि=आश्रमों। स्रमित=थके।

भावार्थ—हे राम ! मेरा मन तुम में कभी इस प्रकार अनुरक्त नहीं हुआ, जिस प्रकार वह छल को त्याग अपने स्वभाव का अनुसरण करते हुए निरन्तर सांसारिक विषय-वासनाओं में अनुरक्त बना रहता है। अर्थात् विषयों में अनुरक्ति रखना मन का सहज स्वभाव है। इसने जिस प्रकार (तन्मय होकर) परायी स्त्रियों की ओर देखा, घर-घर के पाप और लड़ाई-झगड़ों को सुना उसी प्रकार इसने न तो साधु-सन्तों का सत्संग किया और न गंगा की निर्मल तरंगों के समान पवित्र बना देने वाले राम के गुणों का गान सुना। जिस प्रकार यह नाक अच्छी-अच्छी सुगन्धियों के वश में रहती है, सदैव उन्हें सूँघना चाहती रहती है, जिस प्रकार यह जीभ पट्रस-व्यंजनों से प्रेम मानती है, सदैव उन्हें खाना चाहती है, उसी प्रकार यह नाक राम के ऊपर चढ़ायी गयी माला की सुगन्धि का पान करने के लिए तथा यह जीभ भगवान् की जूठन अर्थात् भोग को प्राप्त करने के लिए उमंग में भरकर कभी नहीं ललचाती। अर्थात् इच्छा नहीं करती।

जैसे यह पापी शरीर चन्दन, चन्द्रमुखी सुन्दर नारी, आभूषण और वस्त्रों को स्पर्श करना चाहता रहता है उसी प्रकार भगवान राम के चरण-कमलों का स्पर्श करने के लिए कभी नहीं तरसता। मैंने जिस प्रकार शरीर, वचन और हृदय से बुरे देवताओं और बुरे स्वामियों की सेवा की उसी प्रकार उन राम की सेवा नहीं की जो एक बार ही प्रणाम करने से कृतज्ञता के भार से दब संकुचित हो उठते हैं, अर्थात् राम ऐसे शील के आगार हैं।

ये मेरे चंचल चरण अपने लोभ की प्राप्ति के लिए लोभी बने द्वार-द्वार भटकते फिरते हैं परन्तु ये अभागे कभी भी उन आश्रमों में चलकर, घूमकर नहीं थके जहाँ राम और सीता (वनवास के समय) रहे थे। अर्थात् ये चित्रकूट, पंचवटी, दंडक-वन आदि पवित्र तीर्थ स्थानों में कभी नहीं जाते। हे नाथ ! मेरे सारे अंग तुम्हारे

चरणों से विमुख हैं, कभी तुम्हारे चरणों की सेवा नहीं करते। परन्तु केवल मेरे मुख ने ही तुम्हारी ओट ली है अर्थात् तुम्हारा सहारा पकड़ा है। भाव यह है कि मैं मुख से तुम्हारा नाम लिया करता हूँ। इसका कारण यह है कि मुझ तुलसीदास को इस बात का विश्वास है कि भगवान की मूर्ति कृपामयी है। अर्थात् भगवान सब पर कृपा करते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में लोकपक्ष और मर्यादा का अंकन किया गया है।

(२) 'कुदेव'—से अभिप्राय भूत-प्रेत आदि की पूजा से प्रतीत होता है। तुलसी ने इनकी पूजा का सदैव दृढ़ता के साथ खंडन किया है, क्योंकि इनकी पूजा राम-भक्ति की प्राप्ति के मार्ग के बाधक होती है।

[१७१]

कीजै मोको जम-जातनामई।
राम, तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठि दई॥१॥
गरभबास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों।
जड़हिं बिबेक, सुसील खलहिं, अपराधिहिं आदर दीन्हों॥२॥
कपट करौं अंतरजामिहुँ सों, अघ व्यापकहिं दुरावौं।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं॥३॥
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यो विषयनि हाथ हियो है।
मोसे बंचक को कृपालु छल छाँड़ि कै छोह कियो है॥४॥
पल-पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहु प्रेम सिय-पी के॥५॥
स्वामी की सेवक - हितता सब कछु निज साइँ-द्रोहाई।
मैं मति - तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई॥६॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आयो अरु करिहैं।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौड़ो भरिहैं॥७॥

शब्दार्थ—जातनामई=यातनामय। सठ=दुष्ट, मूर्ख। पीठि दई=विमुख हो गया। जड़हिं=मूर्ख को। विवेक=विवेकी, ज्ञानी। व्यापकहिं=सर्वव्यापी। अघ =पाप। बावौं=वाम, प्रतिकूल, खिलाफ। बंचक=ठग, धूर्त। छोह=कृपा। कुलिसहुँ=वज्र से भी। सिय-पी=सीता के प्रियतम राम। द्रोहाई=द्रोह। मतितुला =बुद्धि रूपी तराजू। गरुआई=भारी। कनौड़ो=एहसानमन्द, कृतज्ञ।

पाठान्तर—ग्यारहवीं पंक्ति में 'साइँ-द्रोहाई' के स्थान पर 'साइँ-दोहाई'।

भावार्थ—तुलसी अपने पापों का स्मरण कर आत्म-ग्लानि से भर राम से प्रार्थना कर रहे हैं—

हे राम ! तुम मुझे यम-यातना से परिपूर्ण कर दो। अर्थात् ऐसी व्यवस्था कर दो जिससे मैं बार-बार यम-यातना (जन्म-मरण की यातना) का दुख भोगता रहूँ। क्योंकि हे राम ! मैं तुम जैसे पवित्र, सुन्दर हृदय वाले अच्छे स्वामी से विमुख हो गया था। अर्थात् मैंने तुम्हारी सेवा (भक्ति) नहीं की थी। तुमने मुझे दस मास तक गर्भावस्था में माता-पिता के समान पाल-पोसकर मेरा कल्याण किया था। (फिर बड़े होने पर) मुझ जैसे मूर्ख, दुष्ट और अपराधी को ज्ञानी (विवेकी), सुशील (शीलवान) और आदर के योग्य बनाया। मैं तुम जैसे अन्तर्यामी और घट-घट वासी से कपट करता हूँ और अपने पापों को छिपाने का प्रयत्न करता हूँ। अर्थात् मेरा यह प्रयत्न करना मूर्खता की चरम-सीमा है, क्योंकि भला तुमसे क्या छिपा है। परन्तु हे राम ! तुमने ऐसे दुष्ट बुद्धि वाले नीच सेवक के प्रति कभी भी मन में मैल नहीं आने दिया। अर्थात् कभी उससे नाराज नहीं हुए और न बुरा ही माना।

मैं इधर तो तुम्हारा दास कहलाकर अपना पेट भरता हूँ, अर्थात् राम-भक्त कहलाकर भीख माँग पेट भरता हूँ परन्तु उधर मैंने अपने हृदय को विषयों के हाथ बेच दिया है। अर्थात् मेरा हृदय विषय-वासनाओं में अनुरक्त बना रहता है। परन्तु हे कृपालु प्रभु ! तुम्हारी उदारता धन्य है कि तुमने मुझ जैसे धूर्त ठग पर भी निष्कपट भाव से कृपा की है। अथवा तुमने मेरे छल को क्षमा कर मुझ पर सदैव कृपा की है। हे सीता के प्रियतम राम ! तुम्हारे मुझ पर किये गये एक-एक क्षण के उपकारों को अच्छी तरह से जानकर, समझकर और सुनकर भी मेरा यह वज्र से भी कठोर हृदय तुम्हारे प्रेम से नहीं भिदा। अर्थात् यह हृदय तुम्हारे इतने उपकारों के बाद भी तुमसे प्रेम करने की कृतज्ञता न दिखा सका।

हे स्वामी ! जब मैंने अपनी बुद्धि रूपी तराजू के एक पलड़े पर स्वामी अर्थात् तुम्हारे द्वारा मुझ पर किये गये सम्पूर्ण उपकारों को तथा दूसरे पलड़े पर मेरे द्वारा स्वामी के विरुद्ध किये गये सम्पूर्ण आचरणों में से कुछ थोड़े से ही आचरणों को रखकर तोला तो मैंने देखा कि मेरे आचरणों वाला पलड़ा ही भारी था। परन्तु हे नाथ ! तुम इतने पर भी मेरा हित करते हो, करते रहे हो और भविष्य में भी करोगे। तुलसी अपनी ओर से यह जानता है कि अपने उपकारों से दबे हुए इस दास का प्रभु ही उद्धार करेंगे, (क्योंकि वे अब तक उसके सारे अपराधों को क्षमा करते हुए उसका पालन करते आये हैं)।

टिप्पणी—पाठान्तर—(i) प्रथम पंक्ति में पं० रामेश्वर भट्ट ने 'जम' के स्थान पर 'जग' पाठ माना है। परन्तु इस पाठान्तर से मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(ii) 'स्वामी·······दोहाई'—इस पंक्ति में आचार्य शुक्ल ने 'साइँ-दोहाई' के

स्थान पर 'साइँ-द्रोहाई' पाठ माना है, जिसका अर्थ है—'स्वामी के विरुद्ध आचरण।' यह पाठ अर्थ के संदर्भ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है और हमने इसी के आधार पर अर्थ किया है। 'दोहाई' पाठ का अर्थ 'शपथ','दुहाई' आदि है जिसका यहाँ कोई संगत अर्थ नहीं बैठता।

[१७२]

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ - कृपालु - कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ॥१॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि भक्ति लहौंगो ॥४॥

शब्दार्थ—रहनि=आचरण। गहौंगो=ग्रहण करूँगा। जथालाभ=यथालाभ, जो कुछ मिल जाय। परुप=कठोर। निरत=तत्पर, संलग्न।

भावार्थ—क्या कभी मैं इस प्रकार का जीवन बिता सकूँगा और क्या कृपालु रघुनाथ राम की कृपा से सन्तों का सा स्वभाव ग्रहण कर सकूँगा? (सन्तों का स्वभाव कैसा होता है कि) जो कुछ मिल जायेगा उसी में सदा सन्तोष मानूँगा और किसी से भी कभी किसी भी चीज की आशंका नहीं करूँगा। अर्थात् पूर्ण निष्काम वन जाऊँगा। मैं मन, कर्म और वचन से निरन्तर दूसरों की भलाई करने में संलग्न रहूँगा और इस नियम का सदैव पालन करता रहूँगा।

मैं अपने कानों से अत्यन्त कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न क्रोध की आग में कभी नहीं जलूँगा, अर्थात् अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं करूँगा। मैं मान-सम्मान की आकांक्षा से मुक्त हो अपने मन को सदैव एकरस (सुख-दुख के प्रभाव से मुक्त) और शान्त रखूँगा, कभी विचलित नहीं हूँगा। मैं सदैव दूसरों के गुणों का ही वर्णन करूँगा, कभी किसी के दोषों का भूलकर भी उल्लेख नहीं करूँगा। मैं अपने शरीर सम्बन्धी सारी चिन्ताओं को छोड़कर सुख और दुख को समरस बुद्धि के साथ सहन करूँगा। अर्थात् सुख में न फूल उठूँगा तथा दुःख में न दुःख मानूँगा। तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु! मैं इसी मार्ग पर चलता हुआ भगवान् की अचल भक्ति प्राप्त करूँगा।

टिप्पणी—(१) इस पद में आशा संचारी द्वारा भक्ति-भाव को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया है।

(२) राम की भक्ति के लिए आवश्यक गुणों का सन्त-स्वभाव के रूप में वर्णन हुआ है।

(३) 'परिहरि देह-जनित चिन्ता'—से भाव इन्द्रियों और शरीर के सुख की चिन्ता से है।

(४) यहाँ तुलसी ने कल्पना द्वारा भक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए अपनी एकमात्र हार्दिक अभिलाषा को व्यक्त किया है। हिन्दी के अन्य अनेक भक्त-कवियों—सूर, रसखान, व्यास, ललितकिशोरी आदि ने भी अनेक पदों में इसी प्रकार की अभिलाषा व्यक्त की है।

(५) 'महारामायण' में रस-भक्त सन्तों का स्वभाव इस प्रकार बताया गया है—

> 'शान्तः समानमनसश्च सुशीलयुक्त,
> स्तोषक्षमागुणदयामृजुबुद्धि युक्तः।
> विज्ञान ज्ञान विरतिः परमार्थवेत्ता,
> निर्धामकोऽभय मनः सच रामभक्तः॥'

[१७३]

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु, है स्रम-फलनि फरो सो॥१॥
तप, तीरथ, उपवास दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि वेद परोसो॥२॥
आगम-बिधि जग-जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग-बियोग धरो सो॥३॥
काम-क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान-बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥४॥
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥५॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिर-फिरि पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥६॥

शब्दार्थ—आन=अन्य का, दूसरे का। स्रम-फलनि=परिश्रम रूपी फल। मख=यज्ञ। परोसो=परोसा, खूब बढ़ा-चढ़ाकर कहा है। आगम=शास्त्र। सरत=पूरा होता। धरो=रखा है। नावत=डालते हैं। आम घरो=कच्चा घड़ा। राज-डगरो=राज-मार्ग। बोहित=जहाज।

भावार्थ—मुझे तो अन्य किसी भी दूसरे का भरोसा नहीं आता। अर्थात् राम-नाम को छोड़कर अन्य कोई भी साधन ऐसा नहीं है जिस पर मैं भरोसा कर सकूँ। इस कलयुग में जितने भी साधन रूपी वृक्ष हैं, उनमें केवल परिश्रम रूपी फल ही लगते हैं। भाव यह है कि सारे साधनों में परिश्रम तो अधिक करना पड़ता है परन्तु मनवांछित कार्य-सिद्धि नहीं होती। तप, तीर्थ, उपवास, दान, यज्ञ आदि अनेक साधन हैं, जिनमें से जो जिसे अच्छा लगे, वह उसे करे। परन्तु इन सबके करने का क्या फल प्राप्त होता है, यह तो उनके मिल जाने पर ही जाना जा सकेगा। वैसे वेदों में इन कर्म-फलों को पत्तल भर-भर कर परोसा गया है अर्थात् इनका खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। (परन्तु कलियुग अपने दुष्ट प्रभाव से इन फलों की प्राप्ति नहीं होने देता, फिर इनके करने से लाभ ही क्या ?)

मनुष्य शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जप और यज्ञ करते हैं परन्तु इनसे भी उनका काम नहीं चलता अर्थात् उनकी इच्छा पूरी नहीं होती। योग और सिद्धियों को साधने से कभी स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त होता। इसके विपरीत, इनके करने से रोग और प्रियजनों के वियोग का संकट झेलना पड़ता है। अर्थात् योग-क्रियाओं से शरीर रोगी हो जाता है और अपने आत्मीय जनों से दूर हो जाना पड़ता है, इसलिए ये सब व्यर्थ हैं। काम, क्रोध, मद लोभ, मोह आदि दुर्वासनाओं ने मिलकर ज्ञान और वैराग्य की सुन्दर वृत्तियों को हर लिया है, नष्ट कर डाला है। और संन्यास लेने से यह मन इस प्रकार बिगड़ जाता है अर्थात् व्याकुल हो उठता है जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े में जल भरने से वह गलकर टूट जाता है। अर्थात् मन संन्यास की कठोर साधानाओं को सहन न कर टूट जाता है। भाव यह है कि अशान्त मन से संन्यास लेना अनिष्टकारी है। पहले मन को शान्त कर लेना चाहिए।

अनेक प्रकार के मत (मीमांसा, न्याय्य, वैशेषिक, सांख्य आदि) और अनेक पंथ (नानक पंथ, कबीर पंथ आदि) तथा अनेक पुराणों को भी सुना और समझा है परन्तु वहाँ चारों ओर झगड़े-टन्टे मचे हुए हैं, कोई कुछ कहता है, कोई दूसरे की बुराई करता है, आदि। इसलिए मेरे गुरु ने तो मुझे राम-भजन करने की आज्ञा दी है और यही राम-भक्ति का मार्ग मुझे राजमार्ग के समान प्रशस्त, निष्कंटक और लक्ष्य तक पहुँचा देने वाला प्रतीत होता है। तुलसीदास कहते हैं कि (राम भक्ति में) विश्वास और प्रेम न रखकर (अन्य साधनों में) जिसे पच-पच कर मरना हो वह भले ही मरता रहे। परन्तु इस संसार-सागर को पार करने के लिए एकमात्र राम का नाम ही जहाज के समान है। जिसे इस सागर को पार करना हो वह इस जहाज पर सवार हो पार कर ले। अर्थात् राम-नाम लेकर संसार से मुक्त हो जाय।

टिप्पणी—(१) इस पद में कर्मकांड का सूक्ष्म विरोध किया गया है। कर्मकांड का फल बहुत कम लोगों को मिल पाता है। तुलसी ऐसे कर्मकांड का विरोध करते हैं जो चित्त की शुद्धि के विरुद्ध हो। केवल राम-नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

(२) संन्यास को तुलसी ने इस कारण कठिन कहा है क्योंकि यह आश्रम चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—में सबसे कठिन होता है। इसे तभी अपनाना चाहिए, जब सम्पूर्ण सांसारिक मनोकामनाएँ फलीभूत हो जायँ, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली जाय और मन पूर्ण रूप से शान्त और निर्लिप्त हो जाय। निर्विकल्प चित्त वाले ही इस आश्रम के अधिकारी माने गये हैं, अन्य नहीं। इसलिए मन के अस्थिर रहने की अवस्था में संन्यास धारण करना सदैव अनिष्टकारी होता है।

[१७४]

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥१॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलिगुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद मंगलकारी ॥२॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥४॥

शब्दार्थ—गुरु=दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य। कंत=पति। ब्रज-वनितनि=गोपियाँ। सुहृदय=मित्र। सुसेव्य=पूज्य। एतो=यही। मतो=मत, सिद्धान्त।

भावार्थ—जिसे राम और सीता प्रिय न हों, उसे करोड़ों शत्रुओं के समान (भयानक मान) त्याग देना चाहिए, भले ही वह अपना कितना ही परम प्रिय क्यों न हो। जैसे प्रहलाद ने पिता हिरण्यकशिपु को, विभीषण ने भाई रावण को, भरत ने माता कैकेयी को, राजा बलि ने गुरु शुक्राचार्य को, ब्रज की गोपियों ने पतियों को त्याग दिया था। (क्योंकि ये सब लोग इनकी भगवत्प्राप्ति में बाधक थे, भगवान् से प्रेम नहीं करते थे और न इन्हें करने देते थे।) (परन्तु अपने स्वजनों को त्याग देने वाले ये सभी) लोक को आनन्द देने वाले और लोक का कल्याण करने वाले हुए।

जहाँ तक मित्र और पूज्य जनों को मानने का प्रश्न है, उन सबको राम के स्नेह के नाते से ही मानना चाहिए। अर्थात् मित्र और पूज्य वही हैं जो राम से प्रेम करते हैं। वह अंजन (काजल) किस काम का, जिसके लगाने के आँख फूट जाय! अर्थात् उन सांसारिक स्नेह-सम्बन्धों के रखने से क्या लाभ, जिनके कारण मनुष्य के लोक-परलोक—दोनों ही बिगड़ जायँ, और मैं अधिक कहाँ तक कहूँ? तुलसीदास कहते हैं कि हमारा यही मत है कि जिसके कारण राम के चरणों में प्रेम उत्पन्न हो, वही हमारा सब तरह से परम हितैषी, पूज्य और प्राणों से भी अधिक प्यारा है।

टिप्पणी—(१) इस पद में अनन्यता की ओर संकेत है।

(२) कहा जाता है कि यह पद तुलसी ने मीरा को लिखा था परन्तु विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मीरा की मृत्यु के समय तुलसी केवल १२ वर्ष के थे। अतः इस किम्वदन्ती पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

(३) 'अंजन''''फूटै'—से भाव यह है कि किंचित् आकर्षण बढ़ाने के प्रयत्न में यदि अज्ञान अथवा मोह बढ़ता है तो वह प्रयत्न व्यर्थ है।

(४) 'वलि गुरु तज्यो'—जब राजा वलि भगवान् वामनावतार की माँग स्वीकार कर उन्हें पृथ्वी दान करने को प्रस्तुत हो गये और संकल्प करने के लिए टोंटीदार लोटे से जल डालने लगे तो उनके गुरु शुक्राचार्य भगवान् के छल को समझ, वलि को संकल्प करने से रोकने के लिए सूक्ष्म रूप धारण कर टोंटी में जा बैठे। विष्णु ने जल न निकलने का कारण समझ कर सींक लेकर टोंटी में घुसेड़ दी जिससे शुक्राचार्य की एक आँख फूट गयी। वलि ने अपने गुरु की इस हरकत को जान उनको त्याग दिया।

[१७५]

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सुकर सम वृथा जियत जग माहीं ॥१॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के।
मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के ॥२॥
सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरि भजन इंदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥३॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि, सील सरूप अलोने।
तुलसी प्रभु - अनुराग - रहित जस सालन साग सलोने ॥४॥

शब्दार्थ—रहनि=प्रीति, लगन। खर=गधा गरुआई=भारीपन, बड़प्पन। इंदारुन=इन्द्रायण नामक एक फल जो देखने में सुन्दर परन्तु खाने में कड़वा होता है। भूति=विभूति, ऐश्वर्य। अलोने=बिना नमक के।

भावार्थ—यदि राम से प्रेम नहीं है तो मनुष्य इस संसार में गधा, कुत्ता और सुअर के समान व्यर्थ; अर्थात् उद्देश्यहीन जीवन बिताता है। भाव यह है कि मनुष्य गधे के समान बोझा ढोने वाला, कुत्ते के समान दर-दर भटकने वाला, और सुअर के समान भक्ष्य-अभक्ष्य खाने वाला है। काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास—ये सब तो सभी को होते हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी इनका अनुभव करता है परन्तु देवता और साधु-सन्त जो मानव की सराहना करते हैं, वह केवल इस कारण कि मानव-शरीर धारण कर सीतापति राम से प्रेम होता है, अतः यह शरीर पवित्र हो जाता है।

कोई मनुष्य शूरवीर, चतुर, सपूत, शुभ लक्षणों वाला और बड़ा भारी गुण-वान क्यों न हो, परन्तु यदि वह राम की भक्ति नहीं करता तो इन्द्रायण के फल के समान अपना कड़वापन नहीं छोड़ पाता। अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रायण का फल देखने में ऊपर से सुन्दर परन्तु खाने में भीतर से कड़वा होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने पर भी कोई व्यक्ति यदि राम की भक्ति नहीं करता तो उसकी नीचता नहीं जाती। भाव यह है कि राम की भक्ति ही मनुष्य को निर्मल बनाती है।

कीर्ति, उच्चकुल, कर्म ऐश्वर्य खूब अच्छे हों, शील (स्वभाव और रूप) भी खूब सलोना (लावण्यमय) हो परन्तु राम के प्रति प्रेम के बिना ये सब बिना नमक के साग के समान स्वादहीन (नीरस) होते हैं। भाव यह है कि राम की भक्ति के बिना संसार के सारे सुख-सौन्दर्य नीरस होते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद का भाव यह है कि शक्ति, शील, सौन्दर्य—इन तीनों गुणों से समन्वित मानव का जीवन राम की भक्ति के बिना निस्सार है।

(२) तुलसी ने 'कवितावली' में इस पद की प्रथम दोनों पंक्तियों के भाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

'तिन तें खर, सूकर, स्वान भले जड़ता बस ते न कहे कछु वै।
तुलसी जेहि रामसों नेह नहीं सो सही पशु पूँछ विषानन द्वै॥'

[१७६]

राख्यो राम सुस्वामी सों नीच नेह न नातो। एते अनादर हूँ तोहितें न हातो॥१॥
जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देह के दाहक, गाहक जी के॥२॥
अपने - अपने को सब चाहत नीको। मूल दुहूँ को दयालु दूलह सी को॥३॥
जीव को जीवन, प्रान को प्यारो। सुख हू को सुख राम सो बिसारो॥४॥
कियो करैगो तोसे खल को भलो। सुसाहब सों तू कुचाल क्यों चलो॥५॥
तुलसी तेरी भलाई अजहूँ बूझै। राढ़उ राउत होत फिरि कै जूझै॥६॥

शब्दार्थ—तें—उन्होंने। हातो=त्याग, छोड़ा। फोकट=व्यर्थ। फीके=रसहीन। दाहक=जलाने वाले। दुहूँ=दोनों। सी=सीता। बिसारो=भुला दिया। बूझै=समझ ले। राढ़उ=कायर। राउत=शूरवीर।

भावार्थ—हे नीच! तूने राम जैसे अच्छे मालिक से न तो प्रेम किया और न उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखा। तेरे द्वारा अपना इतना अनादर होने पर भी उन राम ने तुझे नहीं त्यागा, अर्थात् तेरे ऊपर सदैव कृपा करते ही रहे। तूने अन्य लोगों (स्त्री-पुत्र-कुटुम्बी जन आदि) से नये-नये नाते जोड़े और प्रेम किया परन्तु ये सब निस्सार और फीके हैं। ये सब सम्बन्धी (नाना प्रकार की चिन्ताओं और

वासनाओं से) तेरे शरीर को जलाने वाले और तेरे प्राणों के ग्राहक हैं। अर्थात् इन्हीं की चिन्ता करते-करते तू मर जायेगा।

अपनी और अपने सम्बन्धियों की सभी भलाई चाहते हैं, परन्तु इन दोनों की अर्थात् तेरी और तेरे सम्बन्धियों की भलाई के मूल कारण तो सीतापति राम ही हैं। अर्थात् वही सबका कल्याण करने वाले हैं। वह जीव के जीवन (आत्मरूप में सबमें व्यक्त होने वाले), प्राणों के प्यारे (पंच प्राणों को अन्तर्यामी रूप से चैतन्य करने वाले) और सुख के भी सुख, अर्थात् सम्पूर्ण सुखों के मूल कारण हैं। ऐसे राम को भी तूने भुला दिया।

जिन राम ने तुझ जैसे दुष्ट का भी भला किया और भविष्य में भी भला करेंगे, ऐसे अच्छे स्वामी के साथ तूने कपट क्यों किया; अर्थात् उनसे विमुख क्यों हो गया ? तुलसीदास कहते हैं कि हे मन ! यदि तू आज भी इस बात को समझ ले तो इसी में तेरी भलाई है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, क्योंकि कायर भी दुबारा लड़-कर शूरवीर बन जाता है। भाव यह है कि तू मन में ग्लानि मत कर और अब भी चेत कर राम से प्रेम करने लग। इसी में तेरा कल्याण है।

टिप्पणी—(१) 'जीव····प्यारो'—भाव यह है कि इस आत्मा का नियन्ता कोई दूसरा ही है। 'मानस' के 'प्रान प्रान को, जीवन जी को' के अनुसार वही कोई दूसरा (परब्रह्म) जीव का जीवन और प्राण का प्राण है। यहाँ स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व सिद्ध होता है। अतः इसे अद्वैत-सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

(२) 'पंच प्राण'—प्राण पाँच माने गये हैं। हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कंठ में उदान, सारे शरीर में व्यान। इस सब को चैतन्य करने वाला परब्रह्म है।

(३) इस पद में तुलसी ने बोलचाल के साधारण शब्दों का प्रयोग कर एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। जैसे—फोकट, नेह, फीके, गाहक आदि।

[१७७]

जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों। परिहरि पाँय काहि अनुरागों ।।१।।
सुखद सुप्रभु तुम सौं जग माहीं। स्रवन-नयन मन-गोचर नाहीं ।।२।।
हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस माया ।।३।।
हौं तौ कुजाचक, स्वामी सुदाता। हौं कुपूत, तुम हितु पितु-माता ।।४।।
जो पै कहूँ कोउ पूछत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो ।।५।।

शब्दार्थ—परिहरि=त्याग कर, छोड़कर। अनुरागों=प्रेम करूँ। सुखद

=सुख देने वाला। गोचर=दिखाई देने वाला। बस=वश में हूँ। कुजाचक=बुरा भिखारी। सुदाता=अच्छे दानी। वातो=बात। बिकातो=बिक जाता।

भावार्थ—हे राम ! यदि तुम मुझे त्याग भी दोगे तो भी मैं तो तुम्हें नहीं त्यागूँगा, क्योंकि तुम्हारे चरणों को छोड़कर मैं और किससे प्रेम करूँ। अर्थात् मेरा तो कोई भी दूसरा नहीं है। मैंने न तो अपने कानों से सुना, न आँखों से देखा और न मन से अनुमान ही लगाया कि इस संसार में तुम्हारे समान सुख देने वाला अच्छा स्वामी और कोई दूसरा भी है। मैं तो जड़ जीव हूँ और तुम विभु और ईश्वर हो। तुम माया के स्वामी हो और मैं माया के वश में पड़ा हुआ हूँ। अर्थात् मैं तुम्हारी ही माया के बन्धनों में जकड़ा दुख पा रहा हूँ। तुम माया को आज्ञा देकर मेरा उद्धार कर सकते हो।

मैं तो बुरा, नीच भिखारी हूँ (क्योंकि मैं अपने दाता के प्रति कृतघ्न रहता हूँ) और तुम स्वामी और बड़े दानी हो। (अर्थात् पात्र-कुपात्र की चिन्ता न कर सबको समान भाव से सभी कुछ देते रहते हो।) मैं कपूत हूँ और तुम मेरे माता-पिता हो। जिस प्रकार माता-पिता अपने कपूत की भी सदैव रक्षा और पालन करते हैं, उसी प्रकार यद्यपि मैं तुमसे विमुख रहता हूँ परन्तु तुम फिर भी मेरी रक्षा और पालन करते रहते हो। (मैं तो ऐसा नीच हूँ कि) यदि कोई कहीं मेरी बात भी पूछता अर्थात् जरा भी मुझे अपना लेता तो मैं बिना मोल के ही उसके हाथ में बिक जाता अर्थात् उसकी ग़ुलामी स्वीकार कर लेता। भाव यह है कि मुझ जैसे नीच और बेकार व्यक्ति को कोई भी नहीं पूछता। अब तो केवल तुम्हारा ही आसरा है। तुम्हारे सिवाय मेरा कोई नहीं है।

टिप्पणी—(१) 'मायापति'—माया और भक्ति, दोनों ही ब्रह्म की हैं। माया ब्रह्म की दासी है और भक्ति पटरानी।

(२) 'जड़ जीव ईस रघुराया'—वियोगी हरि ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"यहाँ स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म का अनैक्य सिद्ध कर दिया गया है। जीव 'जड़' इसलिए कहा गया है कि उसमें मायाकृत आवरण के कारण, सदसत् ज्ञान का पूर्ण अभाव रहता है। अणुत्व होने से उसका ज्ञान परिमित रहता है। वह स्वपुरुषार्थ से अनन्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोचता, अतएव वह चैतन्य होते हुए भी जड़ ही है। इसके विरुद्ध परमात्मा ईश है, विभु है, अपरिमित ज्ञान-सम्पन्न है। माया के अधीन होने से जीव में सुख-दुख आदि द्वन्द्व रहते हैं, किन्तु कैवल्य-रूप ब्रह्म, माया-अपरिच्छिन्न परमात्मा सदा द्वन्द्वों से विमुक्त है। तत्त्वतः ब्रह्म का अंश स्वरूप (ममैवांशो जीवलोके—गीता) होने के कारण जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य अवश्य है, किन्तु माया के प्राबल्य से, जो माया ब्रह्म के अधीन है, जीव अपना 'स्वरूप' भूल बैठा है। यदि माया मिथ्या होती, तो ब्रह्म-स्वरूप जीव पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ता, किन्तु

ऐसा नहीं है। उसकी भी कुछ सत्ता है, चाहे वह अज्ञानवास्था ही की क्यों न हो, वह जीव को भुलावे में डालने के लिए पर्याप्त है।"

(३) 'कुजाचक'—इसलिए कहा है कि जीव ब्रह्म से मुक्ति की याचना न कर सांसारिक सुख-वैभव की ही याचना करता रहता है।

(४) इस पद में अनन्यता, एकाग्रता एवं राम के प्रति हठ की-सी भावना है।

[१७८]

भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी।
आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी ॥१॥
जीवन को दानी धन कहा ताहि चाहिए।
प्रेम-नेम के निबाहे चातक सराहिए ॥२॥
मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य पीन को।
जल बिनु थल कहा मीच-बिनु मीन को ॥३॥
बड़े ही की ओट, बलि, बाँचि आये छोटे हैं।
चलत खरे के संग जहाँ तहाँ खोटे हैं ॥ ४ ॥
यहि दरबार भलो दाहिनेहु-बाम को।
मोको सुभदायक भरोसो राम-नाम को ॥ ५ ॥
कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ, नीकी है।
जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रावरी=तुम्हारी। आरत=दुखी। बावरी=पागलपन की। जीवन=जल। पीन=दुष्ट। मीच=मृत्यु। बाँचि=बचे हैं। दाहिनेहु=अनुकूल। बाम=प्रतिकूल। नसानी=बिगड़ जायेगी।

भावार्थ—हे राम ! तुम भले ही मेरे प्रति उदासीन हो जाओ; अर्थात् मेरी चिन्ता करना छोड़ दो परन्तु मुझे तो एक केवल तुम्हारी ही आशा (भरोसा) है। दुखी और स्वार्थी लोग हमेशा पागलों की सी ऊट-पटाँग बातें किया करते हैं। (क्योंक उनका मन अस्थिर रहता है।) भाव यह है कि तुम पागलों की सी बातों का बुरा न मानो क्योंकि मैं दुखी और स्वार्थी होने के कारण अपने होश-हवास में नहीं हूँ, इसीलिए तुमसे कहनी-अनकहनी बातें कह बैठता हूँ। जल का दान देने वाले मेघ को (प्रतिदान में) क्या चाहिए ? अर्थात् उसका तो यह धर्म है, इसलिए उसकी प्रशंसा नहीं होती, परन्तु चातक मेघ के प्रति अपने प्रेम का जो निर्वाह करता है उसे देखकर ही उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। अर्थात् यहाँ प्रशंसा का मूल-कारण मेघ ही है जो बिना स्वार्थ के चातक को स्वाति-जल देता है, परन्तु संसार मेघ की प्रशंसा न

कर चातक की ही प्रशंसा करता है । इसी प्रकार तुम तो उदार दानी होने के कारण सबकी सहायता करते हो हो परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भक्त की प्रेम-भावना के ही कारण तुम्हारी प्रशंसा होती है । यदि भक्त न होते तो तुम्हारी प्रशंसा कौन करता ?

पवित्र और पुष्टिकारक जल को मछली से तनिक-सा भी लाभ नहीं होता परन्तु फिर भी मछली के लिए जल को छोड़कर और कौन-सा स्थान ऐसा है जहाँ वह मृत्यु से बच सके । भाव यह है कि मुझ जैसे लोगों से तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं होता । परन्तु मेरे लिए तुम्हें छोड़कर और दूसरा कौन है, जो सांसारिक आपदाओं से मेरी रक्षा करे, मेरे जन्म-मरण के बन्धन को काट सके । हे प्रभु ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ । बड़ों की ओट (आड़) लेकर ही छोटे सदैव संकटों से बचते आये हैं । खरे सिक्कों के साथ खोटे सिक्के भी चल जाते हैं (गेहूँ के साथ बथुए को भी पानी लग जाता है) । भाव यह है कि तुम्हारे अनेक सच्चे भक्तों के बीच में बैठने से मुझ जैसे नीच का भी उद्धार हो जायेगा ।

तुम्हारा यह दरबार ही एक ऐसा दरबार है—जहाँ शत्रु और मित्र, प्रतिकूल और अनुकूल—सभी का भला होता है; अर्थात् तुम समान भाव से सबका कल्याण करते हो । हे राम ! मुझे तो कल्याण करने वाले एकमात्र राम-नाम का ही भरोसा हैं । हे नाथ ! कह देने से तो बात बिगड़ जायेगी, इसलिए इसे मन में छिपाकर ही रखना अच्छा है । अर्थात् यदि मैं अपने दुखों का ढिंढोरा पीटता फिरूँगा तो इसमें तुम्हारी ही बदनामी होगी कि राम-भक्त होते हुए भी तुलसी इतना दुखी है । इसलिए इन बातों को मन में रख लेना ही अच्छा है । हे कृपानिधान ! तुम तो तुलसी के मन की सारी बातें जानते ही हो, क्योंकि अन्तर्यामी हो ।

टिप्पणी—इस पद में तुलसी ने अपने को दुखी और स्वार्थी रखकर पहले तो अपना बचाव करने की भूमिका बाँधी है और फिर राम को उनकी बदनामी होने का भय दिखाया है कि यदि तुमने मेरा उद्धार नहीं किया तो मैं सबसे अपना दुखड़ा रोता फिरूँगा और इसमें तुम्हारी बदनामी होगी । तुम्हारी बदनामी होने के भय के ही कारण मैं अपनी बात किसी से नहीं कहता, केवल तुमसे ही कह रहा हूँ । ऐसा वाक्-चातुर्य अन्य भक्त कवियों में दुर्लभ है । तुलसी में सेव्य-सेवक भाव की गहन भावना होते हुए भी कहीं-कहीं ढीठ सेवक के से भाव उभर आते हैं और इसका कारण राम के प्रति तुलसी की अनन्यता, अगाध विश्वास और दृढ़ता ही है । ऐसे पद बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं ।

राग बिलावल

[१७९]

कहाँ जाऊँ, कासों कहौं, को सुनै दीन की ।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की ॥१॥

जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं ।।२।।
गजराज - काज खगराज तजि धायो को ।
मोसे दोष-कोष पोसे, तोसे माय जायो को ।।३।।
मोसे कूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया गीध - स्राध के ।।४।।
तुलसी की तेरे ही बनाये, बलि, बनैगी।
प्रभु की बिलंब-अंब दोष - दुख जनैगी ।।५।। पैदा करेगी

शब्दार्थ—अंगहीन=अपंग, असहाय। जगदीस=संसार के स्वामी। घनेरे= अनेक, बहुत से। खगराज=पक्षिराज गरुण। दोष-कोप=पापों का भंडार। माय= माता। जायो=पैदा किया। कूर=दुष्ट । आध=आधी। बहुमोल=बहुमूल्य। बिलंब-अंब=विलम्ब रूपी माता। जनैगी=पैदा करेगी।

भावार्थ—हे राम ! मैं कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, मुझ दीन की बात सुनता ही कौन है ! हे राम ! तीनों लोकों में केवल तुम ही एक ऐसे हो जो सारे असहाय लोगों को गति प्रदान करते हो, उनका उद्धार करते हो। वैसे तो इस संसार में घर-घर में अनेक संसार के स्वामी भरे पड़े हैं, अर्थात् अनेक ऐसे देवी-देवता हैं जो अपने को संसार का स्वामी कहते हैं परन्तु निराधार की सहायता करने वाले तो एकमात्र तुम्हारे ही गुण हैं। अर्थात् तुम में ही ऐसे गुण हैं जो असहायों की सहायता करते हैं। प्राणी तुम्हारे ही गुण गाकर संसार-सागर से पार हो जाते हैं। गजराज के कार्य के लिए गरुड़ की सवारी छोड़कर कौन पैदल ही भागा आया था ? मुझसे पापों के भंडार अर्थात् महान् पापी का किसने पालन-पोषण किया था ? तुम्हारे समान पुत्र किस माता ने उत्पन्न किया था ?

मुझ जैसे दुष्ट, कायर, कपूत और आधी कौड़ी के बराबर कीमत वाले को अर्थात् तुच्छ को भी हे जटायु का श्राद्ध करने वाले ! तुमने बहुमूल्य बना दिया। अर्थात् मुझ जैसा नीच और तुच्छ व्यक्ति भी आज तुम्हारा नाम लेने के कारण ही संसार में इतना सम्मान पा रहा है। हे प्रभु ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। मेरी बात तो तुम्हारे बनाये ही बनेगी। हे राम ! यदि तुमने मेरा उद्धार करने में विलम्ब किया तो तुम्हारी विलम्ब-रूपी माता अनेक पाप और दुखों को जन्म देगी; अर्थात् यदि तुमने देर लगायी तो मैं न जाने क्या-क्या पाप कर बैठूँगा और उनके फलस्वरूप नाना प्रकार के दुख भोगूँगा। अतएव शीघ्र ही मेरा उद्धार करो।

टिप्पणी—(१) 'गीध-साधक'—राम ने अपने पिता दशरथ के मरने पर तो उनका क्रिया-कर्म नहीं किया था, परन्तु जटायु के मरने पर अपने हाथों से उसे पिंडदान दिया था।

(२) 'मोसे········आध के'—तुलसी ने यही बात कवितावली में कही है—

'राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को।'

[१८०]

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो।
राय दसरथ के तू उथपन-थापनो ॥१॥
साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ॥२॥
बचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं ॥३॥
कौन कियो समाधान सनमान सीला को।
भृगुनाथ सो रिषी जितैया कौन लीला को ॥४॥
मातु-पितु-बंधु-हित, लोक-वेदपाल को।
बोल को अचल, नत करत निहाल को ॥५॥
संग्रही सनेहबस अधम असाधु को।
गीध सबरी को कहौ करिहै सराधु को ॥६॥
निराधार को अधार, दीन को दयालु को।
मीत कपि-केवट-रजनिचर-भालु को ॥७॥
रंक निरगुनी नीच जितने निवाजे हैं।
महारज सुजन समाज, ते बिराजे हैं ॥८॥
साँची बिरुदावली न बढ़ि कहि गई है।
सीलसिंधु, ढील तुलसी की बारि भई है ॥९॥

शब्दार्थ—बलि=बलैया लेता हूँ। उथपन=उखड़े हुए। थापनो=स्थापित करना। साहिब=मालिक। सुखेत=उपजाऊ खेत। जहान=संसार। सीला=शिला, पाषाणी अहिल्या। लीला=खेल ही खेल में। भृगुनाथ=भार्गव परशुराम। बोल=बात, वचन। नत करत=प्रणाम करते ही। संग्रही=इकट्ठा करने वाला। सराधु=श्राद्ध। निवाजे हैं=कृपा की है। ढील=देर।

भावार्थ—हे राजा दशरथ के लाड़ले राम! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। एक बार मेरी ओर कृपादृष्टि डालकर मुझे अपना बना लो, अपनी शरण में ले लो। तुम तो उखड़े हुओं को फिर जमाने वाले हो। (सुग्रीव, विभीषण आदि उखड़े

हुओं को राज्य दिलाया था ।) शरणागतों का पालन करने वाला ऐसा समर्थ स्वामी तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई नहीं है । तुम्हारा नाम लेते ही ऊसर जमीन के समान तुच्छ जीव भी सुन्दर उपजाऊ खेत के समान अर्थात् ज्ञानी और गुणी बन जाते हैं । तुम्हारे उपदेश और कर्म मेरे मन में जम गये हैं अर्थात् उन पर मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है । मैंने संसार में जितने बड़े लोग हैं उन सबको देखा, सुना और जान लिया है । अर्थात् इनमें से किसी पर भी मेरा विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सामने ये सब तुच्छ और नगण्य हैं । क्योंकि––

(इनमें से किसने) पाषाणी अहिल्या का सम्मान कर (स्वयं उसके पास जाकर) उसके संकट को दूर किया था ? परशुराम जैसे (महान् पराक्रमी) ऋषि पर खेल-ही-खेल में (सरलतापूर्वक) विजय प्राप्त करने वाला कौन था ? माता-पिता और भाई के भले के लिए लोक और वेद की मर्यादा का किसने पालन किया था ? अपने वचन पर अटल रहने वाला कौन है ? प्रणाम करते ही भक्तों को निहाल कौन कर देता है ? स्नेह के वश होकर नीचों और दुष्टों को कौन इकट्ठा करता फिरा था; अर्थात् इन्हें शरण देने वाला कौन था ? यह कहो कि गिद्ध, जटायु और भीलनी शबरी का तुम्हारे समान कौन श्राद्ध करेगा ?

निराधार (असहाय) का आधार (सहारा) और दीन पर दया करने वाला कौन है ? बन्दर, केवट, राक्षस और रीछों का मित्र कौन है ? हे महाराज राम ! तुमने जितने गरीबों, गुणहीनों और नीचों पर कृपा की है, वे सब विद्वानों के समाज में विराज रहे हैं । अर्थात् विद्वानों और साधु-सन्तों में उनकी गणना होती है । तुम्हारी यह विरुदावली (यश-कीर्ति) सच्ची है, इसमें एक भी बात बढ़ा-चढ़ाकर अर्थात् झूठी नहीं कही गयी है । परन्तु हे शील के समुद्र ! तुलसी की बार ही इतनी देर क्यों हो रही है ? अर्थात् तुम तुलसी का शीघ्र उद्धार क्यों नहीं करते, क्योंकि यह भी नीच, अधम और दुष्ट है ।

[१८१]

केहू भाँति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिए ।
मोको और ठौर न, सुटेक एक तेरिए ॥१॥
सहस सिला तें अति जड़ मति भई है ।
कासों कहौं, कौने गति पाहनहिं दई है ॥२॥
पद-राग-जाग चहौं कौसिक ज्यौं कियो हौं ।
कलि-मल खल देखि भीति भारी भियो हौं॥३॥
करम-कपीस बालि-बली-त्रास-त्रस्यो हौं ।
चाहत अनाथ-नाथ तेरी बाँह बस्यो हौं ॥४॥

महा मोह-रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं ।
त्राहि तुलसीस ! त्राहि तिमैं ताप तयो हौं ॥५॥

शब्दार्थ—केहू=किसी । सुटेक=सुन्दर सहारा । तेरिए=तुम्हारा ही । पाहनहिं=पत्थर को । पद-राग-जाग=चरणों में स्नेहरूपी यज्ञ । कौसिक=विश्वामित्र । भियो हौं=डरा हूँ । करम-कपीस=कर्मरूपी बानर राज । त्रस्यो हौं=त्रस्त हूँ, भयभीत हूँ । बस्यो=बसना । हयो=मारा ।

भावार्थ—हे कृपा के सिन्धु राम ! किसी तरह मेरी ओर भी देख लो । मेरे लिए और कहीं भी स्थान नहीं है, केवल एक तुम्हारा ही सुन्दर सहारा है । मेरी बुद्धि हजार पत्थर की शिलाओं से भी अधिक जड़ (ठोस, मन्द) हो गयी है । मैं किससे कहूँ, और किसने पत्थर का उद्धार किया है । भाव यह है कि एक तुम्हीं ने पाषाणी अहिल्या का उद्धार किया था सो तुम ही मेरी पत्थर के समान जड़ बुद्धि को शुद्ध कर निर्मल बना सकते हो । मैं भी उसी प्रकार तुम्हारे चरणों में स्नेहरूपी यज्ञ करना चाहता हूँ जिस प्रकार विश्वमित्र ने किया था । परन्तु मैं कलियुग के पाप रूपी दुष्टों को देखकर बहुत भयभीत हो रहा हूँ । भाव यह है जिस प्रकार तुमने ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों को मारकर विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी, अब उसी प्रकार इन पापों से रक्षा कर मुझे अपने चरणों की भक्ति रूपी यज्ञ करने दो ।

अपने कर्म रूपी बानर राज बलवान बालि के भय से मैं बहुत त्रस्त हो रहा हूँ । अर्थात् जिस प्रकार सुग्रीव बालि से त्रस्त रहता था और तुमने बालि को मार उसकी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुम मेरे कर्मों के घातक प्रभाव को नष्ट कर मेरी रक्षा करो । हे अनाथों के नाथ ! मैं तुम्हारी भुजा की छत्रछाया में बसना (रहना) चाहता हूँ । जिस प्रकार रावण ने विभीषण पर पद-प्रहार कर उसे मारा था उसी प्रकार मोह रूपी रावण मुझ विभीषण जैसे तुलसी को सता रहा है । हे तुलसी के स्वामी ! मैं तीनों प्रकार के सांसारिक तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) से जला जा रहा हूँ । मेरी रक्षा करो ।

[१८२]

नाथ, गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो ।
राम रीझिबे को जानो भगति न भाउ सो ॥१॥
करम सुभाउ काल ठाकुर न ठाउँ सो ।
सुधन न सुतन न सुमन सुभाउ सो ॥२॥
जाँचो जल जाहि कहै अमिय पिआउ सो ।
कासों कहौं काहू सों न हिआउ सो ॥३॥

बाप, बलि जाऊँ, आपु करिये उपाउ सो।
तेरेही निहारे परै हारेहू सुदाउ सो ॥४॥
तेरेही सुझाये सूझै असुझ सुभाउ सो।
तेरेहीं बुझाये बूझै अबुझ बुझाउ सो ॥५॥
नाम-अवलंबु-अंबु दीन मीन - राउ सो।
प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो ॥६॥
सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो ॥७॥

शब्दार्थ—गुनगाथ=तुम्हारे गुणों की कथा। ठाकुर=स्वामी। सुतन=सुन्दर शरीर। सुआउ=बड़ी आयु। जाँचो=माँगा। जाहि=जिससे। पिआउ=पिला। हिआउ=हिम्मत। सुदाउ=अच्छा दाँव। असुझ=न दिखाई देने वाला। अबुझ=जो समझ में न आवे। बुझाउ=समझाओ। नाम-अवलंबु-अंबु=नाम रूपी जल का सहारा, आधार। मीन-राउ=मछलियों का राजा। बनाइ=बनाकर, झूठी बात। जीह=जीभ। सुबनाउ=अच्छा बालक, अच्छा साधन। जनाउ=सूचित कर दिया है।

भावार्थ—हे नाथ ! तुम्हारे गुणों की कथा सुनकर मेरे मन में बड़ा चाव उत्पन्न होता है (कि किसी प्रकार मैं भी तुम्हें रिझा लूँ), परन्तु तुम्हें रिझाने के लिए जैसी भक्ति और भाव की जरूरत होती है, वह तो मैं जानता ही नहीं। न तो मेरे कर्म अच्छे हैं, न स्वभाव भला है, न समय ठीक है (कलियुग है न), न स्वामी ही अच्छा है (मन स्वामी है), और न कहीं मेरा ठौर-ठिकाना ही है। न मेरे पास (सतकर्मों रूपी) अच्छा धन ही है, न सुन्दर (नीरोग) शरीर ही है और न वैसा अच्छा मन और स्वभाव ही है जो तुम्हें रिझाने के लिए जरूरी होता है, और न मेरी आयु ही लम्बी है जिससे अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकूँ कि कभी तो अवसर आयेगा)। अर्थात् तुम्हारी भक्ति प्राप्त करने का मेरे पास एक भी साधन नहीं है। मैं सब तरह से दीन-हीन हूँ।

इस जगत की रीति ऐसी विषम है कि मैं जिससे भी पीने के लिए जल माँगता हूँ वही उल्टा मुझसे पीने के लिए अमृत की माँग करने लगता है। अर्थात् जिससे भी मैं अपने मन को शान्त करने की युक्ति पूछता हूँ, वही मुझसे मुक्ति पाने की युक्ति पूछने लगता है। मुझे कोई भी नहीं बताता कि मैं तुम्हें कैसे रिझाऊँ। मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ ? मेरी तो किसी से भी कहने की हिम्मत नहीं पड़ती है। तुम मेरे पिता हो। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। अब तुम ही कुछ उपाय करो। तुम्हारे द्वारा कृपादृष्टि करने पर मेरा हारा हुआ दाँव विजय दिलाने वाला बन जायेगा। अर्थात् मैं तो सब तरह से हार ही चुका हूँ, अब तुम्हीं कृपा करोगे तो मेरा उद्धार होगा।

जब तुम्हीं दिखाते हो (ज्ञान दृष्टि देते हो) तभी न दिखाई पड़ने वाली वस्तुएँ भी दिखाई देने लगती हैं। इसलिए मुझे वही ज्ञान-दृष्टि देकर वास्तविकता के दर्शन कराओ। तुम्हारे ही समझाने से न समझ में आने वाली बातें भी समझ में आ जाती हैं, इसलिए मुझे भी समझा दो। अर्थात् मेरी अज्ञान-बुद्धि को दूर कर मेरे हृदय में ज्ञान का प्रकाश कर दो। हे प्रभु ! जैसे दीन-हीन मछलियों के राजा के लिए तो केवल एक तुम्हारे नाम रूपी जल का ही सहारा है, अर्थात् अन्य पापी तो दीन-हीन छोटी-छोटी मछलियों के समान हैं परन्तु मैं तो उन सबका राजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पापी हूँ, इसलिए अन्य साधनों से मेरा काम न चलकर तुम्हारे नाम रूपी जल से ही मेरा कल्याण होगा। मैं यदि इन बातों को बनाकर कह रहा हूँ तो मेरी जीभ जल जाय।

मेरी करनी तो सब तरह से बिगड़ ही चुकी है परन्तु अब एक ही सुन्दर बानक (सुन्दर सहारा) रह गया है और वह यह है कि तुलसी ने अपने इस संकट की सूचना अपने अच्छे स्वामी राम को (पहले से ही) दे दी है। अब आशा है राम अपने आप सब कुछ सम्हाल लेंगे।

टिप्पणी—(१) 'जाँचो''''सो' का भाव यह भी हो सकता है कि मैं जिससे भी प्यास से व्याकुल हो, पीने के लिए जल माँगता हूँ वही मुझे सिद्ध समझ कर मुझसे सांसारिक सुख-सम्पत्ति अथवा ब्रह्मज्ञान का उपदेश माँगने लगता है। मैं स्वयं नीच और मूर्ख हूँ। उन्हें क्या दूँ और क्या समझाऊँ ?

(२) 'तेरेही बुझाए''''''''सो' में निवेदन की निष्कपटता दृष्टव्य है। तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है—'सो जानेउ जेहि देइ जनाई।'

(३) 'नाम अवलम्बु''''मीन-राउ सो' से भाव यह है कि यदि मैं छोटी-मोटी मछली अर्थात् छोटा-सा पापी होता तो अन्य देवी-देवता मेरा उद्धार कर देते, परन्तु मैं तो विशाल मच्छराज के समान अर्थात् पापियों का सरदार हूँ, इसलिए केवल तुम्हारी कृपा रूपी अथाह सागर में ही रह सकता हूँ, अन्यत्र मेरा निर्वाह नहीं हो सकता, अन्य देवी-देवता मेरा उद्धार नहीं कर सकते।

राग आसाबरी

[१८३]

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।
बड़े की बड़ाई, छोटे की छोटाई दूरि करै,
ऐसी बिरुदावली बलि बेद मनियत है॥१॥
गीध को कियो सराध, भीलनी को खायो फल,
सोऊ साधु-सभा भली-भाँति भनियत है।
रावरे आदरे लोक बेद हूँ आदरियत,
जोग ग्यान हूँ तें गरू गनियत है॥२॥

प्रभु की कृपा कृपालु कठिन कलि हूँ काल,
महिमा समुझि उर अनियत है।
तुलसी पराये बस भये रस अनरस,
दीनबन्धु द्वारे हठ ठनियत है ॥३॥

शब्दार्थ—नीके=अच्छी तरह से। जनियत=जानते। मनियत=मानते। रावरे=तुम्हारे द्वारा। आदर=आदर करने से। आदरियत=आदर करते हैं। गरू=बड़े, महत्त्वपूर्ण। अनरस=विमुख। ठनियत=ठान रखी है।

भावार्थ—हे राम! तुम प्रेम की रीति अच्छी तरह से जानते हो। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। वेद तुम्हारी यश-कीर्त्ति ऐसी मानते हैं कि तुम बड़ों का बड़प्पन (अहंकार), छोटों का छोटापन (दीन-हीनता) दूर कर देते हों। अर्थात् बड़ों का अहंकार नष्ट कर दीन-हीन को सम्पन्न बना देते हो। तुमने गिद्ध जटायु का श्राद्ध किया था, भीलनी के फल (बेर) खाये थे। सन्तों के समाज में इन बातों की खूब अच्छी तरह से चर्चा की जाती है। तुम जिसका आदर करते हो, लोक और वेद भी उसका आदर करने लगते हैं और उसे योग और ज्ञान से भी श्रेष्ठ मानने लगते हैं। अर्थात् योग और ज्ञान द्वारा भी जिस परम पद को नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे तुम्हारे भक्तों का स्मरण करने से ही प्राप्त किया जा सकता है। (जैसे हनुमान का नाम भजने से मुक्ति मिल जाती है।)

हे प्रभु! हे कृपालु! इस कठिन कलियुग में भी भक्त-जन तुम्हारी महिमा को समझ कर उसे अपने हृदय में धारण करते हैं। हे दीनबन्धु! यह तुलसी पराये वश में पड़कर विषय-वासनाओं के अधीन होकर) तुम्हारे प्रेम रूपी रस से अनभिज्ञ (विमुख) हो रहा है परन्तु फिर भी तुम्हारे द्वार पर हठ ठाने पड़ा है अर्थात् सत्याग्रह किये पड़ा है (कि तुम्हें उसका उद्धार करना ही पड़ेगा क्योंकि वह छोटा अर्थात् दीन-हीन है)।

टिप्पणी—'रावरे आदरे····आदरियत'—तुलना कीजिए—

'जा पर कृपा राम की होई, ता पर कृपा करहिं सब कोई।'—मानस

[१८४]

राम-नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥१॥
करम-कलाप परिताप, पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।

दंभ लोभ, लालच उपासना बिनासि नीके,
सुगति साधन भई उदर भरनि ॥२॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूँ न करनि।
कपट सुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि,
सकल सराहैं निज निज आचरनि ॥३॥
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत,
सुरसरि-तीर कासी धरम-धरनि।
राम-नाम को प्रताप, हर कहैं जपैं आपु,
जुग जुग जानैं जग बेदहूँ बरनि ॥४॥
मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,
गति राम-नाम ही की बिपति-हरनि।
राम-नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥५॥

शब्दार्थ—जरनि=जलन। अपाय=पंगु, व्यर्थ। तरनि=सूर्य। कलाप=समूह। परिताप=सन्ताप, दुख। फोकट=व्यर्थ। फरनि=फल। सुगति=मोक्ष। निरुपाधि=उपद्रव रहित। करनि=कर्म, कर्त्तव्य। कुपथ=बुरे मार्ग। मरत=मरते समय। बरनि=वर्णन करते हैं। प्रतीति=विश्वास। ढरैंगे=कृपा करेंगे। ढरनि=स्वभाव के अनुसार।

भावार्थ—राम-नाम के जपने से मन की जलन मिट जाती है। इस कलियुग में (योग, यज्ञ, तप आदि) अन्य साधन तो उसी प्रकार व्यर्थ (प्रभावहीन) हो गये हैं जिस प्रकार अंधेरा दूर करने के लिए चित्र में बना हुआ सूर्य। अर्थात् चित्रांकित सूर्य जैसे अन्धकार दूर करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार ये साधन कलियुग में प्रभाव-हीन हो गये हैं। कर्म तो ढेर सारे हैं परन्तु वे सब दुख और पाप से सने हुए हैं। अर्थात् कर्म करने पर फल नहीं मिलता तो सन्ताप होता है और विषयों के आकर्षण के कारण ठीक तरह से कर्म न करने पर पाप होता है। अतः ये सारे कर्म ऐसे ही व्यर्थ हैं जैसे किसी वृक्ष में फूल तो सुन्दर हों परन्तु फल ऐसे व्यर्थ लगें जिन्हें खाया न जा सके। पाखंड, लोभ, लालच आदि ने उपासना का पूरी तरह से नाश कर डाला है। अर्थात् इनके कारण उपासना हो ही नहीं पाती और मुक्ति को लोगों के अपना पेट भरने का साधन बना लिया है। अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने का, संन्यास आदि का ढोंग रच-रच कर लोग अपना पेट पालने लगे हैं।

न तो योग-साधना ही करते बनती है, समाधि लगाने में सैकड़ों खटके लगे

रहते हैं, न वैराग्य और ज्ञान की साधना हो पाती है। वैराग्य और ज्ञान वचनों (उपदेशों) और विभिन्न प्रकार के वेशों में सीमित होकर रह गये हैं। उनके अनुसार कर्म कोई भी नहीं करता। केवल उपदेश और वेशभूषा द्वारा ही सारे काम चलाये जा रहे हैं। कपट के अनेक बुरे मार्ग बना लिये हैं अर्थात् कपट द्वारा ढोंग दिखा सबको गुमराह किया जाता है, लोगों की कथनी और रहन-सहन (करनी) में खोट अर्थात् मक्कारी आ गयी है। जो कहते हैं, उसके अनुसार आचरण नहीं करते। सब लोग अपने-अपने आचरणों की ही प्रशंसा करते फिरते हैं। अर्थात् विभिन्न पंथों वाले सभी अपने-अपने पंथ को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते रहते हैं।

महादेव उपदेश दिया करते हैं कि जीव के मरते समय गंगा का किनारा हो, काशी जैसा धर्म का केन्द्र तीर्थ हो और राम-नाम का प्रताप हो। महादेव यही कहते हैं और स्वयं भी इसी का जाप करते हैं। युग-युगान्तरों से संसार के सब लोग इस बात को जानते हैं और वेद भी इसी का वर्णन करते हैं। (इसलिए इस कलियुग से मुक्ति का एकमात्र उपाय यही है कि)—

अपनी बुद्धि को राम-नाम में लगाना चाहिए, राम-नाम से ही प्रेम करना चाहिए, क्योंकि विपत्तियों को दूर करने वाला राम-नाम ही मुक्ति प्रदान करने वाला है। राम-नाम में विश्वास और प्रेम रखने से राम अपने कृपालु स्वभाव के कारण कभी-न-कभी तो अवश्य ही कृपा करेंगे।

विशेष—काशी की प्रशंसा में केशवदास का एक मनोरंजक पद दृष्टव्य है—

> एक दिये जहँ कोटिक होत हैं सो कुरु खेत मैं जाहू अन्हाइय।
> तीरथराज प्रयाग बड़े मन-वांछित के फल पाइ अघाइय॥
> श्री मथुरा बसि 'केसवदासजू' द्वै भुज तें भुज चार हैं जाइय।
> कासी पुरी की कुरीति बुरी जहँ देह दिएँ पुनि देइ न पाइय॥

[१८५]

लाज न आवत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत॥१॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि, जप तप जाग बनावत।
मो-सम मंद महाखल पाँवर, कौन जतन तेहि पावत॥२॥
हरि निरमल मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥३॥
जाकी सरन जाइ कोबिद दारुन त्रयताप बुझावत।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत॥४॥

भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसौं हरि परम बैर करि, तुम सो भलो मनावत ॥५॥
नाहिन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि! तुलसिदास गुन गावत ॥६॥

शब्दार्थ—भावत=अच्छा लगता है। बनावत=करते हैं। महाखल=महान् दुष्ट। पाँवर=नीच। कंक=गिद्ध। बक=बगुले। कोविद=तत्त्वज्ञ, विद्वान्। सावत=सौतिया डाह, द्वेष। नाउ=नाव। नातो लावत=सम्बन्ध जोड़ता हूँ। उदार-चूड़ामनि=सर्वश्रेष्ठ उदार दानी।

भावार्थ—हे राम! मुझे तुम्हारा दास कहलाने में लज्जा भी नहीं आती। क्योंकि जो आचरण तुम्हें अच्छे लगते हैं उन्हें मैं बिना किसी बात की चिन्ता किये (सहर्ष) त्याग देता हूँ, अर्थात् उन्हें नहीं करता। (और फिर भी तुम्हारा दास कहलाने में लज्जित नहीं होता।) मुनिगण जिसे प्राप्त करने के लिए सारे सम्बन्धों (विषय-आदि) को त्याग जप, तप, यज्ञ आदि करते हैं, भजन करते हैं, उस प्रभु को मुझ जैसा मूर्ख महादुष्ट और नीच किस उपाय द्वारा प्राप्त कर सकता है। भगवान तो विशुद्ध निर्मल स्वरूप हैं और मेरा हृदय मल अर्थात् पापों से भरा हुआ है, यह देख कर मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहता हूँ (कि क्या करूँ?) जिस प्रकार जिस तालाब में कौए, गिद्ध, बगुले, सूअर आदि रहते हैं उसमें हंस क्यों आकर रहने लगे। अर्थात् मेरे हृदय में काम-क्रोध आदि कलुषित वासनाएँ भरी रहने से वह पापी, मलिन हो रहा है उसमें निर्मल स्वरूप भगवान आकर कैसे रह सकते हैं। वह ऐसे गन्दे स्थान में कैसे निवास कर सकते हैं। भाव यह है कि भगवान तो साधु-सन्तों के कलुषित वासनाओं से रहित और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ भावनाओं से पवित्र बने हृदय में ही निवास करते हैं।

जिसकी शरण में जाकर तत्त्वज्ञ विद्वान् अपने भयंकर तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) को शान्त करते हैं उसकी शरण में जाने पर भी मद, मोह, लोभ आदि सताते रहते हैं क्योंकि सौतिया डाह स्वर्ग में भी पीछा नहीं छोड़ता। अर्थात् मुझे राम की शरण में जाने पर भी पूर्ण शान्ति नहीं मिलती, विषय-वासनाएँ मुझे व्याकुल किये रहती हैं। मैं दूसरे लोगों को तो यह कह-कहकर समझाता हूँ कि संत-गण इस संसार रूपी नदी को पार करने के लिए नाव के समान हैं। परन्तु हे हरि! मैं उन्हीं साधु-सन्तों से भयंकर दुश्मनी ठानकर तुमसे यह आशा करता हूँ कि तुम मेरा भला करोगे। अर्थात् मेरी कथनी और करनी में महान् अन्तर है, फिर मैं तुम्हारी कृपा कैसे प्राप्त कर सकता हूँ।

मेरे लिए संसार में और कहीं भी कोई स्थान नहीं है जहाँ मैं शरण पा सकूँ, इसीलिए जबरदस्ती तुमसे अपना सम्बन्ध जोड़ता हूँ। अर्थात् तुम्हारा दास कहलाता

हूँ। हे सर्वश्रेष्ठ उदार दानी राम ! मुझे अपनी शरण में रख लो। यह तुलसीदास तुम्हारे गुण गाता है।

टिप्पणी—(१) 'सो आचरन'—से अभिप्राय ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, क्षमा, समता आदि शुभ भावनाओं से है।

(२) 'जेहि सर····आवत'—पं० रामेश्वर भट्ट ने इस पंक्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"राम रूपी हंस तो वहाँ आयेगा जिसके हृदय तड़ाग में प्रेमरूपी सुन्दर निर्मल जल भरा है, ज्ञान-विराग रूपी कमल खिल रहे हैं, और सन्तोष-विवेक रूपी मुक्ता उत्पन्न होते हैं; मेरे हृदयरूपी तड़ाग में, जहाँ संसारी-विषय रूपी बड़ा गँदला जल भर रहा है और कामरूपी शूकर, लोभरूपी बगुले, क्रोधरूपी काक और मोहरूपी गिद्ध रहते हैं और चिन्ता-वासना रूपी जहाँ खाली सीपियाँ पड़ी हैं, उसका आना कैसे हो सकता है।"

(३) 'सरगहुँ मिटत न सावत'—अभिप्राय सौतिया डाह से है। एक पति की दो पत्नियाँ स्वर्ग में भी आपस में एक-दूसरे से द्वेष करना नहीं छोड़तीं। इसी प्रकार जीव की दो स्त्रियाँ मानी गयी हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। इनमें परस्पर द्वन्द्व मचा रहता है। प्रत्येक अवस्था में ये जीव को व्याकुल बनाये रहती हैं। शुभ और अशुभ भावनाओं में निरन्तर द्वन्द्व होता रहता है जिससे प्राणी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता।

X [१८६]

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥१॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये।
जाते बिपति-जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥२॥
जानत हूँ मन बचन करम पर-हित कीन्हें तरिये।
सो बिपरीत देखि पर-सुख, बिनु कारन ही जरिये ॥३॥
स्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह ईर्षा बस तिनहिं न आदरिये ॥४॥
संतत सोइ प्रिय मोहिं सदा जातें भवनिधि परिये।
कहौ अब नाथ, कौन बल तें संसार-सोक हरिये ॥५॥
जब कब निज करुना सुभाव तें, द्रवहु तौ निस्तरिये। {निस्तार होगा}
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि पचि मरिये ॥६॥

शब्दार्थ—डरिये=डरता हूँ। द्रवहु=कृपा करते हो। बिपरीत=उल्टा।

आदरिये=आदर करना । संतत=सदैव । परिये=पड़ा रहना । निस्तरिये=निस्तार होगा, उद्धार होगा ।

भावार्थ—हे राम ! मैं किस तरह तुमसे प्रार्थना करूँ । जब मैं अपने आचरणों के सम्बन्ध में सोचता हूँ (कि मेरे आचरण कितने पाप-भर रहे हैं) तो मैं मन में हार मानकर अर्थात् हताश होकर भयभीत हो उठता हूँ (कि क्या मुँह लेकर भगवान से प्रार्थना करूँ) । मैं यह जानता हुआ भी कि भगवान किस साधन द्वारा भक्तों पर कृपा करते हैं, उस साधन को हठपूर्वक त्याग देता हूँ, अर्थात् उसे नहीं अपनाता । मैं रात-दिन उसी मार्ग पर चलता रहता हूँ जिस पर चलने से नाना प्रकार की विपत्तियाँ और दुख भोगने पड़ते हैं । मैं इस बात को जानता हूँ कि मन, वचन और कर्म से दूसरों की भलाई करने से इस संसार से मुक्ति मिल जाती है परन्तु मेरे आचरण इससे बिल्कुल उल्टे हैं । मैं करता यह हूँ कि दूसरों के सुख को देखकर बिना कारण ही उनसे जलता रहता हूँ, कुढ़ता रहता हूँ ।

वेद और पुराण सबकी यही मत है कि खूब मन लगाकर सत्संग करना चाहिए परन्तु मैं अपने अभिमान, मोह, ईर्ष्या आदि के वश में पड़ा हुआ इस मत का आदर नहीं करता अर्थात् कभी साधु-सन्तों के सत्संग में नहीं रहता । मुझे तो निरन्तर वही कार्य अच्छे लगते हैं, जिन्हें करने से इस संसार रूपी सागर में ही पड़ा रहना पड़ता है । अर्थात् मैं सदैव सांसारिक विषय-वासनाओं के मोह में ही लिप्त रहता हूँ । हे नाथ ! अब तुम्हीं बताओ कि मैं किस बल द्वारा इस संसार के दुखों से मुक्ति पाऊँ । अर्थात् कौन-सा साधन अपनाऊँ जिससे मेरा सांसारिक बन्धन दूर हो । (अब तो केवल यही विश्वास है कि) जब कभी तुम अपने करुणा करने वाले स्वभाव से प्रेरित हो मुझ पर करुणा करोगे तभी मेरा निस्तार होगा । मुझ तुलसीदास को तो अन्य किसी का भी विश्वास नहीं है (कि कोई दूसरा मेरा उद्धार कर सकेगा), फिर पच-पचकर क्यों मरूँ । अर्थात् व्यर्थ के साधन अपनाकर अपनी जान क्यों संकट में डालूँ ?

[१८७]

ताहि ते आयो सरन सबेरे ।
ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ न मेरे ।।१।।
लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे ।
तिनहि मिले मन भयो कुपथ-रत फिरै तिहारेहि फेरे ।।२।।
दोष-निलय यह विषय सोक-प्रद कहत संत स्रुति टेरे ।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ।।३।।
बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु बिनु बेरे ।
तुम सम ईस कृपालु परम हित, पुनि न पाइहौं हेरे ।।४।।

यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे।
तुलसिदास यह बिपति बाँगुरो तुमहिं सों बनै निबेरे ।।५।।

शब्दार्थ—सवेरे=जल्दी। फिरै=लौटेगा। निलय=घर, भंडार। प्रद=प्रदान करने वाला, देने वाला। टेरे=पुकार-पुकारकर। प्रेरे=प्रेरणा देने से। पियूप=अमृत। वेरे=वेड़ा, नाव। हेरे=देखने पर भी। वाँगुरो=जाल। निवेरे=दूर करते।

भावार्थ—हे नाथ ! (मुझे अन्य किसी का भी भरोसा नहीं है और मृत्यु न जाने कब आकर मुझे दवा ले) इसीलिए मैं जल्दी ही तुम्हारी शरण में आया हूँ। मेरे पास ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि (मुक्ति पाने के) साधन कभी स्वप्न में भी नहीं आये। अर्थात् मैंने कभी स्वप्न में भी इन्हें नहीं अपनाया। लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध आदि दुश्मन मुझे रात-दिन घेरे फिरते हैं। अर्थात् मैं इन्हीं में लिप्त रहता हूँ। इनके साथ रहते-रहते मेरा मन भी कुमार्गी हो गया है। अब तो यदि तुम्हीं इसे इस बुरे मार्ग से लौटाओ तो यह लौटेगा, मेरे वश की तो वात रही नहीं।

सन्त और वेद पुकार-पुकारकर इस वात को कहते आये हैं कि यह मन अथवा यह बुरा मार्ग पापों का भण्डार है। ये सांसारिक विपय-वासनाएँ दुख देने वाली हैं। मैं इस वात को जानता हुआ भी इन्हीं में अनुरक्त रहता हूँ। अर्थात् जान-बूझकर भी विपय-वासनाओं के जाल में पड़ा रहता हुँ। परन्तु यह सव तुम्हारी ही प्रेरणा से हो रहा है अर्थात् तुम्हीं मुझसे यह सब पाप करवा रहे हो। अन्यथा (जान-बूझकर कौन दुख उठाना चाहता है ?) हे प्रभु ! (तुम इतने समर्थ हो कि) विप को अमृत के समान और अग्नि को वर्फ के समान वना देते हो और विना नाव के ही जीव को संसार-सागर से पार कर देते हो। हे भगवान ! मैं दुवारा खोजने पर भी तुम्हारे समान कृपा करने वाला स्वामी और परम हितैपी दूसरा कहीं नहीं पा सकूँगा।

हे रघुवीर ! हृदय में यही जानकर मैं सब को छोड़ केवल तुम्हारे ही भरोसे रहता हूँ। मुझ तुलसीदास की विपत्तियों का यह जाल तुम्हारे ही काटने से कट सकेगा। मेरा उद्धार हो सकेगा।

टिप्पणी—(१) 'विषय'—पंचेन्द्रियों के धर्म होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्हीं के कारण जीव संसार में अनुरक्त रहता है।

(२) 'तुम्हरेहि प्रेरे'—जीव ब्रह्म के हाथों में कठपुतली के समान है। जीव स्वयं कुछ भी नहीं करता। ब्रह्म जो कुछ उससे कराता है उसे वही करना पड़ता है। निम्नलिखित श्लोक में भी यही वात कही गयी है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

(३) 'तुमहि सों बनै निबेरे'—यह भव-बन्ध तुम्हारा ही उत्पन्न किया हुआ

है अतः अब तुम्हीं इसे दूर करो तो इससे मुक्ति मिल सकती है; अन्यथा नहीं। क्योंकि **'जो बाँधै सोइ छोरै ।'**

(४) 'तारि सकहु बिनु वोरें'—का यह अर्थ भी हो सकता है कि—'आप बिना देर किये जिसे चाहें तुरन्त तार सकते हैं।' यहाँ 'वेरे' का अर्थ 'देर करना' ग्रहण किया जायेगा।

[१८८]

मैं तोहिं अब जान्यो संसार ।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल, प्रगट-कपट-आगार ।।१।।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि कियो बिचार ।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहूँ न निकसत सार ।।२।।
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार ।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहिं बार ।।३।।
सुनु खल, छल बल कोटि किये बस होंहिं न भगत उदार ।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नन्दकुमार ।।४।।
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार ।
सो परि डरै मरै रजु-अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ।।५।।
निज हित सुनुसठ, हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार ।
तुलसिदास प्रभु के दासनि तजि भजहि जहाँ मद मार ।।६।।

शब्दार्थ—कपट-आगार=कपट का भण्डार। कमनीय=सुन्दर। कदली तरु =केले का पेड़। सार=गूदा, तत्त्व। सहाय=सहायक। मरम=भेद, असलियत। रजुअहि=रस्सी का सर्प। मार=कामदेव।

भावार्थ—तुलसीदास संसार को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि—

हे संसार ! अब मैंने तुझे जान लिया है। अर्थात् तेरा सारा रहस्य मेरी समझ में आ गया है। तू सचमुच कपट का भण्डार है, परन्तु अब तू मुझे अपने कपट-जाल में और अधिक नहीं बाँध सकेगा क्योंकि मेरे पास भगवान का बल है अर्थात् भगवान मेरे सहायक हैं। तू देखने में ही सुन्दर लगता है परन्तु फिर विचार करने पर तू कुछ भी नहीं रहता अर्थात् विवेक द्वारा विचार करने पर तू मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तेरा अस्तित्व तक नहीं रहता। तेरी दशा तो केले के उस वृक्ष के समान है (जो देखने में तो खूब सुन्दर और मोटा दिखाई देता है) परन्तु जब उसे खोलकर उसके भीतर देखा जाता है तो उसमें से कभी गूदा नहीं निकलता। (केले के वृक्ष का तना छिलकों की परतों से बना रहता है, एक-एक कर उसकी ऊपरी परतों को हटाते जाइए और अन्त

तक उसमें परतों के अलावा और कुछ भी नहीं निकलता। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा संसार का विश्लेषण करने से यह संसार भी निस्सार-तत्त्वहीन सिद्ध हो जाता है।)

मैं तुझे समझने के लिए वार-वार अनेक जन्म धारण करता हुआ भटकता फिरा हूँ परन्तु फिर भी तेरा पार नहीं पा सका; अर्थात् तेरी असलियत नहीं समझ सका। तूने मुझे वार-वार महामोहरूपी मृगतृष्णा की नदी में डुवोया अर्थात् वार-वार मुझे सांसारिक विषय-वासनाओं के मोह में फँसाये रखा परन्तु फिर भी मैं तेरी असलियत नहीं जान सका। रे दुष्ट ! सुन, भले ही तू करोड़ों प्रकार के छल-कपट से काम ले, परन्तु भगवान के परम भक्त कभी भी तेरे वश में नहीं होंगे अर्थात् तेरे प्रति आकर्षित नहीं होंगे। अब तो तू अपने सहायकों (काम, क्रोध आदि) सहित उन हृदयों में जाकर अपना डेरा जमा जहाँ नन्दकुमार भगवान कृष्ण न हों। अर्थात् अब तुझे उन्हीं लोगों के हृदय में आश्रय मिल सकता है, वे ही लोग तेरे जाल में फँस सकते हैं, जो भगवान कृष्ण का ध्यान नहीं करते, उनके भक्त नहीं होते।

अब तू जाकर उन लोगों के ऊपर अपनी मक्कारी का जाल फैला जो तेरा रहस्य नहीं जानते। जो तेरे भेद को नहीं जानता, तेरी करतूतों की असलियत को नहीं समझता वह रस्सी को साँप समझ भय से मरने लगता है। अर्थात् अपने भ्रम के कारण मरता है, रस्सी को ही साँप समझ लेता है। हे दुष्ट ! तू अपनी भलाई की वात सुन ! यदि तू अपनी और अपने परिवार (काम, क्रोध आदि) की कुशल चाहता है तो हठ मत कर। तू तुलसीदास के स्वामी राम के दासों (भक्तों) को छोड़ कर वहाँ भाग जा जहाँ अहंकार और काम का वास हो। अर्थात् अहंकारी और कामी ही तुझे सच्चा मान अपनायेंगे, राम भक्त नहीं।

टिप्पणी—(१) 'सो परि''''व्यवहार'—में 'रज्जु-अहि' का वेदान्ती मायावादी दृष्टान्त देकर संसार को मिथ्या कहा गया है। परन्तु तुलसी 'विनय-पत्रिका' में पहले एक प्रकार से इस वेदान्ती मायावाद का खण्डन कर आये है। जैसे—

'कोउ कह, सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै॥'

तुलसी 'विरति' को भगवत्प्राप्ति के लिए सर्वाधिक आवश्यक मानते हैं। यहाँ तुलसी संसार को मिथ्या न मानकर सांसारिक विषयासक्ति को ही मिथ्या प्रमाणित कर रहे हैं।

(२) 'नन्दकुमार'—कहकर तुलसी ने राम और कृष्ण में अभेद की स्थापना की है।

(३) इस पद से यह सिद्ध होता है कि अब तुलसी सांसारिक माया-मोह से पूर्णतः मुक्त हो चुके हैं, परमहंस बन गये हैं। उनके सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प नष्ट हो गये हैं।

राग गौरी

[१८९]

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव - बेगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे ॥१॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मन्द मोल बिनु डोला रे ॥२॥
बिषम कहार मार - मद - माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मन्द - बिलन्द अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥३॥
काँट कुराय लपेटन लोटन ठाँवहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे ॥४॥
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँकर भूला रे।
तुलसिदास भव - त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥५॥

शब्दार्थ—भव-बेगारि=संसार की बेगार। पुरान=पुराना। अटखट=गड़बड़, ऊटपटाँग। सरल=सड़ा हुआ। तिकोन=तीन कोनों वाला। दिहल=दिया। करम=कर्मरूपी बढ़ई। मंद=नीचा। डोला=पालकी। चँद=चन्द्र-डोला। विषम=समान संख्या में नहीं है। मार मद माते=काम रूपी शराब में मतवाले। पाँउ बटोरा=पैरों को सम्हाल कर, एक सी चाल से। मन्द-बिलन्द=नीचा-ऊँचा। अभेरा=धक्का। दलकन=झटके। कुराय=कंकड़-पत्थर। काँट=काँटे। लपेटन=पैरों में लिपटने वाले तिनके, झाड़ी आदि। लोटन=लता, साँप। बझाऊ=उलझन। संबल=टोसा, कलेवा। गाउँकर=गाँव का। अनुकूला=अनुकूल, प्रसन्न।

भावार्थ—हे भाई! तू राम-राम कहता चल, नहीं तो संसारी बेगार में पड़ जायेगा और फिर उससे छूटने में बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ेगा। अर्थात् माया की बेगार में पड़ जायेगा और जन्म-जन्मान्तर तक विभिन्न योनियों में भटकते फिरना पड़ेगा। परन्तु राम-भक्ति का यह मार्ग आसानी से कट जाता है, इसलिए राम का नाम जपता हुआ अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर। राम का नाम लेने से यमदूत तुझे बेगार में नहीं पकड़ सकेंगे क्योंकि राम के सेवक की ओर कोई भी उँगली नहीं उठा सकता।

तेरे कुटिल कर्मरूपी बढ़ई ने चन्द्रडोले का नाम लेकर यह शरीररूपी निकम्मा डोला बनाकर तुझे बिना किसी प्रकार की कीमत लिये मुफ्त ही दे दिया है। अर्थात् तुझे कुटिल कर्मों के परिणामस्वरूप यह नाशवान, क्षणभंगुर, रोगों का भण्डार मानव-शरीर प्राप्त हुआ है। भाव यह है कि व्यक्ति अनादि वासना के कारण बार-बार जन्म लेता है। यह शरीर उसी वासना से बने हुए खटोले के समान है। यह शरीर रूपी

खटोला कैसा है कि अनादि काल का अज्ञान और विषय-सुख की वासनारूपी इसमें पुराने बाँस लगे हुए हैं। इसका सारा साज बड़ा अटपटा है क्योंकि परस्पर नितान्त भिन्न पाँच प्रकार के विचित्र तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) के मिश्रण से इसका निर्माण हुआ है। (शरीर पंच तत्त्वों से बनता है।) इसके सारे अंग एक से न होकर टेढ़े-मेढ़े, लम्बे-छोटे, ऊँचे-नीचे आदि विभिन्न प्रकार के हैं जिसमें कहीं कोई समानता या अनुरूपता नहीं है। (शरीर के अंग इसी प्रकार के होते हैं।) साथ ही यह सड़ा-गला और बहुत पुराना होने के कारण बेकार है। अर्थात् यह क्षणभंगुर है, कभी भी नष्ट हो सकता है, इसलिए बेकार है। (मानव-शरीर नाशवान होने के कारण व्यर्थ है।) इसकी एक दूसरी विचित्रता यह है कि यह चौकोर न होकर (खटोला चार कोनों वाला होता है) तीन कोनों वाला है। भाव यह है कि इस मानव-शरीर रूपी खटोले में तीन गुण (सत, रज, तम) पाये हैं, तीन अवस्थाएँ (बाल, युवा, वृद्धा) तीन पाटियाँ हैं। (और दुख-सुख रूपी ताने-बाने से इसे बुना गया है।)

इस खटोले को ले चलने वाले कहार संख्या में विषम हैं (साधारणतः पालकी को ले चलने वाले कहारों की संख्या ३ या ६ होती है) परन्तु इस पालकी को उठाने वाले कहार संख्या में पाँच हैं (यहाँ पाँच इन्द्रियों से अभिप्राय है)। संख्या की इसी विषमता के कारण इनमें आपस में कोई समझौता नहीं हो पाता, कोई किधर खींचता है और कोई किधर (इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर मन को खींचती रहती हैं)। दूसरी मुसीबत यह है कि ये कहार कामरूपी शराब के नशे में मस्त हो रहे हैं, अर्थात् विभिन्न इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के नशे में चूर रहती है। तीसरी मुसीबत यह है कि इन सबके पैर एक-से और एक साथ नहीं पड़ते—नशे में चूर हो रहे हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय की ओर आकर्षित हो, दूसरों की चिन्ता न कर मनमाने ढंग से चलती है, इसलिए इनकी चाल में तारतम्य (एक लय, एक गति) नहीं रहता। चाल की इस विषमता का परिणाम यह होता है कि डोला एक सी स्थिति में न रहकर ऊपर-नीचे हिचकोले खाता रहता है, उसमें झटके लगते हैं और धक्कों के मारे वह झकझोर डाला जाता है। भाव यह है कि जब विभिन्न इन्द्रियाँ शरीर को बार-बार अपने-अपने विषयों की ओर खींचती है तो शरीर को बड़ा कष्ट होता है, वह कभी एक की माँग पूरी करने का प्रयत्न करता है और कभी दूसरी की। इन्द्रियों की इस पारस्परिक खींचातानी में शरीर को बड़े-बड़े भयंकर कष्ट झेलने पड़ते हैं।

(और जिस मार्ग पर यह शरीर रूपी डोला जा रहा है वह मार्ग कैसा विषम और भयंकर है कि) उस मार्ग में (कुटिल कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त तीनों प्रकार के ताप रूपी) काँटे और (विषय रूपी) कंकड़ियाँ भरी पड़ी हैं (जो पैरों में चुभती हैं), (स्त्री-पुत्रादि की ममता रूपी) झाड़ियाँ उलझा लेती हैं और (काम, क्रोध आदि रूपी) लताएँ अथवा सर्प चलने में स्थान-स्थान पर पैरों में लिपट कठिनाई पैदा करते रहते हैं। इस मार्ग की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि इस मार्ग पर जैसे-जैसे आगे बढ़ते

जाते हैं, वैसे-वैसे अपना घर, अपना गन्तव्य स्थान (लक्ष्य) अधिकाधिक दूर हटता चला जाता है और मार्ग में कोई संगी-साथी भी नहीं रहता। भाव यह है कि मनुष्य जैसे-जैसे कर्म-जाल में अधिकाधिक उलझता जाता है वैसे-वैसे अपना अन्तिम लक्ष्य—आत्मानुभूति—से दूर हटता चला जाता है। माया व्यवधान डालकर जीव को अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचने देती और उसे सांसारिक कर्म-जाल में उलझा और दूर हटा ले जाती है। (मार्ग में यदि संगी-साथी हों तो भटकने की आशंका नहीं रहती) परन्तु इस मार्ग में माया के प्रभाव के कारण ज्ञान और वैराग्य रूपी साथी न रहने से जीव लक्ष्य-भ्रष्ट हो भटकता फिरता है।

(इस मार्ग की सबसे भारी मुसीबत यह है कि) यह मार्ग बड़ा अगम्य (कठिन) है। (भक्ति मार्ग पर चलना बहुत दुष्कर है।) साथ में कोई सम्बल (टोसा, कलेवा) आदि भी नहीं है। अर्थात् ऐसे सत्कर्म भी नहीं किये हैं जिनके सहारे यह मार्ग कट जाय। और सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि चलने वाला उस गाँव का नाम भूल गया है जहाँ उसे पहुँचना है। भाव यह है कि सांसारिक विषय-वासनाओं के आकर्षण में पड़ जीव अपने लक्ष्य—आत्मानुभूति तक को भूल गया है। तुलसीदास कहते हैं कि हे राम ! अब तो केवल तुम्हीं अनुकूल होकर, कृपा कर मेरे इस संसार-रूपी भय को दूर करो। अर्थात् इस मार्ग को पार करवा, मुझे अपने लक्ष्य आत्मानुभूति तक पहुँचा दो। बिना तुम्हारी कृपा के मेरा उद्धार असम्भव है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—(i) इसमें पालकी या चन्द्र डोले का रूपक होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) 'जस जस········वास'—में 'विरोधाभास' और 'विशेषोक्ति' अलंकार हैं।

(२) इस पद में तुलसी ने डोले का रूप प्रस्तुत कर जीव की सांसारिक कठिन यात्रा, साधन की निरीहता और मार्ग के भयानक कष्टों एवं संकटों का वर्णन कर अन्त में राम-कृपा द्वारा ही इससे मुक्ति प्राप्त करने की बात कही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलसी राम-कृपा को ही जीव की लक्ष्य-पूर्ति का अन्तिम और एकमात्र साधन मानते हैं। अन्य साधन अधूरे और त्याज्य हैं।

(३) 'निज वास'—से प्रभिप्राय कबीर के 'हंसलोक' या 'सत्यलोक' से भी ग्रहण किया जा सकता है।

(४) 'विषय कहार········बटोरा रे'—से अभिप्राय विभिन्न इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों के आकर्षणों से है। पं० रामेश्वर भट्ट ने इन्द्रियों के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित एक अत्यन्त सुन्दर छन्द दिया है—

कान निरन्तर गान तान सुनिबोही चाहत।
आँखें चाहत रूप रैन रिन रहत निहारत॥
नासा अतर सुगन्ध चहत फूलन की माला।
त्वचा चहत सुख सेज संग कोमल तन बाला॥

रसना हु चाहत नित खाटे मीठे चरपरे।
इन पंचन इहिं परपंच सौं भूपन कौं भिच्छुक करे॥

(५) 'करमचन्द'—बुरे भाग्य के लिए व्यंग्योक्ति है।

(६) 'लोटन'—का अर्थ लता अर्थात् धरती पर फैली लता भी माना जा सकता है।

(७) तिकोन खटोला और पाँच कहारों के सम्बन्ध में कबीर की यह पंक्ति द्रष्टव्य है—

'सांकरी खटोलिया रहनि हमारी, दुबरे-दुबरे पाँचों कहरवा।'

[१९०]

सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह।
तातें भव-भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह॥१॥
ज्यों मुख मुकुर बिलोकिये अरु चित न रहै अनुहारि।
त्यों सेवतहुँ न आपने, ये मातु पिता सुत नारि॥२॥
दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत।
स्वारथ हित भूतल भरे, मन मेचक तनु सेत॥३॥
करि बीत्यो अब करतु है, करिबे हित मीत अपार।
कबहुँ न कोउ रघुबीर सो, नेह निबाह निहार॥४॥
जासों सब नातो फुरै, तासों न करी पहिचानि।
तातें कछू समुझ्यो नहीं, कहा लाभ कह हानि॥५॥
साँचो जान्यो झूठ को, झूठे कहँ साँचो जानि।
को न गयो, को जात है, को न जैहै करि हितहानि॥६॥
बेद कह्यो, बुध कहत हैं, अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि।
तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिये की आँखिन हेरि॥७॥

शब्दार्थ—भव-भाजन=संसार का पात्र। मुकुर=दर्पण। अनुहारि=सूरत। बासि कै=बसा के, बीच में रखकर। खरि=खली, सीठी, फोक। मेचक=काला। सेत=सफेद। करिबे=बनायेगा। मीत=मित्र। निहार=देखा। फुरै=सच्चे प्रतीत हों। कह=क्या। कहँ=को। बुध=बुद्धिमान।

भावार्थ—तुलसी मन अथवा प्राणी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि—तूने स्वभाव से ही प्रेम करने वाले अर्थात् निष्काम भाव से प्रेम करने वाले राम से सहज भाव से (निष्काम भाव से) प्रेम नहीं किया। इसी कारण तुझे संसार का पात्र बनना पड़ा अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के (आवागमन) के चक्कर में पड़ा रहना पड़ा। इसलिए तू अब भी मेरी इस शिक्षा को मान ले। जैसे दर्पण में अपने

मुख का प्रतिविम्व दिखाई पड़ता है और फिर दर्पण के सामने से हट जाने पर मन में वह सूरत नहीं रहती अर्थात् हम उसके विषय में सोचते तक नहीं अथवा वह प्रतिविम्व वस्तुतः दर्पण के भीतर वास्तविक रूप से स्थित न होकर उतने ही समय तक रहता है जब तक हम दर्पण के सामने खड़े रहते हैं और हट जाने पर उसके विषय में सोचते तक नहीं, उसी प्रकार माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि सभी सम्वन्धियों की सेवा करते हुए भी ये अपने नहीं होते। अर्थात् जब तक इनकी सेवा करो, तव तक तो ये अपने बने रहते हैं परन्तु वृद्धावस्था में या अशक्त हो जाने पर जव इनकी सेवा नहीं हो पाती तो ये मुँह फिरा लेते हैं। भाव यह है कि ये सव स्वार्थी हैं, जव तक इनका स्वार्थ सधता रहता है, तभी तक ये अपने सगे बने रहते हैं। परन्तु ये लोग (वाल्मीकि के घर वालों के समान) हमारे पाप कर्मों के परिणामों को भोगने में हमारे साथी नहीं रहते। उन्हें तो हमें अकेले ही भोगना पड़ता है।

(ये लोग इतने स्वार्थी होते हैं, तुलसी इसका एक दृष्टान्त देकर समझा रहे हैं) जिस प्रकार तिलों को फूलों के बीच रखकर पहले उन्हें सुगन्धित बनाते हैं और फिर उन्हें कोल्हू में पेर उनका रस निकाल खली को फेंक देते हैं (उसी प्रकार जव तक हम में धन कमाने की शक्ति, सौन्दर्य, वल, पौरुष आदि गुण रहते हैं तव तक घर वाले हमारी बात पूछते रहते हैं परन्तु इन गुणों के नष्ट हो जाने पर हमें वेकार समझ उपेक्षित के समान भुला दिया जाता है।) ऐसे स्वार्थी इस संसार में भरे पड़े हैं जिनका मन काला और शरीर गोरा होता है। अर्थात् जो देखने में सुन्दर परन्तु मन के काले (कपटी, स्वार्थी) होते हैं।

तू अब तक अनेक मित्र वना चुका है, अव भी वना रहा है और भविष्य में भी बनायेगा परन्तु राम के समान प्रेम का सदैव निर्वाह करने वाला आज तक कोई भी नहीं दिखाई पड़ा है। (इसलिए तू उन्हीं से प्रेम कर।) तूने उन राम से आज तक जान-पहचान नहीं की, उनसे सम्वन्ध नहीं जोड़ा जिनके कारण ही सारे नाते सच्चे प्रतीत होते हैं अथवा जिनसे ही सारे नाते सच्चे होते हैं। भाव यह है कि एक राम ही सारे नातों का पूरा और सच्चा निर्वाह करते हैं, अन्य कोई भी नहीं करता। इसी कारण तू अभी तक यह नहीं समझ पाया कि किस बात में तेरा लाभ है और किस में हानि। अर्थात् तुझे अभी तक अपना भला-बुरा समझने की बुद्धि नहीं आयी।

तूने झूठ को तो सत्य जाना और सत्य को झूठ समझा। अर्थात् झूठे नाशवान शरीर को तो सच्चा समझ तू उसकी सेवा करता रहा और सत्य आत्मा को झूठा समझ तूने उसकी उपेक्षा की। अपने हित को नष्ट करने वाला (अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने वाला) ऐसा कौन है जो इस संसार से नहीं गया, नहीं जाता है और नहीं जायेगा। अर्थात् सवको मृत्यु के मुँह में जाना ही पड़ता है। ऐसे मूर्ख प्राणी मरते ही रहते हैं। वेदों ने और पंडितों ने यही बात कही है और मैं भी पुकार-पुकार कर यही वात कह रहा हूँ कि इस संसार में केवल प्रभु राम ही सच्चे मित्र हैं। तू अपने हृदय की आँखों से, ज्ञान दृष्टि से इस बात को देख, सोच और समझ।

टिप्पणी—(१) 'ज्यों मुख·······अनुहारि'—इसका यह भाव भी हो सकता है कि जिस प्रकार हम दर्पण में अपना मुख देखते हैं तो वह हमारा मुख न होकर हमारे मुख का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। परन्तु उस समय हम उस प्रतिबिम्ब को ही सत्य समझ बिम्ब (मुख) को भूल जाते हैं। अर्थात् असत्य के समक्ष सत्य को भुला बैठते हैं।

(२) 'नेह निबाहनिहार'—का यह अर्थ भी हो सकता है कि प्रेम का निर्वाह करने वाला।

(३) 'साँचो·······जानि'—मनुष्य अज्ञान के कारण आत्म को अनात्म और अनात्म को आत्म समझ उसी के चक्कर में पड़ा रहता है।

(४) 'प्रभु साँचो·······हेरि'—ज्ञान दृष्टि से देखने पर ही सत्-असत् का यह भेद समझ में आता है और तभी इस महान् रहस्य का ज्ञान प्राप्त होता है कि ईश्वर ही जीव का एक मात्र हितैषी है, सांसारिक सगे-सम्बन्धी नहीं।

[१९१]

एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु।
प्रेम कनौड़ो राम सों नहिं दूसरो दयालु ॥१॥
तन - साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार - सुजान।
आरत अधम अनाथ हित को रघुबीर समान ॥२॥
नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर।
ससि सरोग, दिनकर बड़े, पयद प्रेम-पथ कूर ॥३॥
जाको मन जासो बँध्यो, ताको सुखदायक सोइ।
सरल सील साहिब सदा, सीतापति सरसि न कोइ ॥४॥
सुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि।
केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेखि ॥५॥
खग सबरी पितु मातु ज्यों माने, कपि को किये मीत।
केवट भेंट्यो भरत ज्यों ऐसो को कहु पतित-पुनीत ॥६॥
देइ अभागहिं भाग को, को राखै सरन सभीत।
बेद-बिदित बिरुदावली, कबि कोबिद गावत गीत ॥७॥
कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नाम की ओट।
गाँठी बाध्यो दाम सो परख्यो न फेरि खर - खोट ॥८॥
मन मलीन, कलि किलबिषी होत सुनत जासु कृत काज।
सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीब - निवाज ॥९॥

शब्दार्थ—साँचिलो=सच्चा। कनौड़ो=अहसानमन्द, कृतज्ञ। व्यवहार-सुजान

=व्यवहार कुशल । आरत=दुखी । नाद=स्वर, राग । समचर=समान व्यवहार करने वाला । सिखी=अग्नि । सूर=शूर, वीर । सरोग=रोगी । दिनकर=सूर्य । पयद=जलदाता, बादल । कूर=निर्दयी । सरिस=समान । सही=स्वीकृति । दिवान=दरबार । दिन=नित्य, सदैव । बिसेखि=विशेष, अधिक । अभागहि=अभागों को । सभीत=भयभीत । कोबिद=विद्वान्, ज्ञानी । गाँठी=गाँठ में । खर-खोट=खरा-खोटा । किलविषी=पापी । कृत काज=किये हुए कर्म ।

भावार्थ—सच्चे स्नेही केवल एक कोशल-नरेश राम ही हैं । प्रेम से कृतज्ञ होने वाला राम के समान दूसरा कोई दयालु नहीं है । अर्थात् राम प्रेम के वश हो सब पर दया करते हैं । हमारे इस शरीर के जितने भी साथी हैं अर्थात् इस शरीर के कारण जो हमसे सम्बन्ध मान हमारे साथ रहते हैं (स्त्री, पुत्र, बांधव आदि) वे सब स्वार्थी हैं, और सारे देवता व्यवहार-कुशल हैं अर्थात् सेवा-पूजा करने से ही प्रसन्न होते हैं और संकट के समय कभी सहायता नहीं करते । इसलिए दुखी, नीच और अनाथ की भलाई करने वाला राम के समान और कोई भी नहीं है ।

(तुलसी प्रेमी और प्रेमास्पद का अन्तर बताते हुए कहते हैं कि) संगीत निष्ठुर होता है (संगीत के आकर्षण से खिच हिरण अपने प्राण खो देता है, बहेलिया वीणा बजा उसे आकर्षित कर पकड़ लेता है), अग्नि समदृष्टा अर्थात् सबके साथ एक-सा व्यवहार करने वाला होता है (पतिंगे दीपक की लौ के प्रति आकर्षित हो उसके पास आते हैं परन्तु वह लौ उनके प्रेम की उपेक्षा कर उन्हें भस्म कर डालती है), जल भी वीर के समान प्रेम का निर्वाह नहीं करता (मछली जल से अलग होते ही उसके वियोग में तड़प-तड़पकर प्राण दे देती है परन्तु जल इसकी तनिक सी भी चिन्ता नहीं करता, अपने रास्ते बहता चला जाता है, पीछे एक बार मुड़कर भी नहीं देखता), इसी प्रकार चन्द्रमा आजन्म रोगी है (चन्द्रमा पीला, धब्बेदार और रोग के कारण दिन-प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है परन्तु चकोर उससे इतना प्रेम करता है कि रात भर टकटकी लगाये उसे ही देखा करता है परन्तु अपने रूप के गर्व में डूबा चन्द्रमा उसकी ओर ध्यान तक नहीं देता) । सूर्य बड़ा है (कमल उसे देखते ही खिल उठते हैं परन्तु ग्रीष्म ऋतु में यही सूर्य उन कमलों को अपनी तीखी किरणों से जला जालता है), मेघ भी बड़ा है (परन्तु पपीहा उसकी प्रतीक्षा में बराबर उसे पुकारता रहता है, उससे स्वाति जल की एक बूँद की याचना करता रहता है, मेघ अपने बड़प्पन के घमण्ड में डूबा उस पर ओले बरसाता, बिजली गिराता है, फिर भी पपीहा अपने प्रेमव्रत से स्खलित नहीं होता) । इस प्रकार सूर्य और मेघ बड़े होते हुए भी प्रेम के क्षेत्र में बड़े निर्दयी होते हैं । ये अपने प्रेमियों का ही हनन करते हैं ।

जिसका मन जिससे बँध जाता है अर्थात् जो जिससे प्रेम करने लगता है उसे

वही सुख देता है। अर्थात् अपने प्रेमास्पद को देखकर ही प्रेमी को सुख होता है। राम के समान सदैव सरल स्वभाव का बना रहने वाला स्वामी और कोई भी दूसरा नहीं है। ऐसा कौन (दूसरा) स्वामी है जो सेवकों द्वारा की गयी सेवा की बात सुनकर उस पर अपनी स्वीकृति देता है अर्थात् उस सेवक की कर्त्तव्य-परायणता के लिए उसे शाबशी देता है, और कौन दूसरों के दोषों को देखकर भी उन्हें त्याग देता है अर्थात् उनकी तरफ ध्यान नहीं देता, किसके राज-दरबार में नित्य दीन जनों को अधिक प्रेम और आदर के साथ देखा जाता है ? भाव यह है कि केवल राम ही अपने भक्तों का सम्मान करते हैं और उनके अवगुणों की तरफ ध्यान तक नहीं देते।

किसने जटायु और शबरी को अपने माता-पिता के समान पूज्य और आत्मीय माना था, किसने बन्दर सुग्रीव को अपना मित्र बनाया था, और पापियों को पवित्र कर देने वाला ऐसा कौन है जिसने केवट (निषादराज गुह) को भाई भरत के समान गले से लगा भेंट की थी ? ऐसा कौन है जो अभागों को भी भाग्यशाली बना देता है; अर्थात् जिनके भाग्य में ब्रह्मा ने सुख-सम्पदा नहीं लिखी, उन्हें भी पूर्ण सुखी और महान् ऐश्वर्यशाली बना देता है (जैसे सुदामा को बना दिया था) ? कौन भयभीतों (विभीषण, सुग्रीव) को अपनी शरण में स्थान देता है ? अर्थात् राम ही एकमात्र ऐसे हैं। वेदों में उनकी विरुदावली (यशकीर्ति) प्रसिद्ध है और कवि और पंडित उन्हीं के गीत गाते रहते हैं।

चाहे कैसे भी नीच और पापी व्यक्ति ने राम के नाम की ओट ली अर्थात् सहारा लिया (राम का नाम लिया), राम ने बिना उसके पापों की ओर ध्यान दिये उसे इस तरह पूर्णरूप से अपना लिया जैसे कोई किसी विश्वासपात्र व्यक्ति द्वारा दिये गये धन की बिना यह परीक्षा किये ही कि वह खोटा है अथवा खरा, उसे अपनी गाँठ में बाँध लेता है। जो मन का इतना मैला (पापी) है, कलियुग में जिसके कर्मों (कुटिल कर्मों) को सुनकर ही सुनने वाला पापी बन जाता है, ऐसे दुष्ट मुझ तुलसीदास को भी राम ने अपना बना लिया है। राम ऐसे गरीब निवाज (गरीबों पर कृपा करने वाले) हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में विभिन्न उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि जिनसे प्रेम किया जाता है वे सब निर्दयी होते हैं; जैसे—संगीत, अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्र, बादल आदि। परन्तु इनसे प्रेम करने वाले इनके प्रेमी अपने व्रत पर दृढ़ रहते हैं। अकेले राम ही ऐसे हैं जो अपने से प्रेम करने वालों को पूर्णरूप से अपना कर सदैव उनकी रक्षा और सम्मान करते हैं। कवि-प्रसिद्धियों द्वारा तुलसी ने यहाँ यही सिद्ध किया है।

(२) 'तन-साथी'—से अभिप्राय यह है कि सारे सांसारिक सम्बन्ध इस शरीर को लेकर ही होते हैं।

[१९२]

जो पै जानकिनाथ सों नातो नेह न नीच।
स्वारथ परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयो बीच ॥१॥
धरम बरन आस्रमनि के पैयत पोथिही पुरान।
करतब बिनु बेष देखिये ज्यों सरीर बिनु प्रान ॥२॥
बेद-बिदित साधन सबै, सुनियत दायक फल चारि।
राम-प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर सरिता बिनु बारि ॥३॥
नाना पथ निरबान के नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम - नाम दिन राति ॥४॥

शब्दार्थ—बियोगो=ठग लिया। बीच=रास्ते में ही अथवा बीच बाजार में। बरन आस्रमनि=वर्ण और आश्रम। पैयत=पाये जाते हैं। निरबान=निर्वाण, मोक्ष।

भावार्थ—रे नीच ! यदि तूने सीतापति राम के साथ प्रेम का सम्बन्ध नहीं जोड़ा तो फिर तेरा स्वार्थ और परमार्थ दोनों कैसे सिद्ध होंगे ? अर्थात् विना राम से प्रेम किये तेरे लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे, इस लोक में तुझे सुख नहीं मिलेगा और मरने पर मोक्ष नहीं प्राप्त होगा। दुष्ट कलियुग ने तुझे वीच में ही अथवा बीच वाजार में दिन-दहाड़े टग लिया है। अर्थात् तुझे सांसारिक विषयों की ओर प्रेरित कर तेरे लोक-परलोक—दोनों लूट लिये हैं। चारों वर्ण और चारों आश्रमों के धर्म (कर्त्तव्य) पोथियों और पुराणों में ही पाये जाते हैं। अर्थात् उनका केवल वर्णन मिलता है, उनके अनुसार आचरण कोई भी नहीं करता। चारों ओर लोग वेश बनाये, (पंडित, पुजारी, संन्यासी आदि के) घूमते दिखाई देते हैं परन्तु उन वेशों के अनुसार कर्त्तव्य कोई भी नहीं करता। विना कर्त्तव्य किये इन वेशों का धारण करना वैसा ही व्यर्थ और निस्सार है जैसे प्राणहीन शरीर त्याज्य होता है।

वेदों में वर्णित (मोक्ष के) सारे साधन मिलते हैं। सुना जाता है कि इन साधनों के करने से चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति होती है, परन्तु राम के प्रति प्रेम के विना इन सवका ज्ञान वैसा ही व्यर्थ और निस्सार है, जैसे विना जल के तालाब और नदी। निर्वाण (मुक्ति) के अनेक मार्ग हैं और अनेक तरह के बहुत से साधन हैं (जप, तप, योग, यज्ञ आदि), परन्तु हे तुलसी ! तू मेरे कहने से दिन-रात राम का नाम जपा कर। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए एकमात्र सरल और सुगम साधन राम का नाम जपना ही है।

टिप्पणी—(१) 'नाना पथ निरवान के'—वियोगी हरि ने विभिन्न विद्वानों, सम्प्रदायों द्वारा की गयी मोक्ष की विभिन्न परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं—

'वस्तु' का सावयव (सांगोपांग) ज्ञान ही मोक्ष है;
शास्त्रों के अर्थ के अनुकूल निर्दिष्ट आचरण करना ही मोक्ष है;
दृश्य और अदृश्य के ज्ञान का जो अभाव है, वही मोक्ष है;
महावाक्यों (तत्त्वमसि, सोऽहं आदि) का विवरण ही मोक्ष है;
स्वात्मानन्द की ज्ञानमयी अवस्था ही मोक्ष है;
'अस्ति और 'नास्ति'—इस उभयात्मक ज्ञान के विच्छेद को ही मोक्ष कहते हैं;
'शब्दब्रह्म' के यथेष्ट ज्ञान को ही मोक्ष मानना चाहिए;
निर्विकल्प समाधिगत आनन्द को मोक्ष मानना चाहिए;
एकदेशिक सिद्धान्त से सिद्ध जो भक्ति का विधान है, वही मोक्ष है;

आत्म-समर्पण करने के अनन्तर भगवत्प्राप्ति के लिए परम विरहाकुलता होती है, उसे ही मोक्ष कहना चाहिए, इत्यादि अनेक मत-मतान्तर हैं।

(२) 'रामप्रेम—वारि'—यहाँ सिद्धान्ततः भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना गया है। भक्ति रहित ज्ञान दम्भकारी और निष्प्राण होता है जैसा कि सूर के उद्धव का आरम्भ में था।

[१९३]

अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।
कहँ तू, कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोई ॥१॥
रीजि निवाज्यो कबहिं तू, कब खीझ दई तोहिं गारि।
दरपन बदन निहारि कै, सुबिचारि मान हिय हारि ॥२॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ॥३॥
बाल्मीकि -केवट-कथा, कपि - भील - भालु- सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसहिं ग्यान ॥४॥
का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति - रीति - निरबाहु।
जासु बन्धु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु ॥५॥
भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।
राम गरीब-निबाज के बड़ी बाँह-बोल की लाज ॥६॥
जपहि नाम रघुनाथ को, चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु ॥७॥
सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुनगन राम के, केहि की न मिटी भव - भीर ॥८॥

प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तोसों राम सों, कछु नई न जान पहिचानि ॥६॥

शब्दार्थ—निवाज्यो=कृपा की। खीझि=नाराज होकर। गारि=गाली। बदन=मुख। आधु=आधा। पाहि=रक्षा करो। को=कौन। सोहात=सुहाता, अच्छा लगता। सुधी=बुद्धिमान। नतपाल=दीनों के रक्षक। गिरा=वाणी। गहवर=आवेश के साथ, तन्मय होकर।

भावार्थ—तुलसी स्वयं को ही सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं—

हे तुलसी ! यदि तू आज भी अपने राम के कर्त्तव्य (उनके द्वारा किये हुए कार्य अथवा उन कार्यों को ही कर्त्तव्य समझना) समझ ले, जान ले, तो तेरा कल्याण हो जायेगा। देख, कहाँ तो तू है और कहाँ कौशल-नरेश राम हैं, अर्थात् तेरी उनकी कोई समानता नहीं है, फिर भी तुझे सब लोग क्या कहते हैं ? भाव यह है कि तू इतना नीच और राम इतने महान् हैं फिर भी सारा संसार तुझे राम का भक्त और सेवक कहता है। इस सौभाग्य को बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तक नहीं प्राप्त कर पाते। क्या राम ने कभी प्रसन्न होकर तुझ पर कृपा की, कभी नाराज होकर तुझे गाली दी ? परन्तु तूने तो दर्पण में अपना मुँह देखकर और अच्छी तरह से विचार कर मन में हार मान ली है। भाव यह है कि तू अपने कर्मों को देखकर और यह सोचकर कि तुझ जैसे पापी को राम कभी नहीं अपनायेंगे, मन-ही-मन हार मान बैठा है।

तेरे अनेक जन्मों की बिगड़ी हुई करनी को बनते हुए आधा पल भी नहीं लगेगा, क्योंकि प्रेमपूर्वक 'हे कृपानिधि ! मेरी रक्षा करो' कहने पर राम ने किसको साधु नहीं बना दिया ? वाल्मीकि और केवट की कथा प्रसिद्ध ही है; बन्दर, भील और रीछों का (राम द्वारा) सम्मान किया जाना संसार जानता है। इन कथाओं को सुनकर भी जो राम के सम्मुख नहीं आया अर्थात् उनकी शरण में नहीं आया, उसे ज्ञान का उपदेश कौन दे, कौन उसे समझाए कि राम को पुकारते ही राम सबकी रक्षा करते हैं।

सुग्रीव ने (राम की) क्या सेवा की थी ? उसने प्रेम-सम्बन्ध का क्या निर्वाह किया था (राज्य पाकर सीता की खोज करना भूल गया था), जिसके भाई बालि को राम ने व्याध की भाँति (छिपकर) मारा था और राम की यह करनी सुनकर किसी को भी अच्छा नहीं लगता। भाव यह है कि राम ने उसी अकर्त्तव्य-परायण सुग्रीव के लिए बालि को छिपकर मारने का कलंक अपने ऊपर लिया था। विभीषण ने राम का कौन-सा भजन किया था और राम ने उसे कैसा फल दिया था ?

(इसका रहस्य यह है कि) गरीबों पर दया करने वाले राम सब की रक्षा करने की अपनी प्रतिज्ञा की लज्जा सदैव रखते हैं। अर्थात् वे गरीब-निवाज हैं, अपने इस यश की सदैव लज्जा रखते हैं। इसीलिए हे तुलसी ! तू राम का नाम जपा कर,

अन्य किसी की भी चर्चा मत किया कर क्योंकि राम सुन्दर मुख वाले, सुख देने वाले, बुद्धिमान, समर्थ कृपालु और दीनों की रक्षा करने वाले स्वामी हैं।

सजल नेत्रों, गद्गद वाणी, आवेशपूर्ण मन और पुलकायमान शरीर से राम के गुणों का गान गाने से किसकी सांसारिक बाधाएँ दूर नहीं हुई हैं ? अर्थात् सबकी हुई हैं। प्रभु राम उपकार मानने वाले और सर्वज्ञ है, यह सोचकर तू अपने पिछले पाप-कर्मों से उत्पन्न ग्लानि को छोड़ दे। हे तुलसी ! तेरी और राम की जान-पहिचान कोई नई नहीं है, अर्थात् बहुत पुरानी है, अर्थात् जीव और ब्रह्म, भक्त और भगवान का सम्बन्ध तो अनादि काल से चला आ रहा है।

टिप्पणी—(१) 'राम गरीब निवाज.......लाज'—राम की यह प्रतिज्ञा है कि—

'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। कोटि-जनम अघ नासौं तबहीं।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु-समाना॥'

(२) 'जासु बन्धु.......काहु'—राम ने सुग्रीव के कारण वालि को छिपकर मारा था। वालि ने मरते समय राम से कहा था—

'मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारन, कवन, नाथ मोहि मारा ?
धरम हेतु अवतरेउ गुसाईं। मारेउ मोहि ब्याध की नाईं॥'

राम के ऊपर यही कलंक लगा था कि उन्होंने धर्म-रक्षक होकर भी अधर्म का कार्य किया था।

(३) 'तोसों पहिचान'—भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

[१६४]

जो अनुराग न राम सनेही सों।
तौ लह्यो लाहु कहा नर-देही सों॥१॥
जो तनु धरो, परिहरि सब सुख, भये सुमति राम-अनुरागी।
सो तनु पाइ अघाइ किये अघ, अवगुन-उदधि अभागी॥२॥
ग्यान बिराग जोग जप मख जग मुद-मग नहिं थोरे।
राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि-हिलोरे॥३॥
लोक बिलोकि, पुरान बेद सुनि, समुझि-बूझि गुरु ग्यानी।
प्रीति-प्रतीति राम-पद-पंकज, सकल-सुमंगल-खानी॥४॥
अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय, होइ पलक महँ नीको।
सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं, मानु मतो तुलसी को॥५॥

शब्दार्थ—लाहु=लाभ। धरी=धारण कर। मख=यज्ञ। मुद-मग=आनन्द के मार्ग। जाय=व्यर्थ। पलक=क्षण भर में। नीको=भला। मतो=मत, सिद्धान्त, राय।

भावार्थ—यदि राम जैसे स्नेही से प्रेम नहीं किया तो इस मानव शरीर को प्राप्त कर इससे क्या लाभ उठाया। जिस (मानव) शरीर को धारण कर ज्ञानी जन सारे (सांसारिक) सुखों को त्याग राम के अनुरागी (प्रेमी) बन जाते हैं, तूने उसी शरीर को पाकर खूब जी भरकर पाप किये। हे अभागे! तू पाप का समुद्र है। इस संसार में ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप, यज्ञ आदि आनन्द के मार्ग थोड़े नहीं हैं, अर्थात् बहुत हैं। परन्तु राम के प्रेम के बिना ये सारे नियम उसी प्रकार व्यर्थ (निस्सार) हैं जैसे मृगतृष्णा के जल के समुद्र की लहरें व्यर्थ अर्थात् प्रभावहीन होती हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार मृगतृष्णा के जल का कोई अस्तित्व नहीं होता और वह हमारा कोई कार्य नहीं साध सकता उसी प्रकार ये सारे साधन राम के प्रेम के बिना बेकार हैं। इनसे हमारा कोई कल्याण नहीं हो सकता।

संसार को देखकर, वेद और पुराणों को सुनकर, गुरु और ज्ञानियों की बातों को समझ-बूझकर राम के चरण-कमलों में प्रेम और विश्वास कर; क्योंकि राम के चरण-कमल सम्पूर्ण कल्याण की खान हैं, मूल कारण हैं। यदि तू आज भी इस बात को मन में समझ ले और हृदय में हार मान ले अर्थात् अपने सारे दोषों को स्वीकार कर ले तो पल भर में तेरा कल्याण हो जायेगा। तू तुलसी की यह सलाह मान ले और सच्चे हितैषी राम को स्नेह सहित स्मरण कर। अर्थात् प्रेमपूर्वक राम की भक्ति कर। इसी से तेरा कल्याण होगा।

विशेष—'राम प्रेमबिनु नेम जाय'—कबीर ने भी अनेक पदों में वाह्याचार और आडम्बर का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हुए एकमात्र प्रेम-भावना को ही जीव का उद्धार करने वाला माना है। जैसे—'मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपरा।'

[१९५]

बलि जाऊँ हौं राम गुसाईं। कीजै कृपा आपनी नाईं ॥१॥
परमारथ सुरपुर-साधन सब स्वारथ सुखद भलाई।
कलि सकोप लोपी सुचाल, निज कठिन कुचाल चलाई ॥२॥
जहँ तहँ चित चितवन हित, तहँ नित नव बिषाद अधिकाई।
रुचि-भावनी भभरि भागहि, समुहाहि अमित अनभाई ॥३॥
आधि-मगन मन, ब्याधि-बिकल तन, वचन मलीन झुठाई।
एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की, प्रभु सकल सनेह सगाई ॥४॥

शब्दार्थ—आपनी=अपने स्वभाव के अनुसार। सुखद=सुख देने वाले।

सकोप=क्रोध कर। लोपी=लुप्त कर दी, नष्ट कर डाली। सुचाल=अच्छी रीति। हित=भलाई। भावती=अच्छी लगने वाली। भभरि=भड़भड़ा कर, व्याकुल होकर। समुहाहिं=सामने आती हैं। अनभाई=बुरी लगने वाली। आधि=चिन्ता। व्याधि=रोग। झुठाई=झूठ।

भावार्थ—हे राम ! हे स्वामी ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, तुम (कृपा करने वाले) अपने स्वभाव के अनुसार मुझ पर कृपा करो। परमार्थ और स्वर्ग प्रदान करने वाले सम्पूर्ण साधन (जप, तप, योग, यज्ञ आदि) सुख देने वाले और कल्याण करने वाले हैं। परन्तु कलियुग ने क्रुद्ध होकर इन सारे सुन्दर साधनों को लुप्त (नष्ट) कर अपने कठोर, बुरे मार्गों (पाखंड, लोभ आदि) को चला दिया है, अर्थात् इनका प्रचार किया है। मेरा हृदय जहाँ-जहाँ अपनी भलाई के लिए दृष्टि दौड़ाता है, वहाँ-वहाँ नित्य नवीन दुख अधिक बढ़ता दिखाई पड़ता है। अर्थात् मन जिन साधनों द्वारा अपना कल्याण होने की आशा करता है, वे ही साधन अधिक दुख बढ़ाने वाले बन गये हैं। सुरुचि व्याकुल होकर भाग खड़ी हुई है अर्थात् मन अच्छी बातों में नहीं लगता और कुरुचि सामने आ खड़ी होती है अर्थात् जो चीजें पसन्द नहीं, वे बराबर सामने आती रहती हैं। (यह देखकर) मन चिन्ता से व्याकुल हो रहा है, शरीर रोगों से परेशान है और वचन झूठ बोलते-बोलते अशुद्ध, अपवित्र हो गये हैं। भाव यह है कि मन, शरीर और वचन—तीनों अपवित्र और मलिन हो गये हैं। परन्तु हे प्रभु ! यह सब कुछ होते हुए भी तुम्हारे साथ मुझ तुलसी का स्नेह का सम्बन्ध पूरा बना हुआ है अर्थात् तुमने इतने पर भी मुझे नहीं ठुकराया क्योंकि मैं अभी तक तुमसे प्रेम करना नहीं भूला हूँ। भाव यह है कि तुम्हारा और मेरा 'सेव्य-सेवक' का सम्बन्ध है।

[१९६]

काहे को फिरत मन, करत बहु जतन,
मिटै न दुख बिमुख रघुकुल-बीर।
कीजै जो कोटि उपाइ त्रिविध ताप न जाइ,
कह्यो जो भुज उठाय मुनिवर कीर ॥१॥
सहज टेव बिसारि तुहीं धौं देखु बिचारि,
मिलै न मथन बारि घृत बिनु छीर।
समुझि तजहि भ्रम भजहि पद जुगम,
सेवत सुगम गुन गहन गँभीर ॥२॥
आगम निगम ग्रन्थ, रिषि मुनि सुर संत,
सबही को एक मत सुनु, मति धीर।
तुलसिदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु,
जद्यपि है निकट सुरसरि - तीर ॥३॥

शब्दार्थ—मुनिवर कीर=महामुनि शुकदेव । टेव=आदत, स्वभाव । छीर =क्षीर, दूध । जुगम=युग्म, दोनों । आगम=शास्त्र । निगम=वेद । सुरसरि-तीर =गंगा का तट ।

भावार्थ—हे मन ! तू अनेक उपाय करता क्यों भटकता फिर रहा है ? रघुवीर राम के चरणों से विमुख होने से तेरा दुख नहीं मिट सकता । अर्थात् जब तक तू राम की भक्ति नहीं करेगा तब तक तू दुख उठाता रहेगा । तू भले ही करोड़ों उपाय कर ले परन्तु तेरे तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक, भौतिक) ताप दूर नहीं होंगे । यह बात भुजा उठाकर अर्थात् पुकार-पुकार कर महामुनि शुकदेव कह गये है । तू अपने सहज स्वभाव (चंचलता) को छोड़कर, इस बात पर विचार कर देख कि बिना दूध के, कहीं पानी को मथने (विलोने) से घी मिल सकता है ? अर्थात् राम से विमुख हो सुख की कामना करना पानी से घी मिलने के समान असम्भव है । इसलिए तू इस बात को समझ कर अपना भ्रम त्याग दे और भगवान के दोनों चरणों का भजन कर । राम सेवा करने से सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे गुणों के गहन-गम्भीर अर्थात् सघन वन हैं (सर्व-गुण-सम्पन्न हैं) ।

शास्त्र, वेद आदि ग्रन्थ तथा ऋषि, मुनि, देवता और संत सभी गम्भीर बुद्धि वालों का एक ही मत है, उसे सुन । तुलसीदास कहते हैं कि बिना स्वामी के अर्थात् ग्वाले के पशु गंगा तट के पास रहते हुए भी प्यासे मरते हैं । भाव यह है कि मुक्ति का साधन (राम भक्ति) समीप रहते हुए भी अपने अज्ञान के कारण जीव उसके पास तक नहीं जा पाता और सांसारिक दुखों से तड़प-तड़प कर मरता है ।

टिप्पणी—'कह्यो''''''कीर'—शुकदेव ने भागवत में कहा है—

'घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मनिर्वजिताः ।
वसुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥'

[१९७]

नाहिन चरन-रति ताहि तें सहौं बिपति,
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर ।
बसै जो ससि-उछंग सुधा-स्वादित कुरंग,
ताहि क्यों भ्रम निरखि रबिकर-नीर ॥१॥
सुनिय नाना पुरान मिटत नाहिं अग्यान,
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर ।
बझत बिनहिं पास सेमर-सुमन-आस,
करत चरत तेइ फल बिनु हीर ॥२॥

कछु न साधन सिधि, जानौ न निगम बिधि,
नहिं जप तप बस मन न समीर।
तुलसिदास भरोस परमकरुना - कोस
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर ॥३॥

शब्दार्थ—मतिधीर=स्थित बुद्धि वाले। उछंग=गोद। स्वादित=स्वाद पाया हुआ। कुरंग=हिरण। रविकर-नीर=मृगतृष्णा का जल। बझत=फँस जाता है। पास=जाल। हीर=गूदा। समीर=वायु, प्राणायाम। कोस=कोश, भण्डार।

भावार्थ—वेद और सारे मुनि तथा स्थिर बुद्धि वाले विद्वान् यही बात कह रहे हैं कि मैं इसलिए कष्ट उठा रहा हूँ क्योंकि (राम के) चरणों में मेरा प्रेम नहीं है। जो हिरण चन्द्रमा की गोद में बसता है और जिसने (चन्द्रमा के) अमृत का स्वाद पा लिया है वह मृगतृष्णा के जल को देख भ्रम में क्यों पड़ने लगा। अर्थात् जिसने राम के चरणों के प्रेम का आनन्द पा लिया है वह तुच्छ सांसारिक विषयों के आकर्षण में नहीं पड़ सकता। नाना पुराण सुनने से ही अज्ञान नहीं मिट जाता। उन्हें पढ़ने परन्तु न समझने पर पक्षी तोते की सी दशा रहती है। अर्थात् तोता राम नाम रटाने से उसे रटता तो रहता है परन्तु उसका महत्त्व नहीं समझता। इसी प्रकार पुराणों आदि का अध्ययन करने मात्र से और उनका असली भाव हृदयंगम न करने से अज्ञान नहीं मिट सकता। तोता अपने इसी अज्ञान के कारण विना जाल के ही फँस जाता है (तोता खेत में गढ़ी चौंगली पर बैठते ही, चौंगली के घूम जाने से नीचे की ओर लटक जाता है और नीचे गिरने के भय के कारण उसे छोड़ता नहीं। खेत वाला आकर उसे पकड़ लेता है।) इसी प्रकार जीव अपने अज्ञान के कारण माया के पाश में स्वतः ही बँध जाता है। वही मूर्ख तोता सेमर के फूल की आशा में, कि यह फूल देखने में इतना सुन्दर है तो खाने में कितना मीठा होगा, उस फूल के पास जाता है और जब खाने के लिए उसमें चोंच मारता है तो उसे उसमें गूदा नहीं मिलता। इसी प्रकार जीव इस संसार के वाह्य आकर्षण से आकर्षित हो इसके पास जाता है परन्तु पाता है कि यह संसार तत्त्वहीन है और फिर पछताने लगता है।

न तो मेरे पास कोई साधन है, न सिद्धियाँ हैं, न मैं वेदों की विधियों से ही परिचित हूँ, न जप-तप करता हूँ और न साँच को वश में कर (प्राणायाम द्वारा) मन को वश में करता हूँ। मुझ तुलसीदास को तो परम करुणा के भण्डार (राम) का ही भरोसा है। वही प्रभु मेरी भयंकर सांसारिक व्यथा को दूर करेंगे।

टिप्पणी—(१) 'सुनिये·······अज्ञान'—कबीर ने भी यही बात कही है—

पढ़े-गुने-सीखे-सुने, मिटी न संसय-सूल।
कह कबीर कासों कहूँ, येही दुख का मूल ॥

(२) वैदिक विधियाँ निम्नलिखित मानी गयी हैं—

सत्य, शौच, दान, यज्ञानुष्ठान, पुरश्चरण, पंचाग्नि; यन्त्र-मन्त्र, प्राणायाम, समाधि आदि।

राग भैरवी

[१९८]

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥१॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥२॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥३॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते ॥४॥

शब्दार्थ—ही ते=हृदय से । सहसबाहु—सहस्राजुर्न । दसबदन=दसमुख, रावण । रीते=खाली हाथ । वनितादि=स्त्री आदि ।

भावार्थ—रे मन ! अवसर चूक जाने पर अर्थात् समय निकल जाने पर तू पछतावेगा । तूने इस दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त किया है, इसलिए इसे पाकर राम के चरणों का कर्म, वचन और हृदय से भजन कर । सहस्रार्जुन और रावण जैसे राजा भी शक्तिशाली काल के पंजे से न बच सके । उन्होंने 'हम हम' करते अर्थात् अहंकार के मद में चूर हो सम्पत्ति और महल सम्हाल कर रखे थे परन्तु अन्तिम समय में उन्हें भी यहाँ से खाली हाथों ही उठकर जाना पड़ा । अर्थात् मरने के बाद कोई भी सम्पत्ति को अपने साथ न ले जा सका ।

तू इस बात को जान ले कि पुत्र-स्त्री आदि सब अपने-अपने स्वार्थ में डूबे रहते हैं, इसलिए तू इन सबसे प्रेम मत कर । रे नीच ! अन्त में ये सब तुझे त्याग देंगे, इसलिए तू अभी से इन्हें क्यों नहीं छोड़ देता । रे मूर्ख ! अब तू (अज्ञान की) निद्रा त्याग जाग्रत हो उठ और अपने स्वामी राम से प्रेम कर । तू अपने हृदय से सारी दुराशाएँ (सांसारिक आशाएँ) त्याग दे । तुलसीदास कहते हैं कि काम की अग्नि विषय रूपी बहुत सा घी डालने से शान्त नहीं होती । अर्थात् जिस प्रकार घी डालने से अग्नि और अधिक बढ़ती है, उसी प्रकार अधिक विषय करने से कामाग्नि और भी अधिक प्रज्ज्वलित होती है । (इसलिए तू सांसारिक विषय-कामना त्याग राम का भजन कर । उसी से तुझे शान्ति प्राप्त होगी ।)

टिप्पणी—'बुझै न········घी ते'—मनुस्मृति में भी यही बात कही है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'

[१९९]

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरिचरन-सरोज सुधा-रस, रबिकर-जल लय लायो ॥ १ ॥
त्रिजग देव नर असुर अपर जग, जोनि सकल भ्रमि आयो।
गृह बनिता सुत बंधु भये बहु, मातु पिता जिन्ह जायो ॥ २ ॥
जाते निरय-निकाय निरन्तर, सोइ इन्ह तोहिं सिखायो।
तुव हित होइ कटै भव-बंधन, सो मगु तोहिं न बतायो ॥ ३ ॥
अजहुँ बिषय कहँ जतन करत, जद्यपि बहुबिधि डहँकायो।
पावक-काम, भोग-घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो ॥ ४ ॥
विषयहीन दुख मिले बिपति अति, सुख सपनेहुँ नहिं पायो।
उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों, धन दुखप्रद स्रुति गायो ॥ ५ ॥
छिन-छिन छीन होत जीवन, दुरलभ तनु बृथा गँवायो।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि, काल-उरग जग खायो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—धायो=भागा। लय लायो=लौ लगा रहा है। त्रिजग=तिर्यक् योनि, पशु-पक्षी, सर्प आदि। अपर=अन्य। निरय=नरक। निकाय=समूह, अनेक। तुव=तेरा। डहँकायो=ठगाया जा चुका है। प्रेत-पावक=प्रेत की अग्नि, मुरदे की अग्नि। उभय=दोनों। काल-उरग=कालरूपी सर्प।

भावार्थ—रे मूर्ख मन ! तू क्यों इधर-उधर भागा फिरता है ? तू भगवान् के चरण-कमल रूपी अमृत के रस को त्याग मृगतृष्णा के जल में क्यों लवलीन हो रहा है ? अर्थात् भगवान् का भजन करना त्याग निस्सार सासांरिक विषय-वासनाओं में क्यों डूबा रहता है। तिर्यक् योनि वाले जीव (पशु-पक्षी, सर्प आदि), देवता, मनुष्य, असुर तथा अन्य अनेक सांसारिक योनियों में तू भटक चुका है, अर्थात् अनेक योनियों में जन्म धारण कर दुख पा चुका है। उन योनियों में तेरे घर, स्त्री, पुत्र, अनेक बन्धु-बान्धव तथा तुझे पैदा करने वाले माता-पिता हो चुके हैं। इन सबने तुझे वही सिखाया जिसके कारण तुझे निरन्तर अनेक नरक भोगने पड़े। अर्थात् उन्होंने तुझे सांसारिक विषयों में लिप्त रहने के लिए प्रोत्साहन दिया, जिसका परिणाम नरक होता है। इन लोगों ने तुझे वह रास्ता (साधन) नहीं बताया जिस पर चलने से तेरा कल्याण होता और तेरा सांसारिक बन्धन (जन्म-मरण का बन्धन) कट जाता।

यद्यपि तू अनेक प्रकार से छला जा चुका है परन्तु फिर भी आज भी तू उन्हीं विषयों सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रयत्न करने में व्यस्त रहता है। अर्थात् इन्हीं विषय-वासनाओं के कारण तुझे नरक भोगने पड़े हैं परन्तु तू फिर भी इन्हीं के पीछे पड़ा हुआ है। रे मूर्ख ! कामाग्नि (काम-वासना की अग्नि) को भोग (विलास) रूपी घी

डालने से कैसे बुझाया जा सकता है ? अर्थात् विषय-भोग करने से कामाग्नि शान्त न होकर और अधिक भड़क उठती है। (इधर तो विषय-भोग करने से तेरी कामाग्नि और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठी और दूसरी तरफ) विषय-वासनाओं की पूर्ति न होने से तुझे अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े और तुझे स्वप्न में भी सुख नहीं मिला (क्योंकि तू उन्हीं की पूर्ति का प्रयत्न करता रहा और असफल होने पर दुखी होता रहा।) वेदों ने जिस प्रकार धन को दुख देने वाला कहा है अर्थात् मनुष्य धन न होने पर भी दुख पाता है और धन होने पर नाना प्रकार के पाप कर अन्त में नरक भोगता है अतः धन का होना और न होना–दोनों ही दुख का कारण है। उसी प्रकार विषय-वासनाओं की पूर्ति और अपूर्ति होना—भूत की आग के समान दुखदायी होता है। अर्थात् जैसे वन में भूत की आग को देख यात्री से भय के मारे न तो आगे बढ़ते बनता है और न पीछे लौटते ही। वह भय से त्रस्त हो वहीं खड़ा रह जाता है।

रे मूर्ख ! देख तेरा यह जीवन क्षण-क्षण में नष्ट होता जा रहा है। तूने इस र्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर भी इसे व्यर्थ ही गँवा दिया। तुलसीदास कहते हैं, इसलिए तू सांसारिक आशाओं को त्याग भगवान् का भजन कर क्योंकि कालरूपी सर्प सारे संसार को खाये जा रहा है। (न जाने तू भी कब इसका ग्रास बन जाय।)

टिप्पणी—(१) 'प्रेत पावक'—पं० रामेश्वर भट्ट तथा वियोगी हरि ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। भट्टजी ने इसे 'मुरदे की अग्नि' माना है और वियोगी हरि ने जंगल में दिखाई पड़ने वाली भूतों की अग्नि, जो भ्रम मात्र होती है। यहाँ वियोगी हरि द्वारा स्वीकृत अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है। इस अग्नि की विशेषता यह होती है कि यह भ्रम की सृष्टि होती है अतः अग्नि सी दिखाई देते हुए भी अग्नि का कार्य नहीं करती। साथ ही मन में भय, अशुद्धि और जुगुप्सा की भावना उत्पन्न करती है। अनेक लोगों ने बताया है कि उन्हें जंगल में जाते समय मशालें लिये भूतों की बरात जाती हुई दिखाई पड़ती है परन्तु वह केवल मन का भ्रम ही रही है। इसी कारण वे उसे देखकर भय के मारे न तो भाग ही सके हैं और न उसे देखते रहने का मोह ही त्याग सके हैं। यही स्थिति सांसारिक विषयों के आकर्षण से मनुष्य की हो जाती है। शुक्लजी ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है—दलदलों और मैदानों में रात को दिखाई देने वाला लुक जिसे आग समझ कर लोग धोखा खाते हैं।

(२) 'पावक''''बुझायो'—सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति, उनकी पूर्ति होते रहने पर भी निरन्तर बढ़ती ही जाती है। इनसे मुक्ति पाने का उपाय—वैराग्य की भावना उत्पन्न करना है। इसलिए अनासक्त भाव से ही सारे कार्य करने चाहिए।

[२००]

ताँबे सो पीठि मनहुँ तनु पायो !

नीच, मीचु जानत न सीस पर, ईस निपट बिसरायो ।। १ ।।

अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो ?
काके भये, गये सँग काके, सब सनेह छल-छायो ।। २ ।।
जिन्ह भूपनि जग-जीति बाँधि जम, अपनी बाँह बसायो ।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हें, तू गिनती कब आयो ।। ३ ।।
देखु बिचारि सार का साँचो, कहा निगम निजु गायो ।
भजहिं न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि जेहि महेस मन लायो ।। ४ ।।

शब्दार्थ—ताँबे सो=मानो ताँबे से मढ़ी हुई पीठ अर्थात् अत्यन्त पुष्ट पीठ । मीचु=मृत्यु । अवनि=पृथ्वी । रवनि=रमणी । सुहृद=मित्र । को न=किसने नहीं । छल-छायो=छल भरा हुआ है । बाँह बसायो=कैद कर लिया । निजु=विशेष रूप से, प्रधानतः ।

भावार्थ—रे जीव ! तूने यह समझ रखा है मानो तूने ताँबे से मढ़ी पीठ जैसा बहुत मजबूत (कभी नष्ट न होने वाला) शरीर पाया है । अर्थात् तू यह समझता है कि तेरा यह शरीर कभी नष्ट ही नहीं होगा, अजर-अमर बना रहेगा । परन्तु रे नीच ! तू यह नहीं जानता कि तेरे सिर पर मौत मँडरा रही है । तूने ईश्वर को पूरी तरह से भुला दिया है । पृथ्वी, रमणी (सुन्दरी पत्नी), धन, घर, मित्र, पुत्र आदि को किसने नहीं अपनाया; परन्तु ये किसके सगे हुए ? ये किसके साथ गये अर्थात् मृत्यु होने पर इनमें से कोई भी साथ नहीं गया । इन सब के मन में कपट भरा हुआ था अर्थात् ये सब स्वार्थ के साथी थे ।

जिन राजाओं (रावण जैसों) ने संसार को जीतकर यम को बाँध अपनी कैद में डाल लिया था, उन्हें भी काल ने अपना कलेवा बना लिया अर्थात् काल उन्हें भी खा गया । फिर तेरी गिनती ही क्या है अर्थात् तेरा महत्त्व ही क्या है । काल तुझे भी खा जायेगा । तू मन में विचार कर यह देख कि सच्चा सार (तत्त्व) क्या है; वेदों ने प्रधानतः किसका वर्णन किया है ? तुलसीदास कहते हैं कि रे जीव ! तू समझ कर भी (ईश्वर ही सार है, राम ही सत्य है) उसका भजन नहीं करता, जिसका शिव निरन्तर ध्यान करते रहते हैं ।

टिप्पणी—'गए संग काके'—कबीर ने भी यही बात कही है—

'इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं ।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं ।।'

[२०१]

लाभ कहा मानुष-तनु पाये ।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक, घटत न काज पराये ।। १ ।।
जो सुख सुरपुर नरक गेह बन, आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ।। २ ।।

पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस, किये मूढ़ मन भाये ।
गरभबास दुखरासि जातना, तीव्र बिपति बिसराये ॥ ३ ॥
भय, निद्रा, मैथुन, अहार, सबके समान जग जाये ।
सुर-दुरलभ तनु धरि न भजे हरि, मद अभिमान गँवाये ॥ ४ ॥
गई न निज-पर-बुद्धि सुद्ध ह्वै, रहे न राम-लय लाये ।
तुलसिदास यह अवसर बीते, का पुनि के पछिताये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—काय=काया, शरीर । घटत=काम आता है । पर-दारा=पराई स्त्री । जातना=यातना, कष्ट । जाये=उत्पन्न । लय=लौ । के=क्या ।

भावार्थ—इस मानव-शरीर को प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ यदि यह शरीर मन, वचन और कार्य द्वारा स्वप्न में भी किसी दूसरे के काम नहीं आता । जो सुख (सांसारिक सुख) स्वर्ग, नरक, घर और वन सभी जगह विना बुलाये ही आ जाते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं, यह मन उन्हीं सुखों को पाने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करता है और समझाने से भी नहीं समझता (कि विषयों में आसक्ति रखने से जीव और शरीर का नाश हो जाता है) । इस मूर्ख ने मोह के वश में पड़कर मन भरकर पराई स्त्री की चाहना की, दूसरों से द्रोह किया । अर्थात् जो मन में आया वही कुकर्म किया । यह जीव गर्भावस्था के अनेक दुःखों और भयङ्कर कष्टों को भूल गया अर्थात् यह इस वात को भूल गया कि पहले जन्म में उसने यही कुकर्म किये थे जिनके कारण उसे गर्भावस्था के दुःख भोगने पड़े थे, और अब फिर उन्हीं कुकर्मों को मन भरकर करने में लगा रहता है ।

इस संसार में भय, निद्रा, मैथुन, आहार आदि की भावनाएँ सब में समान रूप से उत्पन्न होती हैं । अर्थात् प्रत्येक प्राणी में ये भावनाएँ रहती हैं । परन्तु इस जीव ने देवताओं के लिए भी दुर्लभ मानव-शरीर धारण कर भी भगवान् का भजन नहीं किया और अपने मद और अभिमान में भरकर इसे गँवा दिया, नष्ट कर दिया । भाव यह है कि पशु, पक्षी आदि जीवों में विवेक-बुद्धि नहीं होती इसलिए वे उपर्युक्त भावनाओं के वशीभूत वने रहते हैं परन्तु मनुष्य में विवेक-बुद्धि होते हुए भी वह उससे काम न ले, अपने जीवन को व्यर्थ ही गँवा देता है । जिसकी अपने-पराये की भेद-बुद्धि नष्ट नहीं हुई है अर्थात् जो समदृष्टा नहीं वन सका है, और जो अन्तःकरण से शुद्ध हो राम के प्रेम में लवलीन नहीं होता उसको इस अवसर के बीत जाने पर पछताने के अतिरिक्त और क्या मिलेगा । अर्थात् मानव-शरीर पाकर भी यदि व्यक्ति समदृष्टा, ईश्वर-भक्त और निर्मल अन्तःकरण वाला न वन सका तो फिर उसे कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि मानव-शरीर द्वारा ही ये शुभ कार्य सम्भव हैं, अन्य योनियों में नहीं । भाव यह है कि जीव को पुनः विभिन्न योनियों में भटकना पड़ेगा ।

टिप्पणी—(१) इस पद की यह विशेषता है कि इसमें तुलसी ने मनुष्य से केवल आत्म-साधना करने के लिए ही न कहकर लोक-कल्याण करने तथा सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने का उपदेश दिया है। 'विनय-पत्रिका' के ऐसे पदों में तुलसी की लोक-कल्याण भावना उभर कर सामने आती है। यहाँ तुलसी व्यक्ति-पक्ष को छोड़ लोक-पक्ष को अपनाते दिखाई पड़ते हैं। 'मानस' का रचयिता केवल 'स्व' में डूबा नहीं रह सकता था। लोक-कल्याण उसके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इस पद में गीता के निष्काम कर्म-योग की ध्वनि है।

(२) 'यह अवसर.........पछिताए'—कबीर ने भी यही बात कही है—

'आछे दिन पाछे गए, हरि से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥'

[२०२]

काज कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
पर-उपकार सार स्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्‌यो॥ १॥
द्वैत मूल, भय सूल, सोक फल, भवतरु टरै न टार्‌यो।
राम-भजन-तीछन कुठार लै, सो नहिं काटि निवार्‌यो॥ २॥
संसय-सिन्धु नाम-बोहित भजि, निज आतमा न तार्‌यो।
जनम अनेक विवेकहीन बहु, जोनि भ्रमत नहीं हार्‌यो॥ ३॥
देखि आनि की सहज संपदा, द्वेष-अनल मन जार्‌यो।
सम दम दया दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्‌यो॥ ४॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं, मन क्रम बचन बिसार्‌यो।
तुलसिदास यहि आस सरन, राखिहि जेहि गीध उधार्‌यो॥ ५॥

शब्दार्थ—सार्‌यो=पूरा किया। द्वैत=सुख-दुख की भावना। बोहित=जहाज। सम=शान्ति। दम=जितेन्द्रियता।

भावार्थ—तूने मानव-शरीर धारण कर कौन-सा काम पूरा किया। परोपकार करने, जो वेदों के ज्ञान का सार है, उसके विषय में तूने कभी धोखे से भी नहीं सोचा। अर्थात् भूलकर भी कभी परोपकार नहीं किया। (अब तुलसी संसार को वृक्ष मान उसका रूपक प्रस्तुत कर रहे हैं।) द्वैत अर्थात् अपने-पराये की भावना इस संसार-रूपी वृक्ष की जड़, भय इसके काँटे, और शोक इसमें लगने वाला फल है। ऐसा यह संसार रूपी वृक्ष हटाने से भी नहीं हटाया जा सका। (इसे दूर करने का एक ही उपाय है कि) राम का भजन रूपी तीक्ष्ण कुल्हाड़ी लेकर इसे काट गिराया जाय। परन्तु तूने ऐसा नहीं किया; अर्थात् राम का भजन कर इस संसार रूपी वृक्ष से मुक्ति नहीं पायी।

(असत् संसार को सत् मान इस) संशय रूपी सागर को तूने राम-नाम रूपी जहाज का भजन कर अर्थात् उसके द्वारा पार कर अपनी आत्मा का उद्धार किया। इसके फलस्वरूप तू विवेकहीन (मूर्ख) वना अनेक जन्म धारण कर अनेक योनियों में भटकता फिरा परन्तु फिर भी नहीं थका। तू दूसरों की सहज रूप से प्राप्त सम्पत्ति को देख-देखकर द्वेष की अग्नि में अपने मन को जलाता रहा; अर्थात् कुढ़ता रहा। परन्तु तूने शान्ति, संयम, दया, दीनों का पालन आदि शुभ कर्म कर अपने मन को शीतल वना भगवान का भजन नहीं किया। तूने स्वामी, गुरु, पिता और मित्र तुल्य राम को मन, कर्म और वचन से भुला दिया। अर्थात् न कभी उनका मन से ध्यान किया, न सत्कर्मों द्वारा उन्हें प्रसन्न किया, और न कभी मुँह से उनके गुणों का गान ही किया। तुलसीदास कहते हैं कि परन्तु फिर भी मेरे मन में यह आशा बनी हुई है कि जिन राम ने जटायु का उद्धार किया था वह मुझे अपनी शरण में अवश्य ले लेंगे।

टिप्पणी—(१) 'द्वैत मूल·······टार्यो'—यहाँ तुलसी ने संसार को वेर के पेड़ के समान माना है। जो इस वृक्ष पर चढ़कर फल पाने का प्रयत्न करता है वह काँटों में उलझ कर दुख पाता है और अधिक फल खा लेने से पेट में दर्द होने लगता है। इसलिए ऐसे वृक्ष का नाश कर देना ही श्रेयस्कर है। अर्थात् सांसारिक सुखों की कामना से मुक्त हो जाना ही कल्याणप्रद है।

(२) 'पर उपकार'—परोपकार को मानव का सबसे प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। कहा भी गया है—

'अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥'

(३) तुलसी ने 'मानस' में भव-तरु का वर्णन इस प्रकार किया है—

अव्यक्त मूलअनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कन्ध साखा पंचबिस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवित फूलति नवल नित संसार-बिटप नमामहे॥

[२०३]

श्रीहरि-गुरु-पदकमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥ १॥
परिवा प्रथम प्रेम बिन राम-मिलन अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि॥ २॥
दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहि महि-मण्डल धीर।
बिगत मोह-माया-मद हृदय बसत रघुबीर॥ ३॥

तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुन्द ।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानन्द ।। ४ ।।
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि-मन-चित-अहंकार ।
बिमल बिचारि परमपद निज सुख सहज उदार ।। ५ ।।
पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप ।
इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव-कूप ।। ६ ।।
छठि षड्वर्ग करिय जय जनकसुता-पति लागि ।
रघुपति कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ लोभागि ।। ७ ।।
सातैं सप्तधातु-निर्मित तनु करिय बिचारि ।
तेहि केर एक भल कीजै पर उपकार ।। ८ ।।
आठइँ आठ प्रकृति-पर निर्बिकार श्रीराम ।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम ।। ९ ।।
नवमी नवद्वार-पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह ।
ते नर जोनि अनेक भ्रमर दारुन दुख दीन्ह ।। १० ।।
दसइँ दसहु कर संजम जो न करित जिय जानि ।
साधन बृथा होइँ सब मिलहि न सारँगपानि ।। ११ ।।
एकादसी एक मन बस कै सेवहु जाइ ।
सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ ।। १२ ।।
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक ।
परहित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक ।। १३ ।।
तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत ।
मन-क्रम-बचन-अगोचर, ब्यापक, ब्याप्य अनन्त ।। १४ ।।
चौदसि चौदह भुवन अचरचर रूप गोपाल ।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग-जाल ।। १५ ।।
पूनो प्रेम-भगति-रस हरिरस जानहिं दास ।
सम सीतल गत-मान ग्यानरत विषय-उदास ।। १६ ।।
त्रिबिध सूल होलिय जरै, खेलिय अब फागु ।
जो जिय चहसि परम सुख तौ यहि मारग लागु ।। १७ ।।
स्रुति-पुरान-बुध-सम्मत चाँचरि चरित मुरारि ।
करि बिचार भव तरिय परिय न कबहुँ जमधारि ।। १८ ।।

संसय-समन, दमन-दुख सुखनिधान हरि एक।
साधु-कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक।। १९ ।।
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन।। २०।।

शब्दार्थ—परिवा=प्रतिपदा, पड़वा तिथि। द्वैत-मति=भेद बुद्धि। चरहि= विचरण कर। बिगत=रहित। त्रिगुण-पर=तीनों गुण—सत, रज, तम से परे। परस=स्पर्श। परब=पड़ेगा। बहुरि=फिर, पुनः। षड्वर्ग=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। जय=विजय। ताइ=बुझती। लोभागि=लोभ की अग्नि। सप्तधातु=अस्थि, चर्म, रक्त, मांस, मज्जा, मेद और वीर्य। केर=का। आठ प्रकृति=पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। नवद्वार=नौ छेद वाला शरीर। दसहु=दस इन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय। सारंग-पानि=शारंग धनुषधारी राम। एकादसी एक मन=दस इन्द्रियाँ और एक मन= ग्यारह। पारन=व्रत के उपरांत किया जाने वाला भोजन। तीन अवस्था=जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति। व्याप्त=स्वयं ब्रह्मांड रूप। अति=पूर्णरूप से, जड़ से। गत-मान=मानापमान की भावना से मुक्त, रहित। होलिय=होली। फागु=होली खेलना। चाँचरि=फाग के गीत। जमधारि=यम की कठिन धार।

भावार्थ—हे मन ! तू अभिमान छोड़कर भगवत्स्वरूप गुरु के चरण-कमलों का भजन कर, जिनकी सेवा करने से सुख के निधान भगवान् राम मिलते हैं। जैसे प्रतिपदा (पड़वा) पक्ष का प्रथम दिवस होती है, उसी प्रकार राम को प्राप्त करने का सर्वप्रथम साधन प्रेम है। इस प्रेम के बिना राम का मिलना असम्भव है। यद्यपि राम जीव के हृदय में ही अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित अर्थात् पूर्ण रूप में स्थित रहते हैं। (फिर भी प्रेम के बिना उनका साक्षात्कार असम्भव है।)

द्वितीया के समान राम को प्राप्त करने का दूसरा साधन यह है कि द्वैत-बुद्धि (अपने-पराये में भेद करने वाली बुद्धि) को त्याग समदृष्टा हो, धैर्य धारण कर समस्त पृथ्वी-मंडल पर विचरण करना चाहिए। जो हृदय मोह, माया और मद से रहित होता है, वहीं राम निवास करते हैं। तृतिया के समान तीसरा साधन यह है कि पुरुषोत्तम लक्ष्मीपति मुकुन्द भगवान् मायात्मक तीनों गुणों (सत, रज, तम) से परे अर्थात् रहित हैं। इसलिए बिना इन तीनों गुणों के स्वभाव का त्याग किये परमानन्द (ब्रह्मानन्द) प्राप्त करना दुर्लभ है। अर्थात् साधक को सत, रज और तम—तीनों गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाना चाहिए, तभी उसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो सकता है।

चतुर्थी के समान चौथा साधन यह है कि बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार; इन चारों (अतःकरण चतुष्टय) को त्याग देना चाहिए। अर्थात् इन चारों को अपने वश में कर लेना चाहिए। ऐसा हो जाने पर विमल विचार (शुद्ध विवेक) उत्पन्न होगा और तब सहज (एकरस) आत्मानन्द रूपी उदार परमपद की स्वतः ही प्राप्ति हो

जायेगी । पंचमी के समान पाँचवाँ साधन यह है कि स्पर्श, रस, शब्द, गन्ध और रूप, इन पाँचों का कहना नहीं मानना और करना चाहिए क्योंकि इनका कहना मानने से पुन: संसार रूपी कुएँ में गिरना पड़ता है अर्थात् पुनर्जन्म लेना पड़ता है । भाव यह है कि उपर्युक्त पाँचों विषयों की पाँच इन्द्रियों—त्वचा, जिह्वा, कान, नासिका और आँख—का कहना मान, इनसे सम्बन्धित विषयों के आकर्षण में नहीं पड़ना चाहिए ।

षष्ठी समान छठा साधन यह है कि सीतापति राम के चरणों में प्रेम प्राप्त करने के लिए षट्वर्ग (काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य) पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । राम की कृपा रूपी जल के बिना लोभ की अग्नि नहीं बुझायी जा सकती । भाव यह है कि लोभ ही उपर्युक्त षटवर्ग का मूल कारण है और बिना राम की कृपा के इस लोभ पर विजय नहीं प्राप्त नहीं की जा सकती । सप्तमी के समान सातवाँ साधन यह है कि सात धातुओं (त्वचा, रक्त, माँस, अस्थि, मज्जा, मेद और वीर्य) से निर्मित इस शरीर पर विचार करना (कि यह क्षणभंगुर और पापों का भंडार है) । इस शरीर को प्राप्त करने का केवल एक ही फल (परिणाम) है कि इसके द्वारा सदैव दूसरों का उपकार करना चाहिए ।

अष्टमी के समान आठवाँ साधन यह है कि राम अष्ट प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) से परे शुद्ध स्वरूप हैं । अर्थात् राम में इन प्रकृतियों का कोई विकार नहीं है । ऐसे शुद्ध स्वरूप भगवान उस हृदय में कैसे निवास कर सकते हैं जिसमें अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ भरी हुई हैं । अर्थात् राम निर्विकार हृदय में ही निवास करते हैं । नवमी के समान नौवाँ साधन यह है कि इस नौ (छिद्र) वाले नगर अर्थात् शरीर में रहते हुए जिसने (आत्मा ने) अपना भला नहीं किया अर्थात् आत्म-साक्षात्कार नहीं किया वह आत्मा अनेक योनियों में भटकती फिरेगी और स्वयं को दुख देती रहेगी ।

दशमी के समान दसवाँ साधन यह है कि अपनी दसों इन्द्रियों (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय) का संयम करना चाहिए क्योंकि जिसने इन दसों इन्द्रियों का संयम करना नहीं जाना, उसके द्वारा किये गये (राम-प्राप्ति के) सारे साधन निष्फल हो जाते हैं और उसे शारंग धनुषधारी राम नहीं मिलते । अतः इन्द्रिय-संयम आवश्यक है । एकादशी के समान ग्यारहवाँ साधन यह है कि (दसों इन्द्रियों और) एक मन, इन ग्यारह को वश में करके अर्थात् इनको एक ही लक्ष्य—राम-प्राप्ति—की ओर उन्मुख कर राम की सेवा करनी चाहिए । जो ऐसा करेगा वही (परमार्थ रूपी एकादशी के) व्रत का फल पायेगा और आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायेगा ।

द्वादशी के समान बारहवाँ साधन यह है कि दान ऐसा देना चाहिए, जिससे तीनों लोकों में निर्भय हो जाय । एकादशी के व्रत के उपरान्त द्वादशी को पारण किया जाता है अर्थात् व्रत को समाप्त कर भोजन किया जाता है) इस व्रत का पारण यही है कि दूसरों का उपकार करना चाहिए । ऐसा करने से फिर शोक नहीं व्याप्ता ।

त्रयोदशी के समान तेरहवाँ साधन यह है कि तीनों अवस्थाओं (जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति) को त्याग कर भगवान का भजन करे। अर्थात् रात-दिन एकरस, बराबर एक भाव से भगवान का भजन करता रहे। भगवान मन, कर्म, वचन से परे हैं, सर्व-व्यापी हैं, स्वयं व्याप्य अर्थात् स्वयं ब्रह्माण्ड स्वरूप हैं और अनन्त हैं। भाव यह है कि जीव अवस्था-भेद में भगवान का पूर्ण चिंतन नहीं कर सकता।

चतुर्दशी के समान चौदहवाँ साधन यह है कि गोपाल अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी भगवान चौदह लोकों में व्याप्त हैं। जड़ और चेतन—सब उन्हीं के रूप हैं। परन्तु जब तक जीव की भेदबुद्धि पूरी तरह से दूर नहीं होती तब तक भगवान जीव के इस संसार रूपी जाल को नष्ट नहीं करते अर्थात् उसे आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं करते। पूर्णमासी के समान पन्द्रहवाँ साधन यह है कि प्रेम और भक्ति के रस से ही भक्तजन भगवत्प्रेम के रस को जान पाते हैं और इस रस को जान लेने के उपरान्त वे शान्ति और शीतल, अभिमान रहित, ज्ञानमय और विरक्त बन जाते हैं। भाव यह है कि वे सांसारिक विषयों के आकर्षणों से पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं।

(यहाँ तुलसीदास विशेष रूप से फाल्गुन मास की पूर्णमासी का वर्णन कर रहे हैं। इस पूर्णमासी को होली जलायी जाती है।) तीनों प्रकार के तापों (दैहिक, दैविक भौतिक) को (वैराग्य रूपी) होली में जलाकर फाग खेलना चाहिए। भाव यह है कि वैराग्य उत्पन्न होने से सांसारिक विषयों की आसक्ति दूर हो जायेगी, ऐसा हो जाने पर जीव पाप नहीं करेगा और पाप करने पर उसके तीनों ताप स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे और जीव खुलकर परमानन्द प्राप्त करेगा। हे जीव! यदि तू मन में परम सुख (ब्रह्मानन्द) चाहता है तो इसी मार्ग पर चल। अर्थात् क्रम-क्रम से उपर्युक्त पन्द्रह साधनों की साधना कर। वेद, पुराण और ज्ञानीजन—सबका यही मत है कि भगवान के चरित्रों का गुणगान करना ही होली के गीत (चाँचरि) हैं। इन सब बातों पर विचार कर संसार रूपी सागर से पार हो जाना चाहिए और फिर कभी भी भूलकर यमदूतों के फन्दे में न पड़ना चाहिए। अर्थात् आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

संशय (अविद्या) के नाश करने वाले, दुखों को दूर करने वाले और आनन्द की राशि केवल एक भगवान ही हैं जो सन्तों की कृपा बिना, अनेक उपाय करने पर भी नहीं मिलते। अर्थात् केवल सन्तों की कृपा होने पर ही भगवान के दर्शन हो सकते हैं, अन्य साधनों से नहीं। इसलिए इस संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए सन्तों के पवित्र चरणों को ही नाव समझना चाहिए। तुलसीदास कहते हैं कि (सन्तों की कृपा से) दुख नाशक राम बिना प्रयत्न किये ही मिल जाते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में एक पक्ष की पन्द्रह तिथियों—प्रथमा से लेकर पूर्णमासी तक—के रूप में राम-भक्ति को प्राप्त करने के पन्द्रह साधन बताये गये हैं।

(२) पद के प्रारम्भ में ही 'श्री हरि-गुरु पद-कमल' कहकर एक प्रकार से

भगवान् और गुरु को समान पद प्रदान किया है। कबीर ने भी गुरु और भगवान में अभेद माना है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ॥

(३) चौदह भुवन निम्नलिखित माने गये हैं—

भूः, भुवः, स्वः, जन, तप, सत्य, ब्रह्म, तल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, रसातल और पाताल।

(४) सन्तों के चरणों की सेवा करने पर कबीर ने भी जोर दिया है—

मथुरा भावै द्वारिका, भावै ना जगनाथ।
साधु-चरन सेवा बिना, कछु न आवै हाथ ॥

(५) तुलसी ने इस पद में सिद्धाभक्ति प्राप्त होने तक की अवधि को मास का एक पक्ष माना है। पक्ष की पन्द्रह तिथियों के अनुसार क्रमशः पन्द्रह साधनों का उल्लेख किया है। 'विनय-पत्रिका' के टीकाकार श्री बैजनाथजी ने चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार जीव की सोलह कलाएँ इस प्रकार मानी हैं—

निराशा, सद्वासना, कीर्त्ति, जिज्ञासा, करुणा, मुदिता, स्थिरता, सुसंग, उदासीनता, श्रद्धा, लज्जा, साधुता, तृप्ति, क्षमा, विवेक और विद्या।

राग कान्हरा

[२०४]

जो मन लागै रामचरन अस।
देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस ॥१॥
द्वन्द्वरहित गतमान ग्यानरत विषय-बिरत खटाइ नाना कस।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होंहि बस ॥२॥
सर्बभूत-हित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एकरस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ॥३॥

शब्दार्थ—अस=ऐसा। बित=धन। कलत्र=स्त्री। खटाइ=परीक्षा में पूर्ण उतरे। कस=जाँच, परीक्षा। निर्व्यलीक=निर्मल, निष्कपट। हतो=मारा। सीसदस=दशशीश, रावण।

भावार्थ—अगर राम के चरणों में ऐसा मन लगे जैसा कि बिना प्रयत्न किये अपने शरीर, घर, पुत्र, धन और स्त्री में लगता है तो ऐसा मनुष्य सुख-दुख के द्वन्द्वों से रहित अर्थात् समरस, परमहंस हो जाय, उसका अभिमान नष्ट हो जाय, वह ज्ञान में तल्लीन हो जाय, सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति विरक्त हो जाय तथा अनेक

परीक्षाओं में पूर्ण रूप से खरा सिद्ध हो। ऐसा हो जाने पर सुख के भण्डार, चतुर अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी, कौशल नरेश राम उस पर प्रसन्न हो उसके वश में क्यों नहीं हो जायेंगे ? अर्थात् अवश्य हो जायेंगे ।

(जो मनुष्य भगवान् के चरणों में ऐसा प्रेम करने लगेगा) वह सारे जीवों की भलाई करने लगेगा, उसका हृदय निर्मल और निष्कपट हो जायेगा, उसके मन में भक्ति, प्रेम और नियम दृढ़ रूप से स्थित हो जायेंगे और वह सदैव एकरस अर्थात् एक ही भाव—राम भक्ति—में डूबा रहेगा। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसा तभी हो सकता है जब दशमुख रावण का वध करने वाले राम उस पर कृपा करें।

टिप्पणी—(१) 'खटाइ नाना कस'—इसका अर्थ पं० रामेश्वर भट्ट ने इस प्रकार किया है—

"वह (संसार के) विषयों से ऐसे अलग हो जाता है, जैसे कस के पात्रों में धरी अनेक खट्टी वस्तुओं से (मन फिर जाता है)।" यहाँ 'कस' से अभिप्राय कसकुट, काँसा अथवा पीतल के पात्र से है जिसमें रखने से खट्टी चीज खराब हो जाती है।

(२) 'जेहि हतो सीसदस'—यहाँ दशशीश से अभिप्राय दस इन्द्रियाँ भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् राम ही दस इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करने वाले हैं।

[२०५]

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु।
तौ तजि बिषय-बिकार, सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु ॥१॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद, राग द्वेष निसेष करि परिहरु ॥२॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीताबरु ॥३॥
इहै भगति बैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि, चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु ॥४॥

शब्दार्थ—सुरतरु=कल्पवृक्ष। सम=शम, शान्ति। निसेष=पूर्ण रूप से। अनुसरु=अनुसरण कर। अग=जड़। जग=चैतन्य। सीतावरु=सीता के वर राम। तोषन=प्रसन्न करने वाला। आचरु=आचरण कर, साधन कर। सिव-मत=कल्याणकारी मत, शिव का मत।

भावार्थ—हे मन ! यदि तू भगवान् रूपी कल्पवृक्ष (कल्पवृक्ष के समान सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले) का भजन करना चाहता है तो विषयों के विकार

(कुवासनाओं) को त्याग साररूप भगवान का भजन कर। मैं तुझसे जो कहता हूँ तू उसे आज भी कर ले, अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। शान्ति, सन्तोष, पूर्ण रूप से निर्मल विचार और सत्संग—इन चारों को दृढ़तापूर्वक हृदय में धारण कर तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग और द्वेष की भावनाओं का पूरी तरह से त्याग कर दे। कानों से राम की कथा, सुन, मुख से राम का नाम ले, हृदय में भगवान को स्थापित कर, सिर से राम को प्रणाम कर, हाथों से राम की सेवा कर तथा पैरों से उनका अनुसरण कर। नेत्रों से कृपा के सागर, जड़-चैतन्यमय भगवान सीतापति महाराज राम के दर्शन कर।

यही भक्ति और यही वैराग्य तथा ज्ञान है, यही भगवान को प्रसन्न करने का उपाय है, यही शुभ व्रत तथा शुद्ध आचरण है। अथवा तू इसी शुभ व्रत का साधन कर। तुलसीदास कहते हैं कि यही कल्याणकारी मार्ग है अथवा शिव का बताया हुआ मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए स्वप्न में भी कभी किसी बात का डर नहीं रहता।

टिप्पणी—(१) 'सम·········सतसंगति'—भाव यह है कि शम (शान्ति, समता) से मन की विषमता दूर हो जायेगी, सन्तोष से मन आकांक्षारहित हो जायेगा, निर्मल विचार से बुद्धि द्वैतभाव को त्याग विशुद्ध हो जायेगी और सत्संग करने से अहंकार नष्ट हो जायेगा।

(२) 'विषय विकार' से भाव विभिन्न इन्द्रियों के विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि—के आकर्षणों से है। इनसे मुक्त होने पर ही भक्ति सम्भव होती है।

(३) 'अगजग रूप भूप सीतावरु'—तुलसी ने 'मानस' में भी राम के सर्वव्यापी रूप का वर्णन कर उन्हें प्रणाम किया है—

'सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी॥'

[२०६]

नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति-सम बिपति-निवारन।
काको सहज सुभाउ सेवक बस, काहि प्रनत पर प्रीति अकारन॥१॥
जन-गुन अलप गनत सुमेरु करि, अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु, भगत - चिन्तामनि, बिरद पुनीत पतितजन - तारन॥२॥
सुमिरत सुलभ दास-दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभारन।
साखि पुरान निगम आगम सब, जानत द्रुपद-सुता अरु बारन॥३॥
जाको जस गावत कबि कोबिद, जिन्हके लोभ मोह मद मारन।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु, कोसलपति मुनिबधू-उधारन॥४॥

शब्दार्थ—दूजो=दूसरा। प्रनत=भक्त। जन-गुन=भक्तों के गुण। अलप=

अल्प, थोड़े। विरद=यश, कीर्त्ति। सखि=साक्षी, गवाह। निगम=वेद। आगम=शास्त्र। वारन=हाथी, गजेन्द्र। मार=काम भावना। मुनिबधू=अहिल्या।

भावार्थ—इस संसार में रघुपति राम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा ऐसा नहीं है जो विपत्तियों को दूर करता हो तथा जिसकी शरण ली जाय। जिसका ऐसा सहज (निष्कपट) स्वभाव है जो अपने सेवकों (भक्तों) के वश में हो जाता है, कौन ऐसा है जो विना किसी कारण अथवा स्वार्थ के ही भक्तों से प्रेम करता है? अर्थात् एक राम ही ऐसे हैं। राम अपने भक्तों के थोड़े से साधारण गुणों को भी पर्वत के समान महान् मानते हैं और भक्तों के करोड़ों अवगुणों को देखकर भी भुला देते हैं। ऐसे राम परम कृपालु, भक्तों के लिए चिन्तामणि अर्थात् उनकी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने वाले, पवित्र यश वाले तथा पापी जनों का उद्धार करने वाले हैं।

राम स्मरण करते ही भक्तों को आसानी से सुलभ हो जाते हैं अर्थात् मिल जाते हैं। अपने भक्त के दुख को सुनकर भगवान तुरन्त उसकी सहायता करने चल पड़ते हैं और इतनी जल्दी करते हैं कि उन्हें अपना पीताम्बर तक सम्हालने का होश नहीं रहता। इस बात की साक्षी (गवाही) पुराण, वेद, शास्त्र आदि सब दे रहे हैं और द्रौपदी और गजेन्द्र भी इस बात को जानते हैं (कि किस प्रकार भगवान उनकी पुकार सुनते ही तुरन्त उनकी सहायता करने दौड़े आये थे)।

ऐसे कवि और विद्वान् जो लोभ, मोह, मद और काम की भावनाओं से मुक्त हो चुके हैं, जिन राम के यश का गान करते हैं, हे तुलसीदास! तू भी सम्पूर्ण आशाएँ त्याग अर्थात् निष्काम भाव से मुनिवधू अहिल्या का उद्धार करने वाले उन राम का भजन कर।

[२०७]

भजिबे लायक, सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिंन।
आनन्दभवन, दुखदमन, सोकसमन रमारमन गुन गनत सिराहिं न ॥१॥
आरत अधम कुजात कुटिल खल पतित सभीत कहूँ जे समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न ॥२॥
जाके पद-कमल-लुब्ध मुनि-मधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न।
तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस, कारुनीक जो अनाथहिं दाहिंन ॥३॥

शब्दार्थ—सरनप्रद=शरण देने वाला। सिराहिं=समाप्त। आरत=दुखी। कुजाति=नीच जाति। बारक=एक बार। विरत=विरक्त। सुगति=मोक्ष। कस=क्यों। दाहिंन=अनुकूल, कृपालु, सहायक।

भावार्थ—भजन करने लायक, सुखदाता और शरण देने वाला रघुनाथ राम के समान दूसरा कोई भी नहीं है। राम आनन्द के भंडार, दुख को नष्ट करने वाले,

शोक को दूर करने वाले, लक्ष्मी के पति हैं, उनके गुण इतने अनन्त हैं कि गिनते-गिनते कभी समाप्त नहीं हो सकते। दुखी, अधम, नीच जाति वाले, कुटिल, दुष्ट, पापी और भयभीत प्राणी, जो संसार में कहीं भी नहीं समा सकते अर्थात् जिन्हें कोई भी शरण नहीं दे सकता, वे भी विवश होकर अर्थात् परिस्थितियों से विवश होकर (स्वेच्छा-पूर्वक नहीं) यदि एक वार भी भगवान का स्मरण कर लेते हैं तो उन्हें वह पद (निर्वाण) प्राप्त हो जाता है जहाँ देवता भी नहीं जा पाते, अर्थात् जिस पद को देवता तक भी नहीं प्राप्त कर पाते।

जिनके चरण रूपी कमलों के वे मुनि रूपी भ्रमर लोभी होते हैं जो विरक्त होते हैं तथा परम पद मोक्ष के प्रति भी नहीं आकर्षित होते, अर्थात् वे मुनि, जो इतने विरक्त होते हैं कि परम पद मोक्ष का लालच भी जिन्हें नहीं लुभा पाता, राम के चरण कमलों में भ्रमर के समान लुब्ध बने मँडराते रहते हैं; अर्थात् रात-दिन उन्हीं का चिन्तन करते रहते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि रे मूर्ख ! तू ऐसे राम का भजन क्यों नहीं करता जो परम करुणा करने वाले तथा अनाथों के सहायक हैं।

टिप्पणी—(१) 'सुगतिहु लुभाहिं न'—सगुणोपासक मोक्ष की भी कामना नहीं करते। यही बात तुलसीदास ने 'मानस' में भी कही है—

'सगुन-उपासक मोच्छ न लेंही।'

(२) 'विवस हूँ'—इसका अत्यन्त सार्थक प्रयोग किया गया है। सुख में तो लोग प्रायः राम का नाम नहीं लेते परन्तु जब दुख पड़ता है तो विवश हो राम का नाम पुकारने लगते हैं। राम जीव की इस स्वार्थपरता की ओर ध्यान न देकर फिर भी उसका उद्धार कर देते हैं। इसीलिए यहाँ 'विवस हूँ' शब्द व्यक्ति की स्वार्थपरता और राम की महान् उदारता के प्रति संकेत कर रहा है।

[२०८]

नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावौं।
त्रिबिध अनगिनत अवलोकि अघ आपने,
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं॥ १॥
बिरचि हरिभगति को बेष बर टाटिका,
कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं।
नामलगि लाइ लासा-ललित-बचन कहि,
ब्याध ज्यों विषय-बिहँगनि बझावौं॥ २॥
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि,
साधुगनती में पहलेहि गनावौं।

परम बर्बर खर्ब गर्व-पर्वत चढ़्यो,
अग्य सर्बग्य जन-मनि जनावौं ॥ ३ ॥
साँच किधौं झूठ मोको कहत, कोउ,
कोउ राम ! रावरो हौं तुम्हरो कहावौं ।
बिरद की लाज करि दासतुलसिहिं, देव,
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कौन=किस प्रकार । त्रिविध=मन, वचन, कर्म तीनों प्रकार के । अघ=पाप । बिरचि=रच कर, धारण कर । बर=सुन्दर । टाटिका=टट्टी, टटिया । दल=समूह । हरित=हरे । लगि=लग्गी, चिड़ियों को फँसाने वाला लम्बा बाँस । लासा=चेंप, चिपचिपा पदार्थ । लाइ=लगाकर । बझावौं=फँसाता हूँ । वारियहि=निछावर किये जा सकते हैं । पहलेहि=सर्वप्रथम । बर्बर=बकवादी, मूर्ख । खर्ब=बौना, तुच्छ । अग्य=मूर्ख । जन-मनि=मनुष्यों में श्रेष्ठ । जनावौं=जतलाता हूँ । किधौं=या, अथवा । रावरो=तुम्हारा । बावौं=बायाँ, पीठ देना, त्यागना ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं तुमसे किस प्रकार अपनी विनती कहकर सुनाऊँ । मैं अपने तीनों प्रकार के मन, वचन, कर्म द्वारा किये गये अगणित पापों को देखकर तुम्हारी शरण में जब जाता हूँ तो तुम्हें सामने देखते ही लज्जा के मारे अपना सिर नीचे झुका लेता हूँ । अर्थात् अपने पापों के कारण मुझे तुम्हारे सामने जाने में लज्जा होती है । (इस लज्जा का कारण यह है कि) मैं भगवान के भक्तों का वेश धारण कर उस वेश को पक्षी पकड़ने वाली धोखे की टटिया के रूप में स्तैमाल करता हूँ । अर्थात् भक्तों के से अपने ऊपरी वेश द्वारा सबको धोखा देता हूँ कि मैं राम-भक्त हूँ जबकि हूँ भयानक पापी । फिर अपने अनेक प्रकार के कपट रूपी पत्तों से उस टटिया को छाकर छिपा देता हूँ । अर्थात् अनेक प्रकार के ढोंग रचकर लोगों को और भी अधिक भुलावे में डाले रहता हूँ । इसके उपरान्त तुम्हारे नाम की लग्गी बना उसमें सुन्दर वचन रूपी लासा लगा देता हूँ । अर्थात् राम-नाम जपता हुआ सुन्दर उपदेश देने का ढोंग रचता हूँ । इस प्रकार मैं सारे ढोंग रचकर विषय रूपी पक्षियों को फाँस लेता हूँ । भाव यह है कि मेरे इस वेश और ढोंग से प्रभावित हो लोग मुझे फल, फूल, सुस्वादु व्यंजन, बढ़िया कपड़े, सुगन्धित वस्तुएँ भेंट करते हैं और सुन्दर स्त्रियाँ मेरे उपदेश सुनने आती हैं । इस प्रकार मैं अपनी विषय-वासनाओं की तृप्ति करता रहता हूँ ।

(मैं इतना भयंकर पापी हूँ कि) मेरे एक रोम के ऊपर अरबों पापियों को निछावर किया जा सकता है । अर्थात् अरबों पापी भी पाप करने में मेरी समता नहीं कर सकते । परन्तु फिर भी मैं साधुओं की गिनती होते समय अपनी गिनती सबसे पहले करवाता हूँ । अर्थात् अपने को सर्वश्रेष्ठ साधु घोषित करता हूँ । मैं बड़ा भारी

बकवादी (मूर्ख) और तुच्छ होते हुए भी गर्व के पर्वत पर बैठा रहता हूँ अर्थात् बड़ा भारी अभिमानी हूँ। मैं मूर्ख होते हुए भी स्वयं को सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) और मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ घोषित करता रहता हूँ। भाव यह है कि मैं मूर्ख होता हुआ भी बातें बना-बनाकर अपने को प्रकांड पंडित और श्रेष्ठ भक्त सिद्ध करता रहता हूँ।

हे राम! कह नहीं सकता कि यह बात सच है या झूठ, परन्तु कोई-कोई मुझे तुम्हारा भक्त कहते हैं और मैं भी स्वयं को तुम्हारा ही भक्त कहलवाता हूँ। इसलिए हे देव! तुम अपने यश की लज्जा (पतित-पावन, दीन-उद्धारक आदि) रखने के लिए अब तो अपने दास तुलसी को अपना ही लो। अब मुझे पीठ मत दो अर्थात् मेरी उपेक्षा मत करो।

टिप्पणी—(१) इस पद के दूसरे खंड में पक्षी पकड़ने का रूपक प्रस्तुत किया गया है। बहेलिया पक्षी पकड़ने के लिए पहले बाँस की एक टटिया लगा देता है, फिर उसे हरे पत्तों से ढक छिपा देता है। उस टटिया के नीचे अनाज ने दाने बिखरा दिये जाते हैं। जब पक्षी दाना चुगने उसके नीचे आ बैठते हैं तो रस्सी खींचकर टटिया गिरा दी जाती है और पक्षी उसके नीचे फँस जाते हैं। यह पक्षी पकड़ने का एक तरीका है। दूसरा तरीका यह है कि एक लम्बे बाँस के ऊपरी सिरे पर एक चिप-चिपा पदार्थ (लासा) चिपका कर उसे झाड़ियों में इस प्रकार रख देते हैं कि वह भी एक टहनी सा प्रतीत होता है। पक्षी टहनी के धोखे में उस पर बैठते ही उससे चिपक जाते हैं। इस पद में तुलसी ने इन दोनों क्रियाओं का वर्णन किया है।

(२) 'साधू……गनावौं'—यहाँ तुलसी ने राम के नाम पर व्यापार करने वाले ढोंगी साधुओं की प्रकृति पर कटाक्ष किया है।

(३) इस पद में उपलक्षणा पद्धति द्वारा सारे ढोंग और आडम्बर का पर्दाफाश किया गया है।

(४) सामीप्य, अनन्यता और विनय की ओर संकेत है।

(५) प्रथम पंक्ति का भाव कबीर ने भी व्यक्त किया है—

'क्या मुख लै बिनती करौं, लाज जु आवत मोहि।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावों तोहि॥'

[२०६]

नाहिनै नाथ! अवलम्ब मोहिं आन की।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे,
एक गति राम, भवदीय पदत्रान की॥ १॥
कोह मद मोंह ममतायतन जानि मन,
बात नहीं जाति कहि ग्यान-बिग्यान की।

काम-संकल्प उर निरखि बहु बासहिं,
आस नहिं एकहू आँक निरबान की ।। २ ।।
बेद-बोधित करम धरम बिनु अगम अति,
जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की ।
सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन,
द्रवहिं हठ जोग दिये भोग बलि प्रान की ।। ३ ।।
भगति दुरलभ परम, संभु-सुक-मुनी-मधुप,
प्यास पदकंज-मकरंद-मधुपान की ।
पतित-पावन सुनत नाम बिस्रामकृत,
भ्रमर पुनि समुझि चित ग्रन्थि अभिमान की ।। ४ ।।
नरक-अधिकार मम घोर संसार-तम-कूपकहिं,
भूप, मोहिं सक्ति आपान की ।
दासतुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की ।। ५ ।।

शब्दार्थ—अवलम्ब=सहारा । आन=अन्य । पन=प्रतिज्ञा । भवदीय=तुम्हारे । पदत्रान=जूता । कोह=क्रोध । ममतायतन=ममता+आयतन=ममता का घर । आँक=अंश, कुछ भी । निरबान=निर्वाण, मोक्ष । बोधित=कहे हुए, समझाये हुए । अमरपुर=स्वर्ग । सेवत=सेवा करने में । हठ=हठयोग । सुक=शुक्रदेव । बिस्रामकृत=शान्ति देने वाला । ग्रन्थि=गाँठ । कूपकहिं=कुएँ में । आपान की=तुम्हारा । गुह=निषादराज गुह, केवट । ग्याति=जाति ।

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे किसी भी दूसरे का सहारा नहीं है । हे करुणा-निधान ! हे राम ! कर्म, मन और वचन से मेरी यही सत्य प्रतिज्ञा है कि मेरी गति (सहारा) तो केवल एक तुम्हारे पदत्राण (जूते) ही हैं । अर्थात् तुम्हारे चरणों में जाने से ही मेरी गति होगी, इस बात का मेरा दृढ़ विश्वास है । मैं जानता हूँ कि मेरा मन क्रोध, मद, मोह और ममता का भंडार है, इसीलिए मुझसे मन से ज्ञान-विज्ञान की बात नहीं कही जाती । अर्थात् मेरे मन का उद्धार ज्ञान-विज्ञान (ब्रह्म का ज्ञान) द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि उसमें कुवासनाएँ भरी रहती हैं । मेरे हृदय में अनेक कामनाओं के संकल्प उठते रहते हैं, अनेक प्रकार की वासनाएँ भरी हुई हैं, यह देखकर मुझे रत्ती भर भी मोक्ष की आशा नहीं रही है । अर्थात् मुझे मुक्ति नहीं मिल सकती । भाव यह है कि बिना वासनाएँ दूर हुए मोक्ष मिलना असम्भव है क्योंकि वासनाओं के पूर्ण अभाव को ही मोक्ष कहा जाता है ।

यद्यपि मेरे हृदय में स्वर्ग जाने की लालसा है, परन्तु वेदों द्वारा बताये गये

कर्म और धर्म किये विना स्वर्ग जाना असम्भव है। इसके अतिरिक्त सिद्ध, देवता, मनुष्य, दानव आदि की सेवा करना बड़ी कठिन है क्योंकि सिद्ध हठयोग की साधना करने से, देवता योग करने और यज्ञ का भाग देने से तथा दानव आदि प्राणों की वलि चढ़ाने से प्रसन्न होते हैं। (परन्तु मेरे बस के ये कार्य नहीं हैं।) भक्ति को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। शिव और शुकदेव जैसे मुनी रूपी भ्रमरों को भी तुम्हारे चरण-कमल के मकरंद (पराग) तथा मधु का पान करने की प्यास लगती रहती है। अर्थात् जब इतने बड़े-बड़े मुनि और योगी तुम्हारे चरणों की सेवा करने की कामना करते हैं और उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो मुझ जैसे पापी की औकात ही क्या है कि तुम्हारे चरणों की सेवा कर सकूँ! मैं सुनता रहता हूँ कि तुम्हारा नाम पतित-पावन है और तुम सबको शान्ति प्रदान करने वाले हो परन्तु इस बात को समझता हुआ भी मेरा यह मन अभिमान की गाँठ पड़ी रहने के कारण पुनः इधर-उधर भटकने लगता है। अर्थात् अपने देहाभिमान में भर पुनः विषय-वासनाओं में रम जाता है।

मैं जानता हूँ कि अपने कर्मों के कारण मैं अधिकारी तो नरक के समान भयंकर अन्धकार से भरे संसार रूपी कुएँ में ही गिरने का हूँ, किन्तु हे राजा राम! मुझे फिर भी तुम्हारा भरोसा है (कि तुम अवश्य मेरा उद्धार करोगे)। तुलसीदास कहते हैं कि हे राम! मैं तुम्हारे वल का भरोसा कर तथा गुह, जटायु, गजेन्द्र और हनुमान की जाति की याद कर इस संसार के भय को कुछ भी नहीं समझता। अर्थात् जब तुमने इन सब अधम प्राणियों का उद्धार कर दिया तो मेरा उद्धार भी अवश्य करोगे, यही विश्वास मन में रहने से मैं संसार के भय से त्रस्त नहीं होता।

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में उपलक्षणा पद्धति द्वारा एक विशाल भाव को अत्यन्त संक्षेप में कह दिया गया है। स्वर्ग जैसे पद की लालसा है परन्तु वेद कर्म नहीं था, यह संकेत नहीं कि वेद द्वारा निर्धारित कर्मों की लालसा अधिक थी।

(२) तुलसी ने राम के चरणों का आश्रय न कह पदत्राण का आश्रय कहा है। आगे चलकर शिव और शुकदेव जैसे ज्ञानी भी राम के चरणों को प्राप्त नहीं कर पाते तो तुलसी कैसे कर पाते, यही सोचकर तुलसी ने पदत्राण को ही अपना अवलम्ब बना दिया है।

(३) 'वेद बोधित कर्म' से अभिप्राय यज्ञ, दान, तप, संयम, योग, जप, तीर्थयात्रा, व्रत आदि से है।

[२१०]

और कहँ ठौर रघुबंस-मनि, मेरे।
पतित-पावन प्रनत-पाल असरन-सरन,
बाँकुरो बिरद बिरुदैत केहि केरे ॥१॥

समुझि जिय दोष अति रोष करि राम जो,
करत नहिं कान बिनती बदन फेरे।
तदपि ह्वै निडर हौं कहौं करुना-सिन्धु,
क्योंऽब रहि जात सुनि बात बिन हेरे ॥२॥
मुख्य रुचि होत बसिबे की पुर रावरे,
राम, तेहि रुचिहि कामादि गन घेरे।
अगम अपवर्ग, अरु स्वर्ग सुकृतैक फल,
नाम-बल क्यौं बसौं जम-नगर नेरे ॥३॥
कतहुँ नहिं ठाउँ, कहँ जाउँ कोसलनाथ!
दीन बितहीन हौं बिकल बिनू डेरे।
दास तुलसिहिं बास देह अब करि कृपा,
बसत गज गीध ब्याधादि जेहिं खेरे ॥४॥

शब्दार्थ—बाँकुरो=बाँका, निराला। बिरुदैत=यशवाला। बिरद=यश। केरे=का। कान=सुनना। बदन=मुख। क्योंऽब=क्यों अब। मुख्य=प्रधान। रुचिहि=रुचि को। अपवर्ग=मोक्ष। सुकृतैक=सुकृत+एक=पुण्य ही एक। नेरे=पास। क्यों=कैसे। बितहीन=निर्धन, अशक्त। डेरे=निवासस्थान। खेरे=गाँव, स्थान, खेड़ा।

भावार्थ—हे रघुवंश मणि! मेरे लिए और कहाँ स्थान है (जहाँ जाकर रहूँ)? पतित-पावन, शरणागत के रक्षक, जिनको कोई शरण नहीं देता उन्हें शरण दाता, ऐसा निराला यश किस अन्य यशवाले का है? अर्थात् अन्य किसमें इतने महान् गुण हैं, अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी दूसरा इतना महान् नहीं है। हे राम! तुम मेरे दोषों को अपने मन में समझ और उनके कारण क्रुद्ध हो मेरी विनती को नहीं सुनते और मुँह फेरे बैठे हो, फिर भी हे करुणा सिन्धु! मैं निडर होकर कहता हूँ कि मेरी बात सुनकर भी अब तुमसे मेरी तरफ देखे बिना कैसे रहा जाता है। अर्थात् तुम्हारा इतना बड़ा यश है, फिर भी तुम मुझ जैसे पापी की बात नहीं सुनते। यही आश्चर्य है, क्योंकि यह तो तुम्हारे यश (प्रसिद्धि) के सर्वथा विपरीत कार्य है।

यदि मेरी प्रधान अभिलाषा यह होती कि तुम्हारे धाम (बैकुण्ठ) में जाकर बसूँ तो (वह पूरी नहीं होने की क्योंकि) मेरी उस अभिलाषा को काम आदि दुष्टगण घेरे हुए हैं। अर्थात् ये उस इच्छा को दबा देते हैं। मोक्ष पाना मेरे लिए असम्भव है, और स्वर्ग पुण्य के फल से प्राप्त होता है। अर्थात् मैंने कोई पुण्य ही नहीं किया तो फिर स्वर्ग कैसे जा सकता हूँ, मेरी कामनाएँ नष्ट नहीं हुई हैं तो मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? (अब रह गया केवल एक स्थान—यम का नगर अर्थात् नरक) परन्तु

मेरे पास तो तुम्हारे नाम का वल है इसलिए मैं नरक के पास कैसे वस सकता हूँ। (क्योंकि तुम्हारा नाम लेने वाला कोई भी नरक नहीं जाता।)

हे कौशल नरेश राम! मेरे लिए कहीं भी रहने को स्थान नहीं है, मैं कहाँ जाऊँ? मैं दीन हूँ, निर्धन हूँ इसलिए कहीं रहने का स्थान न होने के कारण बड़ा व्याकुल हो रहा हूँ। हे नाथ! अव तो अपने दास तुलसी को कृपा कर उसी खेड़े (गाँव) में रहने के लिए स्थान दे दो जहाँ गजेन्द्र, जटायु और व्याध (वाल्मीकि) आदि रहते हैं। अर्थात् मुझे भी इन पापियों के साथ ही रख दो।

टिप्पणी—(१) इस पद के अन्त में तुलसी अपने वाक्-चातुर्य द्वारा राम से वैकुण्ठधाम में स्थान पाने का आग्रह कर रहे हैं, यद्यपि कह उसे खेड़ा (छोटा-सा गाँव) ही रहे हैं, क्योंकि गज, जटायु, वाल्मीकि आदि सब वैकुण्ठ गये थे, ऐसा भक्तों का विश्वास है।

(२) 'व्याध' से अभिप्राय 'जरा' नामक उस व्याध से भी ग्रहण किया जा सकता है, जिसका भगवान ने अपने पैर में वाण मारने पर भी उद्धार किया था। परन्तु प्रायः 'व्याध' शव्द से महर्षि वाल्मीकि से ही अभिप्राय ग्रहण किया जाता है, इसलिए हमने यही माना है। पुराणों में प्रसिद्ध 'धर्म' नामक एक और व्याध का उल्लेख आया है।

[२११]

कबहुँ रघुबंसमनि, सो कृपा करहुगे।

जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल नर तरे,
तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे ॥१॥

जोनि बहु जनम किये खल बिबिध बिधि,
अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुगे।

दीनहित अजित सर्बग्य समरथ प्रनतपाल,
चित मृदुल निज गुननि अनुसरहुगे ॥२॥

मोह मद मान कामादि खल-मंडली,
सकुल निरमूल कर दुसह दुख हरहुगे।

जोग जप जग्य बिग्यान ते अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुगे ॥३॥

मन्दजन-मौलिमनि सकल-साधन-हीन,
कुटिल मन मलिन जिय जानि जो डरहुगे।

दासतुलसी बेद-बिदित बिरुदावलि,
बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे ॥४॥

शब्दार्थ—सो=वह, वैसी। विप्र=ब्राह्मण अजामिल। उद्धरहुगे=उद्धार करोगे। अनुसरहुगे=अनुसरण करोगे। सकुल=वंश सहित। मौलि मनि=सिर की मणि, शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ। विस्तरहुगे=विस्तार करोगे, फैलाओगे।

भावार्थ—हे रघुवंश मणि ! तुम कभी तो मुझ पर अपनी उस कृपा को करोगे ही जिस कृपा द्वारा व्याध (वाल्मीकि), गज, ब्राह्मण, अजामिल तथा अन्य अनेक दुष्ट मनुष्य तर गये थे। हे नाथ ! तुम मुझे भी उन्हीं के बराबर मानकर मेरा भी उद्धार करोगे। नाना योनियों में जन्म धारण कर मैंने विभिन्न प्रकार के अनेक दुष्ट कर्म किये हैं परन्तु तुम मेरे उन नीच आचरणों (कर्मों) का मन में विचार नहीं करोगे अर्थात् उनकी ओर ध्यान नहीं दोगे। गरीबों का कल्याण करना, अपराजित रहना, सर्वज्ञ, समर्थ भक्तों का पालन करना, कोमल चित्त आदि जो तुम्हारे गुण हैं, तुम उनके अनुसार आचरण करोगे। अर्थात् अपने इनके गुणों के अनुसार ही मेरे साथ व्यवहार करोगे।

तुम मोह, मद, अभिमान, काम आदि दुष्टों के समूह को निर्वंश कर (वंश-सहित इनका विनाश कर) मेरे असह्य दुखों को दूर करोगे और योग, जप, यज्ञ और विज्ञान से भी अत्यन्त अधिक निर्मल और दृढ़ भक्ति दे मेरे हृदय में परम सुख (परमानन्द, ब्रह्मानन्द) भर दोगे। तुम मुझे नीच-शिरोमणि, सम्पूर्ण साधनों (योग, यज्ञ, जप, तप आदि) से हीन, मन का कपटी और मलिन जानकर यदि मन में भयभीत हो उठोगे (कि ऐसे नीच का कैसे उद्धार करूँ) तो तुम्हारी जो कीर्त्ति वेदों में प्रसिद्ध है, अपनी उस निर्मल कीर्त्ति का कैसे विस्तार कर सकोगे। भाव यह है कि मेरा उद्धार करने से तुम्हारी कीर्त्ति और अधिक बढ़ेगी और न करने से उसमें बट्टा लग जायेगा।

टिप्पणी—(१) 'विज्ञान' से तात्पर्य आत्म-ज्ञान से है, न कि वर्तमान 'विज्ञान' से।

(२) अन्तिम दो पंक्तियों के भाव को व्यक्त करने वाली एक अन्य कवि की पंक्ति द्रष्टव्य है—

'हम गरीबों से है सारी बादशाही आपकी।'

(३) 'सकुल' से अभिप्राय झूठ बोलना, छल-कपट, विषय-वासना आदि बुरी प्रवृत्तियों से है। क्योंकि काम, मद, मोह आदि के कारण ही इनकी उत्पत्ति होती है, इसीलिए ये प्रवृत्तियाँ उनकी वंशज मानी गई हैं।

राग केदारा

[२१२] दुःख नष्ट करने वाले

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु प्रनत-प्रतिपालक पतित-पवन ॥१॥

क्रूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन । यवन
सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन ॥२॥
गज पिंगला अजामिल से खल गनै धौं कवन ।
तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकी-रवन ॥३॥

शब्दार्थ--दवन=दमन करने वाले, नष्ट करने वाले । पवन=पावन, पवित्र करने वाले । जवन=यवन, म्लेच्छ । गनै=गणना करे, गिने । जानकी-रवन= जानकी के साथ रमण करने वाले राम ।

भावार्थ—रघुपति राम विपत्तियों को दूर करने वाले हैं । वे परम कृपालु, भक्तों का पालन तथा पापियों को पवित्र करने वाले हैं । क्रूर (व्याध वाल्मीकि), कुटिल (कोल, किरात आदि जंगली जातियाँ), कुलहीन (शबरी आदि नीच जाति वाले), गरीब (केवट आदि) तथा अत्यन्त मलिन यवन (मुसलमान) आदि जिसने भी राम-नाम का स्मरण किया उन सबको राम ने अपने लोक (बैकुण्ठ) भेज दिया । गजेन्द्र जैसे अभिमानी, पिंगला जैसी नीच वेश्या और अजामिल जैसे नीच ब्राह्मण आदि दुष्टों की गणना कौन करे ? अर्थात् राम ने ऐसे असंख्य पापियों का उद्धार किया था । तुलसीदास कहते हैं कि हे सीतापति ! हे प्रभु ! तुमने किस को मोक्ष नहीं दिया ? अर्थात् सबको मोक्ष दिया, भले ही कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न रहा हो ।

टिप्पणी—(१) 'जवन' से उस मुसलमान से अभिप्राय है, जिसने सुअर के आघात से मरते समय 'हराम' शब्द का उच्चारण किया था और 'हराम' में 'राम' का उच्चारण होने से उसे मुक्ति मिल गयी थी । तुलसी ने इस घटना का कवितावली में वर्णन किया है—

आँधरो, अधम जड़, जाजरोजरा जवन,
सूकर के सावक ढला ढकेल्यो मग मैं ।
गिर्‌यो हिये हहरि, 'हराम हो हराम हन्यो'—
हाय हाय करत परिगो कालफंद मैं ॥
तुलसी बिसोक ह्वै त्रिलोपकति-लोक गयो,
नाम के प्रताप, बाद विदित है जग में ।
सोइ रामनाम जों सनेह सों जपत जन,
महिमा सु ताकी क्यों कही है जाति अगमैं ॥

(२) 'पवन' का अर्थ 'पवित्र करने वाला' है । यह 'पूञ् पवने' धातु से बना है । इसी कारण वायु को 'पवन' कहते हैं क्योंकि वायु सारी वस्तुओं को पवित्र करने वाली मानी गयी है ।

[२१३]

हरि-सम आपदा-हरन ।
नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह-दुखसागर-तरन ॥१॥
गज निज बल अवलोकि कमल गहि गयो सरन ।
दीन बचन सुनि चले गरुड़ तजि सुनाभ-धरन ॥२॥
द्रुपदसुता को लग्यो दुसासन नगन करन ।
'हा हरि पाहि !' कहत पूरे पट बिबिध बरन ॥३॥
इहै जानि सुर नर मुनि कोबिद सेवत चरन ।
तुलसीदास प्रभु को न अभय कियो नृग-उद्धरन ॥४॥

शब्दार्थ—आपदा=विपत्ति, संकट । सुनाभ-धरन=चक्र धारण करने वाले । नगन=नंगा । पाहि=रक्षा करो । पूरे=पूरा कर दिया, ढेर लगा दिया । बरन= वर्ण, रंग । नृग=एक राजा ।

भावार्थ—हरि के समान संकटों को दूर करने वाला, स्वभाव से ही कृपालु और असह्य दुख के सागर से पार कर देने वाला अन्य कोई भी दूसरा नहीं है । गजेन्द्र अपने बल को देखकर (यह देखकर कि अपने बल द्वारा वह ग्राह की पकड़ से नहीं छूट सकता) सूँड़ में कमल ले भगवान की शरण में गया था । सुदर्शन-चक्र धारण करने वाले भगवान उसकी करुण पुकार को सुनकर गरुड़ को छोड़ (पैदल ही) उसकी सहायता करने चल पड़े थे ।

जब दुशासन (भरी सभा में) द्रौपदी को नंगा करने में लगा तो द्रौपदी यह पुकार करते ही कि—'हे हरि ! रक्षा करो !' भगवान ने विभिन्न रंगों के वस्त्रों का ढेर लगा दिया था । इन्हीं बातों को जानकर देवता, मनुष्य, मुनि और ज्ञानी जन भगवान के चरणों की सेवा करते हैं । तुलसीदास कहते है कि हे राजा नृग का उद्धार करने वाले प्रभु ! तुमने (पुकार करने पर) किसको अभय-दान नहीं दिया अर्थात् सारे संकट दूर कर किसे निर्भय नहीं बना दिया ।

टिप्पणी—'नृग-उद्धरन'—श्रीमद्भागवत में इस सम्बन्ध में यह कथा मिलती है—

राजा नृग महान् दानी था । वह नित्य एक करोड़ गायों को दान में दिया करता था । एक बार उसके द्वारा एक ब्राह्मण को दान में दी गयी एक गाय राजा की गायों में आ मिली और दूसरे दिन राजा ने वही गाय एक दूसरे ब्राह्मण को दान कर दी । पहले वाले ब्राह्मण ने अपनी गाय पहचान ली । दोनों में झगड़ा हुआ और राजा नृग के दरबार में दोनों न्याय के लिए गये । राजा के बहुत समझाने-बुझाने पर भी दोनों सन्तुष्ट नहीं हुए और राजा को शाप दिया कि तूने हमें

धोखा दिया है, इसलिए गिरगिट की योनि प्राप्त कर। उस शाप के कारण राजा नृग गिरगिट बना एक हजार वर्ष तक द्वारिका के एक कुएँ में पड़ा रहा। वहीं से भगवान कृष्ण ने उसका उद्धार कर उसे मुक्ति प्रदान की और बैंकुण्ठ भेज दिया।

राग कल्याण

[२१४]

ऐसी कौन प्रभु की रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरिन पर प्रीति ॥१॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥२॥
काम-मोहित गोपकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत-पिता बिरञ्चि जिन्हके चरन की रज लीन्ह ॥३॥
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि-गनि गारि।
कियो लीन सु आपु मैं हरि राज-सभा मँझारि ॥४॥
ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥५॥
कौन तिन्हको कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥६॥

शब्दार्थ—बिरद=यश। पुनीत=पवित्र। पाँवरिन=नीच, दुष्ट। कालकूट=भयंकर विष। जादवराइ=यादवराज, कृष्ण। बिरंचि=ब्रह्मा। नेम तें=नियमपूर्वक, बराबर। गारि=गाली। मँझारि=मध्य। चित दै=ध्यान से निशाना लगाकर। बानि=स्वभाव। सुकृत=सत्कर्म, पुण्य।

भावार्थ—प्रभु की यह रीति है कि अपने यश (की रक्षा के लिए ऋषि-मुनि आदि) पवित्रात्माओं को तो त्याग देते हैं अर्थात् उनके प्रति ध्यान तक नहीं देते और नीचों (पापियों) से प्रेम करते हैं। पूतना (राक्षसी) अपने कुचों (स्तनों) में कालकूट (भयंकर विष) लगाकर कृष्ण को मारने गयी थी परन्तु कृपालु यादवराज कृष्ण ने उसे अपनी माता की गति प्रदान की। अर्थात् उसे माता मान (मारकर) स्वर्ग भेज दिया। (भक्तों का विश्वास है कि भगवान के हाथ से जो मारा जाता है उसे बैंकुण्ठ मिलता है।) काम भावना से मोहित गोपियों पर उन भगवान कृष्ण ने कृपा की थी (उनके साथ रास-क्रीड़ा की थी), जिनके चरणों की धूल संसार के पिता (ब्रह्मा) ने

अपने मस्तक पर चढ़ायी थी। गोपियाँ प्रेमस्वरूपा थीं इसलिए ब्रह्मा ने उनकी चरण-रज को अपने शीश पर चढ़ाया था।)

शिशुपाल प्रतिदिन नियम से भगवान कृष्ण को गालियाँ दिया करता था परन्तु भगवान ने बीच सभा में (उसे मारकर) उसे अपने में लीन कर लिया था। अर्थात् स्वर्ग भेज दिया। मूर्ख मति वाले व्याध ने अपने मन में भगवान कृष्ण के चरणों को मृग समझकर ताककर निशाना मारा था। उसे भी अपने स्वभाव के अनुसार भगवान ने शरीर सहित ही अपने लोक बैंकुण्ठ भेज दिया था। उन लोगों की बात तो कौन कहे जिन्होंने पुण्य और पाप—दोनों प्रकार के कर्म किये थे, अर्थात् ऐसे लोगों को तो भगवान ने बैंकुण्ठ दिया ही था (परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि) मुझ जैसे प्रत्यक्ष पाप की मूर्ति को भी भगवान ने अपनी शरण में रख लिया है।

टिप्पणी—(१) 'पूतना'—पूतना किसी जन्म में अप्सरा थी। वामनावतार भगवान के लघु रूप को देख उसके मन में यह आकांक्षा जाग्रत हुई कि मैं बालरूप भगवान को अपने स्तनों का दूध पिलाऊँ। फिर अपने किन्हीं कर्मों द्वारा उसे राक्षसी बनना पड़ा। कंस ने उसे कृष्ण को मारने गोकुल भेजा। वह अपने स्तनों में जहर लगाकर वहाँ गयी और बालक कृष्ण को दूध पिलाने लगी। कृष्ण ने दूध पीते-पीते उसके प्राण खींच लिये। इस प्रकार पूतना की दूध पिलाने की इच्छा पूरी हो गयी और भगवान ने उसे माता का सा सम्मान दे स्वर्ग भेज दिया।

(२) 'शिशुपाल'—यह चेदि (वर्तमान चन्देरी) देश का राजा था। यह रुक्मिणी से विवाह करना चाहता था परन्तु कृष्ण ने इसे अन्य राजाओं के साथ पराजित कर रुक्मिणी का हरण किया था। यह उसी द्वेष के कारण कृष्ण को नित्य गालियाँ देता रहता था। शिशुपाल की माता को, जो कृष्ण की बुआ थीं, कृष्ण ने यह वचन दे रखा था कि वह सौ गालियों तक इसे क्षमा करते रहेंगे परन्तु यदि गालियों की संख्या सौ से ऊपर निकल गयी तो उसका वध कर देंगे। एक बार पांडवों के राजसूय-यज्ञ के अवसर पर इसने कृष्ण को सौ से भी अधिक गालियाँ दीं। कृष्ण ने तुरन्त सुदर्शन चक्र से इसका सिर काट डाला। इसकी आत्मा कृष्ण के मुख में प्रवेश कर गयी। इसी बात को तुलसी ने 'कियो लीन सु आप में हरि' कहा है।

(३) 'व्याध'—भागवत के अनुसार, द्वारिका के यादवों का पारस्परिक युद्ध में विनाश हो जाने के उपरान्त, भगवान कृष्ण ने अपनी नर-लीला समाप्त करने की सोची। इसी ध्यान में मग्न वह एक वन में एक वृक्ष के नीचे एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखे लेटे हुए थे। दूर से एक व्याध ने कृष्ण के चरणों में बने पद्म के चिह्न को मृग की आँख समझ बाण मार दिया। कहा जाता है कि उसी से कृष्ण की मृत्यु हो गयी थी। परन्तु उससे पूर्व ही उन्होंने उस व्याध को सशरीर स्वर्ग भेज दिया था। यह भी कहा जाता है कि यह व्याध पूर्व जन्म में बालि था। जिस प्रकार राम ने छिपकर धोखे से बालि का वध किया था, उसका बालि ने व्याध का रूप धर इस प्रकार बदला चुकाया था।

(४) 'काम-मोहित गोपिकन'—गोपियाँ ऊपर से देखने पर तो कृष्ण के बाह्य रूप पर मुग्ध प्रतीत होती थीं परन्तु वास्तव में उनका प्रेम निष्काम था। इसी कारण उन्हें परम पूज्य माना गया है। परमानन्ददास ने उन्हें 'प्रेम की ध्वजा' कहा है। अष्टछाप के सम्पूर्ण कवियों ने गोपियों के प्रेम की अनन्यता के गुण गाये हैं। रसखान ने कृष्ण और गोपियों के पारस्परिक इसी निष्काम प्रेम और गोपियों के प्रति कृष्ण की अनन्यता और परवशता का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हुए कहा है—

संकर से मुनि जाहि रटैं, चतुरानन आनन चार तें गावैं।
सो हिय नैंकहि आवत ही, मति-मूढ़ महा 'रसखानि कहावैं॥
जापर देव अदेव भुजंगम, वारन प्रानन बार न लावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

[२१५]

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥१॥
परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि?
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहचानि॥२॥
गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि?
जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि॥३॥
प्रकृति-मलिन कुजाति सबरी सकल-अवगुन-खानि।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि॥४॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह-दसा भुलानि॥५॥
कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि॥६॥
राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि॥७॥

शब्दार्थ—बानि=स्वभाव। कानि=सम्मान, इज्जत। सानि=ओत-प्रोत। प्रकृति=स्वभाव से। पानि=हाथ। सुभग=सुन्दर। पूजे=आदर-सत्कार किया। आनि=लाकर।

भावार्थ—श्री रघुवीर राम की ऐसी आदत है कि वे अपने मन में नीच लोगों की भी सच्ची प्रीति का अनुमान कर उनसे स्नेह करते हैं। अर्थात् वे सच्चे प्रेम का सर्वत्र प्रतिदान देते हैं, चाहे वह नीच का हो अथवा उच्च का। निषाद गुह परम पापी और नीच था, उसकी क्या इज्जत थी? परन्तु राम ने उसके प्रेम को पहचान

कर उसे पुत्र की तरह हृदय से लगा लिया या। गिद्ध जटायु ऐसा कौन-सा दयावान था ? उसे तो विधाता ने हिंसक प्रकृति का (माँस भक्षण करने वाला) वनाया था। परन्तु राम ने पिता मान अपने हाथ से उसे पिंडदान दिया था, जल दिया था।

शबरी नीच जाति की, स्वभाव से मलिन और सारे अवगुणों की खान थी। परन्तु राम ने उसके दिये हुए फलों को बार-बार प्रशंसा करते हुए बड़े प्रेम से खाया था। जाति से राक्षस और (शत्रु रावण का भाई होने के कारक्ष) शत्रु विभीषण को अपनी शरण में आया जान, (प्रेमावेश के कारण) अपने तन-बदन की सुध भूल राम उठकर उससे ऐसे प्रेम से मिले थे—मानो भाई भरत से मिल रहे हों।

बन्दर ऐसे कौन से सुन्दर और सुशील स्वभाव वाले थे जिनका स्मरण करने से सदैव हानि होती है; ऐसे उन बन्दरों को राम ने अपना मित्र बना लिया था और अपने घर अयोध्या में ले जाकर उनका खूब आदर-सत्कार किया था। ऐसे राम सहज ही कृपा करने वाले, कोमल हृदय वाले, गरीबों के हितैषी और उन्हें नित्य-प्रति दान देने वाले हैं। इसलिए हे दुष्ट तुलसी ! तू ऐसे स्वामी का भजन कर और उनसे कपट मत कर। अर्थात् निष्काम भाव से राम का भजन कर।

टिप्पणी—(१) इस पद में राम के शील का उद्घाटन किया गया है।

(२) राम ने जटायु की पिता के समान अन्त्येष्टि क्रिया की थी। राम मरणासन्न जटायु से कहते हैं—

मेरे जान, तात ! कछु दिन जीजै।
देखिय आप सुवन सेवा-सुख, मोहि पितु को सुख दीजै॥

(३) 'कौन·······हानि'—बन्दर स्वभाव से ही चंचल और उत्पाती होते हैं। प्रातः इनका दर्शन होना अशुभ माना गया है। हनुमान ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। ता दिन ताहि न मिलै अहारा॥'

[२१६]

हरि तजि और भजिये काहि ?
नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि॥ १॥
कनककसिपु बिरंचि को जन करम, मन अरु बात।
सुतहि दुखवत बिधि न बरज्यो, काल के घर जात॥ २॥
संभु-सेवक जान जग, बहु बार दिये दस सीस।
करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ ३॥

और देवन की कहा कहौं, स्वारथहि के मीत।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत ।। ४ ।।
को न सेवत देत संपति ? लोक हूँ यह रीति।
दासतुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति।। ५ ।।

पाठान्तर—छठवीं पंक्ति में 'हटक्यो' के स्थान पर 'हरक्यो'।

शब्दार्थ—काहि=किसे। प्रनत=शरणागत। कनककसिपु=हिरण्यकशिपु, कनक का अर्थ=हिरण्य (स्वर्ण) होता है। जन=भक्त। बात=वचन। दुखवत=दुख देते। बरज्यो=मना किया। हटक्यो=रोका, मना किया। ईस=महादेव, शिव। सभीत=भयभीत होकर। सेवत=सेवा करने पर।

भावार्थ—भगवान राम को छोड़कर और किसका भजन करना चाहिए ? राम के समान कोई भी दूसरा नहीं है जो शरणागत पर इतनी ममता रखता हो। हिरण्यकशिपु कर्म, मन और वचन से ब्रह्मा का भक्त था परन्तु जब उसने अपने पुत्र प्रह्लाद को दुख दिये तब ब्रह्मा ने उसे ऐसा करने से नहीं रोका। फल यह निकला कि उसे काल के घर जाना पड़ा। (अर्थात् यदि ब्रह्मा अपने भक्त को अत्याचार करने से रोक देते तो उसे क्यों मरना पड़ता।) संसार जानता है कि रावण शिव का भक्त था। उसने अनेक बार अपने सिरों को शिव पर काट-काटकर चढ़ाया था। परन्तु जब उसने राम का विरोध करना प्रारम्भ किया तो शिव ने उसे एक बार भी ऐसा करने से नहीं रोका। भाव यह है कि रावण का सकुटुम्ब नाश हुआ और शिव चुप-चाप बैठे देखते रहे, अपने भक्त की रक्षा करने नहीं आये।

(जब ब्रह्मा और शिव जैसे महान् देवताओं की यह हालत है तो) मैं दूसरे देवताओं की बात क्या कहूँ, अर्थात् उनकी औकात ही क्या है ? वे सब स्वार्थ के मित्र हैं। (जब तक भक्त से उनका स्वार्थ सधता रहता है, भोग-पूजा मिलती रहती है, तभी तक वे भक्त के मित्र बने रहते हैं और भक्त पर संकट पड़ने पर कभी उसकी सहायता नहीं करते।) जब कभी कोई भयभीत होकर इनकी शरण में गया, इन्होंने किसी को भी शरण देकर उसकी रक्षा नहीं की। सेवा करने से कौन धन नहीं देता ? अर्थात् नौकरी के बदले सभी नौकरों को धन देते हैं। संसार का भी यही चलन है। तुलसीदास कहते हैं, परन्तु गरीबों से केवल एक राम ही प्रेम करते हैं। अर्थात् राम बिना किसी स्वार्थ के, बिना सेवा किये ही, गरीबों की सदैव सहायता करते रहते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में शिव और ब्रह्मा की राम से अप्रत्यक्ष रूप से तुलना कर राम की महानता सिद्ध की गयी है। ब्रह्मा और शिव ने अपने भक्तों—हिरण्यकशिपु और रावण—को अत्याचार करने से तथा राम का विरोध करने से नहीं रोका था। परन्तु जब इन पर संकट पड़ा तो दोनों में से कोई भी अपने भक्तों की सहायता नहीं

कर सका और उन्हें अकाल मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। राम का विरोध करने वालों की शिव और ब्रह्मा भी रक्षा नहीं कर सके। फिर अन्य टुटपुँजिये देवताओं की औकात ही क्या है!

(२) 'और देवन·······मीत'—'मानस' में भी यही बात कही गयी है—

'सुर नर मुनि सब ही की रीती। स्वारथ लागि करहिं ये प्रीती॥'

[२१७]

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ १॥
काहि ममता दीन पर, को पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो आपनो धाम॥ २॥
रहे-संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक॥ ३॥
बिपुल-भूपति-सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु-पाहि'।
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हों ताहि॥ ४॥
एक मुख क्यों कहौं करुनासिन्धु के गुन गाथ?
भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ॥ ५॥
आपसे कहूँ सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दासतुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात॥ ६॥

शब्दार्थ—कत=क्यों। सोक-सरि=दुख की नदी। करीसहिं=गजराज को। टेक=सहारा। सदसि=सभा। नर-नारि=अर्जुन की स्त्री द्रौपदी। पाहि=रक्षा करो। गाथ=गाथा, कथा। काह=क्या। आपसे=अपने समान। घिनात=घृणा करते हो।

भावार्थ—हे प्रभु! यदि कोई दूसरा ही (तुम्हारे समान) होता तो फिर मैं बार-बार तुम्हें अपना दुखड़ा रो-रोकर क्यों सुनाता। अर्थात् मैं तुम्हें परेशान न कर उसी से प्रार्थना करता। दीनों पर किसे ममता है, किसका नाम पतित पावन है, पाप की जड़ अजामिल को किसने अपने लोक (वैकुंठ) भेजा था? अर्थात् ये सारे गुण केवल तुम्हीं में हैं, अन्य किसी में भी नहीं हैं। शिव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा (यम, वरुण आदि) अनेक लोकपाल हैं परन्तु दुख की नदी में डूबते हुए गजराज को किसी ने भी सहारा नहीं दिया था, उसकी रक्षा नहीं की थी।

अनेक राजाओं से भरी (कौरवों की) सभा में जब अर्जुन की स्त्री द्रौपदी ने पुकार की कि 'हे प्रभु! रक्षा करो!' उस समय किसी ने भी द्रौपदी को वस्त्र देकर

उसकी लज्जा नहीं बचायी थी, यद्यपि वहाँ उपस्थित सभी लोग ऐसा करने में समर्थ थे। (सब चुपचाप बैठे उस जघन्य अत्याचार को देखते रहे थे।) हे करुणा के सागर राम ! मैं अपने एक मुख से तुम्हारे गुणों की कथा का वर्णन करने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ ! हे कोशल नरेश ! तुमने भक्तों के कल्याण के लिए मानव-शरीर धारण कर अर्थात् अवतार लेकर क्या नहीं किया था। अर्थात् सब तरह से भक्तों की रक्षा की थी। यदि तुम मुझसे अत्यधिक घृणा करते हो तो मुझे अपने ही जैसे किसी दूसरे को सौंप दो। तुलसी कहते हैं कि हे राम ! अन्य किसी भी उपाय से मैं तुम्हारे चरण छोड़कर नहीं जाऊँगा। भाव यह है कि राम के समान अन्य कोई भी दूसरा नहीं है, अतः तुलसी उनके चरण त्याग अन्य किसी के भी पास नहीं जायेगा।

टिप्पणी—(१) 'नर-नारी' द्रौपदी को कहा जाता है। 'नर-नारायण' की जोड़ी में 'नर' से अभिप्राय अर्जुन से तथा 'नारायण' से कृष्ण से है। इसी कारण अर्जुन को प्रायः 'नर' कहा गया है। द्रौपदी को स्वयम्वर में जीत कर लाने वाला अर्जुन ही था, इसी कारण द्रौपदी को प्रायः अर्जुन की ही पत्नी कहा जाता है।

(२) कौरव सभा में भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महारथी और द्रौपदी के पाँचों पति बैठे हुए थे। जब दुशासन द्रौपदी को भरी सभा में नंगा करने का प्रयत्न करने लगा तब इनमें से किसी ने भी उठकर उसकी रक्षा नहीं की। उस समय कृष्ण ने ही अज्ञात रूप से द्रौपदी की साड़ी को इतना लम्बा कर दिया कि दुशासन उसे खींचते-खींचते थक गया परन्तु साड़ी समाप्त न हुई। तुलसीदास ने 'श्रीकृष्ण गीतावली' में इस घटना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—

द्रौपदी सभा में खड़ी मन-ही-मन सोच रही है—

कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी।
समरधीर महाबीर पाँच पति, क्यों दैहैं मोहि होन उघारी॥
राजसमाज सभासद समरथ भीषम, द्रोन, धर्मधुरधारी।
अबला अनघ अनवसर अनुचित होति, हेरि करिहैं रखवारी॥
यों मन गुनति दुसासन दुरजन तमक्यो गहि दुहूँ कर सारी।
सकुचि गात गोवित कमठी ज्यों, हहरी हृदय, बिकल भई भारी॥
अपनेनि को अपनो बिलोकि बल सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाइ अनाथ नाथ सों, 'पाहि, पाहि प्रभु, पाहि !' पुकारी॥
'तुलसी' परखि प्रतीति प्रीतिगत, आरतपाल कृपालु मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेषि लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी॥

[२१८]

कबहिं देखाइहौ हरि, चरन ?
समन सकल-कलेस कलिमल, सकल-मंगल-करन ॥१॥

शमन करने वाला

सरद-भव सुन्दर तरुनतर अरुन बारिज बरन।
लच्छि-लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन॥ २॥
गंग-जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपटु बटु बलि-छरन।
बिप्रतिय, नृग, बधिक के दुख-दोष दारुन-दरन॥ ३॥
सिद्ध-सुर-मुनि-बृद्ध-बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन-तरन॥ ४॥
कृपासिन्धु सुजान रघुबर प्रनत-आरति-हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन॥ ५॥

शब्दार्थ—समन=शमन करने वाले। मल=पाप। सरद-भव=शरद ऋतु में उत्पन्न। तरुनतर=नवीनतर, तुरन्त खिले हुए। तरुन=लाल। बारिज=कमल। बरन=वर्ण, रंग। लच्छि=लक्ष्मी। लालित=प्यार किये गये। जनक=उत्पन्न करने वाले, पिता। अनंग-अरि-प्रिय=कामदेव के शत्रु शिव के प्रिय। बटु=ब्राह्मण। छरन=छलने वाले। बिप्रतिय=ब्राह्मण गौतम की पत्नी अहिल्या। बधिक=वाल्मीकि से तात्पर्य है। दरन=दलन, दूर करने वाले। बृन्द=समूह। सकृत=एक बार। आरति=दुख।

भावार्थ—हे हरि! क्या कभी अपने उन चरणों के दर्शन कराओगे जो कलियुग के समस्त दुखों और पापों का नाश करने वाले तथा सभी प्रकार से कल्याण करने वाले हैं। तुम्हारे ये चरण शरद ऋतु में उत्पन्न सुन्दर और तुरन्त खिले हुए लाल कमल के रंग वाले हैं, जिन्हें लक्ष्मी अपनी सुन्दर हथेलियों से सदैव प्रेमपूर्वक दबाया करती हैं और जो अनुपम (अद्वितीय) सौन्दर्य को धारण करने वाले हैं अर्थात् अनुपमेय रूप से लावण्यमय हैं।

तुम्हारे ये चरण गंगा के पिता हैं (गंगा विष्णु के चरणों से उत्पन्न मानी गयी हैं), कामदेव के शत्रु शिव के प्रिय हैं तथा जिन्होंने ब्राह्मण (वामनावतार) का कपट वेश धारण कर राजा बलि को छला था। इन चरणों ने ब्राह्मण गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या, राजा नृग और व्याध वाल्मीकि के सम्पूर्ण असह्य दुखों और पापों को दूर कर दिया था। सिद्ध, देवता और मुनियों के समूह इनकी वन्दना करते हैं तथा ये सबको सुख और शरण देने वाले हैं। तुम्हारे इन चरणों का हृदय में एक बार स्मरण कर लेने मात्र से जीव स्वयं तर जाते हैं और दूसरों को तारने वाले बन जाते हैं। (भक्त स्वयं तर जाते हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य जीवों को भी तार देते हैं।)

हे कृपासिन्धु, चतुर रघुवीर राम! तुम शरणागतों के दुःख को दूर करने वाले हो। यह तुलसीदास तुम्हारे चरणों के दर्शन की आशा रूपी प्यास के

मारे मरा जा रहा है । भाव यह है कि तुलसीदास को अपने चरणों के दर्शन कराकर बचा लो ।

टिप्पणी—(१) 'नृग'—पद संख्या २१३ की टिप्पणी दृष्टव्य है ।

(२) इस पद में राम के चरणों के महत्त्व का वर्णन कर, उनकी वन्दना की गयी है ।

(३) 'लच्छि····करतल' में अनुप्रास की सुन्दर छटा के साथ-साथ भाव की कोमलता और सौन्दर्य अभिनन्दनीय है ।

[२१६]

द्वार हौं भोर ही को आज ।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥ १ ॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज ।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाज ॥ २ ॥
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाज ।
मोहु से कहुँ कतहुँ कोउ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥ ३ ॥
दीनता दारिद दलै को कृपा-बारिधि बाज ।
दानि दसरथराय के तुम बानइत-सिरताज ॥ ४ ॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब-निवाज ।
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रिरिहा=गिड़गिड़ाना । आरि=अड़ गया है । दुकाल=अकाल । हहरि=काँपकर, भयभीत होकर । सदय=दयावान । बूझ्यो=पूछा । तिन्ह=उन्होंने । बारिधि=समुद्र । बाज=अलावा, छोड़कर । बानइत=बाना रखने वाले । सुनाज=अच्छा अनाज ।

भावार्थ—हे राम ! मैं आज सुबह से ही तुम्हारे द्वार पर अड़कर बैठ गया हूँ और गिड़गिड़ाता हुआ बार-बार तुमसे केवल एक ग्रास (कौर) की ही याचना कर रहा हूँ । मुझे इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिए । इस भयंकर कलियुग में बड़ा भयंकर अकाल पड़ रहा है, (कमाने-खाने के) सारे साधन और सारे सामान बुरे हैं । अर्थात् कोई भी साधन ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मैं तुम्हारी भक्ति-रूपी सुन्दर वस्तु प्राप्त कर सकूँ, क्योंकि जप, तप आदि सारे साधन इसे प्रदान करने में असमर्थ हैं । मैं हूँ तो नीच व्यक्ति परन्तु मेरा मन बड़ा ऊँचा है अर्थात् मैं नीच होकर भी पुण्यात्मा बनने की इच्छा करता हूँ । मेरी यह स्थिति तो ऐसी ही है जैसे कोढ़ में खाज (खुजली) हो जाय । भाव यह है कि मैं अपने दुखरूपी कोढ़ की यातना को तो भूल जाता हूँ और उस कोढ़ में खुजली के समान उत्पन्न होने वाली विषय-

वासनाओं रूपी नयी व्याधि को बार-बार खुजला कर क्षणिक आनन्द प्राप्त कर लेता हूँ और बाद में पीड़ा से छटपटाने लगता हूँ। अर्थात् पहले पापों से तो मुझे मुक्ति नहीं मिली है, अब और नये-नये पाप करता रहता हूँ।

(अपनी यह विषम दशा देखकर) मन में भयभीत हो मैंने दयावान साधु-समाज में जाकर पूछा कि क्या मुझ जैसे पापी को भी कहीं कोई अपनी शरण में रखने वाला है ? उन्होंने उत्तर दिया कि कोशल-नरेश राम ही तुझे शरण में रख सकते हैं। हे कृपा के सागर ! तुम्हारे सिवाय मेरी दीनता और दरिद्रता को और कौन दूसरा दूर कर सकता है। हे राजा दशरथ के लाड़ले ! तुम्हारे समान दानी का बाना (वेश) धारण करने वालों का शिरोमणि और कौन है, अर्थात् कौन सर्वश्रेष्ठ दानी है। मैं जन्म भर का भूखा भिखारी हूँ और तुम गरीब-निवाज हो। इसलिए आज तुम मुझ तुलसीदास को अपनी भक्ति रूपी अमृत के समान सुन्दर भोजन पेट भरकर करा दो। भाव यह है कि मुझे अपनी भक्ति में इतना तन्मय कर दो कि मुझे फिर किसी भी वस्तु की आकांक्षा न रहे।

टिप्पणी—(१) 'भोर' से अभिप्राय यह है कि जीव माया-मोह की रात्रि की नींद से जाग्रत हो उठा है; अर्थात् वह चैतन्य हो विरक्ति की भावना से भर उठा है।

(२) 'दीनता.......वाज'—पं० रामेश्वर भट्ट ने 'वाज' का अर्थ 'बाज पक्षी' माना है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—अलावा, सिवाय, बिना, बगैर आदि। बाज अर्थ मान लेने से रूपक ठीक तरह से नहीं घट पाता।

(३) 'कोढ़ में खाज'—इस लोकोक्ति का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है।

[२२०]

करिय सँभार, कोसलराय !
और ठौर न और गति, अवलंब नाम बिहाय ॥ १ ॥
बूझि अपनी, आपनो हित, आप बाप न माय।
राम राउर नाम गुरु सुर स्वामी सखा सहाय ॥ २ ॥
रामराज न चले मानस-मलिन के छल-छाय।
कोपि तेहि कलिकाल कायर, मुएहि घालत घाय ॥ ३ ॥
लेत केहरि को बयर ज्यों भेक हनि गोमाय।
त्योंहि राम-गुलाम जानि निकाम देत कुदाय ॥ ४ ॥
अकनि याके कपट करतब अमित अनय अपाय।
सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहिं पछिताय ॥ ५ ॥
कृपासिंधु, बिलोकिये जन-मन की साँसति साय।
सरन आयो, देव दीनदयालु ! देखन पाय ॥ ६ ॥

निकट बोलि न बरजिये, बलि जाउँ, हनिय न हाय ।
देखिहैं हनुमान गोमुख - नाहरनि के न्याय ॥ ७ ॥
अरुन मुख, भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष कषाय ।
बीर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय ॥ ८ ॥
बिनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचन के कहि भाय ।
भली कही कह्यो लषन हूँ हँसि, बने सकल बनाय ॥ ६ ॥
दई दीनहिं दादि सो सुनि सुजन-सदन बधाय ।
मिटे संकट सोच पोच प्रपंच पाप - निकाय ॥१०॥
पेखि प्रीति प्रतीति जन पर अगुन अनघ अमाय ।
दासतुलसी कहत मुनिगन, 'जयति जय उरुगाय' ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सँभार=देखभाल, रक्षा । बिहाय=छोड़कर । बूझि=समझ, बुद्धि । राउर=तुम्हारा । तेहि=उसी कारण । मुएहि=मरे हुए को । घालत घाय=घाव कर रहा है । बयर=वैर, दुश्मनी । भेक=मेंढ़क । गोमाय=गीदड़ । निकाम=अकारण ही । कुदाय=घात । अकनि=सुनकर । अनय=अन्याय, अत्याचार । साय=शान्त हो । पाय=पाँव, चरण । गोमुख-नाहरनि के न्याय=ऊपर से गाय की तरह सीधा, पर हृदय से सिंह के समान क्रूर । कषाय=लाल । घटिहै=कम हो जायेगा, नष्ट हो जायेगा । चाय=चाव । भाय=भाव, भावार्थ । बनाय=बानक । दादि=न्याय । सुजन-सदन=सन्तों के घरों में । बधाय=बधाई । पोच=नीच । निकाय=समूह, पुंज । पेखि=देखकर । अमाय=निष्कपट, निश्छल । उरुगाय=गरुड़गामी भगवान विष्णु ।

भावार्थ—हे कोसल-नरेश राम ! मेरी रक्षा करो । तुम्हारे नाम के अतिरिक्त न तो मेरे लिए और कहीं स्थान है, न कोई सहारा है, और न किसी और के पास पहुँच ही है । तुम अपनी समझ के अनुसार अपने भक्तों का जैसा भला करते हो वैसा माँ-बाप भी नहीं करते । अर्थात् तुम माता-पिता से भी अधिक अपने भक्तों की देख-भाल करते रहते हो । हे राम ! तुम्हारा नाम ही मेरा गुरु, देवता, स्वामी, मित्र और सहायक है । हे नाथ ! तुम्हारे रामराज्य में मलिन मन वाले कलियुग के छल-कपट नहीं चल पाते, इसी कारण कायर कलियुग कुपित हो (उसके कारण पहले से ही) मरे हुए के समान मुझे आघात कर-कर घायल कर रहा है । अर्थात् तुमसे तो उसका वश नहीं चलता इसलिए निर्बल, मरे हुए के समान मुझ जैसे दीन को घायल कर रहा है ।

जिस प्रकार गीदड़ मेंढक को मारकर सिंह के प्रति अपने शत्रुभाव को पूरा करता है अर्थात् उसकी शत्रुता तो सिंह से है परन्तु उस पर वश न चलने के कारण निर्बल मेंढ़क को ही मारकर अपनी शत्रुता की भावना शान्त कर लेता है, उसी

प्रकार यह कलियुग मुझे तुम्हारा गुलाम समझकर अकारण ही मार रहा है। इसके छल-कपट भरे इन कर्मों और असंख्य अन्याय-अत्याचारों को सुन-सुनकर बैकुण्ठ में सुखपूर्वक निवास करने वाले राजा परीक्षित पछता रहे होंगे (कि इस दुष्ट को मैंने शरण क्यों दी थी), हे कृपा के सागर राम ! तनिक मेरी ओर अपनी कृपा-दृष्टि कर दो जिससे तुम्हारे इस भक्त के मन की पीड़ा शान्त हो जाय। हे देव ! हे दीनदयाल ! मैं तुम्हारे चरणों के दर्शन करने तुम्हारी शरण में आया हूँ।

हे नाथ ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। यदि तुम कलियुग को अपने पास बुलाकर उसे ताड़ना नहीं देना चाहते, या उसकी 'हाय हाय' को सुनकर (करुण पुकार को सुनकर) उसे मारना नहीं चाहते तो हनुमान को केवल इशारा कर दो। ऊपर से गाय के समान दिखाई पड़ने वाले और भीतर से सिह के समान क्रूर कर्मा और बली हनुमान इस कलियुग को देख लेंगे अर्थात् उसे ठीक कर देंगे।

(दरअसल हनुमान को अधिक कुछ करना भी नहीं पड़ेगा क्योंकि जब हनुमान क्रोध से लाल मुख कर, भौंहों को तिरछा कर और क्रोध से अपने पीले नेत्रों को लाल कर कलियुग की ओर देखेंगे तो पवन-पुत्र वीर हनुमान के इस रूप का स्मरण करते ही इस चंचल चित्त वाले कलियुग का (मुझे सताने का) सारा चाव दूर हो जायेगा। अर्थात् वह भयभीत हो फिर मुझे सताने की इच्छा छोड़ देगा।

तुलसीदास कहते हैं कि जब मैंने राम से इस प्रकार प्रार्थना की तो वह मेरी इस विनती को सुनकर हँसे और अपने छोटे भाई लक्ष्मण को मेरी बातों का आशय (भावार्थ) समझाया। लक्ष्मण ने भी हँसकर उत्तर दिया कि इसने ठीक ही तो कहा है। बस, अब मेरा सारा बानक बन जायेगा। अर्थात् मेरी रक्षा हो जायेगी। राम ने मेरा जो न्याय किया उसकी बात सुनकर सन्तों के घरों में बधाई के बाजे बजने लगे और सारी चिन्ता, संकट, नीचता भरे छल-कपट और पाप पुंजों का विनाश हो गया। और अपने सेवक पर निर्गुण (त्रिगुणात्मक माया से रहित) पवित्र और निश्छल प्रेम तथा विश्वास देखकर मुनिगण गरुड़गामी भगवान की जय-जयकार करने लगे।

टिप्पणी—(१) 'सुखी''''''''पछिताय'—एक बार राजा परीक्षित ने शिकार करते देखा कि एक काला पुरुष एक गाय और एक लँगड़े बैल को मारता हुआ ले जा रहा है। उन्होंने जब उस पुरुष से इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि वह कलियुग है, गाय पृथ्वी और लँगड़ा बैल धर्म है। कलियुग की यह अनीति देखकर जब परीक्षित ने उसे मारना चाहा तो वह गिड़गिड़ाता हुआ उनके पैरों पर गिर पड़ा। उसे शरणागत जान राजा ने उसे आज्ञा दी कि तू हमारे राज्य में अपना प्रभुत्व मत फैलाना। इस पर कलियुग ने राजा से अपने रहने के लिए १४ स्थान माँग लिये जिनमें से एक स्वर्ण भी था।

भाव यह है कि अब परीक्षित स्वर्ग में बैठे कलियुग की इस अनीति को देख मन में पछता रहे होंगे कि उन्होंने कलियुग को मार क्यों नहीं डाला था।

(२) 'विनय सुनि'—यहाँ से पद के अन्त तक तुलसी के भक्ति-विभोर काल्पनिक मनोराज्य का मार्मिक, सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण मिलता है ।

[२२१]

नाथ, कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति ।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु जानि न जाति ।। १ ।।
सुगुन, ग्यान, बिराग, भगति सुसाधननि की पाँति ।
भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति ।। २ ।।
अति अनीति कुरीति भई भुइँ तरनि हूँ ते ताति ।
जाउँ कहँ ? बलि जाउँ, कहुँ न ठाँउ, मति अकुलाति ।। ३ ।।
आप सहित न आपनो कोउ, बाप ! कठिन कुभाँति ।
स्यामघन सींचिये तुलसी सालि सफल सुखाति ।। ४ ।।

शब्दार्थ—थाति=जमा की हुई सम्पत्ति । तरनि=सूर्य । ताति=तप्त, गर्म । सालि=धान । सफल=फूली-फली । सुखाति=सूखी जा रही है ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं दिनरात तुम्हारी कृपादृष्टि की ही बाट देखता रहता हूँ । हे दीनदयाल ! यह नहीं जाना जाता कि तुम्हारी कृपादृष्टि कब होगी । सद्गुण, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि अच्छे साधनों की पक्तियाँ अर्थात् समूह कलियुग के पास और अवगुणों की सम्पत्ति को देख व्याकुल हो भाग खड़े हुए हैं । (अथवा ये सब कलि को देख व्याकुल हो भाग खड़े हुए हैं और संसार में पाप और अवगुण ही शेष रह गये हैं ।) अत्यधिक अन्याय और कुरीतियों के प्रभाव के कारण यह पृथ्वी सूर्य से भी अधिक तप्त हो उठी है अर्थात् अन्याय और कुरीतियों के कारण इस पृथ्वी पर रहना असम्भव हो गया है । हे नाथ ! तुम्हारी बलैया लेता हूँ, मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे लिए कहीं भी रहने को स्थान नहीं दिखाई पड़ता । यह सोच-सोचकर मेरी बुद्धि बहुत व्याकुल हो रही है । हे पिता ! जब अपना यह शरीर भी अपना नहीं होता (मरने पर साथ छोड़ देता है) तब और कौन अपना हो सकता है । सब कठोर और अनाचारी ही दिखाई पड़ते हैं । तुलसीदास कहते हैं कि हे राम ! तुम काले मेघ के समान अपनी कृपारूपी जल की वर्षा कर फूली-फली धान की फसल को सींच दो । (उसके अभाव में) यह सूखी जा रही है । भाव यह है कि सत्कर्मों का विनाश हुआ जा रहा है, इनकी रक्षा करो ।

टिप्पणी—'आप सहित न आपनो'—कबीर ने भी यही बात कही है—

इक दिन ऐसो आयगा, कोउ काहू का नाहिं ।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं ।।

[२२२]

बलि जाऊँ, और कासों कहौं ?
सदगुनसिंधु स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि सो लहौं ॥ १ ॥
जहँ जहँ लोभ लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं ।
तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-कोटर गहौं ॥ २ ॥
काल सुभाव करम बिचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं ।
मोको तौ सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं ॥ ३ ॥
उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ, किंकर न हौं ।
अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल ! सांसति सहौं ॥ ४ ॥
महाराज राजीव बिलोचन ! मगन-पाप-संताप हौं ।
तुलसी प्रभु जब तब जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निरबहौं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—लहौं=पाता । लोल=चंचल । उलूक=उल्लू । कुतरु=बुरा वृक्ष । किंकर=सेवक । साँसति=कष्ट ।

भावार्थ—हे राम ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ । मैं (अपनी दुखगाथा) और किससे कहूँ ? हे कृपा के सागर ! मुझे तुम्हारे जैसा सद्गुणों का सागर (सर्वगुण-सम्पन्न) और अपने सेवक का हित चाहने वाला स्वामी दूसरा कोई भी नहीं मिलता । मैं जहाँ-जहाँ लोभ और लालच के कारण अपने चंचल चित्त में अपने हित की चाहना करता हूँ (अर्थात् अपनी भलाई की बात सोचता हूँ), वहाँ-वहाँ मैं कुतर्कों द्वारा अपने मन को भयभीत कर उसी प्रकार पुनः सांसारिक विषय-वासनाओं के अंक में छिपा देता हूँ जिस प्रकार उल्लू सूर्य की ओर देखते ही अपने बुरे वृक्ष की कोटर में जा छिपता है । भाव यह है कि जब-जब मैं सत्कर्म करने का प्रयत्न करता हूँ तभी मेरी कुतर्क करने वाली बुद्धि मुझे विवश कर पुनः सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर मोड़ देती है । (यहाँ सूर्य सद्गुण या राम की भक्ति, उल्लू मन की प्रवृत्ति, कुतरु कुतर्क और कोटर विषयों के प्रतीक हैं ।)

जब मैं यह सुनता हूँ कि काल, स्वभाव और कर्म विचित्र (जैसा हम चाहते हैं वैसा नहीं होता) फल देने वाले हैं तो यह सुनकर मैं अपना सिर धुनता हूँ अर्थात् पछताता हूँ । मेरे लिए तो ये सब (काल, स्वभाव, कर्म) सदा एकरस रहे हैं अर्थात् इनका फल मेरे लिए तो सदैव विपरीत ही रहा है और मैं इनके कारण असह्य दुख में निरन्तर दग्ध होता रहता हूँ । अर्थात् मुझे इनसे कभी सुख न मिलकर असह्य दुख ही मिला है । हे नाथ ! मैं जो अनाथ होने के कारण दुख का पात्र बना रहा, यह उचित ही था क्योंकि मैं तुम्हारा दास नहीं बना था । भाव यह है कि जब तक मैं तुम्हारा दास नहीं बना था, तब तक तो मेरा दुख पाना उचित था क्योंकि मैं अनाथ

जो था, परन्तु हे शरणागत का पालन करने वाले ! अब तो मैं तुम्हारा कहलाता हूँ, फिर समझ में नहीं आता कि इतना दुख क्यों भोग रहा हूँ। (इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि—अब तो मैं तुम्हारा कहलाता हूँ परन्तु फिर भी तुम मेरी बात नहीं पूछते और इसी कारण मैं दुख उठा रहा हूँ।)

हे महाराज ! हे कमलनयन ! मैं पाप और सन्ताप में डूबा जा रहा हूँ। हे राम ! अब तो तुलसी का निर्वाह चाहे जब और चाहे जिस विधि से तुम्हारे द्वारा निभाने से ही हो सकता है। (अन्यथा कोई आशा नहीं है।) भाव यह है कि राम चाहे जब और चाहे जैसे तुलसी को निभा लें।

[२२३]

आपनो कबहुँ करि जानिहो।
राम गरीबनिवाज राज-मनि, बिरद-लाज उर आनिहौ ॥१॥
सील-सिंधु सुन्दर सब लायक, समरथ सदगुन-खानि हौ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे प्रभु, प्रनत-प्रेम पहिचानिहौ ॥२॥
बेद पुरान कहत, जग जानत, दीनदयालु दिन-दानि हौ।
कहि आवत, बलि जाउँ, मनहुँ मेरी बार बिसारे बानि हौ ॥३॥
आरत दीन अनाथनि के हित, मानत लौकिक कानि हौ।
है परिनाम भलो तुलसी को, सरनागत-भय भानि हौ ॥४॥

शब्दार्थ—बिरद=यश। आनिहौ=लाओगे। दिन=नित्य प्रति। बानि=आदत, स्वभाव। कानि=लज्जा, भय। भानिहौ=नष्ट कर दोगे।

भावार्थ—हे राम ! कभी तुम मुझे अपना समझोगे। तुम गरीब-निवाज और राजाओं में मणि के समान अर्थात् राजाधिराज हो। तुम अपने मन में कभी तो अपने बिरद (यश) की लज्जा रखने की बात सोचोगे। भाव यह है कि मैं गरीब हूँ और तुम गरीब-निवाज हो। कभी अपने यश की लज्जा रखने की बात सोचकर मेरा उद्धार कर ही दोगे। हे राम ! तुम शील के सागर, सुन्दर, सब कुछ करने योग्य, समर्थ और सद्‌गुणों की खान हो। हे प्रभु ! तुमने पहले भी अपने शरण में आये दीन-जनों का पालन किया है, अब भी करते हो और भविष्य में भी करोगे। इसलिए तुम अपने इस शरणागत तुलसी के प्रेम को अवश्य पहचान लोगे (और उसे अपनाकर उसका उद्धार कर दोगे।)

वेद और पुराण कहते हैं, संसार जानता है कि तुम दीनदयाल और प्रतिदिन (सदैव) दान देने वाले हो। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, फिर भी मुझे यह कहना ही पड़ रहा है कि—मानो तुम मेरी बारी आने पर अपने उस स्वभाव को भूल गये हो। अर्थात् मैं दीन हूँ और तुम मुझ पर दया नहीं करते, मैं तुम्हारी भक्ति रूपी भीख माँग रहा हूँ और तुम मुझे उसका दान नहीं देते। क्या तुम दुखी, दीन और

अनाथों का हित करते समय कभी सांसारिक मर्यादा को मानते हो ? भाव यह है कि अगर तुम यह सोचो कि यदि तुमने तुलसी जैसे नीच और पापी का उद्धार कर दिया तो संसार क्या कहेगा, परन्तु तुमने तो कभी भी पापियों का उद्धार करते समय संसार के कहने की चिन्ता नहीं की। (परन्तु तुलसी को तो इस बात का दृढ़ विश्वास है कि) उसका परिणाम अच्छा ही निकलेगा, क्योंकि तुम अपने शरणागत के भय को अवश्य दूर करोगे। तुम्हारा विरद ही ऐसा है, तुम्हें उसकी लज्जा रखनी ही पड़ेगी।)

टिप्पणी—'कहि''''''बानि हौं'—इस पद में तुलसी ने अपने वाक्-चातुर्य द्वारा राम से कुछ व्यंग्य भरी बातें कहने से पूर्व कहने की अपनी विवशता और भगवान कहीं नाराज न हो जायें—इससे बचने के लिए उनकी बलैया लेने की बात कहकर बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत कर दिया है। इस पद्धति द्वारा तुलसी राम पर व्यंग्य भी कस गये हैं। और साथ-ही-साथ अप्रत्यक्ष रूप से उनके नाराज न होने की प्रार्थना भी कर दी है।

[२२४]

रघुबरहिं कबहुँ मन लागिहै ?
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागिहै ॥१॥
जानत गरल अमिय बिमोहबस, अमिय गनत करि आगिहै।
उलटी रीति प्रीति अपने की, तजि प्रभुपद अनुरागिहै ॥२॥
आखर अरथ मंजु मृदु मोदक, राम-प्रेम-पाग पागिहै।
ऐसे गुन गाइ रिझाइ स्वामी सों, पाइहै जो मुँह माँगिहै ॥३॥
तू यहि बिधि सुख-सयन सोइहै, जिय की जरनि भूरि भागिहै।
राम-प्रसाद दासतुलसी उर, राम-भगति जोग जागिहै ॥४॥

शब्दार्थ—गरल=विष। अमिय=अमृत। अनुरागिहै=प्रेम करेगा। मोदक=लड्डू। भूरि=भारी।

भावार्थ—हे मन ! तू कभी राम से लगेगा; अर्थात् उनसे प्रेम करेगा ? तू अनेक बुरे रास्ते, बुरी चाल (करनी), दुष्ट बुद्धि, बुरी इच्छाएँ, कुटिलता और कपट को कब त्यागेगा ? भाव यह है कि अपने इस बुरे स्वभाव को त्याग, कब राम से प्रेम करेगा ? तू मोह के वश में होने के कारण विष (सांसारिक विषय-वासनाओं) को अमृत और अमृत (राम की भक्ति) को अग्नि के समान समझ रहा है। तू अपनी इस उल्टी रीति को और (विषय-वासनाओं के प्रति) अपने अनुराग को छोड़ भगवान के चरणों से कब प्रेम करेगा ?

क्या तू कभी (रामनाम के) सुन्दर अक्षरों और उनके अर्थ रूपी सुन्दर, मीठे लड्डुओं को राम के प्रेम में पागेगा ? अर्थात् राम-नाम के अक्षरों का सच्चा अर्थ समझ

कर राम के प्रेम में निमग्न हो कब उनका गुणगान करेगा ? तू राम के ऐसे गुणों का गान कर, उन्हें रिझा उनसे मुँहमाँगा वरदान पायेगा। अर्थात् वे तेरी सारी मनो-कामनाएँ पूरी कर देंगे। ऐसा करने पर तू सुख की नींद सोयेगा, तेरे हृदय की भयङ्कर जलन दूर हो जायेगी और राम की कृपा से उनके दास मुझ तुलसीदास के हृदय में राम-भक्ति रूपी योग जाग्रत हो उठेगा। भाव यह है कि निष्काम भाव से राम भजन करने और उनके गुण गाने से तू निर्विघ्न हो जायेगा, तेरे हृदय में स्थित राग-द्वेषादि के कारण उत्पन्न जलन शान्त हो जायेगी और तुझे प्रेमपरा भक्ति की प्राप्त हो जायेगी।

टिप्पणी—'भगति-जोग'—भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार भक्ति को भी एक प्रकार का योग माना गया है जिसमें मन को सम्पूर्णतः एकाग्र कर राम के चरणों का चिन्तन किया जाता है।

[२२५]

भरोसो और आइहै उर ताके।
कै कहुँ लहै जो रामहिं सो साहिब, कै आपनो बल जाके ॥१॥
कै कलिकाल कराल न सूझत मोह - मार - मद-छाके।
कै सुनि स्वामि-सुभाउ न रह्यो चित जो हित सब अंग थाके ॥२॥
हौं जानत भलि भाँति अपनपौ, प्रभु सो सुन्यो न साके।
उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर भले भये करतब काके ॥३॥
मोको भलो रामनाम,सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के ॥४॥

शब्दार्थ—ताके=उसके। लहै=मिले। साहिब=स्वामी। मार=काम-भावना। छाके=छके हुए, आकंठ निमग्न। सब=सब तरह से। अपनपौ=अपनी औकात। साके=यश। उपल=पत्थर, अहिल्या से अभिप्राय है। काके=किसके। प्रसाद=कृपा। निसोच=निश्चिन्त। माय बबा=माँ-बाप।

भावार्थ—उसी के हृदय में किसी दूसरे का अथवा कोई दूसरा भरोसा होगा जिसे या तो कहीं राम जैसा दूसरा मालिक मिल गया हो या जिसको अपने बल का सहारा हो। अर्थात् जो बिना किसी की सहायता के स्वयं आत्म-निर्भर रहता हो। अथवा जिसे मोह, काम और मद में आकंठ निमग्न रहने के कारण कलियुग का भयानक रूप दिखाई न देता हो। भाव यह है कि मोह, मद और काम के नशे में गाफिल व्यक्ति संकट को न समझ अपने नशे में ही डूबा रहता है। अथवा जिसके चित्त पर राम जैसे स्वामी के स्वभाव की बातें सुनकर भी उनका प्रभाव न पड़ा हो,

जो सब तरह से हारे हुए लोगों का भी हित करने वाले हैं। अर्थात् जो राम के पतित-पावन, शरणागत रक्षक, दीनदयाल आदि नामों पर विश्वास न करता हो।

मैं अपनी औकात खूब अच्छी तरह से जानता हूँ। अर्थात् मैं अपने बल और बुद्धि की सीमाओं को जानता हूँ कि न तो मुझ में इतनी शक्ति है कि मैं अपने बल-बूते पर राम की भक्ति को प्राप्त कर सकूँ, और न मैंने प्रभु राम के समान किसी दूसरे की ऐसी यश-कीर्ति ही सुनी है। अर्थात् न मुझे राम जैसा कोई दूसरा स्वामी ही मिला है। पाषाणी अहिल्या, भील, पक्षी, जटायु, मृग मारीचि और राक्षस विभीषण इनमें से किसके कर्म अच्छे थे? अर्थात् किसी के भी अच्छे नहीं थे, परन्तु राम की कृपा से सब का उद्धार हो गया था। मेरे लिए तो एक रामनाम ही अच्छा है। कृपालु राम की कृपा से यही रामनाम मेरे लिए कल्पवृक्ष बन गया है। अर्थात् यही मेरी सारी मनोकामनाओं को पूरा कर देगा। मैं इसे पाकर अब इतना सुखी और निश्चिन्त हो गया हूँ जैसे बालक अपने माँ-बाप के राज्य में, उनकी छत्रछाया में सुखी और निर्द्वन्द्व रहता है।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने राम की सर्वश्रेष्ठता और व्यक्ति के पौरुष की अकिंचनता प्रमाणित कर राम के अनुग्रह को ही प्रधानता दी है। व्यक्ति अपने पौरुष द्वारा कुछ भी नहीं कर सकता।

(२) अन्तिम दोनों पंक्तियों में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण और अगाध विश्वास की भावना है।

(३) 'बालक माय बबा के'—सगुण भाव की भक्ति में भक्त बालक के समान और ज्ञानी प्रौढ़ के समान माना जाता है। ईश्वर का प्रेम ज्ञानी प्रौढ़ की अपेक्षा बालक भक्त पर अधिक रहता है। भक्त बालक के समान ईश्वर पर पूरी तरह से निर्भर रहता है। यही भावना ईश्वर के प्रति अनन्यता की सृष्टि करती है।

(४) 'मृग' से तात्पर्य स्वर्ण-मृग का रूप धारण करने वाले राक्षस मारीच से है जो रावण का मामा था और जिसने रावण की आज्ञा से स्वर्ण मृग का रूप धारण कर राम और लक्ष्मण को पंचवटी में सीता से अलग कर दिया या और उसी समय रावण सीता को हर ले गया था।

[२२६]

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥१॥
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो सावन के अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो॥२॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥३॥

स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं "कुंजरो नरो।"
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो ॥४॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो ॥५॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहिं समुझि परो ॥६॥

शब्दार्थ—कलि=कलियुग में। पातरि=पत्तल। पेखत=देखता हूँ। परुसि=परोसा। कुंजरो नरो=नरो वा, कुंजरो वा, दुविधा या सन्देह। पषाननि=पत्थरों से। करि=बनाकर। कटक=सेना। सरो=पूरा हुआ। आखर='राम' नाम के दो अक्षर। अरनि=अड़, हठ। अरो=अड़ गया। साखि=साक्षी, गवाह। जी=जीभ। गरो=गल जाय।

भावार्थ—जिसे (राम के अरिरिक्त) किसी दूसरे का भरोसा हो वह उसका भरोसा करता रहे। मेरे लिए तो इस कलियुग में राम का नाम ही कल्पवृक्ष के समान है जिसमें कल्याण के फल लग रहे हैं। अर्थात् मेरा तो सारा कल्याण रामनाम द्वारा ही हो जायगा। कर्म, उपासना, ज्ञान, वैदिक सिद्धान्त आदि सभी सब प्रकार से खरे अर्थात् सच्चे हैं, परन्तु मुझे तो सावन के अन्धे की तरह चारों ओर रामनाम रूपी हरा रंग ही दिखाई पड़ता है। भाव यह है कि जिस प्रकार सावन के महीने में अन्धे हुए व्यक्ति को सावन की हरियाली के कारण अन्धे होने पर भी चारों ओर हरियाली ही नजर आती है, उसी प्रकार मुझे तो रामनाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सूझता। इसी कारण मेरा मन ज्ञान, कर्म, उपासना आदि की ओर जाता तक नहीं।

पहले मैं कुत्ते की तरह चारों ओर पत्तलें चाटता फिरता था, परन्तु फिर भी मेरा पेट कभी नहीं भरा। परन्तु आज मैं रामनाम का स्मरण करते ही अपने सामने अमृत रस परोसा हुआ देखता हूँ। भाव यह है कि पहले मैं सब तरह के साधन—जप, तप, योग आदि करता फिरता था परन्तु उनसे मेरे मन को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हुई, मेरी एक भी कामना पूरी नहीं हुई, अब राम-नाम लेने से मुझे अमृत के समान मधुर, अमरता प्रदान करने वाला ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया है, मेरी अशान्ति दूर हो मन पूर्ण शान्त बन गया है। इस रामनाम द्वारा मेरा परमार्थ और स्वार्थ अर्थात् यह लोक और परलोक—दोनों बन गये हैं। अब मेरे मन में—'हाथी है या मनुष्य'—इस प्रकार की कोई दुविधा या सन्देह नहीं रह गया। अर्थात् अब मैं सभी प्रकार के सन्देहों से मुक्त हो गया हूँ। मैंने सुना है कि (रामनाम के प्रभाव से) समुद्र के ऊपर पत्थरों द्वारा पुल बना वन्दरों की सेना समुद्र पार कर गयी थी। (तो फिर मैं भी इस रामनाम के प्रभाव से संसार रूपी सागर को सरलतापूर्वक पार कर जाऊँगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।)

जिसका जिसके प्रति प्रेम और विश्वास होता है उसके सारे काम उसी से पूरे होते हैं। अर्थात् मुझे रामनाम से अगाध प्रेम और विश्वास है, इसलिए मेरे सारे काम इसी से पूरे हो जायेंगे। रामनाम के दोनों अक्षर 'र' और 'म' मेरे माँ-बाप हैं। मैं तो उन्हीं के आगे बाल-हठ से अड़ गया हूँ। अर्थात् जिस प्रकार बच्चा माँ-बाप से किसी चीज के लिए हठ पकड़ जाता है और माँ-बाप को उसकी हठ पूरी करनी ही पड़ती है उसी प्रकार मैं भी 'राम' नाम के इन दोनों अक्षरों से हठ पकड़े बैठा हूँ कि मेरा उद्धार करो और इन्हें मेरी बात माननी ही पड़ेगी। यदि मैं कुछ छिपाकर कह रहा हूँ अर्थात् झूठ बोल रहा हूँ तो शिव इसके साक्षी हैं (कि रामनाम से सबका उद्धार हो जाता है)। यदि मैं सचमुच ही झूठ बोल रहा हूँ तो इस पाप के फल-स्वरूप मेरी जीभ गलकर गिर पड़े। भाव यह है कि मेरा रामनाम में पूर्ण विश्वास है, यह बात मैं सत्य कह रहा हूँ। अब तुलसी की समझ में यह बात आ गई है कि मुझ तुलसी का भला रामनाम से ही होगा।

टिप्पणी—(१) 'सावन के अंधेहि' से भाव यह है कि जो एक बार राम की भक्ति के रंग में रंग जाता है, उसे अन्य सारे रंग अर्थात् अन्य सारे साधन फीके, तत्त्वहीन प्रतीत होने लगते हैं।

(२) 'कुंजरो नरो'—महाभारत में द्रोणाचार्य ने जब पाण्डव-सेना का भयंकर रूप से संहार करना प्रारम्भ किया तो कृष्ण ने अर्जुन से द्रोणाचार्य का वध कर देने के लिए कहा। परन्तु एक तो सम्मुख युद्ध में हाथ में शस्त्र रहते द्रोणाचार्य को मारना असम्भव था, दूसरे गुरु हत्या का पाप लगता, यह सोच अर्जुन हिचकिचा गये। यह देख कृष्ण ने छल से काम लिया। उन्होंने भीमसेन द्वारा अश्वत्थामा (यह द्रोणाचार्य के पुत्र का भी नाम था) नामक एक हाथी को मरवा डाला। फिर कृष्ण ने सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से कहा कि द्रोणाचार्य उनकी बात पर विश्वास कर लेंगे, इसलिए वह यह घोषणा कर दें कि अश्वत्थामा मारा गया। युधिष्ठिर ने झूठ बोलने से इन्कार कर दिया। इस पर कृष्ण ने उन्हें समझाया कि वह यह कह दें कि 'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा' अर्थात् 'अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य या हाथी (यह नहीं कहा जा सकता)।' युधिष्ठिर जब इस वाक्य का प्रथम अंश 'अश्वत्थामा हतो नरो' इतना ही कह पाये थे कि कृष्ण ने जोर से अपना शंख बजा दिया जिसके कारण द्रोणाचार्य ने पहला अंश तो सुन लिया और शेष अंश 'वा कुंजरो वा' नहीं सुन सके। उन्हें विश्वास हो गया कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। पुत्र-शोक से व्याकुल हो उन्होंने शस्त्र छोड़ दिये और रथ में गिर पड़े। यह अवसर देख धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट लिया।

(३) श्रीरामानुजाचार्य ने 'राम' के 'रकार' और 'मकार' दोनों अक्षरों का आशय इस प्रकार समझाया है—

रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधि—
मकारार्थो जीवः सकलविधि कैंकर्यनिपुणः

तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयो—
रनन्याई ब्रूते त्रिनिगमसुसारोऽयमतुलः ॥

[२२७]

नाम राम, रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ॥१॥
जननी-जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहूँ सों कोउ कोउ कहत रामहिं को, सो प्रसंग नेहि केरे ॥२॥
फिर्यौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहिं हेरे।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे ॥३॥
साधत साधु लोक परलोकहि, मुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम को, एक गाँठि कई फेरे ॥४॥

शब्दार्थ—रावरोई=तुम्हारा ही। हित=कल्याण करने वाला। टेरे=पुकार कर। सृज्यो=बनाया। अवडेरे=चक्करदार, बेढब। ललात=ललचाता हुआ। लगि=लिए। दुखउ=दुख भी। हेरे=देखकर। प्रसाद=कृपा। रसाल=आम। बबुर=बबूल। बहेरे=बहेड़ा। साधत=बनाते हैं, साधते हैं। गुनि=विचार कर, चिन्तन कर। फेरे=लपेट।

भावार्थ—हे राम ! मेरा भला करने वाला तो केवल तुम्हारा ही नाम है। यह बात मैं अपने (माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि) स्वार्थ के तथा (साधु-सन्त आदि) परमार्थ के साथियों के सम्मुख अपनी भुजा उठा पुकार-पुकार कर कहता हूँ। माता-पिता ने तो मेरा जन्म होते ही मुझे त्याग दिया था और ब्रह्मा ने भी मुझे कर्महीन और कुछ विचित्र प्रकार का सा बनाया था। भाव यह है कि विधाता ने वैसे तो मुझे कर्महीन अर्थात् अभागा बनाया था परन्तु फिर भी मेरी भाग्यरेखा कुछ ऐसी विचित्र बनायी थी (कि जिसके फलस्वरूप मैं राम का भक्त बन गया)। भाग्य की इसी विचित्रता के कारण कोई-कोई मुझे राम का (दास) कहते हैं। आखिर वे लोग यह बात किस प्रसंग के कारण कहते हैं ? अर्थात् इसी रामनाम के प्रभाव के कारण ही तो मुझे राम का सेवक कहते हैं।

पहले जब मैं तुम्हारा नाम नहीं लेता था उस समय अपने पेट की खातिर ललचाता हुआ इधर-उधर भटकता रहता था। उस समय में इतना दुखी था कि मुझे देखकर स्वयं दुख भी दुखी हो उठता था। अर्थात् मैं भयंकर रूप से दुखी था। परन्तु अब तुम्हारे नाम की कृपा से मैं बबूल और बहेड़े के वृक्षों से भी आम के फल प्राप्त कर लेता हूँ। अर्थात् राम-भक्त कहलाने के कारण अब नीच और दुष्ट भी मेरा सम्मान करने लगे हैं। साधु-सन्त अनेक प्रकार की साधनाएँ कर अपना लोक और

परलोक बनाते हैं और मुनिलोग अनेक प्रकार से चिन्तन कर अपने दोनों लोकों को बनाते हैं। परन्तु तुलसी का सहारा तो केवल एक रामनाम ही है। जैसे किसी वस्तु में रस्सी के कई लपेट लगाओ परन्तु गाँठ उसमें एक ही बाँधी जाती है। इसी प्रकार साधु-सन्तों, मुनियों आदि का लक्ष्य तो गाँठ के समान है परन्तु लपेटों के समान साधन अनेक प्रकार के हैं। वे अपने साधनों से काम लेते हैं और मैं रामनाम द्वारा। लक्ष्य दोनों का एक ही है--अर्थात् राम की प्राप्ति। भाव यह है कि रामनाम के आधार पर ही सारे साधन निर्भर करते हैं।

टिप्पणी—'जननी जनक तज्यो जनमि'—इसमें आत्म-तत्त्व (तुलसी के जीवन की कथा) का संकेत है। कहा जाता है कि तुलसी का जन्म अशुभ लगन में हुआ था इसलिए इनके माता-पिता ने इनका जन्म होते ही इन्हें त्याग दिया था। तुलसी ने 'कवितावली' में भी माता-पिता द्वारा अपने त्यागे जाने और फिर अनाथ हो द्वार-द्वार भटकने के प्रति संकेत किया है—

जायो कुल मंगल, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारें ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारफल चार ही चनक के॥—आदि

[२२८]

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो॥१॥
सकुचत समुझि नाम-महिमा मद लोभ मोह कोह कामो।
राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो॥२॥
नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।
जो सुनि सुमिरि भाग-सजन भइ सुकृतसील भील-भामो॥३॥
बाल्मीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन सामो।
उलटे-पलटे-नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो॥४॥
राम तें अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर-गत गामो।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो॥५॥

शब्दार्थ—रामो=राम भी। परिनामो=परिणाम, अन्त। कामो=काम। कोह=क्रोध। घामो=घाम, धूप। सिला=पत्थर। सरोरुह=कमल। जामो=उगा, अंकुरित हुआ। भाग-साजन=भाग्यशालिनी। भीलभामो=भील की भामिनी, पत्नी शबरी। हुतो=था। सामो=सामान। गुंजनि=घुँघुची। जितो=जीत लिया। ललामो=रत्न। नगर मत=नगर में। गामो=गाँव। बजाइ=डंका बजा-कर। बामो=वाम, बुरा। दाहिने=शुभ, अच्छे।

भावार्थ—जिसे रामनाम से अधिक स्वयं राम भी प्रिय नहीं होते अर्थात् जो राम से भी अधिक रामनाम से प्रेम करता है उसका इस घोर कलियुग में आदि, मध्य और अन्त—तीनों दशाओं में भला होता है। अर्थात् उसका मृत्युपर्यन्त सम्पूर्ण जीवन आनन्द में कटता है। राम नाम की महिमा को समझ कर मद, लोभ, मोह, क्रोध और काम संकुचित अर्थात् भयभीत हो उठते हैं। भाव यह है कि राम नाम लेने से ये बुरी भावनाएँ मनुष्य के पास नहीं फटकतीं। जो सज्जन (साधु-सन्त) सदैव राम-नाम का ही जाप करने में व्यस्त रहते हैं उनके ऊपर कठिन धूप भी छाया करती है अर्थात् उनके लिए दुखदायी वस्तुएँ भी सुखदायी बन जाती हैं।

यदि कोई यह कहे कि यह बात सच है कि राम-नाम के प्रभाव से पत्थर में भी कमल उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् असम्भव भी सम्भव हो जाता है (कमल जल में उत्पन्न होता है, इसलिए पत्थर पर कमल का उत्पन्न होना असम्भव है) तो उसका ऐसा कहना सत्य है क्योंकि उसे रामनाम को सुनकर, उसका स्मरण करने से भील की पत्नी शबरी भाग्यशालिनी, शीलवती और पुण्यात्मा बन गयी थी। बाल्मीकि और अजामिल के पास न तो कोई साधन ही था और न कोई सामान ही था (जिससे इन जैसे नीच भी महान् बन जाते) परन्तु राम के उल्टे-सीधे नाम के प्रताप से घुँघुचियों ने रत्नों पर विजय प्राप्त कर ली थी। अर्थात् बाल्मीकि उलटा नाम 'मरा-मरा' जपते महर्षि बन गये थे और अजामिल अपने पुत्र के बहाने 'नारायण' पुकारने से बैकुण्ठ चला गया था। इस प्रकार घुँघुचियों के समान तुच्छ इन दोनों प्राणियों ने रत्नों के समान महान् ऋषि, मुनि आदि पर विजय प्राप्त कर ली थी। अर्थात् जिस पद को ऋषि, मुनि भी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं वही पद इन दोनों को मिल गया था।

राम से भी अधिक राम के नाम का करतब है क्योंकि इसके प्रभाव से पंचवटी, चित्रकूट जैसे छोटे से गाँव बड़े-बड़े नगरों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गये। (अथवा जिस नाम के प्रभाव से बन्दर और रीछ जैसे असभ्य प्राणी भी नागरिक जनों के समान सभ्य और सुसंस्कृत बन गये)। इसी नाम का जाप करते हुए तुलसीदास जैसा बुरा व्यक्ति भी डंका बजाकर भला बन गया।

टिप्पणी—(१) 'प्रिय.........रामो'—हनुमान ने भी यही बात कही है—

राम त्वत्तोऽधिकं नाम, इति मे निश्चला मतिः।
त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥

अर्थात् हे राम ! यह मेरा दृढ़ मत है कि तुमसे भी अधिक तुम्हारा नाम है क्योंकि तुमने तो अयोध्या को ही तारा था और तुम्हारे नाम ने तीनों लोकों को तार दिया है।

(२) इस पद में राम से भी अधिक रामनाम का महत्व प्रतिपादित कर अन्त-मुँखी और बहिर्मुँखी वृत्ति की ओर संकेत कर कि राम भीतर भी हैं और बाहर भी, इन दोनों वृत्तियों का समन्वय किया गया है।

(३) तुलसी ने 'मानस' में भी 'रामनाम' के प्रभाव को राम से भी प्रभावशाली माना और कहा है—

> निर्गुन ते इति भाँति बड़, नाम प्रभाव अपार ।
> कहउँ नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार ॥

[२२६]

> गरैगी जीह जो कहौं और को हौं ।
> जानकी-जीवन ! जनम-जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं ॥ १ ॥
> तीनि लोक तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं ।
> तुम सों कपट करि कलप-कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं ॥ २ ॥
> कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियो भौंतुवा भौंर को हौं ।
> तुलसिदास सीतल नित यहि बल, बड़े ठेकाने ठौर को हौं ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—गरैगी=गल जायेगी। ज्यायो=जिलाया हुआ। जोर=जोड़, बराबरी। कृमि=कीड़ा। भौंतुवा=जौ के बराबर एक काला कीड़ा जो नदियों में तैरा करता है। भौंर=भँवर। सीतल=शान्त। बड़े ठेकाने=बड़े राजदरबार।

भावार्थ—यदि मैं यह कहूँ कि मैं (राम के अलावा) किसी और का (सेवक) हूँ तो मेरी यह जीभ (झूठ बोलने के कारण) गलकर गिर जायेगी। हे सीतापति राम ! मैं तो जन्म-जन्म में तुम्हारे टुकड़े खाकर जीता रहा हूँ। मैं तीनों लोकों और तीनों कालों में तुम्हारे जोड़ का हितैषी किसी दूसरे को नहीं पाता। यदि मैं तुमसे कपट करूँगा अर्थात् झूठ बोलूँगा तो मैं कल्प-कल्पान्तर तक घोर नरक का कीड़ा बना पड़ा रहूँगा। क्या हुआ यदि कलियुग ने मेरे मन को अपनी ओर मिलाकर अर्थात् पाप-कर्मों की ओर आकर्षित कर उसे भँवर का भौंतुआ बना दिया। भाव यह है कि जिस प्रकार भौंतुआ नामक जल का कीड़ा सदैव जल के ऊपर ही तैरता रहता है और भँवर में पड़ जाने पर भी नहीं डूबता उसी प्रकार मेरा मन सांसारिक विषयों में फँसे रहने पर भी, राम नाम के प्रताप से उनमें पूरी तरह से लीन नहीं हो पाता। तुलसीदास इसी बल के भरोसे पर सदा प्रसन्न और शान्त चित्त रहता है कि वह बड़े ठौर-ठिकाने अर्थात् राम के राजदरबार में रहने वाला है। (इसलिए कलियुग उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।)

टिप्पणी—(१) इस पद में राम के प्रति तुलसी की अनन्य भक्ति-भावना का संकेत है।

(२) 'तुम सौ·······हौं में आत्मविश्वास और आत्म-निवेदन की चरम सीमा है।

[२३०]

अकारन को हितु, और को है।
बिरद 'गरीब-निवाज' कौन को, भौंह जासु जन जोहै ॥१॥
छोटो-बड़ो चहत सब स्वारथ जो बिरंचि बिरचो है।
कोल कुटिल कपि भालु पालिबो कौन कृपालुहिं सोहै ॥२॥
काको नाम अनख आलस कहें अघ अवगुननि बिछोहै।
को तुलसी से कुसेवक संग्रह्यो, सठ सब दिन सांई द्रोहै ॥३॥

शब्दार्थ—अकारन=विना कारण ही। हितु=हितैषी। बिरद=यश। भौंह=भृकुटी। जासु=जिसकी। बिरचो=रचा हुआ, बनाया हुआ। कोल=एक जंगली जाति। अनख=क्रोध, अनखनाना। कहें=कहने, लेने से। बिछोहै=दूर हो जाते हैं। संग्रह्यो=शरण में रखा। सांई=स्वामी।

भावार्थ—बिना कारण ही अर्थात् बिना किसी स्वार्थ के ही हितैषी बन जाने वाला (राम के सिवाय) और कौन है ? 'गरीब निवाज' के रूप में कौन प्रसिद्ध है जिसकी भृकुटियों की ओर सब लोग देखा करते हैं। अर्थात् सब जिनके रुख को देखा करते हैं कि वह प्रसन्न हैं अथवा नाराज। सारे छोटे-बड़े, जिन्हें विधाता ने बनाया है, अपने स्वार्थ को ही चाहते रहते हैं। अर्थात् बिना स्वार्थ के कोई किसी की भलाई नहीं करता। दुष्ट कोल-भील आदि नीच जातियों, बन्दर और रीछों का पालन करना किस कृपालु स्वामी को शोभा देता है ? अर्थात् केवल राम ही ऐसे कृपालु स्वामी हैं जिन्होंने इन सब का पालन किया था।

ऐसा कौन है जिसका क्रोध और आलस्य के साथ भी नाम लेने से पाप और अवगुणों से पीछा छूट जाता है ? किसने तुलसी ऐसे नीच सेवक को अपनी शरण में ले लिया है जो दुष्ट प्रतिदिन अपने स्वामी से द्रोह करता रहता है ? अर्थात् नाना प्रकार के कुकर्म करने में व्यस्त रहता है।

टिप्पणी—(१) 'भौंह····जोहै' से भाव रुख को देखने से है।

(२) 'कोल' से अभिप्राय निषाद गुह और भीलनी शबरी से है। ये जंगली जाति के थे।

(३) 'काको····बिछोहै'—यही बात तुलसी ने 'मानस' में भी कही है—

भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू।

[२३१]

और मोहि को है, काहि कहिहौं ?
रंकराज ज्यों मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं ॥१॥

जम-जातना जोनि-संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।
मोको अगम, सुगम तुमको प्रभु ! तउ फलचारि न चहिहौं ॥२॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं,या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ॥३॥
इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिये 'तुलसी को पन निर्बहिहौं' ॥४॥

शब्दार्थ—रंकराज=गरीब की राज्य पाने की अभिलाषा करना। केहि=किसे। फलचारि=चार फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। किंकर=सेवक। रावरो=तुम्हारा। सचु=सुख। परमपदहुँ=मोक्ष प्राप्त करने पर भी। पानही=पनही, जूती। पन=प्रतिज्ञा।

भावार्थ—हे प्रभु ! (तुम्हारे सिवाय) मेरा और कौन है, मैं किसे अपना दुखड़ा सुनाऊँगा ? मेरे मन की इच्छा (तुम्हारी भक्ति पाने की) ऐसी ही है जैसे कोई गरीब राज्य पाने की इच्छा कर रहा हो। मैं अपनी उस इच्छा को किसे सुनाकर सुख पाऊँगा ? अर्थात् सभी मेरी इस इच्छा को सुनकर मुझे दुत्कारेंगे और हँसी उड़ायेंगे जिससे मुझे दुख ही होगा। क्योंकि कोई भी मेरी इस इच्छा को पूरी नहीं करेगा। (इसी से केवल तुमसे ही कह रहा हूँ।) मैंने यम-यातना अर्थात् नरक के दुख और विभिन्न योनियों में जन्म ले-लेकर सारे प्रकार के असहनीय संकट भोगे हैं और भविष्य में भी भोगना है। हे प्रभु ! (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) ये चारों फल प्राप्त करना मेरे लिये तो दुर्लभ हैं परन्तु तुम उन्हें सहज ही सबको प्रदान करने में समर्थ हो। फिर भी मैं इन्हें पाने की चाहना नहीं करूँगा।

हे राम ! मैं तो केवल तुम्हारे खेलने के लिए पक्षी, मृग, वृक्ष और सेवक बन कर ही रहना चाहता हूँ। यदि मुझे ऐसा सौभाग्य मिल जायेगा तो मैं नरक में भी सुख के साथ रहूँगा और इनके विना यदि मुझे परमपद (मोक्ष) भी मिला तो भी मैं दुख से दग्ध होता रहूँगा। अर्थात् मैं केवल तुम्हारा सान्निध्य चाहता हूँ। इसके विना मुझे मोक्ष भी नहीं चाहिए। तुम्हारे इस दास के हृदय में केवल यही लालसा है कि वह तुम्हारी आज्ञा पाते ही तुम्हारी जूती पकड़ लेगा। अर्थात् वह सदैव तुम्हारे चरणों का दास बना रहना चाहता है। अव या तो मुझे इस बात का वचन दे दो अथवा मन में ही इस बात का निश्चय कर लो कि तुलसी के प्रण का निर्वाह करूँगा। अर्थात् तुलसी को अपनी सेवा में स्वीकार कर लूँगा।

टिप्पणी—(१) 'खेलिबे·······रहिहौं' से केवल इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि तुलसी पशु, पक्षी, वृक्ष, सेवक आदि किसी भी रूप में राम का सान्निध्य (समीपता) प्राप्त करना चाहते हैं। 'रसखान' ने भी इसी प्रकार की अभिलाषा व्यक्त की है—

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौ नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं, नित कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

(२) 'यहि नाते''''सचु पैहों'—बिहारी ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—

जो न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुख दीन।
जो लहिये सग सजन तौ, धरक नगर हूँ की न॥

(३) इस पद में प्रमुख रूप से नैकट्य (निकट रहने की) भावना ही व्यक्त हुई है।

[२३२]

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावों ?
को तुम बिनु पर-पीर पाइहै ? केहि दीनता सुनावों॥ १॥
प्रभु अकृपालु, कृपालु अलायक जहँ-जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही, कहि भ्रम कहा गँवावों॥ २॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौं बातनि जलधि थहावों।
अति लालची काम - किंकर मन, मुख रावरो कहावों॥ ३॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब, अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल, द्वार परो गुन गावों॥ ४॥

शब्दार्थ—पाइहै=अनुभव करेगा। बूड़िबे=डूबने। भ्रम=भेद। थहावौं=थाह लेता हूँ। काम-किंकर=काम का दास, कामी। अपनो=आप भी, स्वयं भी।

भावार्थ—हे राम ! मुझे (तुम्हारे जैसा) दीनों का वन्धु और कहाँ मिलेगा ? तुम्हारे बिना और कौन ऐसा है जो दूसरों की पीड़ा को अनुभव कर सके, उसे समझ सके। मैं किसे अपनी दीनता का दुख सुनाऊँ ? इस संसार में जहाँ-जहाँ मैं अपने मन को दौड़ाता हूँ अर्थात् देखने का प्रयत्न करता हूँ तो यही पाता हूँ कि जो प्रभु अर्थात् समर्थ हैं उनके हृदय में कृपा की भावना नहीं है अर्थात् वे किसी पर भी कृपा नहीं करते और जो कृपालु हैं वे इस लायक नहीं हैं कि किसी पर कृपा कर सकें। इसलिए मैं इन बातों को सुन मन ही मन समझकर चुप रह जाता हूँ कि क्यों किसी के सामने व्यर्थ ही अपनी दुःख-गाथा कहकर अपना भ्रम गवाऊँ; अर्थात् मेरा रहस्य भी खुल जाय, मेरी दीनता भी प्रकट हो जाय और कोई मेरी सहायता भी न करे। (इसीलिए मैं किसी से भी न कहकर केवल तुमसे ही अपने दुःख का रोना रो रहा हूँ।)

यद्यपि मैं कर्म तो ऐसे करता हूँ कि गाय के खुर के बराबर गड्ढे में डूब जाऊँ

परन्तु बातें समुद्र की थाह ले आने की करता हूँ। अर्थात् मेरी करनी और कथनी में आकाश-पाताल का सा अन्तर है। मेरा मन तो अत्यन्त लालची और काम का दास (कामी) है परन्तु मैं मुख से स्वयं को तुम्हारा दास कहता फिरता हूँ। हे प्रभु! तुम तो तुलसी के मन की सारी बातें जानते ही हो (क्योंकि अन्तर्यामी जो ठहरे)। परन्तु फिर भी स्वयं भी तुम्हें कुछ बता देना चाहता हूँ कि तुम कुछ ऐसा उपाय करो जिससे मैं छल-कपट को त्याग तुम्हारे द्वार पर पड़ा तुम्हारे गुन गाता रहूँ।

टिप्पणी—'द्वार परो गुन गावों'—बिहारी ने भी यही अभिलाषा व्यक्त की है—

हरि, कीजत तुमसों यहै, बिनती बार हजार।
जेहि-तेहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार॥

[२३३]

मनोरथ मन को एकै भाँति।
चाहत मुनि-मन आगम सुकृत-फल, मनसा अघ न अघाति॥ १॥
करमभूमि कलि जनम कुसंगति, मति बिमोह-मद-माति।
करत कुजोग कोटि क्यों पैयत परमारथ-पर साँति॥ २॥
सेइ साध गुरु सुनि पुरान स्रुति बुझ्यो राग बाजी ताँति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो, ज्यों दरपन मुख-काँति॥ ३॥

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य। मनसा=इच्छा। अघाति=तृप्ति होती। अघ=पाप। माति=मतवाली। कुजोग=कुयोग। पैयत=पाना।

भावार्थ—मेरे इस मन की इच्छा भी एक ही भाँति की अर्थात् बड़ी विचित्र है। यह मन इच्छा तो करता है मुनियों के मन के लिए भी अगम्य, पुण्यों के फल मोक्ष की परन्तु पाप करते-करते इसका कभी मन ही नहीं भरता। अर्थात् इधर तो मनमाने पाप करता है और उधर मोक्ष की कामना करता है। यह पृथ्वी कर्मभूमि है परन्तु यहाँ कलियुग में जन्म लेने तथा कुसंगति में रहने से बुद्धि मोह और अहंकार के कारण मतवाली बनी रहती है। अर्थात् व्यक्ति अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं। यह मन करोड़ों प्रकार के बुरे कर्म करता रहता है, फिर इसे मोक्ष और शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। साधुओं और गुरु की सेवा कर, वेद और पुराणों को सुनकर, सारंगी के बजते ही जैसे राग पहचान लिया जाता है, उसी प्रकार इस बात का निश्चय हो जाता है कि अब मोक्ष और शान्ति मिल जायेगी। तुलसीदास कहते हैं, परन्तु प्रभु राम का स्वभाव तो कल्पवृक्ष के समान है अर्थात् वे सबकी मनोकामना पूरी कर देते हैं, किन्तु साथ ही वह स्वभाव ऐसा है जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब। जैसे दर्पण में जैसा मुँह बनाकर देखोगे वह वैसे ही दिखाई देगा।

इसी प्रकार राम कल्पवृक्ष के समान सबकी कामना पूरी करने वाले तो अवश्य हैं परन्तु उस कामना का शुभ या अशुभ होना हमारे अपने कर्मों पर निर्भर करता है। जैसे हम कर्म करेंगे वैसी ही हमारी कामना होगी।

टिप्पणी—इस पद में तुलसी का एक नया ही सिद्धान्त प्रकट होता है। इसमें भगवत्कृपा के साथ-साथ कर्मों को भी महत्त्व दिया गया है। शुभ कर्म करने से हमारा हृदय निर्मल होता है और उसी के अनुसार हमारी कामनाएँ भी शुभ अर्थात् विरक्ति-प्रधान होती चली जाती हैं। इसलिए भगवत्प्राप्ति के लिए शुभ कर्म अत्यावश्यक हैं।

[२३४]

जनम गयो बादिहिं बर बीति।
परमारथ पाले न पर्‌यो कछु, अनुदिन अधिक अनीति॥ १॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौवन जुबतिन लियो जीति।
रोग-बियोग-सोग-स्रम-संकुल, बड़ि बय बृथहि अतीति॥ २॥
राग-रोष-इर्षा-बिमोह-बस, रुची न साधु-समीति।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद-प्रीति॥ ३॥
हृदय दहत पछिताय-अनल अब, सुनत दुसह भवभीति।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय, समुझि बिरद की रीति॥ ४॥

शब्दार्थ—बादिहिं=व्यर्थ ही। बर=सुन्दर। पाले न पर्‌यो=हाथ नहीं लगा। अनुदिन=नित्यप्रति। बड़ि बय=बड़ी अवस्था, वृद्धावस्था। अतीति=बीत गयी। समीति=समिति, समाज।

भावार्थ—यह सुन्दर जीवन व्यर्थ ही बीत गया अर्थात् नष्ट हो गया। क्योंकि परमार्थ तो हाथ नहीं लगा; अर्थात् मुक्ति तो नहीं मिली और दिन-प्रतिदिन अनीति (बुरे कार्य) और बढ़ती चली गयी। बचपन तो खेलते-खाते समाप्त हो गया, यौवन को युवतियों ने जीत लिया। अर्थात् यौवनावस्था में युवतियों ने अपना गुलाम बना लिया और वृद्धावस्था रोग, वियोग (आत्मीय जनों की मृत्यु आदि का वियोग), शोक और परिश्रम से भरी हुई बेकार ही बीत गयी। अर्थात् वृद्धावस्था में नाना प्रकार के ये दुःख उठाने पड़े।

राग (आसक्ति), क्रोध, ईर्ष्या, मोह आदि के वश में रहने के कारण साधुओं के समाज में रहने की अर्थात् सत्संग करने की रुचि नहीं रही। राम के गुणों का गान न तो किया और न सुना और न राम के चरणों से प्रेम ही किया। अर्थात् आत्म-कल्याण के जितने भी साधन थे उनमें कभी मन नहीं लगा। अब यह हृदय पश्चाताप की अग्नि में जला जा रहा है और मैं असह्य सांसारिक भय की बातें सुन रहा हूँ। अर्थात् अब मुझे फिर संसार के बन्धन में पड़ कष्ट भोगने पड़ेंगे। बार-बार जन्म-

मरण की यातना सहनी पड़ेगी । अब तो हे प्रभु ! अपने यश की रीति के अनुसार (तुम्हारा यश यह है कि तुम अनाथों, दीनों, पापियों का उद्धार करते हो) जैसा समझो, वैसा करो । अर्थात् जैसे भी बन पड़े मेरा उद्धार कर दो ।

टिप्पणी—(१) 'खेलत·······अतीति'—शंकराचार्य ने भी लगभग यही बात कही है—

'बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धास्तावच्चिंतामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥'

(२) 'जनम गयो····बीति'—कबीर ने भी यही बात कही है—

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥

(३) 'प्रभु····कीजिय'—कबीर भी राम से ऐसी ही प्रार्थना कर रहे हैं—

अबगुण मेरे बाप जी, बकस गरीबनिवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज ॥

[२३५]

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ।
प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥ १ ॥
जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलि मल-साने ।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्हकहँ, हरि तें अधिक करि माने ॥ २ ॥
सुख हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पाँय पिराने ।
सदा मलीन पंथ के मल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ॥ ३ ॥
यह दीनता दूर करिबे को अमित जतन उर आने ।
तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सिराने=बीत गये । बिराने=दूसरों के । मल-साने=पापों में लिप्त । पिराने=दुखे । मल=गन्दगी । थिराने=स्थिर हुए, शान्त हुए ।

भावार्थ—इसी प्रकार अनेक जन्म बीत गये । प्राणों के स्वामी राम जैसे मालिक को त्याग दूसरों के चरणों की सेवा करता रहा । अर्थात् अन्य देवी-देवता पूजे, सांसारिक लोगों की खुशामद की । जो मूर्ख जीव हैं—कुटिल, कायर, दुष्ट और केवल कलियुग के पापों को करने में लिप्त रहते हैं, ऐसे लोगों की प्रशंसा करते-करते मुँह सूख गया और उन्हें भगवान् से भी अधिक माना । सुख प्राप्त करने के लिए निरन्तर करोड़ों उपाय करते हुए कभी पैर नहीं थके । अर्थात् सुख पाने के लिए सांसारिक विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए निरन्तर इधर-उधर भाग-दौड़ करता

रहा और फिर भी कभी थका तक नहीं। हृदय सदैव रास्ते की गन्दगी की तरह मलिन बना रहा और कभी स्थिर नहीं हुआ; अर्थात् उसे कभी सन्तोष और शान्ति नहीं मिली। भाव यह है कि विषय-वासनाओं के कारण मन सदैव मलिन और व्याकुल बना रहा।

इस दीनता को दूर करने के लिए हृदय में अनेक प्रकार के यत्नों के विषय में सोचा। तुलसीदास कहते हैं, परन्तु बिना चिन्तामणि को पहचाने मन की चिन्ता कभी दूर नहीं हो सकती। अर्थात् चिन्तामणि के समान सारी चिन्ताओं को दूर करने वाले राम को पहचाने बिना मन की चिन्ताएँ कभी दूर नहीं हो सकतीं, भले ही कोई लाखों उपाय क्यों न करे।

विशेष—सूर का भी ऐसा ही एक पद मिलता है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> सब दिन गए विषय के हेत।
> तीनों पन ऐसे ही बीते, केस भए सिर सेत॥—आदि

[२३६]

> **जो पै जिय जानकी नाथ न जाने।**
> **तौ सब करम धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने॥१॥**
> **जे सुर, सिद्ध, मुनीस, जोगबिद बेद पुरान बखाने।**
> **पूजा लेत देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने॥२॥**
> **काको नाम धोखेहू सुमिरत पातकपुंज सिराने।**
> **बिप्र, बधिक, गज, गीध कोटि खल कौन के पेट समाने॥३॥**
> **मेरु से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन उर आने।**
> **तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहुँ अयाने॥४॥**

शब्दार्थ—स्रमदायक=परिश्रम कराने वाले। सयाने=ज्ञानी। जोगबिद=योग की क्रियाओं में पारंगत, श्रेष्ठ योगी। पलटे=बदले में। सिराने=नष्ट हो गये। मेरु=पर्वत। रेनु=धूल। अयाने=अज्ञानी, मूर्ख।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों का यही कहना है कि यदि सीतापति राम को नहीं पहचाना तो सारे कर्म और धर्म केवल परिश्रम कराने वाले ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् राम से प्रेम न कर किये जाने वाले अन्य सारे धर्म-कर्म बेकार किये गये परिश्रम के समान व्यर्थ हैं। इनमें ऐसा परिश्रम करना पड़ता है जिसका कोई अच्छा परिणाम नहीं मिलता। वेद और पुराण यह कहते हैं कि जितने भी देवता, सिद्ध बड़े-बड़े मुनीश्वर और योग की क्रियाओं में पारंगत बड़े-बड़े योगी हैं वे सब पहले पूजा लेकर अर्थात् अपनी पूजा करवाकर तब बदले में सुख देते हैं और ऐसा करते समय अपने

हानि-लाभ का अनुमान लगा लेते हैं। अर्थात् वे उतना ही देते हैं जितनी कि उनकी पूजा की जाती है। कभी ज्यादा नहीं देते। भाव यह है कि वे पूजा और सुख के लेन-देन में पक्के बनिए हैं।

ऐसा किसका नाम है, जिसका धोखे से भी स्मरण करने से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं ? ब्राह्मण (अजामिल), वधिक (वाल्मीकि), गजराज, गिद्ध (जटायु) आदि करोड़ों दुष्ट किसके पेट में समा गये अर्थात् किसने इन्हें अपनी शरण में लिया ? भाव यह है कि ऐसा राम का ही नाम है और राम ने ही इन दुष्टों को शरण में ले, इनका उद्धार किया था। जिसने अपने भक्तों के पहाड़ के समान भारी दोषों को अर्थात् भयंकर दोषों को दूर कर अर्थात् उनकी तरफ ध्यान भी न देकर, भक्तों के धूल के कण के समान साधारण और तुच्छ गुणों को अपने हृदय में स्थान दिया अर्थात् इन गुणों को बहुत बड़ा करके माना और उन्हें अपनी शरण में लिया। तुलसीदास कहते हैं कि हे मूर्ख ! तू आज भी सारी आशाएँ छोड़कर ऐसे उन्हीं राम का भजन क्यों नहीं करता।

[२३७]

काहे न रसना, रामहिं गावहि ?
निसिदिन पर-अपवाद बृथा कत रटि रटि राग बढ़ावहि ॥१॥
नरमुख सुन्दर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहँ धावहि ॥२॥
काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि सुनत स्रवन दै भावहि।
तिनहिं हटकि कहि हरि-कल-कीरति करन कलंक नसावहि ॥३॥
जातरूप-मति जुगुति रुचिर मनि रचि रचि हार बनावहि।
सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम नृपहि-पहिरावहि ॥४॥
बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहुँ पुर तू पुनीत जस पावहि ॥५॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ। राग बढ़ावहि = झंझट बढ़ाना। अपवाद = निन्दा। नरमुख = मनुष्य का मुख। रबिकर जल = मृगतृष्णा का जल। कैरव = कुमुदिनी। चन्दिनि = चाँदनी। हटकि = मनाकर, रोककर। करन = कर्ण, कान। जातरूप = सोना, स्वर्ण। जुगुति = युक्ति।

भावार्थ—हे जीभ ! तू राम के गुण क्यों नहीं गाती ? तू रात-दिन परायी निन्दा कर-करके व्यर्थ ही झंझट क्यों बढ़ाती रहती है ? अर्थात् दूसरों से लड़ाई-झगड़ा क्यों मोल लेती रहती है। तू मनुष्य के मुखरूपी सुन्दर और पवित्र मन्दिर में निवास कर उसे लज्जित मत कर। तू चन्द्रमा के समीप रहकर उसके अमृत को त्याग क्यों

मृगतृष्णा के जल के लिए भागती-फिरती है। अर्थात् चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख में रहकर अमृत तुल्य भगवान के नाम को त्याग मृगतृष्णा के जल के समान झूठी सांसारिक विषय-वासनाओं की चर्चा क्यों करती रहती है। (भगवान का नाम क्यों नहीं लेती।)

काम सम्बन्धी कथाएँ कलियुग रूपी कुमुदिनी को खिलाने के लिए चाँदनी के समान हैं। उन काम-कथाओं को कान लगाकर सुनना ही तुझे अच्छा लगता है। भाव यह है कि कलियुग की काम-कथा (भोग-विलास की बात) को सुनकर तू उसी प्रकार प्रसन्न हो उठता है जैसे कुमुदिनी चन्द्रमा की चाँदनी को देख खिल उठती है। तेरे कानों को काम-कथा सुनना बहुत अच्छा लगता है। तू इन कानों को ऐसा करने से (कामकथा सुनने से) मना कर दे और उनसे कह कि वे भगवान की सुन्दर कीर्ति का श्रवण कर अपने कलंक को (काम-कथा सुनने के कलंक को) दूर कर दें। तू बुद्धि रूपी स्वर्ण (स्वर्ण के समान निर्मल, कान्तिमान बुद्धि) और युक्ति रूपी मणियों द्वारा खूब सँवार-सँवार कर एक हार बना और उस हार को शरणागतों को सुख देने वाले तथा सूर्य वंश रूपी कमल को सूर्य के समान खिला देने वाले राजा राम के गले में पहिना दे। भाव यह है कि तू अपनी निर्मल बुद्धि और सुन्दर कार्यों द्वारा भगवान् का गुण गाती रह।

तू वाद-विवाद के स्वाद अर्थात् आकर्षण को त्याग भगवान् का भजन कर और उनके सरस चरित्रों का वर्णन करने में अपना मन लगा। अर्थात् वाद-विवाद करना त्याग भगवान् के गुण गा और उनका भजन कर। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसा करने से तू संसार-सागर से तर जायेगी और तीनों लोकों में तुझे पवित्र यश को प्राप्ति होगी; अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे।

टिप्पणी—(१) इस पद में जीभ को इन्द्रियों का प्रतीक और राम नाम लेने वाली माना गया है। यह उपलक्षणा पद्धति कही जाती है।

(२) जीभ का मानवीकरण किया गया है।

(३) 'काम-कथा········भावहिं' में परम्परित रूपक अलंकार है।

(४) 'जातरूप········बनावहिं'—पं० रामेश्वर भट्ट ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—

"और (जैसे लोग सुवर्ण और सुन्दर मणियों का हार बनाकर राजाओं की भेंट करते हैं ऐसे ही) बुद्धि (भगवान् का यश सो ही हुआ) सुवर्ण और (उनका नाम हुआ) मणि इन (दोनों) का अपनी युक्ति से रच-रचकर सुन्दर हार तैयार करे।"

(५) 'काहे········गावहिं'—'दोहावली' में भी तुलसी ने प्रकारान्तर से यही बात कही है—

रसना साँपिनि, बदन बिल, जो न जपहि हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम॥

[२३८]

आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै।
तौ जनु तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै॥ १॥
निज अवगुन, गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै।
रहनि कहनि समुझनि तुलसी की को कृपालु बिनु बूझै॥ २॥

शब्दार्थ—आपनो=अपना। रावरे=स्वयं अपने ही द्वारा। सूझै=दिखाई दे। अछत=रहते हुए। कवंध=बिना सिर का धड़। जूझै=लड़े। रूझै=रुद्ध हो जाय, रुक जाय। बूझै=समझे।

भावार्थ—यदि मनुष्य को अपनी भलाई स्वयं अपने-आप ही सूझती होती तो वह अपने शरीर पर अपने मस्तक के रहते हुए भी सारी सुध-बुध भूल कबन्ध के समान अन्धा बन क्यों सबसे लड़ता-फिरता। भाव यह है कि जिस प्रकार कबन्ध रणक्षेत्र में थोड़ी देर तक अपने-पराये का भेद न पहचान भयंकर युद्ध करता रहता है उसी प्रकार यह मनुष्य अपनी भलाई-बुराई को न समझ सबसे जूझता रहता है। कबन्ध के तो सिर नहीं होता, कट जाता है, इससे वह अपने-पराये में भेद नहीं कर पाता परन्तु यह मनुष्य तो इतना मूर्ख है कि मस्तक रहते हुए भी अर्थात् बुद्धि रखते हुए भी अन्धा बन अपनी भलाई-बुराई में भेद न समझ सबसे जूझता रहता है, कामान्ध हो सबसे लड़ता-फिरता है।

हे राम ! अपने अवगुण और तुम्हारे गुणों को देख और सुनकर मेरी बुद्धि और मन—दोनों किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं, उनकी शक्ति मारी जाती है। भाव यह है कि मेरे अवगुण बहुत अधिक और भयंकर हैं तथा तुम्हारे गुण अमित और महान् हैं। यही सोच मेरी समझ में नहीं आता कि मैं कैसे तुम्हारे सामने जाऊँ या तुमसे अपने उद्धार की प्रार्थना करूँ। मुझे विश्वास नहीं होता कि तुम मुझे अपनी शरण में ले लोगे। परन्तु फिर यह सोचता हूँ कि मुझ तुलसीदास की रहन अर्थात् कर्म, कथनी अर्थात् मेरे द्वारा दिये गये उपदेश आदि और मेरी बुद्धि की असलियत को कृपालु भगवान् राम के बिना और दूसरा कौन समझ सकता है। अर्थात् तुम तो अन्तर्यामी हो, सब जानते हो। मेरी कथनी और करनी में महान् अन्तर है, बुद्धि भी भ्रष्ट है। ऐसी विषम स्थिति में केवल तुम ही मेरी दीन दशा को समझ मेरा उद्धार कर सकते हो (क्योंकि तुमने मुझ जैसे अनेक पाखण्डियों और पापियों का उद्धार किया है)।

टिप्पणी—(१) 'कबन्ध' मस्तक विहीन धड़ को कहते हैं। युद्धक्षेत्र में युद्ध करते समय जब किसी योद्धा का मस्तक कट जाता है तो थोड़ी देर तक उसका धड़ ही युद्ध करता रहता है। उस समय उसके सामने शत्रु और मित्र—दोनों आने से

घबड़ाते हैं क्योंकि उसमें आँखें न रहने से वह शत्रु-मित्र में कोई भेद न कर निरन्तर हथियार चलाता रहता है।

(२) 'रहनि......बूझै'—कबीर भी भगवान से ऐसी ही विनती कर रहे हैं—

मैं अपराधी जनम का, नख-सिख भरा विकार।
तुम दाता दुखभंजना, मेरी करो सम्हार॥
अन्तरजामी एक तुम, आतम के आधार।
जो तुम छोड़ो हाथ तौ कौन उतारे पार॥

[२३६]

जाको हरि दृढ़ करि अङ्ग कर्‌यों।
सोइ सुसील पुनीत बेदबिद, बिद्या-गुननि-भर्‌यो॥१॥
उतपति पांडु-तनय की करनी सुनि सतपंथ डर्‌यो।
ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जस मुनि सुनि लोक तर्‌यो॥२॥
जो निज धरम बेद-बोधित सो करत न कछु बिसर्‌यो।
बिनु अवगुन कृकलास कूप-मज्जित कर गहि उधर्‌यो॥३॥
ब्रह्म-बिसिख ब्रह्मांड-दहन-छम गर्भ नृपति जर्‌यो।
अजर अमर कुलिसहुँ नाहिंन बध सो पुनि फेन मर्‌यो॥४॥
बिप्र अजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं बिगर्‌यो।
उनको कियो सहाय बहुत, उर को संताप हर्‌यो॥५॥
गनिका अरु कंदरप तें जग महँ अघ न करत उबर्‌यो।
तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हृदि-भवन धर्‌यो॥६॥
केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तौ न जानि पर्‌यो।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खर्‌यो॥७॥

शब्दार्थ—अंग कर्‌यो=अपना लिया। वेदबिद=वेदज्ञ, वेदों का पूर्ण ज्ञाता। उतपति=उत्पत्ति, जन्म। पांडु-तनय=पांडु के पुत्र, पंच पांडव। जस=यश, कीर्त्ति। वेद-बोधित=वेदों द्वारा निर्धारित। कृकलास=गिरगिट। कूप-मज्जित=कुँए में पड़ा हुआ। उधर्‌यो=उद्धार किया। ब्रह्म-बिसिख=ब्रह्मास्त्र नामक वाण। छम=क्षमता वाला। नृपति=राजा परीक्षित से अभिप्राय है। कुलिसहुँ=वज्र से भी। फेन=झाग। बिगर्‌यो=बिगड़ा, बुराई हुई। कंदरप=कन्दर्प, कामदेव। खर्‌यो=खड़ा हुआ, अच्छा, खरा।

भावार्थ—भगवान ने जिसे खूब अच्छी तरह से अपना लिया वही शीलवान, पवित्र, वेदों का ज्ञाता और विद्या और गुणों से परिपूर्ण बन गया। पांडु-पुत्र पाँचों

पांडवों के जन्म की कथा (पाँचों कुन्ती और माद्री के गर्भ से पाँच भिन्न-भिन्न देवताओं द्वारा उत्पन्न हुए थे) तथा उनके कर्मों की कहानी (एक द्रौपदी के साथ ही सबका संभोग करना, जुआ खेलना आदि कुकर्म) सुनकर सत्य का पंथ अर्थात् धर्म का मार्ग भयभीत हो उठा अर्थात् उसे भय सताने लगा कि अब संसार में मुझे (धर्म मार्ग) को कौन पूछेगा और कौन उस पर चलेगा। परन्तु भगवान ने ऐसे उन पांडवों को अपनाकर तीनों लोकों में पूज्य बना दिया और उनके पवित्र यश की गाथा सुन-सुन कर संसार के लोग तर गये, मुक्त हो गये। जो राजा नृग वेदों द्वारा निर्धारित अपने धर्म का पालन करने में तनिक भी नहीं चूका अर्थात् उससे तनिक-सी भी भूल नहीं हुई वह बिना किसी अवगुण अर्थात् पाप के ही गिरगिट बन कुएँ में गिर पड़ा और फिर भगवान ने हाथ पकड़कर (कुएँ से निकाल) उसका उद्धार किया। भाव यह है कि अधर्मी पांडव तो धर्मात्मा बन गये और धर्मात्मा राजा नृग को बिना किसी पाप के गिरगिट बनना पड़ा। भगवान की इन विचित्र लीलाओं का रहस्य समझना कठिन है।

ब्रह्मांड को भी भस्म कर देने की क्षमता रखने वाला ब्रह्मास्त्र गर्भ में राजा (परीक्षित) का वध न कर सका। और अजर (कभी वृद्ध न होने वाला) और अमर (नमुचि नामक) दैत्य, जो इन्द्र के वज्र से भी नहीं मारा जा सका था, समुद्र के झाग जैसी कोमल वस्तु से मारा गया। ब्राह्मण अजामिल और देवराज इन्द्र से ऐसा कौन सा कुकर्म था जो नहीं बन पड़ा था; अर्थात् उन दोनों ने भयंकर से भयंकर सभी प्रकार के कुकर्म किये थे परन्तु भगवान ने उनकी भी बहुत प्रकार से सहायता कर उनके हृदय के कष्टों को दूर कर दिया था।

वेश्या (पिंगला) और कामदेव के कारण इस संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं बचा जिसने पाप न किया हो परन्तु भगवान ने उनके चरित्र को भी पवित्र जान कर उन्हें अपने हृदय रूपी मन्दिर में स्थान दिया, रखा। भगवान किस आचरण (कर्म) को अच्छा मानते हैं, इस बात का पता लगाना असम्भव है, इसी कारण तुलसी खड़ा-खड़ा भगवान राम की कृपा की बाट जोहता (देखता) रहता है। अथवा भगवान की कृपा के खरे (सच्चे) मार्ग को देखता रहता है। भाव यह है कि अच्छे कर्म या बुरे कर्म करने से भगवान प्रसन्न होते हैं या अप्रसन्न, इस बात को नहीं जाना जा सकता। इसलिए भगवान की कृपा ही सबसे अच्छा साधन है। वह जिस पर कृपालु हो उठेंगे वही धर्मात्मा बन जायेगा।

टिप्पणी—(१) 'उतपति पांडु तनय की करनी'—पांडवों के पिता राजा पांडु नपुंसक थे। इसलिए सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ थे। उनको दो पत्नियों कुन्ती और माद्री के गर्भ से उत्पन्न पाँचों पांडव भिन्न-भिन्न देवताओं द्वारा पैदा हुए थे। युधिष्ठिर के पिता धर्मराज, भीमसेन के पवन, अर्जुन के इन्द्र, और नकुल-सहदेव के अश्विनी कुमार माने जाते हैं। अर्थात् पाँचों पांडव अपने पिता की औरस सन्तान न होकर जारज सन्तान थे। इसके अतिरिक्त इनके कर्म भी अच्छे नहीं थे। पाँचों एक

ही पत्नी द्रौपदी के साथ संभोग करते थे, जुआ खेलते थे आदि-आदि। भाव यह है कि पांडव धर्मात्मा न होकर अधर्मी थे।

(२) 'राजा नृग'--पदसंख्या २१३ की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(३) 'ब्रह्म.......जर्‌यो'--पिता द्रोणाचार्य का अन्यायपूर्वक पांडवों द्वारा वध किये जाने से उनके पुत्र अश्वत्थामा ने प्रतिशोध लेने के लिए पहले सोते में द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का वध कर डाला और फिर पांडवों को पूरी तरह से निर्वंश कर डालने के लिए उसने अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ में स्थित राजा परीक्षित को भी ब्रह्मास्त्र द्वारा मार डालना चाहा परन्तु कृष्ण ने उसे बचा लिया।

(४) 'अजर.......मर्‌यो'--नमुचि नामक दैत्य ने ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि मैं न तो ठोस पदार्थ से मारा जाऊँ और न तरल पदार्थ से। अर्थात् वह किसी भी अस्त्र या शस्त्र से नहीं मर सकता था। देवासुर संग्राम के समय जब इन्द्र उसे वज्र से भी मारने में असमर्थ रहा तो आकाशवाणी हुई कि इसकी मृत्यु समुद्र के फेन (झाग) से होगी। झाग न तो ठोस रहता है क्योंकि उसमें असंख्य छेद होते हैं और न तरल ही होता है। अर्थात् वह ठोस और तरल के बीच की वस्तु है। तब नमुचि का फेन से वध भी हो गया और ब्रह्मा का वरदान भी असत्य नहीं हुआ।

(५) 'अजामिल' वेश्यागामी,—ब्राह्मणों के कर्म न करने वाला, नीच व्यक्ति था।

(६) 'सुरपति'—सम्भवतः सारे देवताओं में इन्द्र से अधिक कुढ़ने वाला, दुराचारी और सदा पिटते रहने वाला दूसरा देवता नहीं मिल सकता। इसने अहिल्या के साथ धोखा देकर संभोग किया था। इसके ऐसे पाप-कर्मों की कथाओं से हमारे पुराण भरे पड़े हैं। परन्तु भगवान् ने इसकी सदैव रक्षा और सहायता की थी।

(७) 'गनिका और कामदेव'—वेश्या पिंगला लोगों को आकर्षित कर वेश्या-गमन करने के लिए बाध्य करती थी और कामदेव सबके मन को काम से उद्वेलित कर उन्हें रात-दिन काम-वासना की ज्वाला में जलाया करता था। परन्तु भगवान् ने पिंगला को स्वर्ग प्रदान किया और कामदेव को अपने हृदय में स्थान दिया। कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न कामदेव का अवतार माना जाता था।

(८) इसी पद के भाव से मिलता-जुलता सूर का भी एक पद है, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जाको मनमोहन अंग कर्‌यो।
ताको केस खस्यो नहिं सिर तें जो जग बैर पर्‌यो।।—आदि

[२४०]

सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि, राम ! तुम रीझे ।
गनिका, गीध, बधिक हरिपुर गये, लै करसी प्रयाग कब सीझे ।। १ ।।
कबहुँ न डग्यो निगम-मग तें पग, नृग जग जानि जिते दुख पाये ।
गजधौं कौन दिछित जाके सुमिरत, लै सुनाभ बाहन तजि धाये ।। २ ।।
सुर मुनि बिप्र बिहाय बड़े कुल, गोकुल जनम गोपगृह लीन्हों ।
बाँयो दियो बिभव कुरुपति को, भोजन जाइ बिदुर-घर कीन्हों ।। ३ ।।
मानत भलहि भलो भगतनि तें, कछुक रीति पारथहिं जनाई ।
तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई ।। ४ ।।

शब्दार्थ—सुकृती=पुण्य कर्म करने वाला । सुचि=पवित्र । करसी=कंडे की आग । सीझे=जले । जिते=जितने । दिछित=दीक्षित । सुनाभ=सुदर्शन चक्र । बाहन=सवारी । बिहाय=छोड़कर । बाँयो दियो=छोड़ दिया । कुरुपति=दुर्योधन । पारथहिं=पार्थ, अर्जुन को ।

भावार्थ—हे राम ! जिस पर तुम प्रसन्न हो जाते हो वही सच्चा पुण्यात्मा और पवित्रात्मा है । गणिका (वेश्या पिंगला), गिद्ध (जटायु), वधिक (वाल्मीकि) को तुम अपने लोक (वैकुण्ठ) में ले गये । इन्होंने कण्डों की आग में अपने को कब जलाया था ? अर्थात् कण्डों की आग के बीच में बैठ पंचाग्नि तप करते हुए कब अपने प्राण दिये थे ? (फिर भी तुमने इन्हें तार दिया था ।) जो राजा नृग वेदों द्वारा निर्धारित धर्म मार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ था, उसे संसार में जितने भी प्रकार के दुख हो सकते हैं, सभी भोगने पड़े थे । अर्थात् उस जैसे धर्मात्मा को भी भयंकर दुख उठाने पड़े थे । गजराज ऐसा कौन-सा दीक्षित था अर्थात् उसने किस गुरु से दीक्षा लेकर तुम्हारा भजन किया था, परन्तु उसके द्वारा स्मरण किये जाते ही तुम अपने वाहन (सवारी) गरुड़ को छोड़, सुदर्शन चक्र ले पैदल ही उसकी सहायता करने दौड़े आये थे ।

तुमने देवता, मुनि, ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ कुलों को त्यागकर गोकुल में गोप नन्द के घर जन्म लिया था । और कौरवराज दुर्योधन के वैभव की उपेक्षा कर बिदुर के घर जाकर भोजन किया था । (इसका रहस्य यह है कि) भगवान् को अपने भक्तों का साथ ही अच्छा लगता है । उन्होंने अपनी इस रीति की थोड़ी-सी जानकारी अर्जुन को करायी थी । अर्थात् अर्जुन का सारथि बन, उन्हें गीता का उपदेश दे, पथभ्रष्ट होने से बचाया था और सब तरह से उनकी सहायता की थी । तुलसीदास कहते हैं कि राम स्नेह द्वारा सहज ही वश में हो जाते हैं । (राम के प्रेम के अतिरिक्त) अन्य सारे साधन (जप, तप, योग, यज्ञ आदि) जल की चिकनाई के समान हैं; अर्थात् क्षणिक शान्ति प्रदान करने वाले हैं । (जैसे शरीर पर जल डालने से या पीने से थोड़ी देर तक चैन मिल जाता है परन्तु फिर गर्मी और प्यास सताने लगती है,

इसी प्रकार अन्य साधनों से पूर्ण तृप्ति न होकर क्षणिक शान्ति ही मिलती है। परन्तु राम से प्रेम करने से मानव पूर्ण तृप्त, सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है।)

टिप्पणी—(१) 'वाँयो·······कीन्हों'—विदुर दासी-पुत्र होते हुए भी महान् नीतिज्ञ थे। उनकी विदुर-नीति प्रसिद्ध है। एक बार दुर्योधन ने कृष्ण को अपने यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण दिया परन्तु कृष्ण उसके यहाँ न जाकर विदुर के घर पहुँच गये और उनकी पत्नी से भोजन माँगा। निर्धन विदुर-पत्नी ने घर में जो कुछ साग-पात था वही बड़े प्रेम और श्रद्धा सहित कृष्ण के सम्मुख रख दिया। कृष्ण बड़े प्रेम से खाने लगे। इसी बीच विदुर-पत्नी ने प्रेमावेश में भूल से छिलके का गूदा तो फेंक दिया और छिलका कृष्ण को दे दिया। कृष्ण उसे भी बड़े प्रेम के साथ खा गये।

(२) इस पद में भी पिछले पद का भाव दुहराया गया है।

(३) इसी भाव से मिलता-जुलता सूरदास का भी एक पद मिलता है, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> **जापै दीनानाथ ढरै।**
> **सोइ कुलीन, बड़ो सुन्दर सोइ, जा पर कृपा करै॥**

(४) 'करसी' से अभिप्राय जंगली कण्डों की अग्नि से है। साधक अपने चारों ओर कण्डों की अग्नि जलाकर बीच में बैठ तपस्या करते हैं। इस क्रिया को 'पंचाग्नि तप' कहते हैं। साधक की चार दिशाओं में कण्डों की अग्नि रहती है और ऊपर सूर्य तपता रहता है। इस प्रकार पाँच तरफ से अग्नि का ताप सहता हुआ साधक तपस्या करता रहता है।

[२४१]

तब तुम मोहू से सठनि को हठि गति देते।
कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पामर, सुनि सादर आगे ह्वै लेते॥१॥
पाप-खानि जिय जानि अजामिल जमगन तमकि तये ताको भे ते।
लियो छुड़ाइ, चले कर मीजत, पीसत दाँत गये रिस-रेते॥२॥
गोतम-तिय, गज, गीध, बिटप, कपि हैं नाथहिं नीके मालुम जेते।
तिन्ह तिन्ह काजनि साधु-सभा तजि कृपासिंधु तब-तब उठिगे ते॥३॥
अजहुँ अधिक आदर यहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहिं केते।
मेरे पासंगहु न पूजिहैं, ह्वै गये, हैं, होने खल जेते॥४॥
हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मो पै परिहास एते॥५॥

शब्दार्थ—सठनि=दुष्टों। तये=तप्त किया, कष्ट दिया। तमकि=क्रुद्ध होकर। भे=भय। ते=उसे। रिस-रेते=क्रोध में भरकर। नीके=अच्छे। जेते=जितने। गेते=गये थे। केते=कितने। पूजिहैं=बराबर होंगे। होने=भविष्य में होंगे। रावरे=तुम। पूतरो बाँधिहै=पुतला बनाकर निन्दा करूँगा। परिहास=हँसी, मजाक। एते=इतने।

भावार्थ—हे राम! (यदि तुमने अन्य दुष्टों को गति दी है) तो तुम मुझ जैसे दुष्ट को भी अवश्य गति देते; अर्थात् उद्धार कर देते। किसी भी पापी ने जब कभी किसी भी प्रकार से अर्थात् 'भाव, कुभाव, अनख आलसहू' तुम्हारा नाम लिया, तो तुमने उठकर सम्मान के साथ उसका स्वागत कर उसे अपना लिया। अजामिल को पाप की खान अर्थात् भयङ्कर पापी जानकर जब यम के गण क्रुद्ध हो उसे सताने लगे तब तुमने अजामिल को उनके हाथों से छुड़ा लिया था और यम के गण हाथ मलते, क्रोध में भर दाँत पीसते खाली हाथ लौट गये थे।

गौतम की पत्नी अहिल्या, गजराज, गिद्ध जटायु, वृक्ष यमलार्जुन और बन्दर आदि कितने भले थे, हे नाथ! इसे तुम जानते हो। अर्थात् तुम जानते थे कि ये सब जड़, नीच, पापी और मूर्ख थे। परन्तु जब-जब इनके ऊपर संकट पड़े, तुम साधुओं के समाज को उसी समय त्याग तुरन्त उठ खड़े हुए थे (और इनकी सहायता कर इनका उद्धार किया था)। भाव यह है कि तुम इनका कष्ट क्षण भर भी सहन न कर तुरन्त इनकी सहायता करने दौड़ पड़े थे। आज भी इस द्वार पर अर्थात् तुम्हारे यहाँ पापियों का अधिक आदर होता है और न जाने कितने पापी पवित्र हो जाते हैं। परन्तु ये सारे पापी मिलकर भी मेरे पासंग बराबर भी नहीं बैठेंगे। अर्थात् मैं सबसे भयङ्कर और बड़ा पापी हूँ। इस संसार में जितने भी पापी हो चुके हैं, आज भी हैं और जो भविष्य में होंगे—वे सब मिलकर भी पाप के क्षेत्र में मेरी तुलना में नगण्य होंगे।

हे नाथ! मैं अब तक बैठा-बैठा तुम्हारी करतूतों को देखता रहा था परन्तु तुम (मेरे इतने पुकारने पर भी) नहीं चेते। अर्थात् तुमने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया और न मेरा उद्धार ही किया। अब तो यह तुलसीदास तुम्हारा पुतला बनायेगा (और तुम्हारी खूब बदनामी करेगा)। अब मुझसे अपना इतना उपहास (मजाक) नहीं सहा जाता। भाव यह है कि संसार यह कह-कहकर मेरा मजाक उड़ाता है कि यह तुलसी राम का भक्त बनता है और फिर भी इतने कष्ट उठा रहा है। यह सच्चा भक्त न होकर ढोंगी है। सच्चा भक्त होता सो इतने दुख न उठाता क्योंकि राम अपने भक्त को कभी दुखी नहीं देख सकते।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने बड़े व्यंग्य भरे शब्दों में, झुँझला कर राम को धमकी दी है कि यदि तुमने मेरा उद्धार नहीं किया तो मैं चारों तरफ तुम्हारी यह बदनामी करता फिरूँगा कि राम को जो 'पतित-पावन', 'दीन-उद्धारक' आदि

माना जाता है वह सब झूठ है। तुलसी की इस झुँझलाहट में अनन्यता की भावना चरम सीमा पर पहुँची दिखाई देती है। राम के प्रति उनका अगाध विश्वास है। झुँझलाहट उसी विश्वास के कारण है।

(२) 'पुतला बाँधना'—पहले यह प्रथा थी कि कन्जूस आदि की बदनामी करने के लिए लोग उसका पुतला बनाकर उसे मारते थे, अपमानित करते थे और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उसे चारों ओर बदनाम कर देते थे। आजकल भी इस पद्धति को अपनाया जाता है। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया था तो क्रुद्ध भारतीय जनता ने चीनी नेता माओ और चाऊ के पुतले जलाकर अपना रोष और विरोध प्रकट किया था।

इस पद में पुतला बनाना, राम को सूम (कन्जूस) कहने का प्रतीक है। इसके द्वारा तुलसी ने अलौकिक स्नेह के कारण उपालम्भ दिया है। उपालम्भ स्नेह को और भी अधिक मधुर और प्रगाढ़ बना देता है। इसी कारण विरह में उपालम्भ का महत्त्व माना गया है। सूर की गोपियों ने भी कृष्ण को खूब उपालम्भ दिये थे।

[२४२]

तुम सम दीनबन्धु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई।
मो सम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि न हरन कुटिलाई॥ १॥
हौं मन बचन करम पातक-रत, तुम कृपालु पतितन-गतिदाई।
हौं अनाथ प्रभु, तुम अनाथ हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई॥ २॥
हौं आरत, आरति-नासक तुम, कीरति निगम पुरानन्नि गाई।
हौं सभीत, तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई॥ ३॥
तुम सुखधाम राम स्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध स्रम पाई।
यह जिय जानि दासतुलसी कहँ, राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥ ४॥

शब्दार्थ—मौलमनि=शिरोमणि। हरन=हरने वाला, दूर करने वाला। पातक-रत=पाप में लिप्त। गतिदाई=गति देने वाले, उद्धार करने वाले। हित=हितैषी। सुरति=याद, स्मृति। निगम=वेद। कवन=किस। स्रम=परिश्रम, दुख।

भावार्थ—हे राजा! सुनो! इस संसार में तुम्हारे समान दीनों का बन्धु और मेरे समान दीन कोई भी दूसरा नहीं है। मेरे समान दुष्टों का शिरोमणि (सब से बड़ा दुष्ट) और तुम्हारे समान दुष्टता का विनाश करने वाला और कोई भी नहीं है। मैं मन, वचन और कर्म से सदैव पाप करने में लिप्त रहता हूँ और हे कृपालु! तुम पापियों को मोक्ष देते रहते हो। हे प्रभु! मैं अनाथ हूँ और तुम अनाथों के हितैषी हो—यह बात मेरे मन से कभी दूर नहीं होती।

मैं दुखी हूँ और तुम दुखों को दूर करने वाले हो, तुम्हारी इस कीर्त्ति का गान वेद और पुराण कर रहे हैं। मैं (सांसारिक बन्धनों के) भय से भयभीत हूँ और तुम सभी प्रकार के भयों को दूर करने वाले हो। फिर भी हे नाथ ! तुम किस कारणवश मुझ पर कृपा करना भूल गये हो। हे राम ! तुम सुख के धाम और दुखों को नष्ट करने वाले हो और मैं अत्यधिक दुखी हूँ और तीनों प्रकार के दुखों—दैहिक, दैविक, भौतिक—से पीड़ित हो रहा हूँ। इसलिए अपने मन में मेरी इस विषम, दीन दशा को जानकर मुझे अपनी प्रभुता (सम्पन्नता, वैभव और शक्ति) को समझ अपनी शरण में रख लो। भाव यह है तुम अपनी सामर्थ्य को देख लो कि मुझ जैसे भयङ्कर पापी का उद्धार कर सकोगे या नहीं, यह सोचकर अपनी शरण में रख लो। यदि असमर्थ हो तो इन्कार कर दो।

टिप्पणी—'समुझि प्रभुताई'—ये शब्द बड़े सारगर्भित हैं। यहाँ तुलसी पिछले पद के समान राम को मधुर उपालम्भ दे रहे हैं। राम अपनी औकात को पहले देख लें कि तुलसी जैसे पापी का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे अथवा नहीं, तब उसे शरण में रखें अन्यथा नहीं। उपालम्भ की यह पद्धति इतनी मार्मिक और कौशलपूर्ण है कि दास्य-भाव को हटाकर सूर के सख्य-भाव (सखा भाव की भक्ति करना) की याद दिला देती है। इसे ढीठ और मुँह लगे भृत्य का भी भाव माना जा सकता है।

[२४३]

यहै जानि चरनन्हि चित लायो।
नाहिन नाथ अकारन को हितु, तुम समान पुरान स्रुति गायो॥ १॥
जननि, जनक, सुत, दार, बंधुजन भये बहुत जहँ-जहँ हौं जायो।
सब स्वारथहित प्रीति कपट चित, काहू नहि हरिभजन सिखायो॥ २॥
सुर, मुनि, मनुज, दनुज, अहि, किन्नर मैं तनुधरि सिर काहि न नायो।
जरत फिरत त्रयताप-पापबस, काहु न हरि, करि कृपा जुड़ायो॥ ३॥
जतन अनेक किये सुख-कारन, हरिपद-बिमुख सदा दुख पायो।
अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत बिपति-जाल जग छायो॥ ४॥
मो कहँ नाथ ! बूझिये यह गति सुख-निधान निजपति बिसरायो।
अब तजि रोष करहु करुना हरि, तुलसिदास सरनागत आयो॥ ५॥

शब्दार्थ—अकारन=विना कारण, निःस्वार्थ। दार=दारा, पत्नी। जायो= उत्पन्न हुआ। अहि=नाग, सर्प। काहि=किसे। जुड़ायो=शान्त किया, बचाया। बुझिये=समझ लो।

भावार्थ—हे नाथ ! मैंने यही जानकर तुम्हारे चरणों में मन लगाया कि

तुम्हारे समान बिना स्वार्थ के दूसरों का हित करने वाला और कोई भी नहीं है। पुराण और वेद तुम्हारी इस कीर्ति का गान करते हैं। भाव यह है कि अन्य सारे देवी-देवता स्वार्थवश ही दूसरों का हित करते हैं परन्तु केवल तुम ही बिना किसी स्वार्थ के सबका कल्याण करने वाले हो। जहाँ-जहाँ मैंने जन्म लिया अर्थात् जिस-जिस योनि में मैंने जन्म धारण किया वहाँ-वहाँ मेरे माता, पिता, पुत्र, स्त्री तथा अनेक बन्धु-बान्धव थे परन्तु वे सब स्वार्थ के कारण ही ऊपर से प्रेम दिखाते थे और मन में कपट रखते थे। इनमें से किसी ने भी मुझे भगवान का भजन करना नहीं सिखाया। अर्थात् सब ने मुझे संसार में फँसे रहने को ही उकसाया।

मैंने शरीर धारण कर अर्थात् जन्म लेकर देवता, मुनि, मनुष्य, दैत्य, नाग, किन्नर आदि किसको सिर नहीं नवाया। अर्थात् मैं इन सबकी सेवा और खुशामद करता रहा। परन्तु फिर भी मैं अपने पापों के कारण तीनों प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक, भौतिक—से जलता, छटपटाता फिरता रहा। हे हरि ! परन्तु इनमें से किसी ने भी मेरे ऊपर कृपा कर मुझे इन तापों की जलन से मुक्त कर शान्ति नहीं प्रदान की। मैंने अपने सुख के लिए अनेक प्रकार के यत्न किये परन्तु भगवान के चरणों से विमुख होने के कारण सदैव दुःख उठाता रहा। परन्तु अब मैं इस संसार की विपत्तियों (जरा, मरण आदि) को अपने सिर पर छाया हुआ देखकर उसी प्रकार थक गया हूँ, हताश हो गया हूँ जिस प्रकार नाव बिना जल के निष्क्रिय हो अचल पड़ी रहती है। अर्थात् अब तो मेरा उद्धार तुम्हारी भक्ति रूपी जल प्राप्त होने से ही होगा, तभी मेरी जीवन रूपी यही नाव आगे बढ़ सकेगी।

हे नाथ ! यह समझ लो कि मेरी यह दशा इसी कारण हो रही है कि मैंने अपने स्वामी, सुख के भण्डार (भगवान) को भुला दिया था। इसलिए हे हरि ! अब क्रोध त्यागकर मुझ पर दया करो। यह तुलसीदास तुम्हारी शरण में आया है।

[२४४]

याहि तें मैं हरि ! ग्यान गँवायो।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहिं, बाहर फिरत बिकल भयो धायो ॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन भरम नहीं पायो।
खोजत गिरि, तरु लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ धौं आयो ॥२॥
ज्यौं सर बिमल बारि परिपूरन ऊपर कछु सिवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजिहौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ॥३॥
ब्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन, तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपनेहिं धाम नाम सुरतरु तजि बिषय-बबूर-बाग मन लायो ॥४॥
तुम-सम ग्यान-निधान, मोहिं सम मूढ़ न आन पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो ॥५॥

शब्दार्थ—बाहर=जगत के कर्म, विषय। मरम=मर्म, भेद। कुरंग=हरिण। सिवार=काई।

भावार्थ—हे हरि! इसी कारण मैंने अपने ज्ञान को खो दिया अर्थात् अज्ञान में पड़ गया कि मैं अपने हृदय रूपी कमल में सदैव स्थित रहने वाले राम को त्यागकर सांसारिक विषय-वासनाओं के पीछे व्याकुल हो भागता फिरता रहा। अर्थात् मैंने भगवान का भजन न कर विषय-वासनाओं में मन लगाया जिससे शान्ति न मिल सदैव अशान्ति ही मिलती है। (मेरी स्थिति उसी प्रकार की थी) जिस प्रकार हरिण अत्यन्त मूर्ख होने के कारण अपने ही शरीर (नाभि) में स्थित (कस्तूरी की) मादक गन्ध के भेद को न समझ, उस गन्ध को कहीं अन्य स्थान से आता समझ उसकी खोज में पर्वत, वृक्ष, लता, पृथ्वी, बिल (छेद) आदि में ढूँढ़ता फिरता है कि यह गन्ध कहाँ से आ रही है।

जिस प्रकार निर्मल जल से भर हुए तालाब के ऊपर थोड़ी सी काई और पत्ते आदि छाकर उस जल को अपने नीचे ढक लेते हैं और प्यासा व्यक्ति यह समझ कर कि इसमें जल नहीं है, प्यास के मारे उसे छोड़ अन्यत्र भटकता फिरता है उसी प्रकार मैं मूर्ख अपने हृदय पर विषय-वासनाओं के कारण छायी अशान्ति और व्याकुलता के कारण अपने हृदय में ही स्थित भगवान के सच्चे स्वरूप को न समझकर विषय-वासनाओं में ही तृप्ति पाने का प्रयत्न करता रहा और अपने हृदय को जलाता रहा। एक तो मेरा शरीर त्रिविध ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) के कारण वैसे ही जला जा रहा है, ऊपर से असह्य दरिद्रता मुझे और भी अधिक सता रही है। मैंने अपने ही हृदय में स्थित राम नाम रूपी कल्पवृक्ष को त्याग विषय-वासनाओं रूपी बबूल के बाग में मन लगाया है। अर्थात् मैं कल्पवृक्ष के समान सम्पूर्ण सुख प्रदान करने वाले राम-नाम को त्याग बबूल के काँटों के समान भयंकर दुख देने वाली विषय-वासनाओं में अनुरक्त हो रहा हूँ।

हे राम! पुराण यह कह रहे हैं कि तुम्हारे समान ज्ञान का भण्डार (महान् ज्ञानी) और मेरे समान मूर्ख कोई भी दूसरा नहीं है। तुलसीदास कहता है कि हे नाथ! यही सोचकर वही करो जो तुम्हारे मन को अच्छा लगे।

टिप्पणी—'ज्यों कुरंग……आयो'—कबीर ने भी यही बात कही है—

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर-फिर ढूँढ़ै घास।।

[२४५]

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो। धोखा देना
याके लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो।।१।।

सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस, बृथहि मंदमति बारि बिलोयो ॥२॥
करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिर बिकल अकास निचोयो ॥३॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछु नहिं गोयो।
डासत ही गई बीति निसा सब, कइहूँ न नाथ ! नींद भरि सोयो ॥४॥

शब्दार्थ—बिगोयो=बिगाड़ा, भ्रमित किया, भटकाया। स्रम=परिश्रम। बिलोयो=मंथन किया, मथा। मलहि=मल से ही। तृषावंत=प्यासा। निचोयो=निचोड़ा। गोयो=छिपाया। डासत=बिस्तर बिछाते ही।

भावार्थ—हे करुणामय ! सुनो ! इस मूर्ख मन ने मुझे खूब भटकाया है। मैं इस संसार में बार-बार नाना योनियों में जन्म लेकर अपना दुखड़ा रोता रहा हूँ अर्थात् अनेक पाप कर्म करके दुख भोगता रहा हूँ। अमृत के समान शीतल और मधुर सहज सुख अर्थात् आत्मानन्द को, जो मेरे निकट ही अर्थात् हृदय में ही स्थित हैं, मैंने इस प्रकार खो दिया मानो वह कहीं बहुत दूर हो। अर्थात् मन के ही कारण मैं अपने हृदय में स्थित भगवान को भूल गया और मूर्ख बन मोह के वश में पड़कर नाना प्रकार के परिश्रम करता रहा। इस परिश्रम का परिणाम वैसा ही व्यर्थ निकला जिस प्रकार पानी को मथकर घी प्राप्त करने का सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। भाव यह है कि मैंने सुख पाने के लिए विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए भयंकर परिश्रम किया परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। मैं आत्मानन्द नहीं प्राप्त कर सका। क्योंकि (आत्मानन्द तो भगवद्भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, विषय-वासनाओं द्वारा नहीं।)

मैं मन में यह जानता था कि कर्म कीचड़ के समान है (जिसमें फँसकर प्राणी का उद्धार नहीं होता), परन्तु फिर भी अपने मन को मैंने कर्मों में ही लगाये रखा अर्थात् नाना प्रकार के कर्म करता रहा। मैं सोचता था कि कर्म करके मैं कर्मजाल से मुक्ति पा पाऊँगा परन्तु मेरा यह प्रयत्न ऐसा ही व्यर्थ रहा जैसे गन्दगी द्वारा ही गन्दगी को धोकर साफ करने की कोशिश करना। अर्थात् मैं कर्मजाल में (विषय-वासनाओं की पूर्ति के प्रयत्नों में) अधिकाधिक फँसता चला गया। (क्योंकि कर्म करके कर्मजाल से मुक्ति पाना असम्भव है। यह तो राम की भक्ति से ही सम्भव है।) मेरा यह प्रयत्न उसी प्रकार व्यर्थ रहा जैसे कोई मूर्ख प्यासा गंगा को छोड़कर बार-बार प्यास से व्याकुल हो आकाश को निचोड़ने जैसे असम्भव प्रयत्न करता रहे। भाव यह है कि सांसारिक विषय-वासनाओं के पीछे दौड़ने से कभी मन को शान्ति नहीं मिल पाती। हे प्रभु ! अब मुझ तुलसीदास पर कृपा करो। मैंने अपना कोई भी दोष तुमसे नहीं छिपाया है। हे नाथ ! मेरी सारी रात तो बिस्तर बिछाते ही बीत गयी, मैं कभी नींद भरकर नहीं सो पाया अर्थात् गहरी नींद नहीं सो पाया। भाव यह है कि सुख

पाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करते-करते मेरा सारा जीवन बीत गया परन्तु मुझे कभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ जिससे जन्म-जन्मांतरों में भटकने की मेरी थकान दूर हो आत्मानन्द प्राप्त होता। वह आत्मानन्द तो केवल राम की कृपा से ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने सकाम अर्थात् विषयासक्त कर्म का खण्डन किया है, निष्काम कर्म का नहीं।

(२) 'मलहि मल धोयो'—हृदय को विषय-वासन द्वारा धोकर शुद्ध करने का प्रयत्न करना। हृदय का अज्ञान रूपी मल रामभक्ति द्वारा ही धोया जा सकता है, जैसे—

रामभक्ति जल बिनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई॥

(३) मन द्वारा जीव को नाना नाच नचाने की बात कबीर ने भी कही है—

बाजीगर का बाँदरा, ऐसा जिउ मन साथ।
नाना नाच नचाइ कै, राखै अपने हाथ॥

[२४६]

लोक बेद बिदित बात सुनि समुझि,
मोह-मोहित बिकल मति थिति न लहति।
छोटे बड़े, खोटे खरे, मोटेऊ दूबरे,
राम, रावरे निबाहे सबही की निबहति॥१॥
होती जो आपने बस रहती एक ही रस,
दुनी न हरष सोक साँसति सहति।
चाहतो जो जोई-जोई लहतो सो सोई-सोई,
केहू भाँति काहू की न लालसा रहति॥२॥
करम काल सुभाउ गुन-दोष जीव जग माया तें
सो सभय भौंह चकति चहति।
ईसनि, दिगीसनि, जोगीसनि, मुनिसनि हूँ,
छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति॥३॥
सतरंज को सो राज, काठ को सबै समाज,
महाराज बाजी रची प्रथम न हति।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ!
बहु वेष बहु मुख सारदा कहति॥४॥

शब्दार्थ—थिति=स्थिति, स्थिरता, शान्ति । दूबरे=दुबले । दुनी=दुनिया । तें=से, के कारण । दिगीसनि=दिक्पाल, दिशाओं के स्वामी । जोगीसनि=योगीश्वरों । राज=राज्य । हति=थी ।

भावार्थ—संसार में और वेदों में भी यह बात प्रसिद्ध है कि हे राम ! छोटे या बड़े, खोटे या खरे, मोटे या दुर्बल सब की तुम्हारे निभाने से ही निभती है । मेरी बुद्धि इस बात को सुन और समझ कर भी मोह के वश में पड़ी सदैव व्याकुल बनी रहती है और कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाती । अर्थात् सब कुछ जानते-बूझते हुए भी विषय वासनाओं के मोह में पड़ी दुख उठाती रहती है । जो यह बुद्धि मानव के अपने ही वश में रहती तो (अपनी चंचलता त्याग) सदैव एकरस अर्थात् स्थिर बनी रहती और फिर संसार के हर्ष-विषाद आदि का दुख न भोगती । जो व्यक्ति जिस-जिस वस्तु की कामना करता वही-वही वस्तु प्राप्त कर लेता । इस प्रकार किसी भी तरह से किसी के मन में कोई अभिलाषा ही नहीं रह जाती । अर्थात् सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से सब निष्काम हो जाते हैं ।

(परन्तु बात ऐसी है नहीं क्योंकि) जीव के सारे कर्म, काल, स्वभाव, गुण और दोष सब माया के ही कारण हैं । अर्थात् इन्हें बनाने वाली माया ही है । और ऐसी वह माया भयभीत हो सदैव चकित दृष्टि से राम की भृकुटियों को देखा करती है अर्थात् राम के रूप को पहचानने का प्रयत्न करती रहती है कि राम प्रसन्न हैं अथवा अप्रसन्न । भाव यह है कि मानव का संचालन करने वाली माया भगवान् राम की दासी है । वह माया शिव तथा (इन्द्र आदि आठ) दिक्पालों (दिशाओं के स्वामियों), (मार्कण्डेय आदि) योगीश्वरों तथा (वशिष्ठ आदि) मुनीश्वरों को तुम्हारे छुड़ाने से छोड़ देती है और पकड़ाने से पकड़ लेती है । अर्थात् ऐसे-ऐसे महान् देवता, योगी, मुनि आदि भी इस माया के इशारे पर नाचा करते हैं और ऐसी शक्तिमान यह माया तुम्हारे इशारे पर नाचती रहती है ।

परन्तु इस माया का यह सारा राज्य शतरंज का सा राज्य है जिसमें सारा सामान (राजा, वजीर, हाथी, घोड़े, ऊँट, पैदल आदि) काठ का होता है । अर्थात् यह संसार शतरंज की बाजी के समान झूठा है, असार, इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है, माया जैसे चाहती है वैसे इसका संचालन करती है । हे महाराज ! ऐसा यह माया का साम्राज्य (संसार) तुमने ही रचा है । पहले यह नहीं था । (तुलसीदास कहते हैं कि) हे प्रभु ! अब (शतरंज की इस बाजी में) हराना-जिताना तुम्हारे ही हाथ है । अर्थात् तुम चाहोगे तो माया को हटक कर मुझे जिता दोगे और नहीं तो माया से पीछा छुड़ाना मेरे लिए असम्भव ही रहेगा । इस बात को सरस्वती अनेक वेशों और अनेक मुखों द्वारा कह चुकी हैं । भाव यह है कि वेद, पुराण, शास्त्र आदि के रूप में सरस्वती ने विभिन्न ज्ञानियों, ऋषियों, मुनियों तथा विद्वानों द्वारा यही बात कही है ।

टिप्पणी—इस पद में माया को संसार की संचालिका परन्तु भगवान् की दासी कहा गया है। माया ही भगवान् के संकेत पर अपना जाल फैलाती है। इसलिए माया के इस जाल से मुक्ति केवल भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर ही हो सकती है।

'मानस' में तुलसी ने माया के इसी विश्वव्यापी रूप का वर्णन किया है—

उमा दास-जोषित की नाईं सबै नचावत राम गोसाईं ॥

[२४७]

राम जपु, जीह ! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
रामनाम जपे जैहै जिय की जरनि।
रामनाम सों रहनि, रामनाम की कहनि,
कुटिल-कलि-मल-सोक-संकट-हरनि ॥ १ ॥
रामनाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराव कही आपनी करनि।
भव-सागर को सेतु, कासी हूँ सुगति हेतु,
जपत सादर सम्भु सहित घरनि ॥ २ ॥
बालमीकि व्याध हे अगाध-अपराध निधि,
मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि
रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिन्धु घटजहुँ नाम बल,
हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि ॥ ३ ॥
नाम-महिमा अपार सेष सुक बार-बार,
मति-अनुसार बुध बेदहूँ बरनि।
नामरति-कामधेनु तुलसी को कामतरु,
रामनाम है विमोह-तिमिर - तरनि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—प्रतीति=विश्वास। जैहै=दूर हो जायेगी। कहनि=कहना, गुण कथन करना। गनराउ=गणपति, गणेश। दुराव=छिपाव। हेतु=कारण। घरनि=स्त्री, पार्वती। अमरनि=देवताओं ने। घटजहुँ=अगस्त्य ऋषि ने। भूसुर=भूदेव, ब्राह्मण। बुध=बुद्धिमान, विद्वान्।

हे जीभ ! तू राम-नाम का जाप कर, (राम-नाम के महत्त्व को) अच्छी तरह से समझ और प्रेम के साथ उसमें विश्वास रख। राम का नाम जपने से तेरे हृदय की जलन (अशान्ति) दूर हो जायेगी। तू राम-नाम की ही शरण में रह और सदैव राम-नाम की महिमा का ही कीर्त्तन किया कर जो कुटिल कलियुग के पापों,

संकटों और दुखों को दूर करने वाली है। इस रामनाम का प्रभाव ऐसा है कि गणपति गणेश (लोगों द्वारा कोई भी शुभ कर्म करते समय सदैव पहले) पूजे जाते हैं। गणेश ने अपनी सारी करनी राम को सुना दी थी, कुछ भी छिपाव नहीं रखा था। यह रामनाम संसार-सागर को पार करने के लिए पुल के समान है। शिव अपनी पत्नी पार्वती के साथ, मोक्ष प्राप्त करने के लिए काशी में रहते हुए भी सदैव आदर सहित इसी रामनाम का जाप करते रहते हैं।

महर्षि वाल्मीकि व्याध और अपराधों के अथाह सागर अर्थात् भयंकर पापी थे परन्तु वह भी (राम का उल्टा नाम) 'मरा-मरा' जपते-जपते इतने महान् बन गये कि देवताओं और मुनियों तक ने उनकी पूजा की। अगस्त्य मुनि ने इसी नाम के बल पर विन्ध्याचल को आगे बढ़ने से रोका और सारे समुद्र को सोख लिया। समुद्र उन्हीं ब्राह्मण अगस्त्य के भय के मारे मन में हताश हो खारा हो गया। ऐसे इस राम-नाम की महिमा अपार है। शेषनाग, शुकदेव, विद्वानों और वेदों ने बार-बार अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इसी का वर्णन किया है। तुलसीदास के लिए राम-नाम से प्रेम करना कामधेनु और कल्पवृक्ष के समान सारी मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाला है और मोह के अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान तेजस्वी है।

टिप्पणी—(१) 'पूजियत गनराउ'— 'पद्मपुराण' में इस सम्बन्ध की कथा इस प्रकार मिलती है :—

एक बार गणेश अपने ऐश्वर्य में मतवाले हो ऋषि-मुनियों के आश्रमों का विध्वंस कर अनेक प्रकार के ऊधम मचाने लगे। शिव अपने पुत्र के इस आचरण से बड़े दुखी हुए और उन्होंने भगवान् का ध्यान किया। भगवान् के प्रकट होने पर शिव ने उनसे कुछ ऐसा उपाय करने की प्रार्थना की जिससे गणेश ठीक रास्ते पर भी आ जायँ और उनकी निन्दा भी न हो। भनवान् ने कहा कि गणेश को राम-नाम का जाप करने के लिए कहो। शिव की आज्ञा मानकर गणेश ने हजारों वर्ष तक समाधिस्थ हो राम का जाप किया और उसके प्रभाव से वे मंगलमूर्ति माने जाने लगे और देवताओं में सर्वप्रथम पूजनीय बन गये।

(२) 'रोक्यो बिन्ध्य'—पहले विन्ध्याचल बहुत ऊँचा था। जब सूर्य के ताप से उसके वृक्ष जलने लगे तो वह क्रोध में भर सूर्य को ढकने के लिए ऊपर बढ़ने लगा। सूर्य ढक गया। संसार में त्राहि-त्राहि मच गयी। देवताओं तथा दैत्यों ने अगस्त्य से आकर प्रार्थना की कि विन्ध्याचल का बढ़ना रोको। अगस्त्य ने राम-नाम लेकर विन्ध्याचल के ऊपर हाथ रखकर उसे नीचे झुका दिया और आज्ञा दी कि जब तक हम दक्षिण से लौटें, तब तक इसी प्रकार पड़ा रहे।

(३) 'सोख्यो सिन्धु'—एक बार अगस्त्य समुद्र के तट पर बैठे पूजा कर रहे थे। पूर्णिमा की रात होने से समुद्र में ज्वार उठ रहा था। समुद्र की लहरें अगस्त्य

की पूजा की सामग्री वहा ले गयीं। महर्षि ने क्रुद्ध हो राम-नाम लेकर तीन चुल्लुओं में सारा समुद्र पी डाला। फिर देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर उसे मूत्र के रूप में निकाल दिया। कहते हैं समुद्र तभी से खारा हो गया।

(४) 'कासी हूँ....सहित घरनि'—शिव काशी में रहते हैं जो मोक्ष देने वाली है। परन्तु शिव फिर भी मोक्ष के लिए वहाँ रहते हुए भी राम-नाम का पार्वती सहित जाप करते रहते हैं। शिव ने अव्यात्म रामायण में स्वयं कहा है—

अहो भवन्नाम् जपन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षुमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव रामनाम।।

अर्थात् हे राम ! मैं तुम्हारा नाम जपता हुआ पार्वती सहित काशी में रहता हूँ और मरते हुए प्राणी को मुक्ति के लिए तुम्हारा नाम जपने का उपदेश देता हूँ।

(५) प्रथम पंक्ति में आये 'जानि' शब्द से भाव यह है कि रामनाम स्मरण करने की सम्पूर्ण पद्धतियों को जानकर, उनका ज्ञान प्राप्त कर। ये पद्धतियाँ इस प्रकार मानी गयी हैं—

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा।

(६) तुलसी ने 'दोहावली' में कलियुग में राम-नाम को कल्पवृक्ष के समान माना है—

रामनाम किल काम-तरु, सकल सुमंगलकंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब, पग-पग परमानन्द।।
नाम-राम को कलपतरु, कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरन भयो भाँय तें, तुलसी तुलसीदास।।

[२४८]

पाहि पाहि राम ! पाहि, रामभद्र रामचंद्र
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबन्धु ! दीनता - दरिद्र - दाह - दोष - दुख-
दारुन - दुसह - दर - दरप - हरन।। १।।
जब जब जग-जाल-व्याकुल करम काल
सब खल भूप भये भूतल-भरन।
तब तब तनु धरि, भूमि-भार दूरि करि
थापे मुनि सुर साधु आस्रम बरन।। २।।
बेद लोक सब साखी काहू की रती न राखी,
रावन की बंदि लागे अमर मरन।
ओक दै बिसोक किये लोकपति लोकनाथ
रामराज भयो धरम चारिहु चरन।। ३।।

सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर,
ख्याल ही कृपालु कीन्हें तारन-तरन।
पील-उद्धरन सीलसिन्धु ढील देखियतु
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन ।।४।।

शब्दार्थ—पाहि—रक्षा करो। भद्र=कल्याण स्वरूप। दर=भय। दरप=दर्प, अभिमान। भूतल-भरन=पृथ्वी के भार! वरन=वर्णाश्रम। साखी=साक्षी, गवाह। रती=तेज, प्रतिष्ठा। बंदि=कैद। अमर=देवता। ओक=आश्रय। चारों चरन=धर्म के चार चरण माने गये हैं—सत्य, दया, तप, दान। सिला=पत्थर, अहिल्या से तात्पर्य है। गुह=निपादराज गुह। रातिचर=राक्षस। ख्याल ही=खेल ही खेल में, योंही। पील=फील, हाथी। गरन=गलना।

भावार्थ—हे राम! रक्षा करो रक्षा करो! हे कल्याण स्वरूप रामचन्द्र! रक्षा करो। मैं अपने कानों से तुम्हारा सुन्दर यश सुनकर ही तुम्हारी शरण में आया हूँ। हे दीनवन्धु! तुम दीनता, दरिद्रता, जलन, दोप, भयङ्कर असहनीय दुख, भय और दर्प (अभिमान) को दूर करने वाले हो। जब-जब इस संसार के जाल (माया, मोह, वासनादि के जाल) में पड़कर अपने कर्मों और काल के कारण व्याकुल हो सारे राजा दुष्ट और पृथ्वी का भार बन गये, अर्थात् जब-जब पृथ्वी का पालन करने वाले राजा, दुष्ट और पृथ्वी का भार (अन्यायी, अत्याचारी, अनाचारी) बन गये, तब-तब तुमने शरीर धारण किया अर्थात् अवतार लिया और पृथ्वी के भार (दुष्ट राजाओं) को दूर कर मुनि, देवता, साधु, चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास तथा चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की स्थापना की; अर्थात् रक्षा की। भाव यह है कि अन्याय का उन्मूलन कर न्याय और शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया।

वेद और संसार इस बात के साक्षी (गवाह) हैं कि जब रावण ने किसी की भी प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रहने दिया अर्थात् तीनों लोकों को पराजित कर सारे देवताओं और मनुष्यों का मान भंग कर दिया और अमर कहे जाने वाले देवता उसकी कैद में पड़े मरने लगे (रावण का पुत्र मेघनाद इन्द्र को वन्दी बना लाया था), उस समय हे राम! तुमने उन्हें शरण देकर उनके शोक को दूर किया और उन्हें पुनः अपने-अपने लोकों का स्वामी और राजा बना दिया (राम ने रावण का वध कर उसके बन्धन में पड़े इन्द्र, यमराज आदि लोकपतियों का उद्धार किया था) स्थापना की।

पाषाणी अहिल्या, निषादराज गुह, गिद्ध, जटायु, हनुमान, सुग्रीव आदि बन्दर जाम्ववान आदि भालू तथा विभीषण आदि राक्षसों को हे कृपालु! तुमने खेल-ही-खेल में अर्थात् चुटकी बजाते ही संसार से तार दिया और उन्हें दूसरों को तारने वाला

अर्थात् परम धर्मात्मा और पूज्य बना दिया हे गजराज का उद्धार करने वाले ! हे शील के सागर ! तुलसी पर ही तुम्हारी इतनी ढील देखकर (अर्थात् तुमने इन सब का तो उद्धार कर दिया और अब तुलसी की बारी आने पर इतनी सुस्ती, लापरवाही दिखा रहे हो) तुलसी ग्लानि (लज्जा) के मारे मर जाना चाहता है। अथवा तुलसी के बारे में इतनी ढील देखकर स्वयं ग्लानि भी (लज्जा के मारे) गल जाना चाहती है। भाव यह है कि तुलसी इतना बड़ा पापी है और तुमने बड़े-बड़े पापी तार दिये हैं परन्तु फिर भी तुम तुलसी का उद्धार नहीं कर रहे हो, तुलसी इसी लज्जा के मारे मरा जा रहा है क्योंकि संसार उसे राम का सेवक समझता है। ग्लानि का असली कारण यही है।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने अपनी व्याकुलता का प्रदर्शन किया है।

(२) 'जब-जब....बरन'—भगवान् कृष्ण ने गीता में यही बात कही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्॥
परित्राणय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

[२४६]

भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग
जूड़े होत थोरे ही, थोरे ही गरम।
प्रीति न प्रवीन, नीतिहीन, रीति के मलीन,
मायाधीन सब किये कालहू करम॥१॥
दानव दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चढ़े
जीते लोकनाथ नाथबल निभरम।
रीझि रीझि दिये बर खीझि खीझि घाले घर
आपने निवाजे की न काहू को सरम॥२॥
सेवा - सावधान तू सुजान समरथ साँचो
सदगुन-धाम राम पावन परम।
सुरुख सुमुख एखरस एकरूप तोहि
बिदित बिसेषि घटघट के मरम॥३॥
तोसों नतपाल न कृपाल, न कँगाल मो सो
दया में बसत देव सकल धरम।
राम कामतरु-छाँह चाहै रुचि मन माँह
तुलसी बिकल बलि कलि कुधरम॥४॥

शब्दार्थ—साहिब=स्वामी, मालिक। जूड़े=शीतल, प्रसन्न। प्रवीन=प्रवीण, कुशल। मायाधीश=माया के वश में। मूड़ चढ़े=सिर पर चढ़ गये, उद्दंड हो उठे। निभरम=निश्शंक, निर्भय। घाले=नष्ट किये। निवाजे=शरणागत। सुरुख=अच्छा रुख, कृपादृष्टि। विसेषि=विशेष रूप से। मरम=भेद, रहस्य। नतपाल=दीनों का पालन करने वाला। चाहै=चाहता है।

भावार्थ—तुलसीदास कहते हैं कि इस संसार में जितने भी स्वामी (देवी, देवता, राजा आदि) हैं उन सब को मैंने खूब अच्छी तरह से जान और पहचान लिया है। वे थोड़े में ही प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े में ही क्रोध से भर जाते हैं, अर्थात् थोड़ी सी ही सेवा से प्रसन्न हो उठते हैं, और जरा सा अपराध होने पर ही गुस्से से लाल-ताते हो जाते हैं। ये स्वामी न तो प्रेम का निर्वाह करने में कुशल हैं और न नीति (न्याय) की बातें ही जानते हैं; इन सबकी रीतियाँ अर्थात् चलन बहुत ही गन्दे हैं। ये सब माया के वश में पड़े हुए हैं और काल (परिस्थितियाँ) तथा कर्म के बन्धनों में उलझ कर्म-कुकर्म करते रहते हैं। भाव यह है कि ये सब स्वामी लोग माया, काल और कर्म के बन्धनों में स्वयं तो विवश पड़े हुए हैं और फिर भी स्वामी बनने का दम्भ करते हैं।

अपने ऐसे ही स्वामियों के बल पर (शिव, ब्रह्मा आदि स्वामियों) दानव और दैत्य जो महामूर्ख थे, सिर पर चढ़ गये थे, उद्दण्ड हो उठे थे। उन्होंने अपने इन स्वामियों के बल का भरोसा कर निश्शंक हो (इन्द्र, यम, कुबेर) आदि लोकपतियों को जीत लिया था। (रावण ने इन सबको पराजित कर अपने अधीन कर लिया था।) परन्तु इनके ये स्वामी ऐसे थे कि पहले तो खूब प्रसन्न होकर इन्हें खूब वरदान दिये और फिर जब अपने इन सेवकों (रावण आदि) पर नाराज हो उठे तो खीझ-खीझ कर इनके घरों को बरबाद कर डाला। इनमें से किसी को भी अपने ही शरणागतों (भक्तों) का विनाश करते हुए जरा भी लज्जा नहीं आयी (कि अपने ही भक्तों का विनाश करवा रहे हैं)। भाव यह है कि शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं ने रावण, हिरण्यकशिपु आदि दैत्य-दानवों को पहले तो वरदान दे-देकर अजेय बना दिया और फिर जब इनके अत्याचारों से संसार व्याकुल हो उठा तो भगवान् विष्णु से स्वयं ही प्रार्थना कर इनका वध करवा डाला। अर्थात् ये सब स्वार्थी और अस्थिर बुद्धि वाले स्वामी हैं।

हे राम! तुम किसी के द्वारा अपनी सेवा की जाती देखकर तुरन्त सावधान हो जाते हो अर्थात् हर तरह से अपने सेवक का ध्यान रखते हो। हे राम! तुम परम चतुर, सच्चे सामर्थ्यवान, सद्गुणों के भण्डार, परम, पवित्र, सब पर कृपादृष्टि रखने वाले, सुन्दर, सदा एकरस रहने वाले, तथा एक रूप हो। तुम घट-घट के अर्थात् प्रत्येक प्राणी के रहस्य को विशेष रूप से जानते हो। अर्थात् सर्वान्तर्यामी हो। तुमसे किसी का भी कोई रहस्य नहीं छिपा है।

हे कृपालु! तुम्हारे समान दीनों का पालन करने वाला और मेरे समान

कंगाल (दीन) कोई भी दूसरा नहीं है। हे देव ! दया में ही सब धर्म वसते हैं अर्थात् दया ही सारे धर्मों का मूल है। हे राम ! मेरे मन में कल्पवृक्ष की छाया के समान सारे सुख देने वाली तुम्हारी शरण में आने की लालसा है। तुलसी तुम्हारी बलैया लेता है। वह कलियुग के अधर्मों के कारण व्याकुल हो रहा है। (अतः दया कर उसकी रक्षा करो।)

टिप्पणी—इस पद में शिव, ब्रह्मा आदि की तुलना में राम की महानता और स्थिर स्वभाव का प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

[२५०]

तौ हौं बार-बार प्रभुहिं पुकारिकै खिझावतो न
जो पै मोको होतो कहुँ ठाकुर ठहरु।
आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले-पोसे,
राजा मेरे राजाराम, अवध सहरु॥१॥
सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस, गौरी,
हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु।
रामनाम ही सों जोग छेम, नेम प्रेम-पन,
सुधा सो भरोसो एहु, दूसरो जहरु॥२॥
समाचार साथ के अनाथ-नाथ ! कासों कहौं।
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु।
निज काज, सुरकाज, आरत के काज राज,
बूझिये बिलंब कहा कहूँ न गहरु॥३॥
रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों,
डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु।
कहैही बनैगी, कै कहाये, बलि जाउँ, राम,
तुलसी ! तू मेरो हारि हिये न हहरु॥४॥

शब्दार्थ—ठहरु=ठौर, स्थान। ठाकुर=स्वामी। सहरु=शहर, रहने का स्थान। दिगीस=दिक्पाल, दिशाओं के स्वामी, कुबेर, वरुण आदि। विधि=ब्रह्मा। हरिउ=विष्णु भी। हरु=हर, शिव। जोग-छेम=योग-क्षेम, प्राप्ति और रक्षा। पहरु=चौकीदार। गहरु=विलम्ब, देर। कहरु=अकाल, अन्याय। हहरु=व्याकुल।

भावार्थ—हे प्रभु ! यदि मुझे कोई दूसरा स्वामी और दूसरा स्थान (रहने के लिए) मिल जाता तो मैं तुम्हें बार-बार पुकार-पुकार कर नाराज नहीं करता।

हे कृपालु ! तुमने मुझ जैसे आलसी और अभागों को पाला-पोसा है। हे राजाराम ! तुम्हीं मेरे राजा (स्वामी) और अयोध्या ही मेरे रहने के लिए शहर है। भाव यह है कि मैं तुम्हीं को अपना राजा और अयोध्या को ही अपना निवासस्थान मानता हूँ। मैंने न दिक्पालों (वरुण, कुबेर आदि) की सेवा की, न सूर्य, गणेश, पार्वती की प्रेम सहित सेवा की और न ब्रह्मा, विष्णु और शिव की ही श्रद्धापूर्वक आराधना की। मेरा तो सारा योगक्षेम (प्राप्ति और रक्षा) एक रामनाम से ही है, अर्थात् मैं केवल रामनाम को ही प्राप्त कर उसे सदैव अपने हृदय में सुरक्षित रखना चाहता हूँ। मेरा नियम तुम्हारे प्रेम की प्रतिज्ञा ही है। अर्थात् तुम्हारे नाम से प्रेम करने की प्रतिज्ञा का पालन करना ही मैंने अपना नियम (कर्त्तव्य) बना लिया है। मुझे तुम्हारे नाम का वैसा ही दृढ़ भरोसा है जैसे अमृत से भरोसा होता है कि वह अजर-अमर बना देगा। अन्य सारे साधन मेरे लिए विष के समान हैं।

हे अनाथों के नाथ ! मैं अपने साथियों के समाचार किससे कहूँ। मेरे ये सारे साथी जो चोर और चौकीदार—दोनों ही हैं, तुम्हारे ही हाथ में हैं; अर्थात् तुम्हारी आज्ञानुसार ही कार्य करते हैं। भाव यह है कि काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि चोर हैं, जो मेरे साथ लगे रहते हैं। ये मेरे रामनाम रूपी रत्न को चुराने की ताक में बैठे रहते हैं। विवेक, वैराग्य, सन्तोष आदि मेरे चौकीदार हैं। ये उस रत्न की रक्षा करने में सन्नद्ध रहते हैं। तुम चोरों को डाँट दो और चौकीदारों को सजग कर दो। अर्थात् मेरी कुवासनाओं का विनाश कर विवेक आदि सद्प्रवृत्तियों को जाग्रत कर दो। तुमने अपने काम (धर्म की रक्षा), देवताओं का काम (असुरों का वध), दुखियों के काम (उनकी रक्षा और मुक्ति) में कभी देर नहीं लगायी। अब मेरी बारी आने पर इतनी देर क्यों हो रही है ? अर्थात् मेरी रक्षा और उद्धार करने में तुम इतनी देर क्यों लगा रहे हो ? जरा इस पर विचार तो करो कि इसका क्या कारण है।

तुम्हारी रीति (पतितों का उद्धार करना) को सुनकर ही मैंने तुम पर विश्वास कर तुमसे प्रेम किया है। मैं कलियुग के भयंकर अत्याचारों को देखकर भयभीत हो रहा हूँ। हे राम ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। अब तो स्वयं तुम्हारे यह कहने से, या किसी दूसरे (हनुमान आदि) द्वारा यह कहलाने से ही कि—'तुलसी ! तू मेरा है; हृदय में निराश और व्याकुल मत हो।' मेरी बन जायेगी अर्थात् मैं कलियुग से भय से मुक्त हो जाऊँगा, क्योंकि जब कलियुग यह जान लेगा कि मैं तुम्हारा हूँ तो वह तुम्हारे भय से त्रस्त हो मुझे सताना छोड़ देगा।

टिप्पणी—इस पद में राम के प्रति तुलसी की अनन्यता की ओर संकेत है। साथ ही राम का सामीप्य प्राप्त करना और राम उन्हें अपना लें, यह उद्देश्य है।

[२५१]

राम, रावरो सुभाव, गुन सील महिमा प्रभाव,
जान्यो हर हनुमान लखन भरत।

जिन्हके हिये-सुथल राम-प्रेम-सुरतरु,
लसत सरस सुख फूलत फरत ।।१।।
आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ पति,
ते सनेह-सावधान रहत डरत ।
साहिब-सेवक-रीति प्रीति-परिमिति नीति,
नेम को निबाह एक टेक न टरत ।।२।।
सुक सनकादि प्रहलाद नारदादि कहैं,
राम की भगति बड़ी बिरति-निरत ।
जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ ! पगनि परत ।।३।।
छ-मत बिमत, न पुरान मत, एक मत,
नेति नेति नेति नित निगम करत ।
औरनि की कहा चली ? एकै बात भलै भली,
राम-नाम लिये तुलसी हूँ से तरत ।।४।।

शब्दार्थ—सुथल=सुन्दर थामला । सुरतरु=कल्पवृक्ष । लसत=शोभायमान । सुभाइ=अच्छा स्वभाव । परिमिति=सीमा, रीति, नियम । बिरति-निरत=विषयों से विरक्ति में तत्पर होने से । जाने=ज्ञान । जानिबो=ज्ञान प्राप्त करना । पगनि=चरणों पर । परत=गिरते हैं । छ-मत=छः शास्त्र । विमत=परस्पर भिन्न-भिन्न । निगम=वेद । नीति=नहीं है ।

भावार्थ—हे राम ! तुम्हारे स्वभाव, गुण और शील की महिमा और प्रभाव को शिव, हनुमान, लक्ष्मण और भरत जानते हैं, जिनके हृदय रूपी सुन्दर थामलों (थाला) में राम का प्रेम रूपी कल्पवृक्ष शोभायमान रहता है और जिसमें सुख रूपी सरस फूल और फल लगते हैं । अर्थात् ये सब रातदिन राम के प्रेम में निमग्न रहते हैं और सदैव सुख प्राप्त करते रहते हैं । तुमने अपने शील-स्वभाव के कारण शिव को स्वामी, हनुमान को मित्र (सखा) और लक्ष्मण-भरत को अपना भाई माना है । परन्तु ये सब तुमको अपना स्वामी ही मान तुम्हारे प्रेम में सदैव सावधान रहते हैं अर्थात् सदैव तुम्हारे प्रेम में डूबे रहते हैं और तुमसे डरते भी रहते हैं (कि कहीं उनसे कोई भूल-चूक न हो जाय) । यदि इसी रीति (पद्धति) से स्वामी और सेवक परस्पर प्रेम करते रहें, प्रेम की यर्मादा का नीतिपूर्वक पालन करते रहें (कोई भी अपनी सीमा का अतिक्रमण न करे) तो प्रेम के नियम का यह निर्वाह सदैव दृढ़ रहता है, उसमें कभी व्याघात नहीं पड़ता । अर्थात् अन्त तक प्रेम का निर्वाह होता चला जाता है । भाव यह है कि यदि स्वामी गण राम के समान अपने

सेवकों का सम्मान करें और सेवक गण कभी शिव, हनुमान, लक्ष्मण, भरत आदि के समान अपनी सीमा से वाहर न जायँ, स्वामी के सिर पर न चढ़ें तो इस पारस्परिक प्रेम का अन्त तक सुचारु रूप से निर्वाह होता रहता है।

शुकदेव, सनक-सनन्दन, प्रह्लाद और नारद आदि कहते हैं कि राम की भक्ति विषयों से विरक्ति रखने में तत्पर होने से ही प्राप्त होती है। सांसारिक विषयों के प्रति पूर्णतः विरक्त हो जाने पर ही राम की भक्ति मिलती है और ज्ञान के बिना भक्ति नहीं हो सकती, तथा इस ज्ञान का उत्पन्न होना, हे नाथ ! तुम्हारे ही हाथ में है। अर्थात् तुम्हीं सबको ज्ञान प्रदान करते हो। इसी रहस्य को समझकर हे नाथ ! चतुर मनुष्य तुम्हारे चरणों पर गिरते हैं। भाव यह है कि वैराग्य के बिना सांसारिक विषयों से आसक्ति दूर नहीं होती, वैराग्य विना ज्ञान के नहीं होता, ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती और ज्ञान भगवान की बिना कृपा हुए उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण सब लोग भगवान की कृपा प्राप्त करने का ही प्रयत्न करते रहते हैं, क्योंकि यही कृपा सब की—वैराग्य, ज्ञान, भक्ति—मूल है। इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

छः शास्त्रों (सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक) का ईश्वर-विषयक मत पर परस्पर भिन्न है, अर्थात् सब अलग-अलग बातें कहते हैं और विभिन्न पुराणों का भी एक मत नहीं है, वेद भी नित्य 'नेति-नेति' (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) कहा करते हैं। अर्थात् शास्त्र, पुराण और वेद ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं करा पाते। उनके मत परस्पर भिन्न हैं। जब इनकी यह स्थिति है तो अन्य मतों के विषय में तो कहना ही व्यर्थ है। तुलसीदास कहते हैं कि मुझे तो एक ही बात अच्छी लगी है कि राम-नाम लेने से तुलसी जैसे (नीच, पापी) भी तर जाते हैं। भाव यह है कि उपर्युक्त सभी मत-मतान्तर भ्रम में डालने वाले हैं। केवल रामनाम ही सर्वश्रेष्ठ और मुक्तिदाता है।

टिप्पणी—(१) राम शिव के प्रति पूज्य भाव रखते थे। उन्होंने 'मानस' में स्वयं कहा है—

'औरौ एक गुपुत मत, सबहि कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावै मोर॥'

(२) 'जानिबो हाथ तिहारे'—'मानस' में भी यही बात कही गयी है—

'सो जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि ह्वै जाई॥'

[२५२]

बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई।
लालची लबार की सुधारिये बारक, बलि,
रावरी भलाई सबही की भली भई॥१॥

रोगबस तनु, कुमनोरथ मलिन मन,
पर-अपवाद मिथ्या-बाद बानी हुई ।
साधन की ऐसी विधि, साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥२॥
पतित-पावन, हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबंधु दई ।
इन्ह में न एकौ भयो, बूझि न जूझ्यो न जयो,
ताहिते त्रिताप-तयो लुनियत बई ॥३॥
स्वाँग सूधो साधु को, कुचालि कलि तें अधिक,
परलोक फीकी मति लोक-रंग-रई ।
बड़े कुसमाज राज आजुलौं जो पाये दिन,
महाराज ! केहू भाँति नाम-ओट लई ॥४॥
रामनाम को प्रताप जानियत नीके आप,
मोको गति दूसरी न बिधि निरमई ।
खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥५॥

शब्दार्थ—घनी=बहुत । घटि गई=कम हो गई, बिगड़ गई । लबार=झूठा । बारक=एक बार । भली भई=सुधर गई । मिथ्यावाद=वितंडावाद, कुतर्क । बानी=वाणी । हई=नष्ट हो गई । दई=दैव, दयालु । जयो=जीता, विजयी हुआ । तयो=जला, तप्त हुआ । लुनियत=काटता । बई=बोया । रई=रंग गई, रम गई । ओट=सहारा, आड़ । निरमई=बनाई । निलजई=निर्लज्जता ।

भावार्थ—हे पिता ! मेरे अपने ही कर्मों से मेरी बात बहुत अधिक बिगड़ गई है । हे राम ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, एक बार मुझ जैसे लालची और झूठे की (बिगड़ी) बात सुधार दो, क्योंकि तुम्हारी भलाई (भलाई करने के स्वभाव) के कारण ही सबकी बात सुधर गयी है । अर्थात् आज मुझ पर भी कृपा कर मेरी बिगड़ी बात बना दो । मेरा शरीर रोगों से जकड़ा हुआ है, बुरी-बुरी इच्छाएँ रखने के कारण मन मलिन हो रहा है, दूसरों की निन्दा और वितंडावाद (कुतर्क) करते रहने के कारण वाणी नष्ट हो गयी है और (राजभक्ति पाने के) साधनों की विधियाँ ऐसी (कठिन) हैं (कि मुझसे हो नहीं पातीं) और बिना साधनों के सिद्धि नहीं मिलती । अब तो हे कृपानिधि ! एक तुम्हारी कृपा होने पर ही मैं संसार में मुँह दिखाने लायक हो सकता हूँ । भाव यह कि न तो मुझ से कर्म-काण्ड की साधना हो सकती है, न ज्ञान प्राप्त

कर सकता हूँ और न तुम्हारा भजन ही होता है। अब तो केवल तुम्हारी कृपा का ही एकमात्र भरोसा है।

तुम पतित-पावन हो, दुखी और अनाथों के रक्षक हो, निराधार के आधार हो और दीनों के बन्धु तथा सब पर कृपा करने वाले हो। परन्तु मैं इनमें से एक भी नहीं बन सका। (फिर तुम मुझ पर कृपा क्यों करने लगे ?) न मैंने संसार को समझा अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया, न (क्रोध, काम आदि कुवासनाओं से) युद्ध किया और न कभी (इन पर) विजय ही प्राप्त कर सका। अर्थात् मैंने अपनी इन कुवासनाओं को रोकने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। इसी कारण मैं तीनों प्रकार के तापों--दैहिक, दैविक और भौतिक—से दग्ध हो रहा हूं। मैंने जैसा बोया था वैसा ही काट रहा हूँ अर्थात् जैसे कर्म किये हैं उन्हीं के अनुसार फल भोग रहा हूं। मैंने अपना स्वाँग (ढोंग) तो सरल-सच्चे साधुओं का सा बना रखा है, परन्तु हूं मैं कलियुग से भी अधिक दुराचारी और पापी। मुझे परलोक (परमार्थ, ज्ञान, वैराग्य आदि) की बातें फीकी (नीरस) लगती हैं अर्थात् उनमें मेरा मन नहीं रमता। मेरी बुद्धि तो सदैव संसार के रंग में ही रँगी रहती है; अर्थात् मैं सांसारिक विषयों में ही सदैव अनुरक्त बना रहता हूँ। हे महाराज ! आज तक मैंने कुसंगति में रहते हुए जितने दिन व्यतीत किये, वे सब व्यर्थ हो गये। इसलिए अब अन्त में मैंने किसी प्रकार तुम्हारे नाम की शरण ली है।

तुम रामनाम के प्रताप को तो खूब अच्छी तरह से जानते ही हो। मेरे लिए विधाता ने इस नाम के अतिरिक्त और कोई भी रास्ता नहीं बनाय है। अर्थात् मैं इसी के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकूँगा, इसका मुझे विश्वास है। मैंने ऐसे करोड़ों कर्म किये हैं जिनके कारण तुम्हें मुझ पर क्रोध आना चाहिए परन्तु मुझ में एक ही विशेषता ऐसी है जिसे देखकर तुम मुझ पर प्रसन्न हो सकते हो, और वह है मेरी निर्लज्जता। भाव यह है कि तुम्हें मुझ जैसा निर्लज्ज कोई भी दूसरा नहीं मिलेगा जो सब तरह से अयोग्य, अपात्र होने पर भी तुम्हारे पीछे यह प्रार्थना करता हुआ हाथ धोकर पड़ा हुआ है कि मेरा उद्धार कर दो।

टिप्पणी—अन्तिम दो पंक्तियों में अनन्यता की ओर संकेत है।

[२५३]

राम राखिये सरन, राखि आये सब दिन।
बिदित त्रिलोक तिहुँ काल न दयालु दूजो,
आरत-प्रनत-पाल को है प्रभु बिन ? ॥१॥
लाले-पाले, पोषे-तोषे आलसी अभागी अघी,
नाथ पै अनाथनि सों भये न उरिन।

स्वामी समरथ ऐसो हौं तिहारो जैसो-तैसो,
काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ॥२॥
खीझि रीझि बिहँस अनख क्यौं हूँ एक बार,
'तुलसी तू मेरो', बलि, कहियत किन ?
जाहि सूल निरमूल, होंहि सुख अनुकूल,
महाराज ! राम ! रावरी सौं तेहि छिन ॥३॥

शब्दार्थ—राखि आए=रखते आये हो । तोषे=सन्तुष्ट किया । अघी=पापी । उरिन=उऋण । घिन=घृणा । अनख=क्रोध । किन=क्यों नहीं । सूल=दुख । सौं=सौगन्ध ।

भावार्थ—हे राम ! तुम मुझे अपनी शरण में रख लो क्योंकि तुम तो सदा से ही (सारे दीनों, पापियों को) अपनी शरण में रखते आये हो, उन्हें शरण देते रहे हो । यह बात प्रसिद्ध है कि तीनों लोकों में और तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में तुम्हारे समान दयालु और दुखी तथा शरणागतों का पालन करने वाला और कोई भी दूसरा स्वामी नहीं है । हे नाथ ! तुमने असंख्य आलसियों, भाग्यहीनों और पापियों का लालन-पालन किया, उन्हें हर तरह से सन्तुष्ट किया परन्तु फिर भी तुमने अनाथों से उऋण नहीं हो सके । ऐसे हे समर्थ स्वामी ! मैं जैसा भी हूँ, तुम्हारा ही हूँ । इस कलियुग की कुचालों को देख-देखकर मेरे मन में इसके प्रति बड़ी घृणा उत्पन्न हो रही है (क्योंकि यह मुझे तुम्हारे चरणों से दूर करने का प्रयत्न करता रहता है) ।

हे राम ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ । तुम खीझ कर, रीझ कर, हँस कर या क्रुद्ध होकर किसी भी प्रकार से सही, एक बार यह क्यों नहीं कह देते कि—'हे तुलसी ! तू मेरा है ।' तुम्हारे इतना कह देने से ही मेरा सारा दुःख जड़ से दूर हो जायेगा और सुख मेरे अनुकूल हो उठेंगे अर्थात् मैं सब तरह से सुखी बन जाऊँगा । हे महाराज ! हे राम ! मैं तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि तुम्हारे इतना कहते ही उसी क्षण मेरे दुःख दूर हो जायेंगे और मैं सुखी हो जाऊँगा ।

[२५४]

राम, रावरो नाम मेरो मातु-पितु है ।
सुजन, सनेही, गुरु, साहिब, सखा, सुहृद,
राम-नाम-प्रेम-पन अबिचल बितु है ॥ १ ॥
सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि,
लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है ।

नाम को भरोसो बल, चारिहूँ फल को फल,
सुमिरिये छाँड़ि छल, भलो क्रतु है ।। २ ।।
स्वारथ-साधक, परमारथ दायक नाम,
राम नाम सारिखो न और दूजो हितु है ।
तुलसी सुभाव कही, साँचिये परैगी सही,
सीतानाथ-नाम नित चितहूँ को चितु है ।। ३ ।।

शब्दार्थ—सुहृद=मित्र । वितु=वित्त, धन । दधिनिधि=दही का समुद्र । वामदेव=शिव । क्रतु=कर्म, यज्ञ । सारिखो=समान । चितु=चैतन्य ।

भावार्थ—हे राम ! तुम्हारा नाम ही मेरा माता, पिता, स्वजन, स्नेही, गुरु स्वामी, सखा और मित्र है । राम-नाम से प्रेम रखने का मेरा प्रण ही मेरा शाश्वत धन है । अर्थात् अन्य प्रकार के धन तो खर्च करने से कम हो जाते हैं परन्तु यह राम-नाम रूपी धन ऐसा है जो कभी समाप्त या कम नहीं होता । तुम्हारे सैकड़ों करोड़ अपार चरित्रों रूपी दही के समुद्र को मथकर शिव ने राम-नाम रूपी यह घृत निकाला है । अर्थात् तुम्हारे अपार चरित्रों का सार यह 'राम-नाम' का भरोसा और बल चारों फलों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का भी फल है । अर्थात् उक्त चारों फलों का सार (तत्त्व) है । कपट त्याग निष्कपट भाव से इसका स्मरण करने से अधिक श्रेष्ठ कोई भी दूसरा यज्ञ नहीं है ।

यह रामनाम स्वार्थ का साधक अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक सुख देने वाला तथा मोक्ष (परमार्थ) प्रदान करने वाला है । अर्थात् राम-नाम लेने से लोक और परलोक दोनों बन जाते हैं । रामनाम के समान कल्याण करने वाला और कोई भी दूसरा नहीं है । तुलसी ने तो यह बात सहज-स्वभाव से कही है अर्थात् तुलसी का इस बात में सहज रूप से ही पूर्ण विश्वास है, इसलिए यह सचमुच ही सत्य प्रमाणित होगी, क्योंकि निष्कपट भाव से कही गई बात सदैव सत्य होती है । सीतापति राम का नाम चित्त के लिए भी चित्त अर्थात् चैतन्य को भी चैतन्य बनाने वाला है । अर्थात् ज्ञानियों को भी अधिक चेतना देने वाला है । भाव यह है कि यह परमार्थ स्वरूप और जीव का उद्धार करने वाला है ।

टिप्पणी—(१) ऐसे पद इस बात के प्रमाण हैं कि तुलसी ने राम से भी अधिक रामनाम को महत्त्व दिया है । तुलसी का इस रामनाम की अनन्यता में सहज विश्वास है । उन्होंने अन्यत्र भी यही भाव व्यक्त करते हुए कहा है—

राम-नाम पर राम तें, प्रीति प्रतीति भरोस ।
सो तुलसी सुमिरत सकल, सगुन-सुमंगल कोस ।।
राम-नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस ।
बरषत बारिद बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास ।।

(२) 'सतकोटि''''घृतु है'—कहा जाता है कि वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखी और लेकर शिव को सुनाने कैलाश पर्वत पहुँचे। इस समाचार को सुन सारे देवता भी वहाँ आ एकत्र हुए। रामायण की कथा एक वर्ष में समाप्त हुई। अन्त में देवताओं ने शिव से प्रार्थना की कि इसमें से हमें भी कुछ भाग मिले तो हम तीनों लोकों में उसका प्रचार करें। शिव ने प्रसन्न होकर ३३ करोड़, ३३ लाख, ३३ हजार ३३३ श्लोक और १० अक्षर ब्रह्मादि देवताओं को दिये जिन्हें वे स्वर्ग ले गये। इतने ही शेषनाग को दिये जिन्हें वह पाताल लोक ले गये। इतने ही मुनियों को दिये जो सात द्वीप और नौ खंडों में बँट गये। अब शिव के पास केवल दो अक्षर 'रा' और 'म' रह गये। इसके तीन भाग नहीं हो सकते थे सो शिव ने इन्हें अपने हृदय में धारण कर लिया। भाव यह निकला कि सम्पूर्ण रामायण का तत्त्व केवल एक 'राम' नाम में ही समाहित है।

[२५५]

राम ! रावरो नाम साधु-सुरतरु है।
सुमिरे त्रिबिध घाम हरत, पूरत काम
सकल-सुकृत-सरसिज को सरु है॥ १॥
लाभहु को लाभ, सुख हू को सुख सरबस,
पतित-पावन, डरहू को डरु है।
नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को, राव हू को,
सुलभ, सुखद अपनो सो घरु है॥ २॥
बेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम चारिफल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबौ सोई नर खरु है॥ ३॥
नाम सो न मातु पितु मीत हित बंधु गुरु,
साहिब सुधी सुसील-सुधाकरु है।
नाम सों निबाह नेह, दीन को दयालु देहु,
दासतुलसी को, बलि, बड़ो बरु है॥ ४॥

शब्दार्थ—घाम=ताप। काम=कामना। सुकृत=पुण्य। सरसिज=कमल। सरु=सरोवर, तालाब। डरु=भय। पुरारि=शिव। फरु=फल। खरु=खर, गधा। सुधी=ज्ञानी। सुधाकरु=चन्द्रमा। बरु=बल, वरदान।

भावार्थ—हे राम ! साधु सन्तों के लिए तुम्हारा नाम कल्पवृक्ष के समान

अर्थात् सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी करने वाला है। इसका स्मरण करने से तीनों प्रकार के ताप—दैहिक, दैविक, भौतिक—दूर हो जाते हैं और सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। यह समस्त पुण्यरूपी कमलों का सरोवर है अर्थात् समस्त पुण्य इसमें उसी प्रकार समाये रहते हैं जिस प्रकार सरोवर में अनेक कमल खिले रहते हैं। यह लाभ का भी लाभ, सुख का भी सुख और सर्वस्व है अर्थात् इससे पूर्ण लाभ और सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। यह पतितों को पवित्र करने वाला और भय को भी भयभीत कर देने वाला है। अर्थात् इससे जीव सम्पूर्ण प्रकार के भयों से मुक्त हो पूर्ण निर्भय हो जाता है। यह नीच, उच्च, कंगाल, राजा आदि सभी को सुलभ होता है अर्थात् सभी इसका जाप कर सकते हैं। यह अपने घर के समान सब को सुख देने वाला है।

वेदों ने, पुराणों ने, शिव ने भी पुकार-पुकार कर कहा है कि राम-नाम से प्रेम करना चारों फलों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का भी फल है अर्थात् इन सबका सार रूप है। भाव यह है कि इन चारों फलों से व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त होता है वह सब एक राम-नाम लेने से ही प्राप्त हो जाता है। जो व्यक्ति ऐसे रामनाम से प्रेम नहीं करता, उसमें विश्वास नहीं रखता, मेरी समझ में वह मनुष्य गधे के समान मूर्ख, आलसी और नीच है। माता, पिता, मित्र, हितैषी, बन्धु, गुरु, स्वामी आदि कोई भी इस नाम के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह नाम बुद्धि स्वरूप, शीलवान और चन्द्रमा के समान सबको शान्ति प्रदान करने वाला है। हे दयालु ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। तुम अपने दास इस तुलसी को ऐसा बल दो जिससे यह दीन तुम्हारे नाम के साथ अपना प्रेम निभा सके। अर्थात् निर्विघ्न हो तुम्हारे नाम का जाप करता रहे। अथवा यदि तुलसी को आपका इतना सा वरदान मिल जाये तो उसके लिए यही बड़ा अर्थात् सबसे बड़ा वरदान सिद्ध होगा।

टिप्पणी—(१) 'सोई नर खरु है'—भागवत में भी राम-विमुख नर को खर कहा गया है—

यथा खरश्चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य।
तथाहि विप्रा षट्शास्त्रयुक्ताः मद्भक्तिहीनाः खरवद्वहन्ति ॥

(२) 'बरु' का अर्थ 'बल' तथा 'वरदान' दोनों ही माना जा सकता है।

[२५६]

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत।
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो,
काल की करम की कुसाँसति सहत ॥१॥
करत विचार सार पैयत न कहूँ कछु,
सकल बड़ाई सब कहाँ तें लहत ?

नाथ की महिमा सुनि समुझि आपनी ओर,
हेरि हारि कै हहरि हृदय दहत ॥२॥
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप
माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तौं थोरी ही है सुधरैगी बिगरियो,
बलि, राम रावरी सौं, रही रावरी चहत ॥३॥

शब्दार्थ—कुसाँसति=भयंकर कष्ट। सार=भेद, रहस्य। लहत=प्राप्त करते हैं। हहरि=व्याकुल हो। दहत=जलता हूँ। सौं=सौगन्ध।

भावार्थ—हे राम! कहे बिना रहा भी नहीं जाता और कहने से रस नहीं रहता अर्थात् सारा मजा किरकिरा हो जाता है। बात यह है कि तुम्हारे जैसे अच्छे स्वामी की शरण पाकर भी तुम्हारा यह सेवक—चाहे वह बुरा हो या भला—काल और कर्म के भयंकर कष्ट सह रहा है। (कष्ट के कारण मैं अपने को कहने से रोक भी नहीं पाता और कह देने से स्वामी-सेवक के पवित्र भाव और सम्बन्ध में व्याघात पड़ता है। इसी दुविधा में पड़ा मैं यह बात कह रहा हूँ।) मैं इस बात पर काफी सोच-विचार करता हूँ (कि राम का सेवक होते हुए भी मुझे इतना कष्ट क्यों भोगना पड़ रहा है) परन्तु इसका कुछ भी रहस्य (कारण) समझ में नहीं आता कि अन्य सारे लोग इतनी बड़ाई कहाँ से प्राप्त कर सके। अर्थात् अजामिल आदि नीच इतनी बड़ाई (भक्त होने की) कहाँ और कैसे प्राप्त कर सके, जबकि मुझे तो बराबर कष्ट ही सहने पड़ रहे हैं। हे नाथ! मैं तुम्हारी महिमा सुन और समझ कर जब अपनी ओर देखता हूँ तो व्याकुल हो हृदय में निराश हो उठता हूँ और कुढ़ने लगता हूँ (कि भगवान न जाने क्यों मेरा उद्धार नहीं करते) अवश्य इसमें कोई-न-कोई रहस्य की बात है।

हे प्रभु! न मेरा कोई सखा है, न कोई सच्चा सेवक है, न सच्ची पतिव्रता स्त्री है। मेरे सच्चे माता-पिता तो केवल तुम्हीं हो। यह बात मैं, तुलसी सत्य कह रहा हूँ। (मुझे चिन्ता सिर्फ इस बात की है कि) मेरी तो थोड़ी सी ही है सो कभी-न-कभी सुधर ही जायेगी परन्तु हे राम! मैं तुम्हारी बलैया ले, तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं यह चाहता हूँ कि तुम्हारी बनी रहे। भाव यह है कि मेरी बात तो थोड़ी बिगड़ी है सो सुधर ही जायेगी परन्तु तुम्हारी बात न बिगड़ने पाये। कोई यह न कहने पाये कि भगवान का यह यश झूठा है कि वह पतित-पावन, दीन-उद्धारक, कृपानिधान आदि हैं। इसलिए इस बदनामी से बचने की एक ही तरकीब है कि मेरा उद्धार कर दो वर्ना तुम्हारी बदनामी हो जायेगी, इसमें सन्देह नहीं।

टिप्पणी—इस पद में तुलसी फिर राम को मीठी धमकी दे रहे हैं कि मेरा उद्धार करो, नहीं तो तुम्हारी बदनामी हो जायेगी।

[२५६]

दीनबंधु दूरि किये दीन को न दूसरी सरन।
आपको भले हैं सब, आपने को कोऊ कहूँ,
सब को भलो है, राम! रावरो चरन ।।१।।
पाहन पसु पतंग कोल भील निसिचर
काँच ते कृपानिधान किये सुबरन।
दंडक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई
उकठे बिटप लागे फूलन फरन ।।२।।
पतित-पाबन नाम, बाम हू दाहिनो, देव
दुनी न दुसह-दुख-दूषन-दरन।
सीलसिंधु तोसों ऊँची नीचियौ कहत सोभा
तोसों तुही तुलसी को आरति-हरन ।।३।।

शब्दार्थ—आपको=अपने लिए। आपने को=अपने सेवक की। पाहन=पत्थर। पतंग=पक्षी। पुहुमि=पृथ्वी। उकठे=सूखे, उखड़े। विटप=वृक्ष। बाम विमुख। दाहिनो=अनुकूल। दुनी=दुनिया। दरन=दलन, नष्ट करने वाला। आरति-हरन=दुख दूर करने वाले।

भावार्थ—हे दीनवन्धु! यदि तुम मुझ दीन को अपनी शरण से दूर कर दोगे तो मुझे फिर और कहीं भी शरण नहीं मिलेगी क्योंकि इस संसार में अपने लिए तो सभी भले हैं परन्तु अपने सेवकों की भलाई चाहने और करने वाले भूले-भटके कहीं एकाध ही मिलते हैं। परन्तु हे राम! तुम्हारे चरण ही केवल ऐसे हैं जो सबकी भलाई चाहने और करने वाले हैं। हे कृपानिधान! तुमने पत्थर (अहिल्या) पशु (गजराज), पक्षी (जटायु), कोल-भील (शबरी, केवट) और राक्षस (विभीषण) आदि सभी को काँच से स्वर्ण बना दिया था। अर्थात् पहले ये काँच के समान तुच्छ थे परन्तु तुम्हारी कृपा प्राप्त कर स्वर्ण के समान निर्मल, कान्तिवान और महत्त्वशाली बन गये। महान् भक्तों में इन नीचों का गणना होने लगी। दंडक वन की भूमि तुम्हारे चरणों का स्पर्श पाकर पवित्र बन गई। (पहले दंडकारण्य शुक्राचार्य के शाप ग्रस्त था। वहाँ कोई नहीं जाता था परन्तु राम के वहाँ विचरण करने के उपरान्त वह पवित्र तीर्थ स्थान बन गया।) वहाँ के उखड़े-सूखे वृक्ष पुनः फूलने-फलने लगे।

हे देव! तुम्हारा नाम पतित-पावन है। यह उन लोगों का भी जो तुमसे विमुख हैं, तथा उनका भी जो तुम्हारे भक्त हैं, समान भाव से उद्धार करने वाला है। इस संसार में असह्य दुख और पापों को दूर करने वाला तुम्हारे समान कोई भी

दूसरा नहीं है । हे शील के सागर ! तुमसे ऊँची-नीची (मीठी-कड़वी) बातें कहने में शोभा है (क्योंकि तुम शील के भण्डार होने के कारण सब-कुछ सह लेते हो, बुरा नहीं मानते) । तुलसी का दुख दूर करने वाले तुम्हारे समान केवल तुम्हीं हो । अर्थात् दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है जो तुम्हारे तुलसी का दुख दूर कर सके ।

[२५८]

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं ।
करत जतन जासों जोरिबे को जोगीजन
तासों क्योंहू जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं ।।१।।
मोसे दोस-कोस को भुवन-कोस दूसरो न
आपनी समुझि सूझि आयो टकटारि हौं ।
गाड़ी के स्वान की नाईं, माया मोह की बड़ाई
छिनहिं तजत, छिन भजत बहोरि हौं ।।२।।
बड़ो साईं-द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ
नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं ।
दूरि कीजै द्वार तें लबार लालची प्रपंची
सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहौं ।।३।।
राखिये नीके सुधारि, नीच को डारिये मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि अब न निहोरिहौं ।
तुलसी कही है साँची रेख बार-बार खाँची,
ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरिहौं ।।४।।

शब्दार्थ—मान=अभिमान । उलटि=उल्टा । खोरि=दोष । जोरिबे=जोड़ने । क्योंहू=किसी प्रकार । दोस-कोस=दोष-कोश, अवगुणों का भण्डार । भुवन-कोस=सम्पूर्ण चौदह भुवन । टकटारि=टटोलना, ढूँढ़ना । बहोरि=फिर, पुनः । करोरि=करोड़ों । लबार=झूठा । गहडोरिहौं=मथ कर गँदला कर दूँगा । निहोरिहौं=निहोरे करूँगा, हा-हा खाना । खींची=खींच कर । मोरिहौं=डुबा दूँगा ।

भावार्थ—हे कृपानिधान ! जान-पहिचान कर भी मैंने तुम्हें भुला दिया है । और अपने घमण्ड के मारे मैं इतना ढीठ (धृष्ट) हो उठा हूँ कि उल्टा तुम्हें ही दोष देता हूँ । भाव यह है कि मैं तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, उसके चिन्तन से उत्पन्न शुभ प्रभाव का अनुभव कर चुका हूँ परन्तु यह सब जानते हुए भी कभी-कभी तुम्हारी ओर से विमुख हो पुनः विषयों के प्रति अनुरक्त हो जाता हूँ । इसी कारण मेरी मुक्ति

नहीं हो पाती । और मैं इसके लिए अपने कर्मों को दोष न दे, उल्टा तुम्हें ही दोष देता हूँ कि तुम मेरा उद्धार नहीं करते । जिससे (ब्रह्म से) प्रीति जोड़ने ने लिए योगी-जन अनेक प्रकार के यत्न-योग आदि करते हैं उससे किसी तरह (कठिनाई से) मेरी प्रीति जुड़ गयी थी (मन शान्त हो राम के प्रेम में तन्मय हो उठा था)। परन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि उस प्रीति को अपने हाथों ही तोड़ बैठा । अर्थात् मन पुनः विषयों की ओर दौड़ने लगा है ।

सारे भुवनों (चौदह भुवन) में मेरे समान अवगुणों का भण्डार अर्थात् भयङ्कर पापी कोई भी दूसरा नहीं है—इस बात की खोजबीन मैं अपनी समझ के अनुसार खूब अच्छी तरह से कर चुका हूँ और मुझे अपने जैसा पापी कोई भी दूसरा नहीं मिला है । मेरी स्थिति गाड़ी के उस कुत्ते के समान है जो कभी गाड़ी से आगे निकल जाता है और फिर लौटकर गाड़ी के साथ चलने लगता है । उसी प्रकार मैं माया और मोह के बड़प्पन को अर्थात् माया-मोह के आकर्षण के कारण अभिमान की भावना को त्याग वैराग्य में लीन हो जाता हूँ और फिर क्षण मात्र में ही पुनः माया-मोह के आकर्षण में ग्रस्त हो विषयों की ओर लौट आता हूँ । भाव यह है कि कभी मेरे मन में वैराग्य उत्पन्न हो उठता है और क्षण भर में ही पुनः विषयों का आकर्षण अपनी ओर खींचने लगता है । इस प्रकार मेरा चित्त चंचल बना रहता है ।

हे नाथ ! मैं तुम्हारी करोड़ों सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं बहुत बड़ा स्वामी-द्रोही हूँ अर्थात् मैं अपने ही स्वामी तुम्हारे साथ सदैव द्रोह करता रहता हूँ (तुम्हें त्याग विषयों में अनुरक्त हो जाता हूँ) । इस क्षेत्र में मेरी बराबरी करने वाला कोई भी दूसरा नहीं है । इसलिए तुम मुझ जैसे झूठे, लालची और अनेक प्रकार के प्रपंच (छल-कपट करने वाले को अपने दरवाजे पर से दुत्कार कर भगा दो । (मैं इस योग्य नहीं कि तुम्हारे दरवाजे पर खड़ा भी हो सकूँ) क्योंकि जिस प्रकार सूअरिया निर्मल जल में लोटकर उसे गँदला बना देती है उसी प्रकार मैं निर्मल जल के समान तुम्हारे निर्मल यश को मलिन बना दूँगा । अर्थात् मुझे देखकर सब यही कहेंगे कि देखो राम ने अपने इस भक्त का उद्धार नहीं किया जबकि असलियत यह है कि ऐसा कहने वाले मेरे असली कर्मों को नहीं जानते जिनके कारण मेरा उद्धार नहीं हो पाता । वे लोग तो मेरे ऊपरी वेश और ढोंग को देखकर ही मुझे राम-भक्त समझ रहे हैं । मेरी कर-तूतों का उन्हें पता नहीं है ।

या तो अब मुझे सुधार कर अपनी शरण में अच्छी तरह से रख लो या अब मुझ जैसे नीच को मार डालो । बस, अब इन दोनों बातों पर विचार कर जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो । अब मैं तुम्हारे सामने फिर नहीं गिड़गिड़ाऊँगा कि मेरा उद्धार कर दो । मुझ तुलसी ने बार-बार लकीर खींच-खींचकर अर्थात् अपनी बात पर बल देकर सच्ची बात यह कह दी है कि यदि अब तुमने मेरे सम्बन्ध में ढील दिखाई (कि न तो शरण में लिया और न मारा ही) तो मैं तुम्हारी महिमा रूपी नाव को (बदनामी के समुद्र में) डुबो दूँगा । अर्थात् चारों तरफ तुम्हारी खूब बदनामी करता फिरूँगा कि

राम का नाम जपना वेकार है, उससे कोई लाभ नहीं होता, राम पतित-पावन आदि कुछ भी नहीं हैं, यह सब डकोसला मात्र है।

टिप्पणी—(१) इस पद से यह ध्वनि निकलती है कि सिद्धावस्था में भी मन कभी-कभी विचलित हो विषय-वासना को ओर जा सकता है। 'जानि पहिचानि' शब्द सिद्धावस्था की ओर संकेत कर रहे हैं तथा 'बिसारे हौं' मन की चंचलता की ओर। 'तासों क्योंहू जुरी' वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि तुलसी ने राम का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था। वे संसार से पूर्ण उदासीन हो साधनावस्था को पार कर सिद्धावस्था तक पहुँच गये थे। परन्तु फिर भी मन की चंचलता अन्तिम रूप से नष्ट नहीं हो पाई थी। मन की इस बार-बार की चंचलता ने तुलसी को क्षुब्ध बना दिया, इसी कारण वह हताश हो अन्तिम पंक्तियों में अपनी हताश अवस्था और उससे उत्पन्न झुँझलाहट को बड़े आत्म-विश्वास और निश्छलता के साथ व्यक्त कर उठे हैं।

(२) इस पद में तुलसी की उस गलदश्रु भावुकता के दर्शन नहीं होते जो उनके अन्य अनेक पदों में दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत, इसमें एक अद्भुत आत्म-विश्वास, चित्त की निर्मलता और तेज के दर्शन होते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से तो गलदश्रु भावुकता नहीं दिखाई पड़ती परन्तु राम के सामने विनय न हो तो गलदश्रु भावुकता भी न हो। परन्तु यहाँ विनय अपनी चरम परिणति पर पहुँच चुकी है जिसके अन्तराल में अथाह करुणा, व्याकुलता और पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना का प्रच्छन्न स्रोत प्रवाहित हो रहा है। यही इस पद की विशेषता है।

[२५६]

रावरी सुधारी जो बिगारी बिगरैगी मेरी,
कहौं, बलि, बेद की न, लोक कहा कहैगो ?
प्रभु को उदास-भाव जन को पाप-प्रभाव,
दुहूँ भाँति दीनबन्धु ! दीन दुख दहैगो ॥१॥
मैं तो दियो छाती पबि, लयो कलिकाल दबि,
साँसति सहत परबस, को न सहैगो ?
बाँकी बिरदावली बनैगी पाले ही कृपालु !
अन्त मेरो हाल हेरि यौं न मन रहैगो ? ॥२॥
करमी, धरमी, साधु, सेवक, बिरत, रत,
आपनी भलाई थल कहाँ कौन लहैगो !
तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर,
लटे लटपटेनि को कौन परिगहैगो ॥३॥

> काल पाय फिरत दसा दयालु, सब ही की,
> तोहि बिनु मोहि कबहूँ न कोऊ चहैगो ।
> बचन करम हिये कहौं राम ! सौंह किये,
> तुलसी पै नाथ के निबाहे निबहैगो ।।४।।

शब्दार्थ—लोक=संसार । पवि=वज्र । दवि=दवोच । साँसति=दुख । विरदावली=यश । अन्त=अन्त में, आखिरी समय । हेरि=देखकर । करमी=कर्मकांडी । धरमी=वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले । विरत=विरक्त, संन्यासी । रत=भोगी । कूर=नीच । लटे=निर्वल । लटपटेनि=गिरे-पड़े, हीन । परिगहैगो=अपनायेगा, अंगीकार करेगा । सौंह=सौगन्ध, शपथ ।

भावार्थ—हे राम ! मैं तुम्हारी वलैया लेकर कहता हूँ कि यदि तुम्हारे द्वारा बनाई गई मेरी वात मेरे विगाड़ने से (मेरे अपने कर्मों द्वारा विगाड़ने से) बिगड़ गई तो वेद क्या कहते हैं, इसकी तो मुझे चिन्ता नहीं परन्तु संसार क्या कहेगा, इसकी मुझे वड़ी चिन्ता है । भाव यह है कि वेदों को तो जो कहना था, वह कह चुके कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान और सर्वनियन्ता है और यह बात सत्य भी है । परन्तु मेरी इस दशा को देख दुनिया यही कहेगी कि भगवान् के सम्वन्ध में वेदों ने तथा अन्य सभी ने झूठी बातें कही हैं । भगवान् सर्वनियन्ता नहीं हैं क्योंकि जव मैंने तुम्हारी बनाई बात को बिगाड़ दिया तो मैं तुमसे अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ । ऐसी स्थिति में मुझे तुम्हारी ही बदनामी होने की चिन्ता अधिक सता रही है कि तुम्हारे होते हुए भी मैं सन्मार्ग पर नहीं चल सका । हे राम ! यदि तुम मेरे प्रति उदासीन हो जाओगे और दूसरी तरफ मेरे पापों का प्रभाव मुझे सतायेगा तो हे दीनबन्धु ! ऐसी स्थिति में मुझ दीन को तो दोनों तरह से दुख जलाता रहेगा । अर्थात् तुम रक्षा करोगे नहीं तो पाप और भी अधिक प्रवल हो मुझे दुख देते रहेंगे ।

(तुम्हारी अपने प्रति इस उदासीनता को देखकर) मैंने तो अपनी छाती पर वज्र रख लिया है; अर्थात् ठाती को वज्र के समान कठोर बना लिया है । उधर तुम्हारी उदासीनता को देख कलियुग ने मुझे असहाय जान दवोच लिया है और मैं परवश (कलियुग के वश में पड़ा) दुख भोग रहा हूँ । और सच्ची बात तो यह है कि मेरी जैसी स्थिति में कौन नहीं दुख भोगेगा (क्योंकि जब रक्षा करने वाला ही रक्षा न करे तो अत्याचारी खुलकर अत्याचार करने लगता है) । हे कृपालु ! ऐसी स्थिति में अब तो तुम्हें अपने निर्मल यश की रक्षा करते ही बनेगी, मेरा पालन करना ही पड़ेगा । और जब मेरा अन्तिम समय आयेगा तो उस समय मेरी दुर्दशा को देख तुम अपना मन मेरे प्रति इस प्रकार उदासीन नहीं बनाये रख सकोगे । उस समय तुम्हें बाध्य होकर उसी प्रकार यमदूतों से मेरी रक्षा करनी पड़ेगी जिस प्रकार अजामिल की की थी ।

कर्मकांडी, वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले, साधु, भक्त, संन्यासी और

भोगी—सभी अपनी-अपनी भलाई करने में लगे रहते हैं और अपने कर्मानुसार ही अन्तिम पद—स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं। परन्तु मेरी तरफ से तुम्हारे मुँह फेर लेने से मुझ जैसे कायर, नीच, निर्बल और पतित को कौन अपनायेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं अपनायेगा। हे दयालु ! समय आने पर सबके दिन फिर जाते हैं (अच्छे दिन आ जाते है) परन्तु तुम्हारे बिना मुझे कोई भी नहीं चाहेगा। अर्थात् तुम्हारे बिना मेरे दिन कभी नहीं फिरेंगे। हे राम ! मैं तुम्हारी सौगन्ध खाकर, वचन, कर्म और हृदय से कह रहा हूँ कि मुझ तुलसी की तो स्वामी राम द्वारा निभाने पर ही निभेगी।

टिप्पणी—भगवान् की 'बाँकी बिरदावली' के सम्बन्ध में एक पद दृष्टव्य है—

वेद औ' पुरानन में कीन्हों हैं बखान ऐसो,
सतजुग बीच ध्रुव प्रहलाद को तूठे हौ।
त्रेता बीच नीचकुल की न करी कानि कछु,
भीलनी के हाथ खाए प्रभु बेर झूठे हौ॥
द्वापर के अन्त तुम द्रोपदी की राखी लाज,
पांडव के काज दल कौरव के रूठे हौ।
अब कलिकाल में जो करो न सहाय मेरी,
तुम्हें लोग हँसि के कहेंगे—'हरि झूठे हो'॥

[२६०]

साहब उदास भये दास खास खीस होत
मेरी कहा चली ? हौं बजाय जाय रह्यो हौं।
लोक में न ठाउँ, परलोक को भरोसो कौन ?
हौं तौ बलि जाउँ रामनाम ही ते लह्यो हौं॥१॥
करम सुभाउ काल काम कोह लोभ मोह
ग्राह, अति गहनि गरीबी गाढ़े गह्यो हौं।
छोरिबे को महाराज, बाँधिबे को कोटि भट,
पाहि, प्रभु पाहि, तिहुँ पाप-ताप-दह्यो हौं॥२॥
रीझि बूझि सबकी, प्रतीति प्रीति एही द्वार,
दूध को जर्‌यो पियत फूँकि फूँकि मह्यो हौं।
रटत रटत लट्‌यो, जाति पाँति भाँति घट्‌यो,
जूठनि को लालची चहौं न दूध-नह्यो हौं॥३॥

अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चल्यो
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।
तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार
अपनो सो नाथ हूँ सौं कहि निरबह्यो हौं ।।४।।

शब्दार्थ—खीस होत=नष्ट होते हैं। बजाय=डंके की चोट से। जाय रह्यो=नष्ट हो रहा हूँ। कोह=क्रोध। ग्राह=मगर। गहनि=गहन, भयंकर। गाढ़े=मजबूती से। भट=योद्धा। पाहि=रक्षा करो। मह्यो=मट्ठा, छाछ। भाँति=मर्यादा। नह्यौ=नहाना। अनत=अन्यत्र। अनचह्यो=तिरस्कृत होकर।

भावार्थ—मालिक के मुँह फेर लेने से (अवज्ञा करने से) खास नौकर भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरी तो बात ही क्या है? अर्थात् मैं तो स्वामी राम का खास नौकर भी नहीं हूँ। मैं तो अब डंके की चोट यह कह रहा हूँ कि मैं बरबाद हुआ जा रहा हूँ जिससे सारा संसार जान ले कि राम का यह तुच्छ सेवक नष्ट हुआ जा रहा है। मेरे लिए अब (अपने कुकर्मों के कारण) इस संसार में तो कोई स्थान नहीं रहा अर्थात् मेरा यह लोक तो बिगड़ ही चुका और परलोक का क्या भरोसा है (कि स्वर्ग मिलेगा या नरक)। हे राम! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, मैंने तो केवल एक तुम्हारे नाम का ही सहारा ले रखा है। अर्थात् मेरा लोक और परलोक केवल एक रामनाम ही है।

मुझे कर्म, स्वभाव, काम, क्रोध, लोभ मोह रूपी बड़े-बड़े मगरों ने तथा अत्यन्त भयंकर गरीबी ने कसकर मजबूती के साथ पकड़ रखा है। हे महाराज! मुझे इस बन्धन से छुड़ाने वाले तो केवल एक तुम हो और बाँधने वाले कुवासनाओं रूपी करोड़ों योद्धा हैं। इसलिए हे प्रभु! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। मैं तीनों प्रकार के पापों और तापों से जला जा रहा हूँ। हे प्रभु! सब का रीझना-बूझना, विश्वास और प्रेम केवल तुम्हारे ही द्वार पर है अर्थात् अन्य जितने भी सारे देवी-देवता आदि हैं वे सब भी तुम्हारे द्वार की ओर ही टकटकी लगाये रहते हैं। फिर मेरा उनके पास जाना व्यर्थ ही है। मैं इसीलिए सीधा तुम्हारे द्वार पर आया हूँ। इनके पास न जाने का एक कारण यह भी है कि दूध का जला हुआ मट्ठे को भी फूँक-फूँक कर पीता है। अर्थात् एक बार इनकी सेवा-सत्कार, पूजा-पाठ आदि करके धोखा उठा चुका हूँ, इसलिए अब पुनः इनके पास जाने में भय लगता है। मैं तुम्हारा नाम रटते-रटते थक गया हूँ, मेरी जाति-पाँति, मान-मर्यादा आदि सभी कुछ नष्ट हो चुका है। मैं तो केवल तुम्हारी जूठन का लालची हूँ, केवल तुम्हारा जूठा एक टुकड़ा चाहता हूँ। मैं दूध में नहाना नहीं चाहता। अर्थात् मुझे ऐश्वर्य की कोई आकांक्षा नहीं हैं, मैं केवल तुम्हारी एक कृपादृष्टि का भूखा हूँ। (यह मिल जाने पर पूर्ण तृप्त हो जाऊँगा। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।)

मैं अन्यत्र जाकर अर्थात् अन्य देवी-देवताओं के पास जाकर अच्छे रास्ते पर अच्छे

कर्म करते हुए चलना नहीं चाहता। अर्थात् मुझे किसी भी प्रकार के धर्म-कर्म, पूजा-पाठ आदि कर अपनी भलाई करने की लालसा नहीं है। मैं इस बात को खूब अच्छी तरह से जानता हूँ कि यदि तुम्हारे द्वार पर तिरस्कृत (उपेक्षित) होकर भी पड़ा रहूँगा तो यहाँ ही मेरा कल्याण हो सकेगा, अन्यत्र असम्भव है अर्थात् कभी-न-कभी तो तुम्हें मुझ पर दया आयेगी ही। मैंने यही समझ कर अपने मन को बार-बार समझाया है और मैं अपने स्वामी राम से सारी बातें कहकर निश्चिन्त हो गया हूँ कि अब राम स्वयं मुझे निभा लेंगे। मुझे अब कोई चिन्ता नहीं रही।

टिप्पणी—(१) इस पद में भी पिछले पद की सी भावना व्यक्त हुई है। तुलसी क्रमशः दृढ़ होते चले जा रहे हैं। वे अपना कर्त्तव्य समाप्त कर चुके हैं, राम से जो कुछ कहना-सुनना था, सब कह-सुन चुके हैं। अब उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि अब काम करने की अर्थात् मेरा उद्धार करने की बारी राम की है। वे कृपालु हैं इसलिए अवश्य कृपा करेंगे। तुलसी के इसी दृढ़ विश्वास ने इन पदों में एक अद्भुत अक्खड़ता, निर्लिप्तता और मार्मिकता उत्पन्न कर दी है। यह स्पष्ट प्रकट होने लगता है कि अब 'विनय-पत्रिका' अपने अन्तिम सर्ग की ओर अग्रसर हो रही है।

(२) इसमें मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है; जैसे—दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँक कर पीता है; दूध से नहाना—ऐश्वर्य प्राप्त करना, आदि।

[२६१]

मेरी न बनै बनाये मेरे कोटि कलप लौं
राम! रावरे बनाये बनै पल पाउ मैं।
निपट सयाने हौ कृपानिधान! कहा कहौं।
लिये बेर बदलि अमोल-मनि-आउ मैं ॥१॥
मानस मलीन, करतब कलिमल पीन
जीहहू न जप्यो नाम, बक्यो आउ-बाउ मैं।
कुपथ कुचाल चल्यो, भयो न भूलिहूँ भलो,
बाल-दसा हूँ न खेल्यो खेलत सुदाउँ मैं ॥२॥
देखा-देखी दंभ तें कि संग तें भई भलाई
प्रकटि जनाई, कियो दुरित दुराउ मैं।
राग-रोष-द्वेष पोषे, गोगन समेत मन,
इनकी भगति कीन्हीं इनही को भाउ मैं ॥३॥
आगिली पाछिली, अबहूँ की अनुमान ही तें
बुझियत गति, कछु कीन्हों तो न काउ मैं।

जग कहै राम की प्रतीति प्रीति तुलसी हूँ
झूठे साँचे आसारो साहब रघुराउ मैं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कलप=कल्प। लौं=तक। पाउ=पाव, चौथाई। आउ=आयु। पीन=पुष्ट। जाप्यो=जपा। आउ-बाउ=अन्टशन्ट, अनर्गल। दुरित=पाप। दुराउ=छिपाव। गोगन=सम्पूर्ण इन्द्रियाँ। भाउ=रुचि। काउ=कुछ। आसरो=सहारा।

भावार्थ—हे राम ! यदि मैं करोड़ों कल्पों तक प्रयत्न करूँ तब भी मेरे बनाने से मेरी बात नहीं बन सकेगी और तुम्हारे बनाने से चौथाई पल में ही बन जायेगी। हे कृपानिधान ! तुम तो स्वयं परम चतुर हो। मैं तुमसे क्या कहूँ अर्थात् क्या बताऊँ (तुम तो सब जानते ही हो) कि मैंने मणि के समान अमूल्य अपनी आयु के बदले में विषय-वासना रूपी बेर खरीद लिये। अर्थात् मुझे अत्यन्त मूल्यवान यह मानव शरीर और आयु राम की भक्ति करने के लिए मिली थी परन्तु मैंने इसके बदले में राम की भक्ति न खरीद कर विषय-वासना रूपी दो कौड़ी के बेर खरीद लिये। अपनी यह अमूल्य आयु विषय-वासनाओं में ही नष्ट कर दी। (इसका परिणाम यह निकला कि) मेरा मन मलिन हो गया। (उस पर विषय-वासना की गन्दगी छा गई), और कलियुग के पापों के कारण मेरे कर्म (कुकर्म) और भी पुष्ट (भयंकर) हो उठे अर्थात् मैं भयंकर कुकर्म करने लगा। मैंने इस जीभ से तुम्हारा नाम भी नहीं जपा और मेरे द्वारा कभी भूल से भी कोई भला काम नहीं हुआ। मैंने अपनी बाल्यावस्था में भी कभी कोई अच्छा खेल (राम-चरित्र से सम्बन्धित) नहीं खेला, अर्थात् कभी सच्चे मन से कोई अच्छा काम नहीं किया।

यदि कभी कोई भला काम किया भी तो इस दम्भ के कारण कि देखो मैं भी भला काम कर रहा हूँ या किसी सत्संग के प्रभाव से भी कोई भला काम कर दिया। परन्तु उन्हें करके मैं दुनिया भर में उनका ढिंढोरा पीटता फिरा कि मैंने यह भला काम किया है, परन्तु मैंने जो काम किये थे उन्हें सबसे छिपाकर रखने का प्रयत्न करता रहा। अर्थात् भले कामों को तो सबसे कहता फिरा और पाप-कर्मों को छिपाता रह। मैंने अपने मन में राग, क्रोध, द्वेष आदि भावनाओं को खूब पाला-पोसा अर्थात् सबसे राग-द्वेष, क्रोध का व्यवहार करता रहा। मैंने पूरा मन लगाकर इन्द्रियों की भक्ति की; अर्थात् इन्द्रियों के कहने पर गुलाम की तरह चलता रहा और वही किया जो इन इन्द्रियों को अच्छा लगा। अर्थात् मैं सदैव इन्द्रियों का दास बना रहा।

मैंने अपने भविष्य और भूत तथा वर्तमान कर्मों का पूरा-पूरा अनुमान लगा लिया है अर्थात् मैंने भूतकाल में कोई शुभ कर्म नहीं किये, आज नहीं करता हूँ और भविष्य में भी करने की कोई आशा नहीं है। इस अनुमान द्वारा मैं समझ गया हूँ कि मेरी क्या गति होगी क्योंकि मैंने कभी भी तो कोई भला काम नहीं किया। परन्तु

संसार यह कहता है कि तुलसी को भी राम का ही विश्वास और प्रेम प्राप्त है। संसार ऐसा झूठा कहता है या सच—कुछ भी सही, अर्थात् यह बात सत्य हो अथवा झूठ, परन्तु तुलसी को तो एक स्वामी राम का ही आसरा है।

[२६२]

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता ॥१॥
दुहुँ ओर समुझि सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामि समीचीनता।
नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये,
नीचऊ निवाजे प्रीति की प्रबीनता ॥२॥
एही दरबार है गरब तें सरब-हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सो न, दूबरो बिभीषन सो,
बूझि परी रावरे की प्रेम-पराधीनता ॥३॥
यहाँ को सयानप अयानप सहस सम
सूधौ सतभाय कहे मिटति मलीनता।
गीध, सिला, सबरी की सुधि सब दिन कीये,
होइगी न साईं सों सनेह-हित-हीनता ॥४॥
सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु,
सुमिरत होत कलिमल-छल-हीनता।
करुनानिधान ! बरदान तुलसी चहत,
सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता ॥५॥

शब्दार्थ—पीनता=पुष्टता। समीचीनता=योग्यता, पूर्णता। सहमत=सहम जाता है। प्रबीनता=चातुर्य। गरब=गर्व। सरब=सर्वस्व। मिसकीनता=नम्रता। जोगछेम=योगक्षेम, प्राप्ति और रक्षा। दूबरो=निर्बल, कमजोर। सयानप=चतुर। अयानप=मूर्ख। सतभाय=सच्चे भाव। मीनता=मछली की तरह।

भावार्थ—हे राम ! मुझसे कहा भी नहीं जाता और बिना कहे रहा भी नहीं जाता। मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ और तुमसे इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि बड़ों के

सामने अपनी गरीबी का वर्णन करने से बड़ा सुख मिलता है। अर्थात् यह आशा रहती है कि शायद बड़े लोग सुनकर कुछ सहायता कर दें। जब मैं अपने स्वामी का बड़प्पन और अपनी इतनी अत्यधिक लघुता, अथवा तुच्छता तथा स्वामी की पवित्रता और अपने पापों की दुष्टता अर्थात् अधिकता देखता हूँ तो इन दोनों पक्षों के इस महान् अन्तर को समझ कर मेरा मन संकुचित हो सहम जाता है, भयभीत हो उठता है कि ऐसे स्वामी के सामने क्या मुँह लेकर जाऊँ। परन्तु जब मैं यह सुनता हूँ कि मेरे स्वामी कितने योग्य और उचित न्याय करने वाले हैं तो यह मन उनके सामने चला जाता है। हे नाथ! मैंने तुम्हारे उचित न्याय करने के सम्बन्ध में यह सुन रखा है कि जो कोई नीच भी तुम्हारे सामने तुम्हारे गुण गाता हुआ, हाथ जोड़ और मस्तक झुका कर जाता है तो तुम उसे भी अपनी शरण में लेकर निभा लेते हो। तुम्हारे प्रेम की रीति की यही चतुरता है। अर्थात् तुम प्रेम की रीति निभाने में अत्यन्त निपुण हो।

ऐसा यह एक तुम्हारा ही राज-दरबार है जिसमें गर्वपूर्वक जाने से सर्वस्व की हानि हो जाती है। इस दरबार में तो गरीबी और नम्रता प्रदर्शित करने से ही योग-क्षेम अर्थात् सम्पूर्ण कुशलता का लाभ होता है। अर्थात् तुम्हारी शरण में गर्व त्याग दीन और गरीब बनकर जाने से ही कल्याण होता है। रावण के समान कोई बलवान और विभीषण के समान कोई निर्बल नहीं था। इन दोनों के साथ तुमने जो व्यवहार किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुम प्रेम के अधिकार को कितना महान् मानते हो; अर्थात् प्रेम के वश हो भक्त की रक्षा और उसे सताने वाले का सर्वनाश कर डालते हो। यहाँ तुम्हारे दरबार में आकर जो चतुर बनता है वह हजारों मूर्खों के समान मूर्ख अर्थात् महामूर्ख होता है। यहाँ तो सीधे-सच्चे भाव प्रकट करने से ही मलिनता दूर होती है अर्थात् सारे पाप और अवगुण दूर हो जाते हैं। भाव यह है कि सच्चे निष्कपट भाव से राम से प्रार्थना करने पर सारे पाप-ताप दूर हो जाते हैं। मन में सदैव गिद्ध जटायु, पाषाणी अहिल्या और भीलनी शबरी का स्मरण करते रहने से (कि राम ने इनके स्नेह को देखकर ही इन्हें अपना लिया था) स्वामी राम के प्रति तेरे प्रेम में कभी कमी नहीं आयेगी। भाव यह है कि इनमें गर्व नहीं था और राम के प्रति असीम प्रेम था, इसी से राम ने इन्हें अपना लिया था। यही सोच तू कभी राम से प्रेम करना कम नहीं करेगा।

हे राम! तुम्हारा नाम कल्पवृक्ष के समान सारी कामनाओं को पूरी कर देता है। तुम्हारे नाम का स्मरण करने से कलियुग के सारे पाप और कपट नष्ट हो जाते हैं। हे करुणानिधान! तुलसी तुमसे केवल यही वरदान चाहता है कि वह सीतापति राम की भक्ति रूपी गंगा के जल की मछली बना रहे। अर्थात् जिस प्रकार मछली का जीवन जल होता है और जल से बाहर होते ही वह प्राण त्याग देती है, तुलसी भी मछली की जल के प्रति, इस अनन्य प्रीति के समान सदैव राम-भक्ति में निमग्न रहे।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी ने पुनः अपनी लघुता और राम की महानता का वर्णन कर राम-भक्ति प्राप्ति की कामना की है।

(२) 'मोटो'·······'को' में लक्षणा प्रयोग द्वारा 'मोठो' 'शक्तिशाली' तथा 'दूबरो' से 'निर्बल' का भाव व्यक्त किया गया है।

(३) 'मिसकीनता'—'मिसकीन' अरबी भाषा का शब्द है।

(४) 'लाभ जोग छेम को'—गीता में भी कृष्ण ने यही बात कही है कि जो गर्व त्याग उनकी शरण में आते हैं उन्हें योगक्षेम की प्राप्ति होती है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहत्॥

[२६३]

नाथ ! नीके कै जानिबी ठीक जन-जीय की।
रावरो भरोसो नाह कैसो प्रेम-नेम लियो
रुचिर रहनि रुचि मति-गति-तीय की॥१॥
दुकृत सुकृत बस सबही सों संग पर्यो
परखी पराई गति, आपने हूँ कीय की।
मेरे भले को गोसाईं पोच को न सोच संक
हौहूँ किये कहौं सौंह साँची सिय-पीय-की॥२॥
ग्यानहूँ गिरा के स्वामी बाहर-अन्तर-जामी
यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औं हीय की।
तुलसी तिहारो, तुमहीं तें तुलसी को हित
राखि कहौं हौं जो पै ह्वै हौं माखी घीय की॥३॥

शब्दार्थ—जानिबी=जान लो। जन-जीय=भक्त के मन की। नीके कै=अच्छी तरह से। नाह=नाथ, स्वामी। मतिगति तीय=बुद्धि रूपी नारी। दुकृत=दुष्कर्म। सुकृत=अच्छे कर्म। कीय की=किये हुए की, कर्मों की। पोच=नीच। संक=शंका। सौंह=सौगन्ध। गिरा=वाणी। दुरैगी=छिपी रह जायेंगी। राखि=छिपाकर।

भावार्थ—हे नाथ ! तुम अपने भक्त के मन की बात अच्छी तरह से अर्थात् ठीक-ठीक समझ लो। मेरी बुद्धि रूपी नारी को केवल तुम्हारा ही भरोसा है। उसने तुम्हारे प्रेम का ऐसा व्रत धारण कर रखा है कि वह पतिव्रता नारी के समान सदैव तुम्हारे ही प्रेम और चिन्तन में डूबी रहती है। अपने दुष्कर्मों तथा सत्कर्मों के कारण मुझे अच्छे-बुरे सभी का संग-साथ करना पड़ा है। उस समय मैं दूसरों के कर्मों तथा स्वयं अपने कर्मों की परीक्षा कर चुका हूँ। अर्थात् अपने और पराये कर्मों की तुलना

कर देख चुका हूँ। परन्तु अब यह देखकर मुझ नीच को जरा सी भी चिन्ता या शंका नहीं रही है क्योंकि मेरा भला करने के लिए तो राम जैसे स्वामी मौजूद ही हैं। फिर चिन्ता या शंका क्यों करूँ। हे सीतापति राम! यह बात मैं तुम्हारी सच्ची सौगन्ध खाकर कहता हूँ। भाव यह है कि मैं तो अपने स्वामी की उदारता को देख कर्म-फल से पूर्ण निष्काम बन निश्चिन्त बैठा हुआ हूँ। राम मेरा कल्याण अवश्य करेंगे—इसका मुझे दृढ़ विश्वास है।

हे राम! तुम ज्ञान और वाणी के स्वामी हो, अन्तर्यामी हो, बाहर-भीतर की सब कुछ जानते हो। फिर तुमसे मेरे मुख और हृदय की बातें कैसे छिपी रह सकेंगी। तुलसी तुम्हारा है, तुम से ही तुलसी का कल्याण होगा। यदि मैं यह बात छिपाकर अर्थात् झूठ कह रहा हूँ तो मैं घी की मक्खी बन जाऊँ। अर्थात् जिस प्रकार मक्खी घी में गिर जाने पर उसमें से निकल नहीं पाती और तड़प-तड़प कर मर जाती है, उसी प्रकार मैं इस संसार के बन्धन में फँसा रहूँ और तड़प-तड़प कर प्राण दे उसी में पड़ा रहूँ। अर्थात् मेरी मुक्ति कभी न हो और सारा संसार मुझे घी में पड़ी मक्खी के समान तिरस्कृत समझ अपने से दूर कर दे।

टिप्पणी—इस पद में अनन्यता के प्रति संकेत है।

[२६४]

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो।
चारिहूँ बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ
तेरो तिहुँ काल कहु को है हितु हरि-सो ॥१॥
नये नये नेह अनुभये देह-गेह बसि
परखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो।
सुहृद-समाज दगाबाजि ही को सौदा सूत
जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो ॥२॥
बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके
देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो।
करम धरम स्रम-फल रघुबर बिनु
राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो ॥३॥
आदि अंत बीच भलो-भलो करै सबही को
जाको जस लोक-बेद रह्यो है बगरि-सो।
सीतापति सारिखो न साहिब सील-निधान
कैसे कल परै सठ बैठो सो बिसरि-सो ॥४॥

जीव को जीवन-प्रान, प्रान को परम हित
　　प्रीतम पुनीत कृत नीचन निदर सों।
तुलसी, तोको कृपालु जो कियो कोसलपालु
　　चित्रकूट को चरित चेतु चित करि सो ।।५।।

शब्दार्थ—भावै=अच्छा लगे। चारिहूँ विलोचन=चार आँख, दो बाहर की, दो भीतर की, अर्थात् ज्ञान-चक्षु। हितु=हितैषी। अनुभये=अनुभव किये। देह-गेह=शरीर रूपी घर। प्रपंची=मायावी, छली। उघरि=खुल गया। सौदासूत=लेन-देन का व्यवहार। बिबुध=देवता। बरिसो=वर्षा। बगरि=फैला। सारिखो=समान। कृत=करने वाला। निदरि=निरादर कर रहा है।

भावार्थ—हे मन! पहले तू मेरी बात सुन ले, फिर तुझे अच्छा लगे वही करना। तू अपनी चारों आँखों (दो बाहरी और दो ज्ञान दृष्टि वाली) से तीनों लोकों में अच्छी तरह से देख ले और बता कि तीनों लोकों और तीनों कालों में भगवान् के समान तेरा कोई दूसरा हितैषी हैं? तूने इस शरीर-रूपी घर में रहकर नये-नये प्रेमों का अनुभव कर लिया है और कपटी प्रेम करने वालों को अच्छी तरह से परख लिया कि समय पड़ने पर उनके प्रेम की पोल कैसे खुल जाती है। अर्थात् कोई भी सच्चा प्रेम करने वाला नहीं है, सब स्वार्थ-वश ही प्रेम करते हैं और संकट पड़ने पर कभी साथ नहीं देते। मित्रों के समाज में सदैव दगाबाजी का लेन-देन रहता है। सारे मित्र दगाबाज होते हैं। जब तुझसे जिसका काम अटकता है तो वह तेरे पैरों पर गिरकर तुझसे मिलता है। (और काम निकल जाने पर या तेरा काम पड़ने पर तेरी बात तक नहीं पूछता।)

तूने चालक देवताओं को अच्छी तरह से पहचान लिया है या नहीं? ये जब करोड़ गुना ले लेते हैं अर्थात् जप, तप, यज्ञ आदि में भारी परिश्रम करवा लेते हैं तब उसका एक गुना अर्थात् कोई छोटा-मोटा सा वरदान देकर टाल देते हैं। (असलियत यह है कि) राम के बिना सारे धर्म-कर्म करने का फल केवल परिश्रम के रूप में ही मिलता है, अर्थात् परिश्रम तो अधिक करना पड़ता है परन्तु उसका फल कुछ भी नहीं मिलता! भाव यह है कि राम के बिना सारा धर्म-कर्म व्यर्थ है। यह करना वैसा ही व्यर्थ है जैसे राख में होम करना अथवा ऊसर में वर्षा होना। (राख का होम और ऊसर की वर्षा निष्फल होती है।) जो आदि, मध्य और अन्त में भला रहता है, सब का भला करता है, जिसका यश संसार और वेदों में फैला हुआ है, ऐसे उन सीतापति राम के समान शील का भण्डार स्वामी कोई भी दूसरा नहीं है। हे मूर्ख! तू ऐसे स्वामी को भूल गया है, फिर तुझे कैसे कल (चैन) पड़ रही है।

वह राम जीव के जीवन-प्राण, प्राण के परम हितैषी, प्रियतम और नीचों को पवित्र करने वाले हैं। ऐसे राम का तू निरादर कर रहा है। हे तुलसी! कृपालु

कोशल नरेश राम ने चित्रकूट में तेरे लिए जो लीला की थी उसे तू हृदय में स्मरण कर।

टिप्पणी—(१) 'नए-नए नेह अनुभये'—से अभिप्राय पारिवारिक जनों, मित्र-बन्धुओं आदि के प्रेम से है जिसे तुलसीदास स्वार्थपूर्ण मानते हैं।

(२) 'आदि, अंत, बीच भलो'—से अभिप्राय यह है कि भगवान् अच्छा जन्म देते हैं, जीवन को सफल बनाते हैं और अन्त में मुक्ति दे देते हैं।

(३) 'चित्रकूट को चरित्र'—कहा जाता है कि एक बार तुलसीदास चित्रकूट में कुछ ध्यानावस्थित से बैठे थे कि उन्होंने सामने से दो अपूर्व सुन्दर राजकुमारों को घोड़े पर सवार हो एक मृग के पीछे तेजी से जाते हुए देखा। तुलसीदास ने ध्यान में विघ्न पड़ता देख आँखें नीची कर लीं और बैठे रहे। कुछ देर बाद हनुमान ने उन्हें दर्शन दे पूछा कि तुमने राम-लक्ष्मण के दर्शन किये या नहीं? तुलसीदास के इन्कार करने पर हनुमान ने बताया कि अभी जो दो राजकुमार गये थे, वे राम और लक्ष्मण ही थे। यह सुनकर तुलसीदास बहुत पछताने लगे और कहा कि—

> **लोचन रहे बैरी होय।**
> **जान बूझ अकाज कीनों, गये भू में गोय॥**
> **अविगत जु तेरी गति न जानी, रह्यो जागत सोय।**
> **सबै छबि की अवधि में हैं निकसि गे ढिग होय॥**
> **करम-हीन मैं पाय हीरा, दियो पल में खोय।**
> **'दास तुलसी' राम बिछुरे, कहो कैसी होय॥**

[२६५]

> **तन सुचि, मन रुचि, मुख कहौं जन हौं सिय-पी को।**
> **केहि अभाग, जान्यो नहीं, जो न होइ नाथ सो नातो नेह न नीको॥१॥**
> **चल चाहत पावक लह्यौ, विष होत अमी को।**
> **कलि कुचाल संतनि कही सोइ सही, मोहिं कछु फहम न तरनि तमी को॥२॥**
> **जानि अन्ध अंजन कहै बन-बाघिनी-धी को।**
> **सुनि उपचार बिकार को सुबिचार करौं जब-तब बुधि बल हरै ही को॥३॥**
> **प्रभु सों कहत सकुचत हौं, परों जनि फिरि फीको।**
> **निकट बोलि, बलि, बरजिये परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जी को॥४॥**

शब्दार्थ—सुचि=पवित्र। जन=सेवक। सिय-पी=सीतापति राम। अमी=अमृत। फहम=ज्ञान। तरनि=सूर्य। तमी=रात्रि। उपचार=इलाज। बरजिये=मना कर दो।

भावार्थ—हे नाथ! मैं अपने शरीर को पवित्र रखता हूँ। (बुरे कर्म नहीं

करता), मेरे मन में भी (तुमसे प्रेम करने की) इच्छा रहती है और अपने मुख से भी मैं यही कहता हूँ कि सीतापति राम का सेवक हूँ परन्तु मैं नहीं जानता कि अपने किस दुर्भाग्य के कारण स्वामी से मेरा प्रेम का सम्बन्ध अच्छी तरह से नहीं जुड़ पाता। मैं जल की इच्छा करता हूँ परन्तु मिलती है अग्नि, अमृत लेता हूँ परन्तु वह विष बन जाता है। अर्थात् शीतल राम-भक्ति रूपी जल के स्थान पर विषयाग्नि मिलती है और दम्भ के कारण किये हुए अमृत रूपी सत्कर्म भी विष के समान प्राणघातक और दाहक बन जाते हैं। सन्तों ने कलियुग की कुचालों का जो वर्णन किया है (कि वह परमार्थ-साधन नहीं होने देता) सो सब सही है। मुझे सूर्य और रात्रि में क्या अन्तर है, इसका भी ज्ञान नहीं है, अर्थात् मैं पहचान नहीं पाता कि क्या ज्ञान है और क्या अज्ञान है। भाव यह है कि मैं अज्ञान के कारण इतना अन्धा बन गया हूँ कि समझ में नहीं आता कि क्या करूँ।

(कलियुग) मुझे अन्धा जानकर कहता है कि वन की बाघिनी के घी का अंजन बना अपनी आँखों में लगा। अर्थात् में बाघिनी का दूध दुह, उसे जमाकर उसमें से घी निकालूँ (परन्तु यह असम्भव है क्योंकि बाघिनी तो पास जाते ही मुझे खा जायेगी)। भाव यह है कि माया बाघिनी है, काम-वासना उसके दूध का घी अर्थात् सार है। कलियुग काम-वासना द्वारा मेरे अज्ञान रूपी अन्धेपन को दूर करने का इलाज बताता है। मैं अपनी अन्धेपन रूपी अज्ञान की इस बीमारी का ऐसा विकार भरा इलाज सुनकर मन में विचार करता हूँ कि इस इलाज को कैसे करूँ, कैसे बाघिनी का घी प्राप्त करूँ ? यह सोचकर मेरे हृदय का सारा बल और बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् मैं हताश हो उठता हूँ। भाव यह है कि मैं विचार कर इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि कलियुग का बताया हुआ यह उपचार तो मेरे वश का है नहीं। ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ। परन्तु अपने इस संकट की बात अपने स्वामी से कहने में मुझे संकोच होता है कि कहीं फिर मेरी बात फीकी न पड़ जाय। अर्थात् कहीं स्वामी पहले की तरह फिर मेरी प्रार्थना पर ध्यान न दें। हे नाथ ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ। कृपा कर (कलियुग को) अपने पास बुलाकर उसे डाँट दो, जिससे वह मुझ तुलसीदास जैसे मूर्ख की ओर ध्यान देना छोड़ दे। अर्थात् मुझे गलत रास्ते पर चलने की सलाह देना बन्द कर दे। (क्योंकि जब तक वह मुझे गुमराह करना बन्द नहीं करेगा, तब तक मेरा मन तुम्हारे प्रेम में पूरी तरह से नहीं लग सकेगा।)

टिप्पणी—(१) 'जल····अमी को'—में 'विषम' अलंकार है।

(२) 'जानि····घी को'—का यह अर्थ भी हो सकता है कि सन्तगण मुझ अज्ञानी को योग-साधना करने का उपदेश देते हैं। परन्तु योग-साधना करना मेरे लिए वैसा ही प्राणघातक और असम्भव है, जैसे वन की बाघिनी का घी प्राप्त करना। दूसरी बात यह कि अज्ञानी कैसे योग-मार्ग की साधना कर सकता है ? यहाँ

'वन' संसार का तथा 'वाघिनी' माया की प्रतीक है। योग द्वारा ही माया को वश में किया जा सकता है।

[२६६]

ज्यों ज्यों निकट भयों चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि पार्‌यो हौं।
तुम चहुँजुग रस एक राम हौंहूँ रावरो, जदपि अघ अवगुननि भरह्यो हौं ॥१॥
बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्‌यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि, सुमति तें कुमति कर्‌यो हौं॥२॥
अगनित गिरि कानन-फिर्‌यो, बिनु आगि जर्‌यो हौं।
चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचाल सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं ॥३॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं।
चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभुसों गुदरि निबर्‌यो हौं॥४॥

शब्दार्थ—पार्‌यो=पड़ता। चहुँजुग=चारों युग। अघ=पाप। छरनि=छलों। छर्‌यौ=छल लिया। अपडरनि=अपने ही भय से। चीन्हों=पहचाना हुआ। गुदरि=पुकारकर। निवर्‌यो=निबट चुका, निश्चिन्त हो चुका।

भावार्थ—हे कृपालु ! मैं जैसे-जैसे तुम्हारे पास आना चाहता हूँ, वैसे-वैसे तुमसे और भी अधिक दूर होता जाता हूँ। अर्थात् तुम्हारी भक्ति प्राप्त करने के मेरे सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। हे राम ! तुम तो चारों युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) में सदैव एक-रस रहते आये हो अर्थात् तुम्हारे स्वभाव (पतितों का उद्धार करना आदि) में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। और मैं भी सदैव तुम्हारा ही रहता आया हूँ, यद्यपि पापों और अवगुणों से भी भरा हुआ रहा हूँ। भाव यह है कि मैं सदैव से ही पापी और अवगुणी रहा हूँ, परन्तु तुम फिर भी मुझे अपनाते रहे हो। (ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध शाश्वत है।) (परन्तु जब मैं माया द्वारा उत्पन्न अज्ञान के कारण भटकता हुआ तुम्हारे पास आने का प्रयत्न कर रहा था तो) नीच कलि-युग ने मुझे बीच में ही अपने छलों द्वारा छल लिया। अर्थात् मुझे विषय-वासनाओं के जाल में उलझा दिया। मैं (जीव रूप में) स्वर्ण के समान निर्मल और कान्तिमान था परन्तु इस नीच ने मुझे पर विषय-वासनाओं की कीचड़ चढ़ाकर मुझे (राँगे के समान) काला बना दिया, राजा से भिखारी कर दिया और बुद्धिमान से मूर्ख बना डाला। भाव यह है कि पहले मैं शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप था परन्तु इसने मुझे पथभ्रष्ट कर पतित, दीन और अज्ञानी बना डाला।

उसी समय से मैं (तुम्हारी खोज में) अगणित पर्वतों और वनों में भटकता फिर रहा हूँ और बिना अग्नि के ही जलता रहा हूँ अर्थात् मेरे मन को कभी शान्ति नहीं मिली। मन सदैव अशान्त बना रहा। परन्तु जब मैं चित्रकूट गया तो वहाँ

जाकर मैंने कलियुग की कुचालें देखीं सो अब मैं अपने ही भय से अर्थात् अपने किये कुकर्मों के परिणामों के भय से भयभीत हो उठा हूँ। हे नाथ ! मैं तुम्हारे सामने मस्तक झुकाए, हाथ जोड़कर कह रहा हूँ कि हे प्रभु ! मेरी इस कथा को सुनो कि पहचाना हुआ चोर जीव को मार डालेगा। (जब चोर को कोई व्यक्ति पहचान लेता तो वह चोर इस भय से कि कहीं यह मुझे पकड़वा न दे, उस व्यक्ति को मार डालता है।) अब मैं तो प्रभु से फरियाद कर अपने कर्त्तव्य से छूटकारा पा चुका। अर्थात् अब यह तुम्हारा काम है कि इस कलियुग रूपी चोर को पकड़कर मेरी रक्षा करो, नहीं तो यह मुझे मार डालेगा।

टिप्पणी—(१) इस पद में तुलसी कलियुग से संत्रस्त हो भगवान् से अपने मन की आशंका व्यक्त कर रक्षा करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

(२) 'हौं सुबरन········कर्यो हौं'—का भाव यह है कि पहले जीव स्वर्ण के समान निर्मल, पवित्र, कान्तिमान अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप था परन्तु माया ने आकर उसके इस रूप को मलिन कर दिया। पहले जीव मन और इन्द्रियों पर राजा के समान शासन करता था परन्तु अब वह मन और इन्द्रियों का गुलाम बन गया है। पहले उसकी बुद्धि चैतन्य थी, यह ईश्वर का चिन्तन किया करता था परन्तु अब मूर्ख बन विषय-वासनाओं में लगा रहता है।

(३) 'चित्रकूट गए हौं लखी कलि की कुचाल'—कहा जाता है कि एक बार तुलसीदास चित्रकूट में तपस्या कर रहे थे। यह देख कलियुग परेशान हो उठा और उसने उन्हें डराया-धमकाया। परन्तु हनुमान की कृपा से वह उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। यहाँ तुलसी उसी प्रसंग के प्रति संकेत करते प्रतीत होते हैं। उन्हें आशंका है कि कलियुग कहीं उनसे बदला लेने की कोशिश न करे।

[२६७]

प्रन करि हौं हठि आजु तें राम-द्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं ॥१॥
दै-दै धक्का जमभट थके, टारे न टर्‌यो हौं।
उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग नरक निदरि निकर्‌यो हौं ॥२॥
हौं मचला लै छाँड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिये, बलि, बिलम्ब न कीजिये जात गलानि गर्‌यो हौं ॥३॥
प्रगट कहत जो सकुचिये अपराध-भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसिहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं ॥४॥

शब्दार्थ—सौं=सौगन्ध। निबर्‌यो=निश्चिन्त हो गया। जमभट=यमदूत। उदर=गर्भ। निदरि=अपमानित होकर। मचला=जिद्दी, मचलने वाला। अर्‌यो=अड़ गया हूँ। बनिहै=बनेगी। हहर्‌यो=काँप उठा हूँ।

भावार्थ—हे राम ! मैं आज प्रण करके, अड़कर तुम्हारे द्वार पर पड़ गया हूँ। अर्थात् सत्याग्रह किये बैठा हूँ। जब तक तुम यह न कह दोगे कि 'तू मेरा है,' तब तक में जीवन भर यहाँ से नहीं उठूने का। मैं तो इस बात के लिए तुम्हारी सौगन्ध खाकर निश्चिन्त हो चुका हूँ। अर्थात् तुम्हारी सौगन्ध मुझ से तोड़ी नहीं जायेगी। इसलिए जब तक मेरी माँग पूरी नहीं हो जायेगी, तब तक मैं यहाँ से हट नहीं सकूँगा। यम के दूत मुझे धक्का दे-देकर थक गये, परन्तु मैं (नरक के द्वार पर से) उनके लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं टला। मैंने संसार में अनेक बार (विभिन्न योनियों में) जन्म ले-लेकर गर्भावस्था की असह्य यातना सही। तब कहीं नरक से अपमानित कर निकाला गया। भाव यह है कि मैंने बार-बार भयंकर पाप किये और नरक भोगा परन्तु अन्त में नरक वाले भी मुझसे परेशान हो गये कि यह अच्छा जिद्दी है जो बार-बार यहीं आ जाता है। अन्त में मैं (अपने किसी अनजाने ही किये सत्कर्म के प्रभाव से) नरक से निकाल दिया गया। इससे तुम्हें मेरे जिद्दीपन का पता लग गया होगा कि मैं कितना जिद्दी और बेशर्म हूँ। तुम धक्के भी दोगे तब भी तुम्हारे द्वार से नहीं टलूँगा।

मैं बड़ा जिद्दी हूँ। मैं अपनी चीज, जिसके लिए अड़ा हूँ, लेकर ही तुम्हारे द्वार से टलूँगा। तुम तो दयालु हो, इसलिए तुम्हें मेरी माँग पूरी करते ही बनेगी। मैं बलि जाऊँ, अब मेरी चीज मुझे देने में देर मत लगाओ। मैं ग्लानि के मारे गला जा रहा हूँ। क्योंकि संसार मेरी हँसी उड़ाता है कि यह राम का होकर भी इतने कष्ट भोग रहा है। यदि तुम्हें प्रकट रूप से अर्थात् सबके सामने मुझे अपनाने में संकोच होता हो क्योंकि मैं बहुत बड़ा अपराधी हूँ तो कृपा कर मुझे अपने मन में अपना लो क्योंकि मैं कलियुग को देखकर भय से काँप रहा हूँ (कि दुष्ट मुझे कहीं फिर न सताने लगे)। जब तुम मुझे अपना लोगे तो फिर कलियुग की मुझे सताने की हिम्मत नहीं पड़ेगी क्योंकि राम-भक्तों से वह दूर ही रहता है।

टिप्पणी—(१) 'प्रगट.......हौं'—इसमें लोकपक्ष का समन्वय हुआ है। तुलसी जैसे अपराधी को अपना लेने से लोक-मान्यता का उल्लंघन होता है, क्योंकि लोक के अनुसार अपराधी को दंड मिलना ही चाहिए।

(२) सूरदास ने भी इसी पद के भाव को व्यक्त करने वाला एक पद लिखा है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमही माधव ! अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तबहीं लै उठिहै जब हँसि दैहौ बीरा॥

सूर में भी अड़ जाने की वही भावना है जो तुलसी में है परन्तु दोनों भावनाओं के प्रकारों में अन्तर है। तुलसी सेव्य-सेवक भाव से (दास्य भाव से) भक्ति करते थे और सूर सखा भाव से। इसी अन्तर के कारण सूर में प्रारम्भ से अन्त तक एक बराबरी की सी भावभरी अक्खड़ता और जिद है। परन्तु तुलसी में मुँह-लगे धृष्ट सेवक का सा भाव है जो तुरन्त ही स्वामी की खुशामद करने लगता है।

[२६८]

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेंहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ॥१॥
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक ते नहिं टरिहै॥२॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै सम चित हित अनहित कलि-कुचाल परिहरिहै ॥३॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो रामको विस्वास प्रेम लखि आनन्द उमगि उर भरिहै ॥४॥

शब्दार्थ—चहुँ विधि=धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों प्रकार से। टेक=प्रतिज्ञा। टरिहै=हटेगा। निदरे=निरादर होने पर। उमगि=उमड़ कर।

भावार्थ—हे राम! तुमने मुझे अपना लिया है; इस बात का विश्वास मुझे तब होगा जब मेरा मन (विषय-वासनाओं की ओर से) विरक्त हो जायेगा। यह मन अपने जिस स्वभाव से विषयों में लगा रहा है उसी स्वभाव अर्थात् दृढ़ता के साथ जब यह अपने कपट को त्याग, निष्कपट भाव से तुमसे स्वाभाविक रूप से प्रेम करने लगेगा तभी मैं यह समझूँगा कि तुमने मुझे अपना लिया है। जैसे यह मन पुत्र से प्रेम करता है, मित्र पर विश्वास रखता है और राजा के भय से अर्थात् राज-दंड के भय से भयभीत रहता है उसी प्रकार जब यह तुमसे प्रेम करेगा, तुम पर विश्वास रखेगा और तुमसे राज्यदण्ड के समान भयभीत रहेगा और अपने स्वार्थ को सदैव तुम्हारा स्वार्थ मानता रहेगा अर्थात् जिस प्रकार अपने चारों स्वार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—को प्राप्त करना चाहता रहेगा, उसी प्रकार तुम्हारे स्वार्थ—शक्ति, शील, सौन्दर्य—की स्थापना की कामना करता रहेगा और तुमसे उसी प्रकार स्नेह करता रहेगा जैसे पपीहा (स्वाँति नक्षत्र के जल को प्राप्त करने की) अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ बना रहता है, तब मुझे विश्वास होगा कि तुमने मुझे अपना लिया है।

जब मेरा मन आदर पाकर अत्यन्त प्रसन्न नहीं होगा और अपमानित होने पर दुख से जलने नहीं लगेगा, हानि और लाभ, सुख और दुख, और भलाई और बुराई—सबके प्रति समान भाव रखेगा अर्थात् उन्हें पाकर व्याकुल और प्रसन्न न हो समरस बना रहेगा तथा कलियुग की कुचालों को त्याग देगा, तभी मैं समझूँगा कि

तुमने मुझे अपना लिया है। जब भगवान् के गुणों को सुनकर मेरा मन प्रसन्न हो उठेगा और नेत्रों से (आनन्द के) आँसू गिरने लगेंगे तब तुलसीदास को विश्वास हो जायेगा कि तुलसीदास राम का बन गया है। और तब तुम्हारे अपने प्रति इस प्रेम को देखकर मेरे हृदय में उमड़ कर आनन्द छा जायेगा। अर्थात् मुझे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जायेगी।

टिप्पणी—(१) इस पद में राम-भक्तों के लक्षण बताये गये हैं।

(२) 'हरषिहै····अनहित'—से भाव द्वैत-बुद्धि अर्थात् भेद-बुद्धि से रहित हो समरस (समदृष्टा) हो जाना है।

(३) 'आनन्द'—से भाव सात्विक भावनाओं से है।

(४) तुलसीदास आरम्भ से अन्त तक राम से स्वयं को अपना लेने की प्रार्थना करते आये हैं। परन्तु भक्त को यह कैसे ज्ञात हो कि राम ने उसे अपना लिया है। भक्त की इसी जिज्ञासा का तुलसी ने इस पद में समाधान किया है। विरक्त और समदृष्टा ही राम का सच्चा भक्त है। भक्त के ये ही लक्षण इस पद में बताये गये हैं।

[२६९]

राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को, हित ज्यों धन-लोभ-लीन को।।१।।
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों तेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीन को।।२।।
मनसा को दाता कहैं स्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदास को भावतो, बलि जाउँ, दयानिधि दीजै दान दीन को।।३।।

शब्दार्थ—नीर=जल। मीन=मछली। मनि=मणि। फनि=सर्प। नागरी=नवोढ़ा नायिका। नागर नवीन=नवयुवक। मनसा=मन की इच्छा। दाता=देने वाला। प्रबीन=चतुर। भावतो=मनचाहा।

भावार्थ—हे राम ! क्या तुम मुझे कभी इतने प्रिय लगने लगोगे जितना कि जल मछली को प्रिय लगता है, या जैसे जीव को सुखी जीवन, सर्प को मणि: और लोभी को धन प्यारा लगता है। अथवा जैसे तरुण पुरुष को नवोढ़ा नायिका सहज रूप से ही अत्यन्त प्रिय लगती है, वैसे ही हे करुणाकर ! मेरे मन में अपने पवित्र और पुष्ट (दृढ़) प्रेम की लालसा उत्पन्न कर दो। अर्थात् मैं भी तुमसे इन्हीं सब के समान दृढ़ प्रेम करने लगूँ। वेद कहते हैं कि चतुर अर्थात् सबके घट-घट की बात जानने वाले भगवान् मनचाही वस्तु देने वाले हैं। अर्थात् सबकी मनोकामना पूरी कर देते हैं। हे दयानिधि ! मैं तुम्हारी बलैया लेता हूँ, मुझ दीन तुलसीदास को भी उसका मनचाहा दान दे दो। अर्थात् तुम तुलसी को प्राणों के समान प्रिय लगने लगो।

टिप्पणी—(१) तुलसी ने अन्यत्र एक दोहे में इस पद के भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

(२) प्रेम के क्षेत्र में 'मीन' की जल के प्रति अनन्यता आदर्श मानी गई है। मीन क्षण भर के लिए भी जल से अलग होने पर तड़प-तड़प कर मर जाती है। तुलसी ने 'दोहावली' में 'मीन' के स्नेह पर अनेक दोहे लिखे हैं। एक दोहा दृष्टव्य है—

मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन, जल गेह ।
'तुलसी' एकै मीन को, है सांचिलो सनेह ॥

[२७०]

कबहुँ कृपा कर रघुबीर ! मोहूँ चितै हो ।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितै हो ॥१॥
जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहिं जितै हो ।
हौं अनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथपति जो लघुतहि न भितै हो ॥२॥
बिनय करौं अपभयहुँ तें तुम्ह परम हितै हो ।
तुलसिदास कासों कहै ? तुमहीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हो ॥३॥

शब्दार्थ—मोहूँ चितै हो=मेरी तरफ भी देखोगे। बितै हो=भूल जाओगे, क्षमा कर दोगे। जित्यो=जीतता रहा। जितै हो=जिता दोगे, विजयी बना दोगे। लघुतहि=लघुत्व से, नीचता से। भितै हो=डरोगे। अपभयहूँ=अपने भय से। हितै=हितैषी।

भावार्थ—हे रघुवीर ! क्या कभी कृपा कर मेरी ओर भी देख लोगे ? हे दया-निधि ! मैं भला या बुरा जैसा भी हूँ, परन्तु क्या मुझे अपने मन में अपना दास मान कर मेरे अगणित अवगुणों को क्षमा कर दोगे ? मेरा मन जन्म-जन्मान्तरों से मुझे जीतता आया है अर्थात् मुझ पर विजय प्राप्त कर मनमाने नाच नचाता आया है, क्या अब तक मुझे इस योग्य बना दोगे कि मैं इस मन पर विजय प्राप्त कर सकूँ ? अर्थात् क्या मैं अपने मन को अपने वश में करने में समर्थ हो सकूँगा। ऐसा हो जाने पर मैं सच्चे अर्थों में 'सनाथ' बन जाऊँगा और हे स्वामी ! यदि तुम मेरी लघुता अर्थात् नीचता को देखकर भयभीत नहीं होगे तो तुम भी 'अनाथपति' बन जाओगे। अर्थात् यदि तुम मुझ जैसे भयंकर नीच से भयभीत न हो मुझे अपना लोगे, तभी सच्चे अर्थों में 'अनाथपति' कहलाने के अधिकारी बन सकोगे क्योंकि मुझसे बड़ा अनाथ तुम्हें कोई भी दूसरा नहीं मिलेगा। मैं अपने ही भय के कारण तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ

क्योंकि तुम मेरे परम हितैषी हो। भाव यह है कि यदि तुम मेरी नीचता को देख मुझ से भयभीत हो गये तो मैं अनाथ ही बना रह जाऊँगा, सनाथ नहीं बन सकूँगा, मुझे इसी बात का भय है, इसी कारण तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। तुम्हें छोड़कर तुलसीदास और किससे कहे? क्योंकि सब तरह से तुम्हीं मेरे स्वामी, गुरु और माता-पिता हो।

विशेष—इस पद में अभिव्यक्त तुलसी की दीनता और करुण-भावना अत्यन्त मार्मिक और प्रभविष्णु है।

[२७१]

जैसो हौं तैसो हौं राम ! रावरो जन जनि परिहरिये।
कृपासिंधु कोसलधनी सरनागत-पालक, ढरनि अपनी ढरिये ॥१॥
हौं तौ बिगरायल ओर को, बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आये सदा सबकी सबही बिधि अब मेरियो सुधरिये ॥२॥
जग हँसिहैं मेरे संग्रहे कत इहि डर डरिये।
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित तेहि सुभाउ अनुसरिये ॥३॥
अपराधी, तउ अपनो तुलसी न बिसरिये।
टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहूँ बिलोचन पीर होत हित करिये ॥४॥

शब्दार्थ—रावरो=तुम्हारा। जन=दास। जनि=मत। परिहरिये=छोड़ो, त्यागो। कोसलधनी=कोशल के राजा। ढरनि=स्वभाव। बिगरायल=बिगड़ा हुआ। ओर को=हमेशा का। बिगरिये=बिगाड़िये। मेरियो=मेरी भी। सुधरिये=सुधारिये। संग्रहे=संग्रह करने से, अपनाने से। कत=क्या। अनुसरिये=अनुसरण करो। तउ=फिर भी। गरे परै=गले पड़ जाती है। हित=उपचार।

भावार्थ—हे राम ! मैं जैसा भी हूँ, वैसा हूँ तो तुम्हारा दास ही। तुझे मत त्यागो अर्थात् अपनी शरण में रहने दो। हे कृपासिन्धु ! हे कोशल-नरेश ! तुम शरणागतों का पालन करने वाले हो। अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण करो। अर्थात् मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ सो अपने स्वभाव के अनुसार मुझ पर दया कर मेरी रक्षा करो। मैं तो हमेशा का ही बिगड़ा हुआ हूँ, अब तुम मुझ बिगड़े हुए को और भी अधिक मत बिगाड़ो ! भाव यह है कि मैं अपने मन और इन्द्रियों के वश में होने के कारण पहले ही अनेक पाप कर चुका हूँ। अब यदि तुमने मुझे दुत्कार दिया तो मैं और भी अधिक पाप-कर्मों में लिप्त हो जाऊँगा। तुम सदा से ही सब की सब तरह सुधारते आये हो, अब मेरी भी सुधार दो। अर्थात् तुमने हमेशा पापियों को अपनी शरण में ले उनका उद्धार किया है, अब मेरा भी उद्धार कर दो।

क्या तुम इस बात से डरते हो कि मुझ जैसे पापी को अपना लेने से संसार

तुम्हारी हँसी उड़ायेगा ? (परन्तु तुम तो सदा से ही पापियों को अपनाते आये हो ।) (उदाहरण के लिए) तुमने वन्दर (हनुमान, सुग्रीव) और केवट (निषादराज गुह) जैसों को अपना सखा (मित्र) बना लिया था । तुमने अपने जिस शील और चित्त की सरलता के कारण इन लोगों को अपना लिया था, अब मेरी बारी आने पर भी अपने स्वभाव से काम लो अर्थात् मुझे भी उन्हीं की तरह अपना लो । यद्यपि मैं अपराधी हूँ, परन्तु फिर भी हूँ तो तुम्हारा ही (जीव ब्रह्म का अंश होता है), इसलिए मुझे भुलाओ मत । क्योंकि जव बाँह टूट जाती है तो उसे काटकर अलग न कर गले से लगा लिया जाता है अर्थात् गले में पट्टी बाँधकर उसमें उस टूटी बाँह को रख लिया जाता है, जव आँख फूट जाती है तव पीड़ा को दूर करने के लिए उसका उपचार किया जाता है । इसी प्रकार जब मैं तुम्हारा हूँ (तुम्हारा ही अंश हूँ) तो अपराधी होने पर भी मुझे दूर हटा देना न्याय-संगत नहीं है ।

टिप्पणी—(१) 'टूटियो·······करिये'—से भाव यह है कि जीव ब्रह्म का अंश है । इसलिए उसकी पीड़ा—ब्रह्म की पीड़ा वन जाती है । यह कहकर तुलसी ने भक्त की पीड़ा और भगवान् की पीड़ा में ऐक्य की स्थापना की है । जिस प्रकार किसी अंग में पीड़ा होने से उसे काटकर अलग न कर उसका उपचार किया जाता है, उसी प्रकार भगवान् अपने भक्त की पीड़ा स्वयं अनुभव कर उसकी पीड़ा दूर करते हैं, क्योंकि भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं रहता । भक्त भगवान् का ही अंश होता है ।

(२) 'जनि परहरिये'—बिहारी भी राम से यही प्रार्थना करते हैं—

हरि, कीजत तुम सों यहै, बिनती बार हजार ।
जेहि-तेहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार ॥

[२७२]

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो ।
सुनहु राम, बिनु रावरे लोकहुँ परलोकहुँ कोउ न कहूँ हित मेरो ॥१॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो ।
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो ॥२॥
भगतिहीन, बेद-बाहिरो लखि कलिमल घेरो ।
देवनि हूँ, देत ! परिहर्‌यो, अन्याव न तिनको, हौं अपराधी सब केरो ॥३॥
नाम की ओट लै पेट भरत हौं, पै कहावत चेरो ।
जगत-बिदित बात ह्वै परी समुझिये धौं अपने लोक कि बेद बड़ेरो ॥४॥
ह्वै है जब-तब तुम्हहिं तें तुलसी को भलेरो ।
देव ! दिन हूँ दिन बिगरिहै, बलि जाउँ, बिलंब किये, अपनाइये सबेरो ॥५॥

शब्दार्थ—अगुन=गुणहीन, मूर्ख। अनेरो=निकम्मा। तिजरा=तिजारी, एक दिन बीच में छोड़कर आने वाला बुखार। टोटक=टोटका। औचट=भूल से भी। उलटि=मुड़कर। वेद-बाहिरो=वेद में बताये गये मार्ग पर न चलने वाला। देवनि=देवताओं ने। केरो=का। चेरो=दास। बड़ेरो=बड़ा। भलेरो=भला। सबेरो=जल्दी, शीघ्र।

भावार्थ—हे राम ! सुनो ! तुम मेरी तरफ से अपना मन मैला मत करो, मुझसे आँखें मत फिराओ अर्थात् मेरी उपेक्षा मत करो। मेरा तो इस लोक तथा परलोक में तुम्हारे बिना कहीं भी कोई हितैषी नहीं है। अपने स्वार्थ के साथी मेरे स्वार्थी मित्रों ने मुझे गुणहीन, नालायक, आलसी, नीच और निकम्मा समझ कर त्याग दिया और फिर मुड़कर मेरी तरफ उसी प्रकार नहीं देखा, जैसे कोई व्यक्ति तिजारी (बुखार) का टोटका कर चल देता है और फिर भूलकर भी पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखता। मुझे भक्ति से हीन और वेदोक्त मार्ग से बाहर अर्थात् वेद-मार्ग पर न चलने वाला देखकर कलियुग के पापों ने घेर लिया है। हे देव ! देवताओं ने भी मुझे त्याग दिया है अर्थात् वे भी मेरी सहायता नहीं करते। परन्तु इसमें उनका कोई अन्याय नहीं है क्योंकि मैं तो सभी का अपराधी हूँ। अर्थात् मैंने अपने कर्मों से किसी को भी सन्तुष्ट नहीं किया है। फिर यदि देवताओं ने मुझे त्याग दिया है तो इसमें उन्होंने कोई अन्याय नहीं किया क्योंकि मैं इसी लायक हूँ।

हे नाथ ! मैं तुम्हारे नाम का सहारा ले अपना पेट भरता हूँ परन्तु कहलाता तुम्हारा सेवक हूँ। अर्थात् मैं तुम्हारा नाम लेने का ढोंग रचकर अपना पेट पालता हूँ और तुम्हारा सेवक न होकर भी तुम्हारा सेवक कहलाता हूँ। अब तो यह बात सारी दुनिया में फैल गई है (कि तुलसी राम का सेवक है)। अब तुम यह सोच लो कि लोक बड़ा है या वेद। अर्थात् मैं वेद-मार्ग पर चाहे भले ही नहीं चलता, परन्तु इसके लिए कोई मुझसे कुछ नहीं कहता। परन्तु संसार यह जानता है कि मैं तुम्हारा सेवक हूँ (भले ही बाह्य-आडम्बर द्वारा ही सही) और यदि तुमने मेरा उद्धार नहीं किया तो संसार तुम्हारी ही बदनामी करेगा क्योंकि लोकमत का सम्मान सब करते हैं और वेद-मत का कोई एकाध ही। इसलिए वेदमत से लोकमत बड़ा है, यह समझ लो।

तुलसी का भला कभी-न-कभी होगा अवश्य और वह होगा तुम्हारे ही द्वारा। इसलिए हे देव ! मैं बलि जाऊँ, तुम्हारे द्वारा मुझे अपनाने में देर लगाने से मैं दिन-प्रतिदिन और अधिक बिगड़ता चला जाऊँगा। इसलिए मुझे शीघ्र ही अपना लो। अर्थात् देरी करने से मैं और अधिक बिगड़ जाऊँगा तब तुम्हें मुझे सुधारने में अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा।

टिप्पणी—(१) 'टोटका'—तिजारी उस बुखार को कहते हैं जो एक दिन बीच में छोड़कर तीसरे दिन आता है और इसी क्रम से बहुत दिनों तक आता रहता है। इसको दूर करने के लिए गाँवों तथा शहरों में भी अनेक टोटके आज तक प्रचलित

हैं। एक टोटका इस प्रकार है कि मिट्टी के बर्तन में आटे के साथ दीपक जलाकर और उसमें खीर, हल्दी, सिन्दूर, सफेद फूल आदि रख और मरीज के ऊपर उतार, रात के समय चुपचाप चौराहे पर रख आते हैं और रखने वाला लौटते समय मुड़कर चौराहे की तरफ नहीं देखता क्योंकि यदि देख ले तो, कहा जाता है, उसे तिजारी आ जायेगी। कुछ टोटके ऐसे हैं जिनमें लौकी को कलावे से बाँध बबूल या वेर के पेड़ पर बाँध आते हैं।

(२) 'लोक बड़ा या वेद'—संसार में लोकमत की अधिक मान्यता होती है या वेदों में निर्धारित किये गये मत की ? तुलसी का मत यह है कि लोकमत वेदमत से अधिक मान्य है। वेदमत का अब कोई सम्मान नहीं करता, चाहे उसकी कितनी ही दुहाई क्यों न दी जाय। लोकमत जिसे स्वीकार कर लेता है, वही समाज में ग्राह्य माना जाने लगता है। लोक बड़ा है या वेद—इससे सम्बन्धित संस्कृत की एक उक्ति मिलती है—'यद्यपि शुद्धम् लोकविरुद्धम् न करणीयम् न करणीयम्।' अर्थात् कोई बात शुद्ध (वेदविदित) होने पर भी यदि लोक-विरुद्ध है तो वह करने योग्य नहीं है।

[२७३]

तुम तजि हौं कासों कहौं, और को हितु मेरे ?
दीनबन्धु ! सेवक सखा आरत अनाथ पर सहज छोह केहि केरे ॥ १ ॥
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे।
कृपा कोप सतिभायहूँ धोखेहुँ तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे ॥ २ ॥
जो चितवनि सौंधी लगै चितइये सबेरे।
तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील, अब जीवन-अवधि अति नेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तजि=छोड़कर। छोह=कृपा। केहि केरे=किसकी। तरि=तरी, नाव। वेरे=वेड़ा। सतिभायहूँ=सच्चे भाव से। सौंधी=रुचिर, अच्छी। सबेरे= शीघ्र। नेरे=पास।

भावार्थ—हे राम ! तुम्हें छोड़कर और मैं किससे कहूँ, मेरा और कौन हितैषी है ? हे दीनबन्धु ! सेवक, सखा, दुखी और अनाथों पर सहज रूप से ही किसकी कृपा रहती है ? अर्थात् इन सब पर तुम्हारी सदैव कृपा रहती है। वहुत से पापी बिना नाव और विना बेड़े की सहायता के ही (केवल तुम्हारी कृपा से) इस संसार-सागर से पार हो गये, तर गये। हे राम ! तुमने उनकी ओर कृपा से या क्रोधपूर्वक, सच्चे भाव से या भूल से अथवा तिरछी दृष्टि से ही देख लिया था। भाव यह है कि तुम चाहे जैसे भी देख लो, जीव तुरन्त तर जाता है। तुम्हारी दृष्टि में इतनी शक्ति है। उपर्युक्त विभिन्न दृष्टियों में से जो भी दृष्टि तुम्हें अच्छी लगे, उसी से मेरी ओर शीघ्र देख लो। अब मुझ तुलसीदास को अपनाने में ढील (देर) मत करो क्योंकि उसकी जीवन-

अवधि बहुत पास आ चुकी है अर्थात् अब उसका अन्तिम समय अधिक दूर नहीं रहा है। न जाने उसका जीवन-दीप कब बुझ जाय।

टिप्पणी—'कृपा······हेरे'—वियोगी हरि ने विभिन्न दृष्टियों का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

कृपा-दृष्टि से अहिल्या, जटायु आदि को मुक्त किया;
कोप-दृष्टि से रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि को मुक्त किया।

'सतिभाय' अर्थात् सत्यभाव से निषाद, सुग्रीव, विभीषण आदि को अपनाया और धोखे की दृष्टि से यवन आदि को अंगीकार कर लिया।

[२७४]

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को ?
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल-बिहीन को ॥ १ ॥
गनिहिं गुनिहिं साहिब लहै सेवा समीचीन को।
अधन, अगुन, आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को ॥२॥
मुख कै कहा कहौं ? बिदित है जी की प्रभु प्रबीन को।
तिहूँ काल, तिहूँ लोक में एक टेक रावरी तुलसी से मन मलीन को ॥३॥

शब्दार्थ—गनिहिं=धनवान को। गुनिहिं=गुणी को। समीचीन=योग्य। लहै=लेता है। अधन=निर्धन। अगुन=गुणहीन। फबि आयो=शोभा देता आया। कै=से। टेक=सहारा।

भावार्थ—हे देव ! मैं कहाँ जाऊँ ! मुझ जैसे दीन और दुखी के लिए और कहाँ जगह है (जहाँ आश्रय मिल सके) ? तुम्हारे समान कृपालु स्वामी दूसरा कौन है जो सब तरह से निर्बल को अपनी शरण में रख ले ? इस संसार में जितने भी अन्य स्वामी (मालिक) हैं वे सब धनी, गुणवान और सेवा करने में पूर्ण रूप से योग्य व्यक्तियों को ही अपनी सेवा में रखते हैं। परन्तु मुझ जैसे निर्धन, गुणहीन और आलसी लोगों को पालना तो केवल राम को ही शोभा देता आया है, जो नित्य नवीन रहते हैं। अर्थात् केवल राम ही बिना उकताए अयोग्य सेवकों का पालन करते हैं। (यहाँ 'नवीन' का अर्थ 'नित्य किशोर' अर्थात् सदैव किशोर बने रहने वाले राम से भी लिया जा सकता है।)

हे प्रभु ! मैं अपने मुँह से क्या कहूँ। तुम तो स्वयं चतुर (अन्तर्यामी) हो। तुम्हें तो मेरे मन की बात मालूम ही है कि तुलसी जैसे मन के मलिन को तीनों कालों और तीनों लोकों में केवल एक तुम्हारा ही सहारा है। (यदि 'टेक' का अर्थ 'प्रतिज्ञा' माना जाय तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा—तुलसी की एक ही प्रतिज्ञा है कि तुम्हारो शरण में रहे।)

टिप्पणी—'एक टेक रावरी'—यहाँ राम के प्रति तुलसी का अनन्य भाव प्रकट हो रहा है। तुलसी सब कुछ छोड़कर एक राम की शरण में ही जाना चाहते हैं। यहाँ तुलसी सिद्धान्त रूप से गीता के इस वाक्य का पालन करते प्रतीत होते हैं—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

[२७५]

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनी दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम कियो न संभाषन काहूँ ॥१॥
तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हूँ।
काहे को रोष-दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत छुइ सब छाहूँ ॥२॥
दुखित देखि संतन कह्यो, सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न, सरन गये रघुबर ओर-निबाहूँ ॥३॥
तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति प्रतीत बिनाहूँ।
नाम की महिमा सील नाथको मेरे भलो बिलोकि अब तें सकुचाहुँ सिहाहूँ ॥४॥

शब्दार्थ—रद=दाँत। परि पाहूँ=पैरों पर गिरकर। दुनी=दुनिया। छम=समक्ष, समर्थ। संभाषन=बात। जन्यो=उत्पन्न कर। जनि=मत। ओर निबाहूँ=अन्त तक निर्वाह करने वाले। सिहाहूँ=प्रसन्न होता हूँ।

भावार्थ—हे राम! मैंने दाँत निकाल कर (खीस निपोर कर) और पैरों पर गिर कर द्वार-द्वार जा, सबसे अपनी दीनता कही (अपनी गरीबी का वर्णन किया)। इस संसार में ऐसे दयालु मौजूद हैं जो दसों दिशाओं अर्थात् सम्पूर्ण संसार के दुख और पापों को दूर करने में समर्थ हैं, परन्तु उनमें से किसी ने भी मुझसे बात भी नहीं की अर्थात् मेरी बात तक नहीं पूछी। माता-पिता ने अपने शरीर से उत्पन्न करके भी मुझे दुष्ट कीड़े (साँप) के समान त्याग दिया। मैं इस बात के लिए उन पर क्रोध क्यों करूँ, उन्हें दोष क्यों दूँ क्योंकि मेरे ही दुर्भाग्य के कारण सब मेरी छाया तक को छूने में संकोच करते हैं। (अशुभ मुहूर्त में जन्म होने के कारण तुलसी का जन्म होते ही उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था।) भाव यह है कि मैं हूँ ही अभागा, फिर किसी को दोष क्यों दूँ?

मुझे दुखी देखकर सन्तों ने मुझ से कहा कि तू मन में चिन्ता मत कर। रघुवीर राम ने तुझ जैसे पशु, नीच और पापियों को भी शरण में आने पर नहीं त्यागा और अन्त तक उनका निर्वाह किया। (सन्तों की यह बात सुनकर ही मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ और अब) बिना प्रेम और विश्वास के ही तुम्हारा बन जाने पर सुखी हो गया हूँ। भाव यह है कि यद्यपि मेरे मन में तुम्हारे प्रति प्रेम और विश्वास नहीं था, परन्तु फिर भी तुमने मुझे अपना बना लिया। अब मैं सुखी हूँ। हे नाथ! मैं तुम्हारे

नाम की महिमा और शील द्वारा अपना कल्याण हुआ देखकर अब मन ही मन सकुचाता हूँ, लज्जित होता हूँ और प्रसन्न भी होता हूँ। भाव यह है कि तुमने अपने शील स्वभाव द्वारा मेरे मुख से केवल अपने नाम का उच्चारण सुनकर ही मेरा कल्याण कर दिया। यही सोचकर मैं लज्जित भी होता हूँ और प्रसन्न भी कि मुझे तुम्हारी शरण मिल गयी।

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में उपलक्षणा पद्धति का प्रयोग हुआ है।

(२) 'तनु-जन्यो' का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है—"माता-पिता ने मुझे अपने शरीर से इस प्रकार पैदा किया, जैसे दुष्ट कीड़ा; अर्थात् मानो मैं दुष्ट कीड़ा था कि माता-पिता ने अपने शरीर से पैदा करके मुझे छोड़ दिया, स्वर्ग सिधार गये।"—पं० देव नारायण द्विवेदी।

[२७६]

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?
राम! रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दसहुँ दिसि पायो ॥१॥
आस-बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार मुँह बायो ॥२॥
असन-बसन बिनु बावरो जहँ-तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो ॥३॥
नाथ! हाथ कछु नाहिं लाग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो ॥४॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति तायो।
मूड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन-सरन तकि आयो ॥५॥
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो।
तुलसी नमत अवलोकिये, बलि, बाँह-बोल दै बिरदावली बुलायो ॥६॥

शब्दार्थ—नायो=नवाया, झुकाया। जन=भक्त, दास। जनायो=जताया। छार=धूल, राख। असन=भोजन। खलायो=खाली। लघु=क्षुद्र। निजल=निर्लज्ज। थलपति=राजा। तायो=जाँच। मूड़=सिर। ताकि=देखकर। नमत=प्रणाम करता है। बाँह-बोल=अभय वचन।

भावार्थ—हे राम! मैंने कौन-सा काम नहीं किया, कहाँ-कहाँ नहीं गया, किस-किस को सिर नहीं झुकाया परन्तु बिना तुम्हारा दास हुए इस संसार में बार-बार जन्म ले-लेकर (विभिन्न योनियों में पैदा हो-होकर) दसों दिशाओं अर्थात् चारों ओर सब तरह से दुख ही पाता रहा। अर्थात् मैंने सब तरह के काम किये, सबके यहाँ भटकता फिरा, सबकी खुशामद की परन्तु बिना तुम्हारी भक्ति के जन्म-जन्मान्तरों

से सदैव दुख ही उठाता आ रहा हूँ। मैं अपनी इच्छा के वश में हो, विवश होकर नीच मालिकों के यहाँ जा स्वयं को उनका खास नौकर बनकर जताता रहा, द्वार-द्वार पर बार-बार जा-जाकर हा-हा खाकर सबको अपनी गरीबी दिखायी परन्तु कभी मेरे खुले हुए मुख में किसी ने धूल तक नहीं डाली। अर्थात् किसी ने भी मेरी बात तक नहीं पूछी। (यहाँ 'खास दास' का अर्थ यदि जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण उसे ब्रह्म का खास दास—भक्त—माना जाय तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा—मैं तुम्हारा खास दास होते हुए भी नीच मालिकों के यहाँ जा-जाकर स्वयं को उनका खास दास सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा; अर्थात् उनकी हर तरह से खुशामद करता रहा।)

मैं बिना भोजन और वस्त्र के पागल के समान उठ-उठकर इधर-उधर दौड़ता फिरा। मैं प्राणों से भी प्रिय अपनी महिमा और सम्मान को तिलांजलि दे दुष्टों के आगे क्षण-क्षण भर बाद अपना खाली पेट खोल-खोलकर दिखाता रहा (कि मैं भूखा हूँ)। हे नाथ ! मैं लालच के मारे ललचाता हुआ इधर-उधर भटकता रहा परन्तु मेरे हाथ कभी कुछ भी नहीं लगा। मैं तुमसे सच कहता हूँ कि ऐसा कौनसा नाच है जो मुझे इस नीच, क्षुद्र, निर्लज्ज लोभ ने नहीं नचाया। अर्थात् लोभ के कारण मैंने सभी तरह के कर्म-कुकर्म किये, ढोंग रचे। मेरे कान, नेत्र और मन अपने-अपने रास्तों पर लगे रहे अर्थात् अपने-अपने विषयों में लिप्त रहे (कानों से पर अपवाद सुने, आँखों से स्त्रियों को ताका और मन में सदैव बुरी भावनाएँ भरी रहीं), मैंने सारे राजाओं को जाँचा अर्थात् सारे राजाओं के यहाँ जा-जाकर उनसे भीख माँगी (परन्तु किसी ने कुछ भी नहीं दिया)। तब अन्त में सब तरह से सिर मारकर, सारे प्रयत्न कर, मन में हार मान, अपना भला देख, व्याकुल हो तुम्हारे चरणों की शरण ताक कर तुम्हारे पास आया हूँ—अर्थात् चारों ओर से निराश हो, केवल तुमसे ही अपना हित होता देख तुम्हारी शरण में आया हूँ।

हे राजा दशरथ के लाड़ले समर्थ राम ! तीनों लोकों ने तुम्हारे यश का गान किया है। मैं बलिहारी जाऊँ, यह तुलसी तुम्हें प्रणाम करता है, तनिक इसकी ओर देख लो। मुझे तुम्हारी विरुदावली (यश) ने अभय वचन देकर तुम्हारी शरण में बुलाया है। अर्थात् मैं तुम्हारा यह यश सुनकर कि तुम शरण में आये हुए को अभय प्रदान करते हो, तुम्हारी शरण में आया हूँ। मुझे अपनी शरण में रख लो।

टिप्पणी—(१) प्रथम पंक्ति में उपलक्षणा पद्धति द्वारा दीनता का प्रदर्शन किया गया है।

(२) यह पद राम के प्रति तुलसी की अनन्य भक्ति-भावना एवं दृढ़ निष्ठा का प्रतीक है। उनका विश्वास केवल एक राम पर है।

(३) ऊपर से देखने पर इस पद में तत्कालीन साधु-सन्तों का सुन्दर वर्णन माना जा सकता है। परन्तु ध्यान से देखने पर यह पद तुलसी के व्यक्तिगत जीवन पर

गहरा प्रकाश डालता प्रतीत होता है। तुलसी बाल्यावस्था से ही अनाथ हो गये थे। उनका बचपन बड़े संघर्ष और संकट में बीता था। उन्हें दर-दर भीख माँगनी पड़ी थी, ठोकरें खानी पड़ी थीं और अन्त में वह राम की ओर उन्मुख हुए थे।

[२७७]

राम राय ! बिनु रावरे मेरे को हितु साँचो ?
स्वामी सहित सब सों कहौं सुनि गुनि बिसेषि कोउ रेख दूसरी खाँचो ।।१।।
देह-जीव-जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो ।
किये विचार सार-कदली ज्यों मनि कनक संग लजु लसत बीच बिच काँचो ।।२।।
"विनय-पत्रिका" दीन की, बापु! आपु ही बाँचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो ।।३।।

शब्दार्थ—राय=राजा। विसेषि=विशेष। खाँचो=खींच दो। जोग=संयोग। मृषा=झूठे। टाँचन=टाँके। टाँचों=टँके हुए। कदली=केला। कनक=स्वर्ण। काँचे=काँच। बाँचो=पढ़ो। सुभाय=अपने स्वभाव के अनुसार। बहुरि=फिर, बाद में। पाँचों=पाँच—सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और हनुमान।

भावार्थ—हे राजा राम ! तुम्हारे बिना मेरा सच्चा हितैषी कौन है। मैं अपने स्वामी अर्थात् तुम्हारे सहित अन्य सभी उपस्थित जनों से अर्थात् राम-पंचायतन (सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और हनुमान पाँचों) से कहता हूँ। तुम सब लोग मेरी बात को सुन उस पर विचार कर यदि किसी को और भी अधिक बड़ा समझो तो दूसरी रेखा खींच दो। अर्थात् मेरे सिद्धान्त को अमान्य कर एक नये सिद्धान्त की स्थापना कर दो। भाव यह है कि मेरी तो यही मान्यता है कि राम से बड़ा मेरा हितैषी कोई भी दूसरा नहीं है। यदि तुम सब (राम-पंचायतन) यह समझते हो कि मेरी यह मान्यता झूठी है अर्थात् राम से भी बड़ा कोई और मेरा हितैषी है तो बता दो कि कौन है। मैं तुम्हारी बात मानकर उसे ही अपना स्वामी मानने लगूँगा।

(यदि तुम यह कहो कि मेरे सारे सांसारिक सम्बन्धी—माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु आदि मेरे हितैषी हैं तो उनके सम्बन्ध में मुझे केवल यही कहना है कि) वे सब तभी तक सखा अर्थात् साथी बने रहते हैं जब तक इस शरीर और जीव (प्राण) का संयोग रहता है। अर्थात् व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तभी तक रक्त के सांसारिक सम्बन्ध रहते हैं। मरने पर रक्त के ये सारे सम्बन्ध टूट जाते हैं। ये सम्बन्ध तो झूठे टाँकों से टँके हुए हैं अर्थात् मृत्यु आकर इन सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर इनकी असारता (मिथ्यात्व) प्रमाणित कर देती है। अर्थात् सारे सांसारिक सम्बन्ध झूठे हैं। इसलिए मैं इन्हें अपना हितैषी नहीं मान सकता। जगत के सारे सम्बन्ध विषय-वासनाओं के समान झूठे और दुखदायी होते हैं। विचार करने पर अर्थात् ज्ञान दृष्टि से देखने पर ये सारे सम्बन्ध केले के सार (तत्त्व) की भाँति निःसार सिद्ध होते हैं। अर्थात्

जिस प्रकार गूदे की तलाश में केले के वृक्ष को छीलते चले जाते हैं और अन्त तक गूदा हाथ नहीं लगता उसी प्रकार इन सांसारिक सम्बन्धों में भी किसी प्रकार का सार नहीं रहता। सब केले के तने के समान ऊपर से मोहक, पुष्ट दिखाई पड़ते हैं परन्तु परीक्षा करने पर तत्त्वहीन सिद्ध होते हैं। ये सांसारिक सम्बन्ध उसी प्रकार सुन्दर प्रतीत होते हैं जैसे मणि और स्वर्ण से बने हुए आभूषण के बीच जड़े हुए काँच के टुकड़े सुन्दर लगते हैं। ('मणि' ब्रह्म है, 'स्वर्ण' जीव तथा 'काँच' सांसारिक सम्बन्धी हैं।) भाव यह है कि ब्रह्म और जीव के संयोग के कारण ही सांसारिक सम्बन्ध सुन्दर भासित होते हैं। वास्तव में होते वे तत्त्वहीन (मिथ्या) ही हैं। काँच के इन टुकड़ों के समान सांसारिक सम्बन्ध स्वतन्त्र रूप में ब्रह्म और जीव के मिलन में बाधक होते हैं इसलिए उन्हें त्याग देना चाहिए परन्तु ब्रह्म और जीव के संयोग के कारण वे सत्य भी होते हैं क्योंकि उनके प्रति जीव का आकर्षण ब्रह्म के प्रति जीव के आकर्षण के समान ही अत्यन्त प्रबल होता है। अतः वे इस आकर्षण के आदि प्रेरक होते हैं। इसीलिए काँच के समान वे सांसारिक सम्बन्ध भी अच्छे हैं जो हमें मणि के समान प्रतीत हों, हममें प्रबल आकर्षण की भावना उत्पन्न करते हैं और ज्ञान-दृष्टि प्राप्त कर लेने पर हमारी यही आकर्षण की भावना ब्रह्म की ओर उन्मुख हो जाती है। अतः सांसारिक सम्बन्ध सर्वथा मिथ्या न होकर, अप्रत्यक्ष रूप से कल्याणकारी ही सिद्ध होते हैं।

हे पिता! इस दीन की इस 'विनय-पत्रिका' को तुम स्वयं ही पढ़ना। (किसी अन्य से मत पढ़वाना।) इसे तुलसी ने अपने हृदय में खूब सोच-विचार कर अर्थात् मनन करने के उपरान्त लिखा है। (विनय करते ही उसे स्वीकार कर लेने वाले) अपने स्वभाव के अनुसार पहले इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देना, मोहर लगा देना और फिर बाद में अन्य पाँचों अर्थात् सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और हनुमान से इस सम्बन्ध में उनकी राय पूछना। भाव यह है कि यदि तुमने इन लोगों से पहले इस सम्बन्ध में राय ली तो मुझे भय है कि कहीं इनमें से कोई टाँच न मार दे। इसलिए जब तुम पहले ही इस पर अपनी मंजूरी दे दोगे तो फिर सबको इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

टिप्पणी—(१) देह-जीव''''''''टाँचो' से भाव यह है कि जो सांसारिक सम्बन्ध भगवान की प्राप्ति में सहायक होते हैं उन्हें असत्य न मानकर सत्य ही मानना चाहिए। जो बाधक होते हैं उन्हें असत्य के समान त्याग देना चाहिए। तुलसी इस बात को पीछे भी कह आये हैं—

तुलसी सो सब भाँति परमहित, पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो॥

(२) 'पाँचों' से अभिप्राय—राम-पंचायतन से है। राम की इस पंचायत में राम के अतिरिक्त उनके तीनों भाई, सीता और हनुमान माने गये हैं। तुलसी इस पद के अन्त में सुन्दर हास्य की अवतारणा कर रहे हैं। वे पहले राम से अपनी अर्जी को

मंजूर करवा लेना चाहते हैं, फिर कहीं दूसरों से सलाह लेने की प्रार्थना करते हैं। अन्तिम पंक्ति में इस विचित्र प्रार्थना द्वारा अत्यन्त शालीन, मोहक प्रच्छन्न हास्य की उद्‌भावना हुई है। ऐसा शिष्ट हास्य अन्यत्र दुर्लभ ही है।

[२७८]

पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलिजाउँ, दास-आस पूजिहै खास खीन की॥१॥
राज-द्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति-विहीन की॥२॥
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति-रीति समुझाइबी नतपाल, कृपालु परमिति पराधीन की॥३॥

शब्दार्थ—पवन-सुवन=पवन पुत्र हनुमान। रिपुदवन=शत्रुघ्न। खीन=क्षीण, दुर्बल। समीचीन=योग्य, अच्छा। सुकृत=पुण्य। समय=सुअवसर देखकर। नतपाल=भक्त-वत्सल। परिमिति=सीमा।

भावार्थ—राम को 'विनय-पत्रिका' समर्पित करने के उपरान्त तुलसी राम-दरबार में उपस्थित अन्य जनों से प्रार्थना कर रहे हैं—

हे हनुमान! हे शत्रुघ्न! हे भरत लाल! हे लक्ष्मण! मैं बलि जाऊँ, तुम सब अपना-अपना अवसर मिलने पर मुझ दीन का ख्याल रखना। तुम्हारे ऐसा करने से तुम्हारे इस खास और निर्बल दास की इच्छा पूरी हो जायेगी। अर्थात् स्वामी राम मेरी 'विनय-पत्रिका' को स्वीकार कर लेंगे। राज-दरबार में साधु-सन्तों और योग्य जनों का प्रसंग चलने पर सभी उनकी तारीफ करते हैं परन्तु यदि तुम सब मुझ जैसे शरणहीन अनाथ की स्वामी से सिफारिश कर दोगे तो तुम्हें पुण्य होगा, सारे संसार में तुम्हारा यश फैल जायेगा और मुझे स्वामी की कृपा प्राप्त हो जायेगी, जिससे मेरे स्वार्थ और परमार्थ सिद्ध हो जायेंगे अर्थात् मेरे लोक-परलोक—दोनों बन जायेंगे और मुक्ति मिल जायेगी। इसलिए तुम सुअवसर देखकर मेरी बात को सम्हाल कर अपने इस दास मलिन तुलसी की स्थिति को सुधार देना अर्थात् मौका देखकर राम से मेरी सिफारिश (संस्तुति) कर देना। तुम्हारे ऐसा कर देने से मेरी बिगड़ी बन जायेगी। भक्त-वत्सल, कृपालु राम को तुम सब मेरी प्रीति और रीति समझा देना कि कलियुग के भय से पराधीन बने तुलसी के प्रेम की यही सीमा है। भाव यह है कि मैं कलियुग के कारण और तो कोई सत्कर्म नहीं कर सका, इसलिए राम के चरणों में अपने प्रेम की साक्षी यह पत्रिका लेकर उपस्थित हुआ हूँ। यही उनके प्रति मेरे प्रेम की रीति का प्रमाण है। (तुम्हारे ऐसा कह देने से राम इसे स्वीकार कर लेंगे।)

विशेष—इस पद में तुलसी बड़े चातुर्य के साथ पहले हनुमान से और अन्त

में लक्ष्मण से राम से सिफारिश करने की प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि यही दोनों राम के सर्वाधिक विश्वस्त हैं और राम इनकी बात मान लेंगे ।

[२७९]

मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है ।
कलिकालहुँ नाथ ! नाम सो प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है ॥१॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है ।
कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥२॥
बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है सुधि मैं हूँ लही है' ।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परो रघुनाथ हाथ सही है ॥३॥

शब्दार्थ—मारुति=हनुमान । लखि=देखकर । किंकर=दास । सही=मुहर, स्वीकृति ।

भावार्थ—राम का दरबार लगा हुआ है । सारी सभा के मध्य राम-पंचायतन विराजमान है । इसी समय तुलसी की 'विनय-पत्रिका' प्रस्तुत होती है । तुलसी इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

हनुमान और भरत के मन की इच्छा (तुलसी की सिफारिश करने) को देख कर लक्ष्मण राम से कहते हैं कि हे नाथ ! इस कलियुग में भी तुम्हारे एक दास (तुलसी) का तुम्हारे नाम के प्रति विश्वास और प्रेम का निर्वाह हो गया है । अर्थात् तुलसी ने तुम्हारे नाम के प्रति अपने दृढ़ विश्वास और पूर्ण प्रेम का सुन्दर निर्वाह किया है । लक्ष्मण की यह बात सुनकर सारी सभा इसी बात का समर्थन करने लगी कि हम भी तुलसी की रीति को जानते हैं । (सचमुच तुम्हारे चरणों में उसका अमित विश्वास और प्रेम है ।) यह सब गरीब-निवाज राम की कृपा का ही फल है । स्वामी राम तो गरीब को देखते ही उसे हाथ पकड़ अपनी शरण में ले लेते हैं । भाव यह है कि राम की कृपा से ही राम के प्रति तुलसी के प्रेम के विश्वास का निर्वाह हुआ है, क्योंकि राम उसे दीन समझ पहले ही अपनी शरण में ले चुके हैं ।

सभासदों की यह बात सुनकर राम मुस्कराते हुए कहने लगे कि—'तुम्हारी बात सत्य है । मुझे भी उसकी खबर मिल गयी । अर्थात् मैंने भी उसकी प्रार्थना सुन ली है ।' यह सुनकर तुलसी ने गद्गद् होकर राम को मस्तक झुका प्रणाम किया । अनाथ तुलसी की बिगड़ी बात बन गयी । राम ने अपने हाथ से उसकी 'विनय-पत्रिका' पर स्वीकृति की मुहर लगा दी ।

टिप्पणी—(१) 'सुधि मैं हू लही है'—राम का यह वाक्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि तुलसी की 'विनय-पत्रिका' के सम्बन्ध में उन्हें पहले से ही पता

था क्योंकि जानकी पहले ही उनसे कह चुकी थीं। तुलसी 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भ में ही जानकी से प्रार्थना कर आये थे—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥—(पद संख्या ६७)

इसी कारण राम तुलसी पर कृपालु हो उठे थे और उनकी कृपा से तुलसी की बिगड़ी बात बन गयी थी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने केवल सीता की बात मानकर अप्रत्यक्ष रूप से उन पर अपना वरद-हस्त रख दिया था परन्तु उनकी प्रार्थना को सार्वजनिक रूप से तभी स्वीकार किया, जब सब ने तुलसी की सिफारिश की। इस प्रकार राम ने एक तरफ तो लोक-मर्यादा की रक्षा की और दूसरी तरफ तुलसी की चुपचाप भी सहायता करते रहे।

(२) यहाँ हनुमान और भरत तुलसी की सिफारिश करने को तो उत्सुक हैं परन्तु उनके मन में दास्यभाव होने के कारण कहने का साहस नहीं कर रहे हैं। लक्ष्मण पर राम का वात्सल्य-भाव है, इसलिए लक्ष्मण हनुमान और भरत के मन की बात समझकर राम से कहने का उसी प्रकार साहस कर रहे हैं जैसे पुत्र पिता से सारी बात कह देता है। यहाँ हनुमान, भरत और लक्ष्मण के स्वभाव और स्थिति का यह अन्तर द्रष्टव्य है।

(३) प्रभु के दरबार में 'विनय-पत्रिका प्रेषित करने की यह परम्परा 'सूरसागर' में भी अपनायी गयी है। परन्तु यहाँ सूर बिना किसी की भी सिफारिश कराये स्वयं ही राम को समझाते हुए अपना रुक्का उन्हें सौंप देते हैं। सूर का निम्न पद द्रष्टव्य है—

बिनती किहिं विधि प्रभुहिं सुनाऊँ ?
महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहूँ पाऊँ !
जाय रहत जामिनि के बीते, तिहिं औसर उठ धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद मैं, कैसैं प्रभुहिं जगाऊँ।
दिनकर-किरन-उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर-मुनि गन की, तिहिं तैं ठौर न पाऊँ।
उठत सभा दिन मधि, सैनापति-भीर देखि फिरि आऊँ।
न्हात-खात सुख करत साहिबी, कैसैं करि अनखाऊँ।
रजनी-मुख आवत गुन-गावत, नारद तुंबुर नाऊँ।
तुमहीं कहौ कृपानिधि रघुपति, किहिं गिनती मैं आऊँ।
एक उपाय करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समझाऊँ।
पति-उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ।

अनुक्रमणिका

فطرت ہو نہ لبید ہوؤں سنجی زبان میں
پیدا نہ ہوئی بڑی اصلح زبان میں